जीवराज जैन ग्रन्थमाला, पुष्प २५

ग्रन्थमाला-सम्पादक
प्रो० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एवं स्व० प्रो० डॉ० हीरालाल जैन.

रइधू-ग्रन्थावली

प्रथम भाग

(पासणाहचरिउ, धण्णकुमारचरिउ एवं सुकोसलचरिउ)

१४वीं-१५वीं सदी ईस्वीके महाकवि रइधू द्वारा प्रणीत अपभ्रंश-रचनाओं का, प्राचीन अद्यावधि अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थोंके आधारपर सम्पादन, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत समीक्षात्मक भूमिका, विविध पाठ-पाठान्तर तथा शब्दानुक्रमणिका-सहित सर्वप्रथम प्रकाशन।

•

सम्पादन एवं अनुवाद
डॉ० राजाराम जैन एम० ए० (द्वय), पी-एच० डी०
(वीर-निर्वाण-भारती-पुरस्कार एवं स्वर्णपदक-प्राप्त, जैन इतिहासरत्न)
अध्यक्ष—संस्कृत-प्राकृत-विभाग
ह० दा० जैन कॉलेज, आरा (बिहार)
(मगध विश्वविद्यालय)

प्रकाशक
लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष, जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर (महाराष्ट्र)
वी० नि० सं० २५००] सन् १९७५ [वि० सं० २०३१
मूल्य : २० रु०

प्रकाशक
लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष,
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ
सोलापुर (महाराष्ट्र)

प्रथम संस्करण
प्रतियाँ १०००

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड,
वाराणसी - २२१००१

JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ, No. 25

General Editors :
Prof. Dr. A. N. Upadhye & late Prof. Dr. H. L. Jain

RAIDHŪ-GRANTHĀVALI.
Vol. I

[PĀSAṆĀHACARIU, DHAṆṆAKUMĀRACARIU & SUKOSALACARIU.]

THE APABHRAṂŚA WORKS OF MAHĀKAVI RAIDHŪ
A POET OF 14th-15th CENTURY A. D.

Critically edited for the first time from unpublished old Mss. with an exhaustive Introduction, Hindi translation, variant Readings and Glossary.

•

By
Dr. Raja Ram Jain, M. A. (Double) Ph. D.
(Vīra Nirvāṇa Bhārati-Prize-winner and Gold-Medalist), Jaina Itihāsaratna.
Head of the Deptt. of Sanskrit & Prakrit,
H. D. Jain College **Arrah.** (Bihar, India)
(Under Magadh University Services)

•

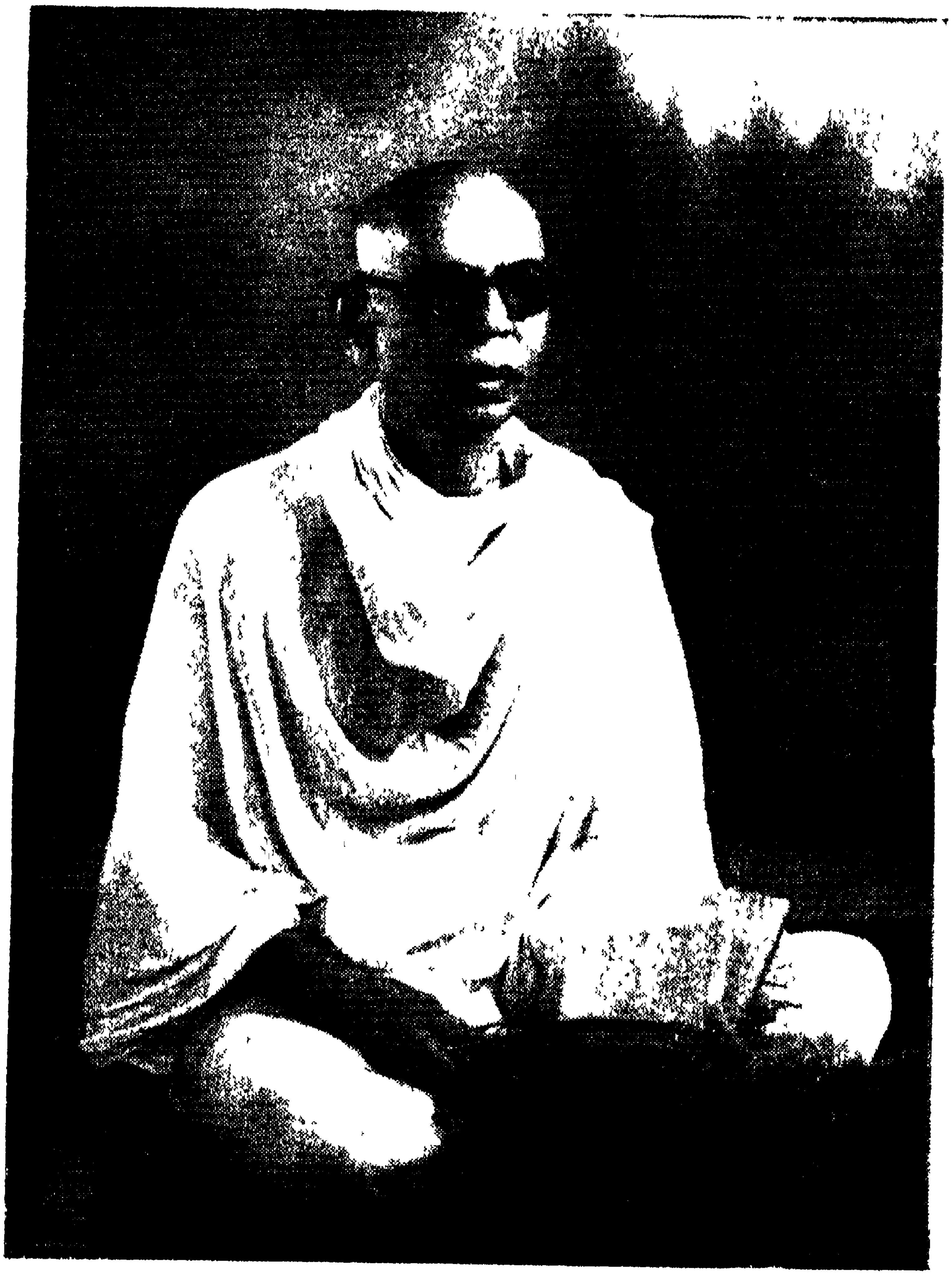
Published by
Lalchand Hirachand
Jaina Saṃskṛiti Saṃrakṣhaka Saṃgha,
Sholapur
(Maharastra, India)
1975

Price Rs. 20.00

First Edition. Copies 1000
Copies of this book can be had direct from
Jaina Saṃskriti Saṃrakṣaka Saṃgh
Phaltan Galli, **Sholapur** (Maharastra) India.
Price : Rs. 20.00 per copy (exclusive of Postage)

जीवराज जैन ग्रन्थमाला परिचय

सोलापुर-निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्दजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्ममें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियाँ इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें सम्पत्तिका उपयोग किया जाये? स्फुट मतसंचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालसे ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपन्था (नासिक) के शीतल वातावरणमे विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोह-पूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ'की स्थापना की और उसके लिये ३०,००० (तीस हजार) रुपयोंके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गयी, सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,००० (दो लाख) रुपयोंकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दिनांक १६-१-५७को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला'का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी ग्रन्थमालाका २५वाँ पुष्प है।



स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

संस्थापक,

जैनसंस्कृति-संरक्षक-संघ, सोलापूर.

समर्पण

जिनका जीवन प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्यके प्रचार-प्रसारका एक अवि-स्मरणीय अध्याय बन गया है—

जो संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश-भाषाके अप्रकाशित-साहित्यको प्रकाशित करने करानेका जीवन-पर्यन्त दृढ़ व्रत लिए रहे—

वाग्वादिनीकी अथक और अनवरत साधना जिनका स्वभाव बना रहा—

ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सत्य ही जिनका परम धर्म बना रहा—

तथा

साहित्यके 'नवसिखुओं'के लिए जो अजस्र-प्रेरणाके स्रोत बने रहे—

उन्हीं

सरस्वतीके वरद पुत्र प्रो० डॉ० ए० एन० उपाध्ये [कोल्हापुर] की प्रथम पुण्य-स्मृति में—

मध्य भारतीय आर्य-भाषाके महाकवि रइधूकी सर्वप्रथम प्रकाशित यह कृति सादर श्रद्धापूर्वक समर्पित करता हूँ।

विनयावनत—
राजाराम जैन

श्रद्धाञ्जलि

प्रस्तुत ग्रन्थकी अन्तिम सामग्री प्रेसमें देते समय हमारा हृदय अत्यन्त शोकाकुल है क्योंकि रइधू-साहित्यरूपी भव्य प्रासादकी रूपरेखाके मूल-प्रेरक स्वनामधन्य प्रो० डॉ० ए० एन० उपाध्ये दिनांक ८।१०।७५ की रात्रिको इस संसारमें नहीं रहे। भारतीय प्राच्य-विद्याके प्रमुख अंगके रूपमे प्राकृत एवं जैन विद्याको देश-विदेशमें अत्यन्त लोकप्रिय बनाने तथा प्राचीन हस्त-लिखित अप्रकाशित ग्रन्थोंके सम्पादन एवं प्रकाशनको अबाधगति प्रदान करनेमें डॉ० उपाध्येके प्रयत्न चिरस्मरणीय रहेंगे। पिछले लगभग १५ वर्षोंसे इन पंक्तियोंके लेखक पर उनकी अमित स्नेह कृपा थी और उनकी शुभ प्रेरणा एवं आदेशसे ही वह रइधू-साहित्य तथा विबुध श्रीधरके अद्यावधि अप्रकाशित-साहित्यके अत्यन्त कष्टसाध्य, व्ययसाध्य एवं धैर्यसाध्य संकलन, सम्पादन एवं प्रकाशनकी ओर उन्मुख हुआ था। उनके निर्देशनमें मै अपने उक्त कार्योंमें संलग्न था और विश्वास था कि यह कार्य निश्चित योजनानुसार समाप्त हो जायगा। किन्तु कौन जानता था कि वे बिना किसी पूर्व-सूचना के ही देह-त्याग देंगे। अब तो उनकी पुण्य-स्मृति ही शेष है और उसीके सहारे रइधू-ग्रन्थावलीके अगले शेष १५ खण्डोंका सम्पादन-प्रकाशन तथा अन्य योजनाओंको पूर्ण करना है। काश, वे रइधू ग्रन्थावली के इस प्र० भा० को भी सर्वांगीण प्रकाशित रूपमें देख पाते तो उन्हें तथा मुझे आत्म-सन्तोष होता। किन्तु विधिका विधान विचित्र है—इस ग्रन्थमें उनका लिखा General Editorial मेरे लिए उनका अन्तिम आशीर्वाद तथा मेरे शेष साहित्यिक जीवनके लिए वह पाथेयका कार्य करेगा। मैं उनके विराट् व्यक्तित्वका बारम्बार स्मरण कर अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ तथा देवाधिदेवसे प्रार्थना करता हूँ कि उनकी आत्माको शान्ति प्रदान करे।

श्रद्धावनत—

राजाराम जैन

विषय-सूची

(भूमिका भाग)

●

GENERAL EDITORIAL

The Jīvarāja Jaina Granthamālā is conducted under the auspices of Jaina Saṃskṛti Saṃrakṣaka Saṃgha, Sholapur. During the last twentyfive years, it has brought to light a number of Prākrit and Saṃskrit works along with Hindi Translation and also published some works in English embodying original research and shedding light on the history and doctrines of Jainism.

This Granthamālā has undertaken the publication of Raidhū-Granthāvali in which all the works of Raidhū, along with Hindi Translation, would be included. They are being edited and translated into Hindi by Dr. Rajaram Jain, M.A., Ph.D., who has made a special study of Raidhū. His researches on Raidhū and his works have won him the Ph.D. degree of the University of Bihar, Muzaffarpur(Bihar) and his thesis (in Hindī) 'Raidhū Sāhitya kā Ālocanātmaka Pariśīlana' is published by the Govt. Prakrit Research Institute, in its Prakrit Jaina Research Publications series, Vol. VIII, Vaishali (Bihar), 1974.

This is the First Volume of the Raidhū Granthāvali. In it, are included three Apabhraṁśa works: i) Pāsaṇāhacariü, in 7 Saṃdhis and 138 Kaḍavakas, ii) Sukosalacariu, in 4 Saṃdhis and 75 Kaḍavakas, and iii) Dhaṇṇakumāracariü, in 4 Saṃdhis and 74 Kaḍavakas.

Dr. Rajaram has added here a learned Introduction in Hindi. He has described the Mss. material on which this edition is based. He gives biographical details about Raidhū, the author. He points out that Siṁhasena could not have been Raidhū's name. Raidhū's father was Harisiṁha and his grandfather, Devarāja. His mother was Vijayaśrī. His two elder brothers were Bāhola and Māhaṇasiṁha. Sāvitrī was his wife, and he had a son Udayarāja. Raidhū was composing his Ariṭṭhaṇemicariu when this son was born to him. Raidhū was a pious Śrāvaka, and he spent his time in literary pursuits and Mūrtipratiṣṭhā.

Nearly 28 works of Raidhū are known (see p. 7 of the intro.), but the Mss. of some of them have not come to light as yet. Gwalior was the main scene of his literary activities, and the image of Ādinātha, 57 feet in height, in the fort of Gwalior, was consecrated at the hands of Raidhū, who possibly acted as the High Priest. He makes ample references to his predecessors and their works (pp.9 ff., Intro.) Raidhū specifies his patrons like Śrī Kheū Sāhū, Raṇamala Sāhū and Bhullaṇa Sāhū in the three works edited here (Intro., p.11). He has high praise for Gwalior (Gopācala-nagara), the Tomara dynasty and the king Dūṅgarasiṁha who was a great patron of Jainism. Raidhū received patronage from Dūṅgarasiṁha, and his son Kīrtisiṁha as well as from another contemporary ruler Rudrapratāpa Chauhāna. From the data available from his works, Raidhū's literary career can be put between V. Saṁvat 1457 to 1530, i.e., 1400 to 1473 A. D. It appears that he was long-lived.

Then, The Editor summarises the contents of the three works presented here, discusses also their literary qualities as well.

Lastly, the Editor adds some critical observations on the specialities of the Apabhraṁśa dialect used by Raidhū, who belongs to a comparatively late period

when the New Indo-Aryan had come into existence and was being used side by side in the area and at the time when he was composing these works. In the midest of his Apabhraṁśa, Raidhū had added some Saṃskrit verses. The Editor has discussed about Raidhū's style and metres (Intro. pp. 73 ff.), and has also put together the cultural data noticed in these works (Intro. pp. 76 ff.). At the end there is the Śabdānukramaṇikā.

The authorities of the Jaina S. S. Saṃgha, Sholapur, are thankful to Dr. Rajaram Jain for his kindly accepting to edit all the works of Raidhū along with Hindi translation for publication in the Jīvarāja Jaina Granthamālā. They are eager to see these volumes published at an earlier date. Any delay in such publications often creates more difficulties at various ends.

It was at the suggestion of the late Dr. Hiralal Jain and myself that the project of publishing all the works of Raidhū along with Hindi translation, in the Jīvarāja J. Granthamālā, was accepted by the Trust and Managing committees of the Jaina S. S. Saṃgha. If I am seeing the final proofs of the text of these works, it is just in obedience to the instruction of my erstwhile colleague, the late lamented Dr. Hiralal Jain, who, to our sorrow, did not live to see the first Volume published. The Editor is being constantly urged to go ahead with other works of Raidhū so that the subsequent volumes are soon published. The Apabhraṁśa used by Raidhū has a special significance to the researcher in the Middle Indo-Aryan and New Indo-Aryan : so earlier these works are authentically presented in print the better for the progress of studies in these two phases of Indo-Aryan.

We record our sincere gratitude to the Members of the Trust Committee of the Saṃgha, especially to its enlightened President, Shriman Lalchand Hirachandaji whose clear-cut dicisions are of great guidance to us. Words are inadequate to express our sense of gratefulness to Shriman Valchand Deochandji. Despite heavy burden of manifold public responsibilities he is serving the cause of the Saṃgha with remarkable dedication and also helping the General Editor in every way. His devotion to Jinavāṇi is exemplary. But for their co-operation and help it would have been very difficult for the General Editor to pilot the various publications of the Granthmālā especially when he is required to stay in Mysore for some time past.

Our sincere thanks are to be recorded to Dr. Rajaram Jain, who has made a spacial study of Raidhū's works, for giving their texts with Hindi translation for publication in this Granthamālā.

Manasa Gangotri
Mysore-6
University of Mysore
December 3, 1974

A. N. Upadhye

भूमिका

रइधू-ग्रन्थावली प्र० भा० में महाकवि रइधू के पासणाहचरिउ, सुकोसलचरिउ एवं धण्ण-कुमारचरिउ इन तीन अपभ्रंश-रचनाओं को सम्मिलित किया गया है, जिनका परिचय यहाँ क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) पासणाहचरिउ

क. प्रति—प्रस्तुत प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित है।[१] यह प्रति अपूर्ण है। इसमें प्रतिलिपिकार-प्रशस्ति का अन्तिम पृष्ठ अनुपलब्ध है। उपलब्ध-प्रति की कुल पृ० सं० ८०×२ है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई ९"×३½" तथा प्रति पृष्ठ में १०-११ पंक्तियाँ हैं। इसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १७४३ माघ, चन्द्रवार है। इसके प्रतिलिपि कर्त्ता पुष्करमल्लात्मज श्री महानन्द हैं, जो पालम्ब निवासी थे।[२]

अपूर्ण प्रतिलिपिकार-प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि कुरुजांगल देशमें योगिनीपुर (आधुनिक दिल्ली) के निकट पालम्ब नामक नगरमें मुहम्मदशाह नामक मुगल बादशाहके राज्यकालके १२वें वर्षमें काष्ठासंघ माथुरगच्छकी पुष्करगण शाखाके भट्टारक श्री कुमारसेन (परम्परा के लिए देखें पृ० सं० १६०-६१) की परम्पराके भट्टारक श्री देवसेनके आम्नायमें इक्ष्वाकुवंशी, महतीय-गोत्रीय, जैसवाल ज्ञातीय, पालम्ब निवासी एवं जैसलमेर प्रवासी साहु मेघराजकी भार्या·······से उत्पन्न जपू साहू नामक पुत्रकी मार्या ······के पुत्र·······ने इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि कराई।[३] प्रति सुपाठ्य है।

ख. प्रति—प्रस्तुत प्रति जै० श्वे० शा० भ० दिल्लीमें सुरक्षित है। यह प्रति सचित्र है। इसमें प्रसंगानुकूल तिरंगे, चौरंगे एवं बहुरंगे, छोटे एवं बड़े सभी कुल मिलाकर ६१ चित्र हैं। इसमें कुल पृ० सं० ७७×२ है। प्रति पृ० में पंक्ति संख्या ११-११ एवं प्रत्येक पंक्तिमें १४ से १६ तक शब्द हैं। इसमें कृष्णवर्णकी स्याहीका प्रयोग किया गया है, किन्तु पुष्पिकाओंमे लाल स्याहीका प्रयोग मिलता है तथा भूल-संशोधन या सूचक-चिन्हके रूपमें शुभ्र-वर्णकी स्याहीका प्रयोग हुआ है। ग्रन्थकी स्थिति सामान्यतया अच्छी है। इसकी लिपिकार-प्रशस्तिके अनुसार इसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १४९८ माघ वदी २, सोमवार है (दे० पृ० सं० १५८-५९)। रइधूकालीन प्रतिलिपि होनेके कारण यह प्रति बड़ी महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। इसकी प्रतिलिपि रइधूके एक आश्रयदाता खेऊसाहूके चतुर्थ पुत्र होलू साहुने कराई थी ये होलू साहू वही सज्जन हैं, जिनके लिए कवि रइधूने 'दहलक्खणजयमाल' की रचना की थी। (दे० दहलक्खण० १०/१४)। इसके

१. डॉ० कस्तूरचन्द्र जी काशलीवाल के सौजन्य से प्राप्त

२. दे० प्रस्तुत ग्रन्थ की पृष्ठ सं० १५६, १५७

३. वही पृ० सं० १६०, १६१

प्रतिलिपिकारका नाम रूपचन्द्र अग्रवाल था, जिसके पिताका नाम साधु तथा माताका नाम करमा था (दे० पृ० सं० १५८-१५९)।

उक्त प्रति महत्त्वपूर्ण होनेपर भी मैं उसका उपयोग नहीं कर सका। क्योंकि दीर्घकाल तक अन्य प्रतियोंके अनुपलब्ध रहनेपर आमेर प्रतिके आधारपर सम्पादन एवं अनुवादका कार्य समाप्तकर जब मुद्रण-कार्य प्रारम्भ हो चुका, तभी उक्त प्रतिकी मुझे सूचना मिली। उसकी मूल-प्रति तो मिलनेका कोई प्रश्न ही नहीं था, फोटो-कापी करानेमें भी मुझे जो भाग-दौड़ एवं कठिनाई का सामना करना पड़ा, उसकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी। प्रूफ-रीडिंगके समय ही कहीं-कहीं उसका उपयोग हो सका है।

इस प्रतिमें उपलब्ध लिपिकार-प्रशस्तिमें ग्वालियर-शाखाके तोमरवंशी राजाओंकी नामावली अंकित है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। (दे० पृ० सं० १५८-५९)।

(२) सुकोसलचरिउ

क. प्रति—प्रस्तुत प्रति जै० सि० भ० आरा (बिहार)के प्राच्य शास्त्र-भण्डारमें सुरक्षित है। इसमें कुल पृ० सं० १६ × २ है। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई-चौड़ाई ७.६" × १३.७" है। ऊपरी हाँसिया १" × ००", नीचेका हाँसिया ·०६", बायाँ हाँसिया १.३" तथा दायाँ हाँसिया १" है। प्रति पृ० १६ पंक्तियाँ तथा प्रति पंक्ति १३ से १७ अक्षर हैं। इसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १९८७ मार्गशीर्ष कृष्ण १४ है।[1] लिपिकारका नाम अंकित नहीं है। किन्तु इसकी प्रतिलिपि आरामें ही सम्पन्न हुई है। प्रतिकी स्थिति अच्छी है। वह सुपाठ्य एवं पूर्ण है।

ख. प्रति—उक्त प्रतिकी प्रतिलिपिका आधार दिल्लीकी खजूरकी मस्जिदवाले नए पंचायती मन्दिरकी वि० सं० १६३३ की प्रति है। यह प्रति भी सम्पादकको बहुत बिलम्बसे मिली। अतः सम्पादनमें उसका उपयोग न किया जा सका। किन्तु बादमें मिलान करनेपर कोई अन्तर नहीं पाया गया। इस प्रतिकी लम्बाई-चौड़ाई ९.७" × ४.९" है। कुल पृ० सं० ३५ तथा प्रति पृष्ठ की पंक्तियाँ ११–११ एवं प्रत्येक पंक्तिकी अक्षर संख्या ३०–३२ है। कडवक सं०, घत्ता एवं पुष्पिका शब्द लाल स्याहीसे अंकित है। अशुद्ध लिखे गए वर्णोंको सफेद रंगसे मिटाया गया है। बाकीकी सामग्री काली स्याहीमें प्रस्तुत की गई है। इसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १६३३ ज्येष्ठ वदी १ शनिवार है।[2] लेखन-स्थान अर्गलपुर है।[3] उस समय वहाँ अकबर बादशाहका राज्य था। यह प्रति जीर्ण-शीर्ण एवं अपूर्ण है।

(३) धण्णकुमारचरिउ

यह प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुरमें सुरक्षित है।[4] इसकी पत्र सं० ५१ × २ तथा

---

१. दे० प्रस्तुत ग्रन्थ की पृ० सं० २६१

२. वही पृ० सं० २६०-२६१

३. वही पृ० सं० २६०-२६१

४. डॉ० कासलीवाल के सौजन्य से प्राप्त

लम्बाई-चौड़ाई ७"×३½" है। प्रत्येक पृष्ठ पर ९-९ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्तिमें २८से ३४ तक अक्षर हैं। इसका प्रतिलिपिकाल वि० सं १६३६ है। इस प्रतिकी स्थिति अच्छी है वह सुपाठ्य एवं पूर्ण है। इसके कागज का रंग कुछ हल्का-पीला है।

इस प्रतिको प्रतिलिपि मारवाड़ देशके मेदिनीपुर नामक नगरमें पातिशाह श्री अकबर जल्लालदी मुहम्मदके राज्यके अन्तर्गत पायंदा (?) श्री मुहम्मदखानके राज्यमें; मूलसंघ नन्द्याम्नाय बलात्कारगण, सरस्वती गच्छके पद्मनन्दिदेवकी परम्पराके मण्डलाचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्रके आम्नायके खण्डेलवाल—पहाड्या-गोत्रीय फाल्हा (पत्नी फूलमदे)के वंशके उत्पन्न लूणाने करवाई तथा उसकी पत्नी करमाबाईने उसकी प्रतिष्ठा कराई।[1]

इस प्रतिके प्रतिलिपिकर्त्ता श्री मुनि भारामल्ल[2] हैं। ये भारामल्ल सम्भवतः वे ही हैं जिन्होंने, निशि भोजन कथा आदि अनेक हिन्दी रचनाएँ की हैं।

सम्पादन-कालमें मुझे उक्त प्रति ही उपलब्ध हो सकी। अतः उसी आधारपर सम्पादन एवं अनुवाद किया गया है।

सम्पादन-पद्धति

पा० च० की क. प्रतिकी प्रतिलिपिमें 'स्त'के स्थानमें 'च्छ' का प्रयोग मिलता है, उसे आवश्यकतानुसार 'त्थ'के रूपमें परिवर्तन किया गया है। इसीप्रकार 'ग्ग'के स्थानमें 'ग्र', तथा 'ट्ठ'के स्थानमें 'ठ' रूप मिलते हैं, उन्हें क्रमशः 'ग्ग' एवं आवश्यकतानुसार 'ट्ठ'के रूपमें स्वीकार किया गया है।

इसीप्रकार 'प्प' 'घ'के समान; 'तु', 'रु'के समान तथा 'ध' 'घ'के समान मिलते हैं। उनका सावधानी पूर्वक शोधनकर उन्हें आवश्यकतानुसार यथावत् ग्रहण किया गया है। 'न' एवं 'ण' दोनोंके ही प्रयोग उपलब्ध हैं।

ध० च० की प्रतिमें 'छ' और 'व्व'; 'ज', और 'उ'; 'उ', तु और त्तु; थ, घ, ध, और छ; 'ए' और 'प', तथा व, व्व, च्च और छ की लिखावट लगभग एक समान प्रतीत होती है। उनका परीक्षण सावधानी पूर्वक करके पाठ तैयार किए गए हैं। झ वर्ण 'झ' एवं 'झ' दोनों रूपमें मिलते हैं।

सु० च० (दिल्ली प्रति) में च–न, भ–झ, ग्ग–ग्र, व्व–घ,के समान प्रतीत होते हैं। इसीप्रकार दीर्घ ई की मात्रा दीर्घ आ का भ्रम उत्पन्न करती है। अनुनासिकके स्थानपर सर्वत्र अनुस्वारका प्रयोग किया गया है। ब एवं व के लिए प्रायः सर्वत्र 'व' एवं ख के लिए सर्वत्र ष का प्रयोग मिलता है।

यदि लिखते समय किसी शब्दमें कोई वर्ण छूट जाता है, तो प्रतिलिपिकारने हंसपदके स्थानपर शब्दमें छूटे हुए वर्णके स्थानके ऊपर खड़ी दो पाई लगाकर किसी भी हाँसिएमें उस वर्णको

१. दे० प्रस्तुत ग्रन्थ की पृ० सं० ३५७ एवं ३५९

२. वही पृ० सं ३५४ एवं ३५६

लिखकर उसीके साथ पंक्ति संख्या देकर यह सूचना दी है कि अमुक संख्याकी पंक्तिमें अमुक शब्दमें उस वर्णको जोड़ा जाना है। यदि ऊपरवाले हाँसिएमें वह वर्ण लिखा गया हो तो पंक्ति संख्या ऊपरसे गिनना चाहिए और यदि नीचे हो, तो नीचेकी ओरसे गिनना चाहिए।

यदि लिखते समय कोई वर्ण भूलसे आगे पीछे लिखा गया हो तो उसपर १, २ की क्रम संख्या देखर उसे शुद्ध पढ़नेकी सूचना दी गई है।

कवि परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थमें संग्रहीत तीनों रचनाओं के प्रणेता महाकवि रइधू हैं। वे अपभ्रंश-साहित्यके जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। विपुल साहित्य-रचनाओंकी दृष्टिसे उनकी तुलनामें ठहरने वाले अन्य प्रतिस्पर्धी कवि या साहित्यकारके अस्तित्त्वकी सम्भावना अपभ्रश-साहित्यमें नहीं की जा सकती। रसकी अमृत-स्रोतस्विनी प्रवाहित करनेके साथ-साथ श्रमण-संस्कृतमें चिरन्तन आदर्शो की प्रतिष्ठा करने वाला यह प्रथम सारस्वत है, जिसके व्यक्तित्त्वमें एक साथ प्रबन्धकार, दार्शनिक, आचार-शास्त्र प्रणेता एयं क्रान्ति-दृष्टाका समन्वय हुआ है। रइधूके प्रबन्धात्मक आख्यानोंमें सौन्दर्यकी पवित्रता एवं मादकता, प्रेमकी निश्छलता एवं विवशता, प्रकृतिजन्य सरलता एवं मुग्धता, श्रमण-संस्थाका कठोर आचरण एवं उसकी दयालुता, माता-पिताका वात्सल्य, पाप एवं दुराचारोंका निर्मम दण्ड, वासनाकी मांसलताका प्रक्षालन आत्माका सुशान्त निर्मलीकरण, रोमांसका आसव एवं संस्कृतके पीयूषका मंगलमय सम्मिलन, प्रेयस् और श्रेयस्का ग्रन्थिबन्ध और इन सबसे ऊपर त्याग एवं कषाय-निग्रहका निदर्शन समाहित है।

कवि-नाम

इतने महान् कविका प्रचलित 'रइधू' यह नाम वास्तविक है अथवा उपनाम, इसकी जानकारीके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। समग्र रइधू साहित्यमें कविनाम 'रइधू' ही मिलता है। कहीं-कहीं रइधूउ[१] 'रइ[२]' जैसे अन्य नामान्तर भी मिलते हैं, किन्तु ये सभी नाम 'रइधू'के ही है और छन्द-रचनाकी दृष्टिसे हीनाधिक वर्ण या मात्राके साथ उन्हे प्रस्तुत किया गया है।

श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमी[३], मोहनलाल दलीचंद देसाई,[४] एच० डी० वेलणकर[५] प्रभृति विद्वान् रइधूका अपरनाम 'सिंहसेन' मानते हैं। उनकी इस मान्यताका क्या आधार था, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। किन्तु उनकी यह मान्यता परवर्त्ती विद्वानोंमें बड़ी लोकप्रिय हो गई। इन पंक्तियोंके लेखकने स्वयं भी कुछ समय पूर्व तक उस मान्यताका अनुकरण किया था,[६] किन्तु

---

१. सम्मइ० १।१९।११
२. वही २।१६।१५, ३।३८।१७, ४।२१।१५, ५।३८।१२, ६।१७।१३, ७।१४।१९
३. प्राकृतदसलक्षणजयमाला (बम्बई, १९२३) पृ० १
४. जैन साहित्यनो इतिहास (बम्बई, १९३३) पृ० सं० ५२०
५. जिनरत्नकोष (पूना, १९४४) पृ० २९
६. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (वैशाली, १९७३) पृ० सं० ३५-३८

गम्भीर-चिन्तनके बाद अब वह असंगत प्रतीत होती है। ऐसा विदित होता है कि श्रद्धेय प्रेमीजी-को 'सम्मइजिणचरिउ' एवं 'मेहेसरचरिउ' की निम्न पंक्तियोंसे उक्त भ्रम हुआ होगा :—

·········तं णिसुणिवि गुरुणा गच्छहु गुरुणाइँ **सिंहसेणि** मुणेवि मणि।
पुरु संठिउ पंडिउ सील अखंडिउ भणिउ तेण तं तम्मि खणि॥

सम्मइ०–१।५।१०-११

उक्त पंक्तियोंमें हिसार (हरयाणा) निवासी एक खेल्हा[१] नामक ब्रह्मचारीका प्रसंग उपस्थित किया गया है, जिसके अनुसार उक्त खेल्हाने गोपाचल (ग्वालियर) दुर्गमें चन्द्रप्रभ भगवानकी ११ हाथ ऊँची मूर्त्तिका निर्माण कराकर भट्टारक गुरु यशःकीर्त्तिका धर्मोपदेश सुना था तथा कोई श्रावक प्रतिमा भी ग्रहण की थी। उसी समय उसके मनमें एक तीव्र इच्छा जागृत होती है कि सुप्रसिद्ध महाकवि रइधू उसके निमित्त एक सुन्दर 'सन्मति-चरित' नामक काव्य भी लिख दें। किन्तु कविसे उसका सीधा परिचय न होनेसे उसे यह विश्वास नहीं हुआ कि कवि उसकी प्रार्थना स्वीकार करेगा। अतः वह महाकवि रइधूका परिचय देते हुए गुरु यशःकीर्त्तिसे ही उसके द्वारा उक्त ग्रंथ लिखा देनेके लिए प्रार्थना करता है :—

तं जि सहलु करि भो मुणि पावण एत्थु महाकवि णिवसइ सुहमण।
रइधू णामें गुणगण धारउ सो णो लंघइ वयण तुहारउ॥

सम्मइ० १।५।८-९

खेल्हाका उक्त निवेदन सुनकर गुरु यशःकीर्त्ति उसकी प्रार्थनाके अनुसार रइधूके समीप पहुँचते है तथा तत्काल ही खेल्हाकी इच्छा उनके सम्मुख व्यक्त करते हैं। इस प्रसंगमें ही सम्मइ० की उक्त १।५।१०-११ पंक्तियाँ कही गई हैं।

उक्त प्रसंगोंसे स्पष्ट है कि खेल्हा, भट्टारक यशःकीर्त्ति एवं रइधू ये तीन नाम ही प्रमुख हैं। 'सिंहसेन' नामक किसी चौथे नाम की उसमें कोई स्थिति ही नही है। फिर 'गच्छहु गुरुणाइँ' का अर्थ एवं सिंहसेणिके साथ उसका सामंजस्य भी कुछ नहीं बैठता। अतः विचार करने पर यही स्पष्ट होता है कि पाठके अध्ययन एवं सन्धि-भेदमें भ्रम हुआ है। वस्तुतः सम्मइ०की उक्त (१।५।१०–११) पंक्तियोंको इस प्रकार पढ़ा जाना चहिए—

तं णिसुणिवि गुरुणा गच्छहु गुरुणा ईसि हँसेवि मुणेवि मणि।
सुरु संठिउ·······························

रइधूकी अन्य रचना 'मेहेसरचरिउ'में रइधूका अपरनाम 'सिंघियसेणय' मिलता है, जो सिंहसेनका ही रूप है। ग्रन्थ-रचनाके प्रारम्भमें कवि पूर्ववर्त्ती आचार्यों को स्मरण करता हुआ भट्टारक यशःकीर्त्तिको नमस्कार करता है। प्रत्युत्तरमें यशःकीर्त्ति उसे आशीर्वाद देते हुए मन्त्राक्षर देते है :—

भो **सिंघियसेणय** सुसहाएँ होसि वियक्खणु मज्झु पसाएँ।
इय भणेवि मंतक्खरु दिण्णउ तेणाराहिउ तं जि अछिण्णउ॥

मेहेसर० १।३।९-१०

२, दे० अनेकान्त १५।१।१६-२० में प्रकाशित खेल्हा ब्रह्मचारी नामक मेरा निबन्ध

'मेहेसरचरिउ'का अपरनाम 'आदिपुराण' भी है। उक्त ग्रन्थ 'आदिपुराण' इस नामसे ही नजीवाबाद (उत्तर-प्रदेश) के शास्त्र-भण्डारमें सुरक्षित है।[१] उसमें लेखकके नाम पर सिंहसेन ही अंकित है रइधू नहीं। किन्तु पिताका नाम—'हरिसिंह' दोनोंमें सामान्य है। लेखक-नाम एवं ग्रन्थ-शीर्षककी विभिन्नताको छोड़कर तथा ग्रन्थ-प्रशस्ति एवं पुष्पिकामें यत्किञ्चित् हेर-फेरके अतिरिक्त पूरा का पूरा ग्रन्थ वही है, जो कि रइधूकृत 'मेहेसरचरिउ' है। फिर भी यह आश्चर्य है कि उसमें 'सिंहसेन' एवं 'आदिपुराण' नाम ही उपलब्ध हैं, रइधू एवं 'मेहेसरचरिउ' नहीं।

जै० सि० भ० आरा स्थित 'मेहेसरचरिउ' नामक प्रतिमें, जो कि रोहतक शास्त्र-भण्डारमें सुरक्षित वि० सं० १६०६की प्रतिके अनुसार लिखी गई थी, उसमें 'सिंघियसेणय'के स्थान पर 'रइधू-पंडिय' पाठ मिलता है। यथा :—

भो रइधूपंडिय सुसहाए...............।

उक्त 'आइपुराण'का प्रतिलिपिकाल वि० सं० १८५१ वैशाख कृष्ण १०, शुक्रवार, शतभिषा नक्षत्र है तथा उसकी प्रतिलिपि दादुरदेश स्थित नजीबगढ़ पर्वतके निकट उत्तराखण्डमें वहाँके पंचोंकी ओरसे कराई गई थी। यह प्रति अत्यन्त भृष्ट एवं अप्रामाणिक है। इसमें उपलब्ध सिंघियसेणय' पाठ भी नितान्त भ्रामक एवं अप्रामाणिक है। प्रतीत होता है कि किसी सिंहसेन नामक आचार्यने स्वयं अथवा उनके किसी शिष्यने उस (सिंहसेन) नाम को प्रसिद्ध करनेके लिए मूलग्रन्थ एवं ग्रन्थकारके नामोंमें जबर्दस्ती परिवर्त्तन किया है।

रइधूका अपरनाम 'सिंहसेन'के रूपमें यदि प्रचलित रहा होता, तो स्वयं रइधू ही अपनी परिचय-प्रशस्तिमें अथवा पुष्पिकामें अवश्य ही उसका उल्लेख करते, किन्तु उनके समग्र-साहित्यमें उसका कोई भी प्रमाण नहीं।

अतः यह निश्चित है कि रइधूका अपरनाम 'सिंहसेन' नहीं था।

श्रद्धेय आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने 'सिंहसेन'को रइधूका बड़ा भाई माना है।[२] किन्तु उन्होंने अपनी मान्यताके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। यदि उन्होंने माहणसिंहको ही सिंहसेन माना हो, तब ठीक है, अन्यथा उनकी मान्यता भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि रइधूने स्वयं ही अपने तीन भाइयोंके नाम इसप्रकार सूचित किए हैं :—

बाहोल माहणसिह चिरु णंदउ इह रइधू कइ तीयउ वि धरा।

पउमचरिउ—११।१७।११-१२

कुल-परम्परा

महाकवि रइधू बुधजनोंके कुलको आनन्द देनेवाले साहू हरिसिंहके पुत्र एवं संघपति देवराजके पौत्र[३] थे। इनकी माँका नाम विजयश्री था।

१. श्री बाबू जगतप्रसाद जी नजीवाबाद के सौजन्य से प्राप्त।
२. दे० जैन हितैषी १३।३
३. सम्मइ० १०।२८।१३; मेहेसर०-१।७।१०, १३।११।७-८; सुकोसल०-१।३।९; सम्मत्त०-१।१४।१४; जसहर०-४।१८।१७; वित्त०-७।१४१; जीमंधर०-१।३।२; १३।२६।१; सिरिवाल०-१०।२५।१९; सावय० ६।२७।८
४. सम्मत्त०-१।१४।१४

रइधू अपने माता-पिताके तृतीय एवं अन्तिम पुत्र थे। इनसे बड़े अन्य दो भाइयोंका नाम बाहोल एवं माहणसिंह था[1]। कविने बड़े भाइयोंकी तुलना 'मोलिक्य' नामक एक धर्मात्मा सज्जनसे की है, जिनके माता-पिताका नाम क्रमशः भावा एवं खेत्ता[2] था। मोलिक्यने वि० सं० १५१० बैशाख शुक्ल तृतीयाको 'समयसार'की एक प्रतिलिपि कराई थी, जो कारंजाके सेनगण भण्डारमें सुरक्षित है।[3] अपने समयमें 'मोलिक्य' कोई आदर्शवादी एवं लोकप्रिय व्यक्ति अवश्य रहे होंगे, जिनके सद्‌गुणोंसे प्रभावित होकर कविको अपने भाइयोंसे उनकी तुलना करनी पड़ी[4]।

रइधूकी धर्मपत्नीका नाम सावित्री[5] था। उससे उदयराज नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उदयराजका जिस समय जन्म हुआ था, उस समय वह 'अरिट्ठणेमिचरिउ'की रचनामें संलग्न था।

रचनाएँ

रइधू साहित्यकी प्रशस्तियोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट विदित होता है, कि वे एक धर्मभीरु सद्-गृहस्थ थे। ग्रन्थ-रचना एवं मूर्त्तिप्रतिष्ठा-कार्य[8] उनकी अपनी अभिरुचिके प्रमुख विषय थे। उन्होंने कुल कितने ग्रन्थों की रचनाकी, यह अभी तक विदित नहीं हो सका। हाँ, उनकी जो कृतियाँ अभी तक ज्ञात एवं उपलब्ध हो सकीं, उनके नाम इस प्रकार हैं :[9]

१. बलहद्दचरिउ २. मेहेसरचरिउ ३. कोमुइकहपबंधु ४. जसहरचरिउ [सचित्र] ५. पुण्णासवकहा ६. महापुराण। ७. पज्जुण्णचरिउ ८. करकंडचरिउ ९. अप्पसंबोहकव्व १०. सावयचरिउ ११. सुकोसलचरिउ १२. पासणाहचरिउ [सचित्र] १३. सम्मइजिणचरिउ १४. सिद्धचक्कमाहप्प १५. सुदंसणचरिउ १६. वित्तसार १७. सिद्धन्तत्थसार १८. धण्णकुमारचरिउ १९. अरिट्ठणेमिचरिउ २०. जीमंधरचरिउ २१; सोलहकारणजयमाल २२. दहलक्खणजयमाल २३. सम्मत्तगुणणिहाणकव्व २४. संतिणाहचरिउ [सचित्र] २५. बाराभावना २६. उवएसमाल, उवएसरयणमाल २७. रत्नत्रयी और २८. भविसयत्तकहा

उक्त रचनाओंमेंसे महापुराणु, पज्जुण्णचरिउ, सुदंसणचरिउ, भविसयत्तकहा करकंडचरिउ रत्नत्रयी एवं उवएसरयणमाल अनुपलब्ध हैं। 'संतिणाहचरिउ'की मात्र एक ही प्रति उपलब्ध है तथा वह भी अपूर्ण।[10] 'जसहरचरिउ'की अद्यावधि तीन प्रतियाँ ज्ञात एवं उपलब्ध है तथा वे सभी सचित्र हैं।[11] 'पासणाहचरिउ'की एक रइधूकालीन प्रतिलिपि उपलब्ध है, जो सचित्र है।[12] इसी प्रकार उक्त 'संतिणाहचरिउ'की प्रति भी सचित्र है।

१. पउम०-११।१७।११-१२
२-३. अनेकान्त १४।९।२९६
४. रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० सं० ३९-४०
५. मेहेसर०-१३।११।२
६. पुण्णासव०-१३।१३।७; वित्त-७।१४१; जसहर०-४।१८।१७; सावय०-६।२७।९
७. अरिट्ठ०-१४।२७।१२
८. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४३-४४
९. विशेष के लिए देखिए वही पृ० ४६-५६
१०-१२ दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४३-५६; ३४९ तथा भूमिका

महाकवि रइधूको उक्त विशाल-साहित्यका प्रणयन कर सकने योग्य कवित्व-प्रतिभा, बुध-जनोंको आनन्दित करनेवाले अपने पिता हरिसिंह संघवीसे मिली थी, किन्तु सम्भवतः प्रेरणा एवं उत्साहके अभावमें उनका विकास प्रारम्भमें विधिवत् न हो सका। जीवनक्षेत्र न चुन सकने एवं अपनेको मन्दबुद्धि समझनेके कारण वे सम्भवतः अत्यन्त व्यग्र एवं उदास रहने लगे थे। एक दिन जब वे चिन्तितावस्थामें ही सोए थे कि सरस्वती-देवीने उन्हे स्वप्न दिया और काव्य-रचनाकी प्रेरणा दी। कविने स्वयं ही लिखा है :—

सिविणंतरे दिट्ठ सुयदेवि सुपसण्ण, आहासए तुज्झ हउँ जाए सुपसण्ण ॥
परिहरहिँ मणचिंत करि भव्वु णिसु कव्वु, खलयणहँ मा डरहि भउ हरिउ मइ सव्वु ॥
तो देविवयणेण पडिउवि साणंदु, तक्खणेण सयणाउ उट्ठिउ वि गय-तंदु ॥
सम्मइ० १।२।२-४

अर्थात् प्रमुदित मना सरस्वती देवीने स्वप्नमें मुझे दर्शन दिया तथा कहा कि मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। मनकी सारी चिन्ताएँ छोड़, हे भव्य, तू निरन्तर काव्य-रचना किया कर। दुर्जनोंसे मत डर, क्योंकि भय सम्पूर्ण बुद्धिका अपहरण कर लेता है। उस देविके वचनोंसे प्रतिबुद्ध होकर मैं आनन्दित हो उठा। उसी समय मेरी निद्रा टूट गई और मैं बिस्तरसे उठ बैठा।

उक्त स्वप्नने कवि को प्रबुद्धचित्त बना दिया। उसके बादसे कविने अपनी समस्त शक्ति काव्य-रचनामें लगा दी। यही कारण है कि वह अपने अल्प जीवनमें भी एक विशाल साहित्यका निर्माण कर सका। कोई असम्भव नहीं यदि उसे सरस्वती देवी भी इष्ट रही हो। क्योंकि कविने अपनी रचनाओंमें सरस्वती अथवा वागेश्वरी देवीको स्थान-स्थानपर स्मरण किया है। रइधू का स्वप्न-दर्शन एवं उसमें सरस्वतीके साहाय्य का आर्शीवचन ऊपर देखा ही जा चुका है। फिर भट्टा-रक श्री यशःकीर्ति का पथ-निर्देश भी उन्हें पूरा-पूरा मिला। यही कारण है कि वे साहित्य क्षेत्रमें प्रकाशमान नक्षत्रकी तरह चमक सके।

निवास-स्थल

किसी भी महाकविका जीवन सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक होता है। भौगोलिक एवं राजनैतिक सीमाएँ उन्हें बाँध नहीं सकतीं। उनका निवास-स्थल प्रायः वही होता है, जहाँ वे स्थिर होकर निवास करने लगते हैं। यह आवश्यक नहीं कि वे जहाँ जन्म लें, वहीं सदा निवास भी करते रहें। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है :

उपजहिं अनत अनत छवि लहहिं।

वे अपने मनकी तरंगों एवं उड़ानोंमें भ्रमण किया करते हैं और प्रकृति उन्हे जहाँ रमा लेती है, वहीं उनका निवास-केन्द्र बन जाता है। महाकवि रइधूके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझा जा सकता है। उन्होंने अपने जन्म-स्थानके सम्बन्धमें कोई भी निश्चित सूचना नहीं दी, किन्तु रोहतक, पानीपत, हिसार, योगिनीपुर (दिल्ली) गोपाचल (ग्वालियर) उज्जयिनी आदिके विषयमें कविने जैसा वर्णन किया है तथा उसकी हिन्दी रचना 'बारा-भावना'में प्रयुक्त हिन्दीकी प्रवृत्तिको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसका जन्म या निवास स्थान पंजाव, हरयाणा एवं राजस्थानके सीमान्तसे लेकर मध्यभारतके गोपाचल (ग्वालियर) तकके मध्यका कोई स्थान रहा है।

कविने गोपाचल नगरका विविध दृष्टिकोणोंसे जैसा वर्णन किया है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि गोपाचल या उसके आसपास कहीं उसकी जन्मभूमि अथवा निवासभूमि होना चाहिए। कविने अपनी रचनाओंके प्रशस्ति-खण्डोंमें यत्र-तत्र कुछ ऐसी सूचनाएँ दी हैं, जिनसे भी यह आभास होता है कि कविका साधना-स्थल गोपाचल-दुर्ग था। अपनी अधिकांश रचना-प्रशस्तियोंमें कविने गोपाचलकी राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियोंका विस्तृत वर्णन किया है। वहाँके समकालीन तोमरवंशी राजाओं, भट्टारकों एवं नगरसेठोंका जैसा मार्मिक एवं विस्तृत वर्णन किया है तथा गोपाचलके मन्दिरों, विहारों एवं जैन-मूर्त्तियोंका जैसा भव्य-वर्णन किया है, उन सभीसे यह प्रतीत होता है कि गोपाचल-दुर्ग विशेषतया एवं गोपाचलनगर अथवा गोपाचल-राज्य सामान्यतया उसके जन्म, निवास एवं साधनाके प्रमुख स्थान रहे हैं। गोपाचल-दुर्गकी ५७ फीट ऊँची आदिनाथकी प्रतिमाका प्रतिष्ठा-कार्य रइधूके द्वारा ही सम्पन्न हुआ था।[१] इन समस्त प्रमाणोंसे यह विदित होता है कि गोपाचल या उसके आसपास ही उसकी जन्मभूमि तथा गोपाचलनगर एवं दुर्ग उसका निवास एवं प्रमुख साहित्य-साधनाका स्थल था।

पूर्ववर्त्ती साहित्य और साहित्यकार

कवि रइधूने अपने साहित्य-प्रणयनके पूर्व कई पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा विरचित साहित्यका गहन अध्ययन किया था। कविने यह स्वीकार किया है कि उसके सम्मुख एक विशाल ज्ञान एवं साहित्य-परम्परा है, जिसके अनुकरणपर ही वह अपने गुरुओंके आदेशसे अपने भक्तजनोंकी ज्ञान-पिपासा शान्त करने हेतु ग्रन्थ-रचना करता रहा। उसने अपने लेखनकालमें कवि-चक्रवर्त्ती धीरसेन कृत दया-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ,[२] विद्यामन्दिरके समान देवनन्दिगणि कृत महावीर व्याकरण,[३] जिनवचनोंके आदेशोंका पालन करते हुए पविसेन द्वारा विरचित षड्दर्शन-प्रमाण सम्बन्धी ग्रन्थ[४] रविषेण द्वारा विरचित पद्मचरित,[५] जिनसेन द्वारा विरचित हरिवंशपुराण,[६] सुरसेन कृत मेहेसरचरिउँ दिनकरसेन कृत अनंगचरित[८] जिनसेन कृत महापुराण[९] तथा कवि चउमुह,[१०] द्रोण,[११] स्वयम्भू[१२] पुष्पदन्त[१३] एवं वीर[१४] आदि कवियोंके प्रचलित साहित्यका अध्ययन किया था। रइधूने उन्हें सूर्य, चन्द्र एवं स्वयंको क्षुद्र दीपक कहा है।[१५]

भट्टारक

महाकवि रइधूने अपने साहित्यमें काष्ठासंघ, माथुरगच्छ, पुष्करगण शाखाके मध्यकालीन लगभग १७ भट्टारकोंके नामोल्लेख किए है। उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। (१) रइधू पूर्व भट्टारक—जिनमें देवसेनगणि,[१६] विमलसेन,[१७] धर्मसेन,[१८] भावसेन[१९] एवं सहस्रकीर्ति[२०] आते हैं। तथा (२) रइधू कालीन भट्टारक—जिनमें गुणकीर्त्ति,[२१] यशःकीर्त्ति,[२२] पाल्ह ब्रह्म[२३] खेमचन्द्र,[२४] मलयकीर्ति,[२५] गुणभद्र,[२६] विजयसेन,[२७] खेमकीर्त्ति,[२८] हेमकीर्त्ति,[२९] कमलकीर्त्ति,[३०] शुभचन्द्र,[३१] एवं कुमारसेन[३२] आते हैं।

१. Journal of Asiatic Society, Bengal, Page 404 a; 422-423 T. and Tr.।

२–१५. मेहेसर०-१।९।१-८; अरिट्ठ०-१।२।८-११; सम्मइ०-१।९।२३-२४ तथा विशेष जानकारी के लिए दे०-रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ५९ से ६८।

१६–३२. दे० रइधू सा० आ० प० पृ० ६९-८९।

रइधू-पूर्व भट्टारकों का समय वि०सं० १४६८ के पूर्ववर्त्ती रहा है। क्योंकि वि०सं० १४६८में उसी परम्पराके रइधूके समकालीन एवं उनके गुरु भट्टारक गुणकीर्त्ति हुए हैं, जिनका कि समय उपलब्ध सन्दर्भ-सामग्रीके आधारपर सुनिश्चित है। अतः इसे रइधू-पूर्व भट्टारकोंकी उत्तरावधि मान सकते हैं। रइधू-पूर्व भट्टारकोंके उल्लेख वि०सं० १४०० के पूर्व साहित्यमें नहीं मिलते, अतः इनका समय वि०सं० १४०० से १४६८ के मध्य माना जा सकता है। रइधूने इन भट्टारकों का नामोल्लेख मात्र किया है, उनके साहित्य अथवा समयके विषयमें कोई उल्लेख नही किया है। समकालीन भट्टारकोंमें से कविने निम्नलिखित भट्टारकों को अपने गुरुके रूपमें स्मरण किया है[1]—(१) गुणकीर्त्ति, (२) यशःकीर्त्ति, (३) पाल्हब्रह्म, (४) कमलकीर्त्ति, (५) शुभचन्द्र एवं (६) कुमारसेन।

उक्त गुरु-परम्परा को भी तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है:—

१. रइधूने ऐसे भट्टारकों को अपने गुरुके रूपमें स्मरण किया, जिन्होंने उन्हें साहित्य-लेखन को प्रेरणा दी। इसके साथ-साथ जिन्होंने उसकी हर प्रकारसे सहायताकी एवं अन्य आश्रयदाताओं से सहायताएँ दिलवाईं। जैसे भट्टारक गुणकीर्ति, श्रीपालब्रह्म, एवं कुमारसेन।

२. जिन्होंने कविको उक्त सहायताओंके अतिरिक्त कुछ सिद्धान्त एव तत्त्वचर्चाके प्रसंगोंमे सम्भवतः शंकाओं का समाधान किया और अपने पास ही निवास-स्थान भी दिया। जैसे भ० कमलकीर्ति एवं शुभचन्द्र।

३. जिन्होंने मन्त्राक्षर दिया तथा ग्रन्थों का संशोधन एवं पथ-प्रदर्शन आदि किया। जैसे भट्टारक यशःकीर्ति।

आश्रयदाता.[2]

रइधूकी जितनी भी रचनाएँ हैं, कुछ को छोड़कर प्रायः सभीके पृथक्-पृथक् आश्रयदाता हैं तथा सभीके सम्बन्धमें उन्होंने कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि तत्कालीन राजनैतिक स्थिरता, समाजकी आस्थाबुद्धि एव धन सम्पन्नता, राजाओंकी उदारता एवं साहित्य-कारोंके प्रति उनकी सम्मानकी भावना तथा आश्रयदाताओंकी साहित्य-रसिकताके बिना विशाल-साहित्यका सृजन रइधूके लिए असम्भव था। उनके निस्वार्थ एव निश्छल आश्रयमें रहकर रइधू माँ भारतीकी अमूल्य सेवाएँ करते रहे। कविने भी उनकी श्रद्धा-भक्तिसे प्रभावित होकर स्वयं उनका तथा उनकी ११-११ पीढ़ियों तककी वंशावलियाँ एवं परिवारिक विस्तृत इतिहास आदि अपनी रचना-प्रशस्तियोंके माध्यमसे लिखकर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का परिचय दिया है। इस प्रकार एक ओर कविने जहाँ अपनी कृतियोंके साथ उन्हें अमरकर दिया, वहीं दूसरी ओर भावी परम्पराओंके लिए एक अमूल्य सामाजिक एव सास्कृतिक इतिहास भी तैयार कर दिया। अग्रवाल, जैसवाल, पद्मावती-पुरवाल, गोलालारे, पुरवार, खण्डेलवाल प्रभृति जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुमूल्य तथ्य भी इसके प्रशस्ति-खण्डोंमें उपलब्ध हैं।

---

१. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ६९–८९

२. विशेष जानकारी के लिए दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० सं० ८९ से ९४

प्रस्तुत ग्रन्थावलीमें संकलित ग्रन्थोंके आश्रयदाताओंमें क्रमशः श्रीखेऊ साहू (पा०च०) रणमल साहू (सु० च०) एवं भुल्लण साहू (ध० च०) हैं, जिन्होंने कविकी साहित्य-साधनामें यथासम्भव हर प्रकारकी सहायताएँ कीं। खेऊ साहूकी साहित्य-रसिकताका उदाहरण तो अपूर्व है। कविने जब 'पासणाहचरिउ'की रचना समाप्तकर उसे खेऊ साहूको समर्पित किया तो उसे उसने भक्तिविभोर होकर अपने माथेपर रख लिया तथा उसी समय प्रमुदित होकर उन्हें द्वीप-द्वीपान्तरोंसे मंगवाए हुए विविध वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत किया।[1] इस तथ्यसे यह स्पष्ट है कि खेऊ साहू गोपाचल (ग्वालियर) राज्यके एक सम्पन्न सार्थवाह एवं नगरसेठ थे, जिनका व्यापारिक सम्बन्ध द्वीप-द्वीपान्तरोंसे था।

समकालीन राजा

भारतीय इतिहासमें गोपाचलका स्वर्णिम अतीत सुप्रसिद्ध है। मध्यकालमें साहित्य, इतिहास, कला एव संस्कृतिका जैसा विकास हुआ, वह सुदूर अतीतकी टूटी हुई मालवाकी गौरवशालिनी परम्पराको सूत्रबद्ध करनेमें पूर्णतया सक्षम है। इतिहासकी भाषामें यदि कहा जाय तो कहा सकता है कि मालवामें मध्यकालीन गोपाचलने एक स्वर्णयुग उपस्थित किया था। मुस्लिम राजाओंके घनघोर आक्रमणोंसे नष्ट-भ्रष्ट गोपाचलके पुनरुद्धार और शांति-व्यवस्था, जनकल्याणकारी प्रचुर-कार्य, साहित्य-सृजन, प्राचीन-साहित्यकी प्रतिलिपियाँ एवं उनका जीर्णोद्धार तथा सुरक्षा, कलापूर्ण मन्दिरों, मूर्त्तियों एवं भवनोंके निर्माण, लेखन एवं भाषणकी स्वतन्त्रता, सर्वधर्म-समन्वय, जनसुरक्षाकी गारण्टी, गोवंशके प्रति सेवावृत्ति एवं पड़ौसी राजाओंसे सौहार्द निश्चय ही स्वर्णयुगके जनक कहे जा सकते हैं। वहाँके हिंदू राजवंशोंमें वैसे तो सभीकी कोई न कोई अभूतपूर्व देन रही है, लेकिन तोमरवंशी राजा डूँगरसिंहका नाम स्वर्णाक्षरोंमें अंकित करने योग्य है, जिनके अप्रतिम शौर्य, साहस, सहिष्णुता, विवेक, चातुर्य एवं धैर्यने गोपाचलको मूर्धन्य बना दिया।

राजा डूंगरसिंह तोमरवंशकी गोपाचाल-शाखाके ९ राजाओंमें से चतुर्थ राजा था।[2] आरंभमें उक्त वंश कई दशकों तक दिल्ली पर शासन करता रहा और उसके शौर्यका प्रभाव घर-घरकी कहानी बना रहा। उनके सम्बन्धमें एक लोकोक्ति ही चल पड़ी थी :—

फिर-फिर दिल्ली तोरौं (तोमरों) की।
तोर (तोमर) गए तब औरोंकी॥

किन्तु १४ वीं सदीके मध्यान्तमें दिल्लीमे जब तोमरोंका शासन समाप्त हो गया तब उनकी गद्दी वहाँसे हटकर ग्वालियरमें आ जमी। इस क्रममें गोपाचाल-शाखाका प्रथम तोमर राजा वीरसिंह देव (वि० सं० १४३२–५७), उसके बाद उद्धरणदेव (वि० सं० १४५७) विक्रमदेव अपरनाम वीरमदेव (वि० सं० १४५७–१४७६); एवं गणपतिदेव (वि० सं० १४७६–१४८१) नामक राजा हुए।

वि० सं० १४८१ में जब राजा डूँगरसिंहने राज्य-कार्य सम्हाला तब गोपाचलके उत्तरमें

---

१. पासणाह ७।१०।४-८

२. दे० पासणाह० की अन्त्य प्रशस्ति (दिल्ली प्रति) पृ० १५८–१५९

सैयदवंश, दक्षिणमें मांडोंके सुल्तान तथा पूर्वमें जौनपुरके शर्कियोंकी तलवारें डूँगरसिंहसे लोहा लेनेके लिए तैयार थीं। उनके साथ भयंकर संघर्ष भी हुआ, किन्तु डूँगरसिंह ही विजयी रहा। दिलावर खां गोरी एवं हुशंगशाह गोरी, जो कि अपनेको बड़ा भारी पराक्रमी समझते थे, उन्हें डूँगरसिंहने ऐसा सबक सिखाया कि बादमें उन्होंने सिर उठानेका साहस ही नहीं किया। यहाँ तक कि हुशंगशाहके पास जो हीरा-मोती एवं माणिक्योंका अमूल्यकोष संचित था, डूँगरसिंहने उसे भी उससे छीन लिया था। आज जिस कोहिनूर हीरेकी कहानियाँ बड़े आदरके साथ सुनी जाती हैं, और जो इंगलैंडकी साम्राज्ञी विक्टोरियाके मुकुटको सुशोभित कर रहा है, वही 'कोहिनूर' हीरा हुशंगशाहसे छीनकर राजा डूँगरसिंहने अपने राज्यके कोषमें सुरक्षित किया था।[१]

वि० सं० १४९२ में मांडोके मुहम्मद खिलजीने गोपाचलपर सशक्त आक्रमण किया, किन्तु राजा डूँगरसिंहने उसे भी उल्टे पैरों वापिस भगा दिया था। दिल्ली, जौनपुर एवं मालवाके राजाओंने यद्यपि उसे शान्तिसे नहीं रहने दिया, फिर भी वे गोपाचल-दुर्गका बाल-बाँका नहीं कर सके। इतना ही नहीं, मालवाके अधीनस्थ नवररके सर्वश्रेष्ठ दुर्ग को अपने अधीन कर लिया था। नरवर-दुर्गकी वैसीही स्थिति थी, जैसी कि वीर शिवाजीके लिए सिंहगढ़-दुर्ग की। राजा डूँगरसिंहने जब इसपर विजय प्राप्त की, तब सारे राज्यमें दिवाली मनाई गई थी तथा नरवरमें स्मृति-स्वरूप एक 'जयस्तम्भ' का निर्माण कराया गया था, जो आज 'जैतखभ' के नामसे प्रसिद्ध है।

राजा डूँगरसिंह एक ओर जहाँ अपने शत्रुओंके लिए काल था, वहीं दूसरी ओर प्रजा-पालक, धर्मभीरु, साहित्य एवं कलाप्रेमी भी था। कहते हैं कि उसने ग्वालियर-दुर्गमें एक ऐसा कुँआ बनवाया था, जो सर्वौषधि मिश्रित था तथा जिसका जल नगरके बीमारोंके लिए दवाके रूप में वितरित किया जाता था। प्रजामें सुख-शान्ति एवं सुरक्षाके हेतु तथा अपने पिताकी स्मृति को स्थायी बनाने हेतु उसने गोपाचल-दुर्गमें "गणेश-पौर"[२] नामक एक विशाल दरवाजेका भी निर्माण कराया था। इनके अतिरिक्त जैन-साहित्य-लेखन एवं जैन मूर्ति-निर्माणमें इसका योगदान जैन-इतिहासका एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

डूँगरसिंह स्वयं लेखक या कवि था, इसकी जानकारी तो अभी तक उपलब्ध नही हो सकी, किन्तु रइधू साहित्यसे यह स्पष्ट विदित होता है कि वह साहित्य-रसिक था तथा कविजनों का हृदयसे सम्मान करता था। उसके द्वारा सम्मानित कवियोंमें भट्टारक गुणकीर्ति, यशःकीर्त्ति, रइधू, जयकीर्त्ति, गोस्वामी विष्णुदास प्रभृति प्रमुख हैं। महाकवि रइधूकी रचनाओंसे प्रभावित होकर राजा डूँगरसिंहने उसे अपने दुर्गमें ही रहने का आग्रह[३] किया था, जिसे उसने स्वीकार कर लिया था[४]।

---

१. रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन—पृ० ९६

२. रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ० ९६-९७

३. वही पृ० ९७

४. सम्मइ० १।३।९

महाकवि रइधूको गोपाचल-नगर (ग्वालियर), गोपाचल-दुर्ग एवं तोमरवंशसे इतनी ममता हो गई थी कि उसने प्रायः अपनी समस्त रचनाओंके आदि एवं अन्तिम प्रशस्ति-खण्डोंमें उनकी जी भरकर चर्चाएँ की हैं। गोपाचलको उसने "पण्डितोंका गुरु"[१] गोपाचल-दुर्गको स्वर्गगुरु[२], एवं राजा डूँगरसिंहको परमतेजस्वी, शूरवीर, तथा प्रजावत्सल कहा है।[३] कविने डूँगरसिंहका जीवन-चरित अपनी प्रशस्तियोंके माध्यमसे सुन्दर-शैलीमें प्रस्तुत किया है जो संक्षेपमें निम्न प्रकार है—

"राजा डूँगरसिंह तोमरवंशी नृप गणेशके पुत्र थे[४]। उनकी पत्नीका नाम चन्दादे था।[५] उन दोनोंकी कोखसे कीर्त्तिसिंह नामक एक पराक्रमी एवं तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ[६]।"

"वह डूँगरसिंह गोपाचल नगरमें तोमर कुलरूपी श्री के लिए राजहंसके समान[७], गुणगण-रूपी रत्नोंके लिए समुद्रके समान, यशस्वी, अन्याय एवं न्यायका ज्ञाता, पंचांग-मंत्रमें प्रवीण, शास्त्र-कुशल, शत्रुओंके हृदय-स्थलमें दाह उत्पन्न करनेवाला, युद्धक्षेत्रमें जिसने सदा विजय लाभ किया है। तलवारके अग्रभागसे जिसने म्लेच्छ-वंशका नाश किया है, 'राजा' इस 'पट्ट'से अलंकृत, विशाल ललाटवाला, अतुलित बल वाला शत्रुकुलके लिए प्रलय-कालके समान नृप गणेशका सुपुत्र, अत्यन्त प्रचण्ड, गायोंके संरक्षणमें अद्भुत पराक्रमी, सप्तांग-राज्यको धारण करनेवाला, बन्धु-बान्धवोंको सम्मान एवं दानसे सन्तुष्ट करनेवाला, विषमकालमें भी स्तम्भके समान सदा अडिग रहनेवाला, जिसका यश समुद्री किनारों तक पहुँच चुका था, छत्तीस प्रकारके आयुधोंमें जो प्रवीण था, शत्रुओंको त्रास देनेवाला, नवीन मेघके समान बरसनेवाला, तथा पृथिवीको धारण करनेवाला, डोंगरेन्द्र नामक राजा हुआ[७]।"

"जिसके राज्यमें प्रजाका सदा पालन एवं शत्रुओंका तर्जन होता है"।[८]

डूँगरसिंह प्रकृतिसे उदार था। उसका राज-दरबार सभीके लिए खुला रहता था। कोई भी व्यक्ति जाकर अपनी कठिनाइयाँ एवं आवश्यकताएँ सुनाकर उससे सहायताकी याचना कर सकता था। इस प्रसंगमें एक घटना अत्यन्त मार्मिक है। डूँगरसिंहके समयमें ग्वालियरमें ही एक कमल-सिंह संघवी निवास करते थे। उन्होंने राजासे मूर्ति-प्रतिष्ठा करने सम्बन्धी अपने मनकी बात कही। राजा डूँगरसिंहने कमलसिंह संघवी द्वारा भगवान आदिनाथकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराए

१. पासणाह०—१।२।१५-१६।
२. सम्मत्त०—१।२।९-१०।
३. मेहेसर०—१।४।१०; सिरिवाल०—१०।२३।४; सुकोसल०—४।२३।४।
४. धण्णकुमार०—१।३ घत्ता; पासणाह०—१।४।६ तथा अन्त्य लिपिकार प्रशस्ति पृ० १५८।
५. मेहेसर०—१।५।५; पासणाह०—१।५।१-३, रिट्ठणेमि०—१।२।५।
६. पासणाह०—१।५।३-५; सम्मत्त०—१।११।५; रिट्ठणेमि०—१।२।६-७; मेहेसर०—१।५।५-६; सिरिवाल०—१०।२३।५।
७. पासणाह०—१।५।१-१२; सम्मत्त०—१।५।५-१३।
८. सुकोसल०—४।२३।४।

आनेकी बात सुनकर उसका जैसा उत्तर दिया, वह इतिहासकी एक अमर घटना है। वह उत्तर-मध्यकालके उत्तर-भारतकी राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितिका दिग्दर्शन कराती है। राजा डूँगरसिंह संघवी कमलसिंहके प्रतिवेदनके उत्तरमें कहते हैं[१]—

—"हे वणिक्श्रेष्ठ, तुम्हारे मनमें जिस पुण्य-कार्यके करनेकी इच्छा जागृत हुई है, उसे अवश्य ही पूर्ण करो। उस पुण्यकार्यके करनेमें अन्य जो भी आनुषंगिक कार्य हों, उन्हें भी पूर्ण करो। अपने मनमें किसी भी प्रकारकी शंका मत करो। धार्मिक-कार्योंके निमित्त सन्तुष्ट रहो, यही मेरी इच्छा है। जिस प्रकार सोरट्ठि (सौराष्ट्र) देशमें वीसलदेव राजाके राज्यमे लोग बिना किसी विघ्न-बाधाके धर्म-पालन करते थे, जिसप्रकार वस्तुपाल-तेजपाल आदिने प्रवर तीर्थक्षेत्रका निर्माण किया, जिसप्रकार पेरोजसाहि (फीरोजशाह) के राज्यमें योगिनीपुर (दिल्ली) में प्रजा निर्विघ्न होकर धर्म-पालन करती हुई निवास करती है तथा सुप्रसिद्ध सारंगसाहुने धर्मानुरागमें रंगकर जिस प्रकार धर्म-यात्राएँ की हैं, उसी प्रकार हे गुणज्ञ, हे धर्मात्मा साहू, तुम भी धर्म-कार्यों के हेतु अपनी प्रचुर-सम्पत्तिका उपयोग करो। उसमें यदि कुछ कमी पड़ेगी, तो मै उसे पूर्णकर दूँगा। राजाने यह बात दुहराते हुए उसे सम्मान-सूचक पानका बीड़ा दिया तथा कमलसिंह प्रसन्न होकर अपने घर लौटा।"

डूँगरसिंहके समयमें राजनैतिक दृष्टिसे तोमर-वंश बड़ा प्रबल हो गया था। उत्तर-भारतमें उसकी पूरी धाक थी और दिल्ली जौनपुर, एवं मालवाके मुस्लिम-राज्योंके बीचमें स्थित इस हिन्दू-राज्यसे सभी सहायता भी माँगते थे तथा समय पाकर उसे हड़प जानेकी चिन्तामें भी रहते थे।

राजा डूँगरसिंह मूर्त्तिकला प्रेमी था। रइधूने नगर-वर्णनके प्रसंगमें लिखा है कि "उसने अगणित मूर्त्तियोंका निर्माण कराया था। उन्हें ब्रह्मा भी गिननेमें असमर्थ है।"[२] इसमें कोई सन्देह नहीं कि डूँगरसिंहने वि० सं० १४९७ से १५१० तक कला-पारखी विशेषज्ञोसे ग्वालियर-दुर्गमें जैन-मूर्त्तियोंका निर्माण कराया तथा मृत्युकालमें अपने उत्तराधिकारी पुत्रराजा कीर्तिसिंहको दीर्घ-काल तक जैनमूर्त्तियोंके निर्माण करानेका आदेश दिया था, जिसका उसने पालन भी किया था। इस प्रसंगमें श्री हेमचन्द्ररायका निम्न कथन दृष्टव्य है :[३]—

He (Dungersen) was great patron of the Jaina faith and held the Jainas in high esteem During his eventful reign the work of Carving Jaina images on the rock of the fort of Gwalior, was taken in hand, it Was brought to completion during the reign of his successor Raja Karnisingh (or Kirtisingh). All Statues of the Jaina pontiffs of antiquity gaze their tall niches like mighty guardians of the great Fort and its surroundings landscape. Babur was much annoyed by these rock Sculptures asto issue orders for their destructions in 1557 A. D.

---

१. सम्मत्त०—१।१५।७–२१।

२. सम्मत्त०—१।१७।५.

३. Romance of the Fort of Gwalior—(1931.) Pages 19-20.

इस प्रकार महाराज डूंगरसिंहने गोपाचलके उत्थानमें हरक्षेत्रमें प्रयास किया। प्रजा-वत्सलताके कारण अपने राज्यमें उन्हें वही सम्मान एवं लोकप्रियता प्राप्त थी, जो समुद्रगुप्तको अपने पराक्रमके कारण, अशोकको उदारवृत्ति एवं दयालुताके कारण तथा राजा भोजको साहित्य-प्रेमके कारण प्राप्त थी। गोपाचलके भाग्यसे राजा डूंगरसिंहमें उक्त तीनों गुणोंका अद्भुत समन्वय था। परम तेजस्विता एवं पराक्रमशीलता, दयालुता एवं साहित्यरसिकताकी त्रिवेणीके अद्भुत संगम-रूप उक्त नरेशका नाम इतिहासके अमर पृष्ठोंमें सदा अंकित रहेगा।

डूंगरसिंहकी मृत्युके बाद उसका पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह वि० सं० १५११ के लगभग गद्दीपर बैठा। युद्ध-प्रेम, साहित्य-रसिकता एवं निर्माण-कलाके क्षेत्रमें वह अपने पिताका ही पदानुगामी था। उसे भी अपने जीवनमें पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा। दिल्ली, जौनपुर एवं मालवासे यद्यपि उसे भी निरन्तर टक्करें लेनी पड़ीं, फिर भी उसके राज्य-कालमें साहित्य एवं कला सम्बन्धी कार्य बराबर चलते रहे। कवि नारायणदासने अपनी 'छिताई-चरित' नामक ग्रन्थकी रचना[1] एवं हेम-चन्द्रकृत 'शब्दानुशासनवृत्ति'की प्रतिलिपि[2] तथा कनकाद्रि (आधुनिक सोनागिर—जि० दतिया, मध्यप्रदेश)में एक महत्त्वपूर्ण भट्टारकीय गद्दीकी स्थापना[3] कीर्त्तिसिंहके कालमें ही हुई थीं।

राजा कीर्त्तिसिंह बचपनसे ही रइधूका भक्त था। उसकी जैनधर्म, साहित्य एवं जैनमूर्त्तियों के प्रति भी बड़ी श्रद्धा थी। दुर्गमें जब ५७ फीट ऊँची आदिनाथकी मूर्त्तिकी प्रतिष्ठाकी चर्चा संघवी कमलसिंह और राजा डूंगरसिंहके बीच चल रही थी, तब कीर्त्तिसिंह भी वहाँ उपस्थित था तथा उस प्रसंगमें उसका हृदय गद्गद हो उठा था[4]। उसकी ज्ञानाराधनाके विषयमें कविने लिखा है कि वह राजनीति-विज्ञानका पण्डित, चार प्रकारकी राजविद्याओंको धारण करनेवाला, अप्रमादी, यशस्वी एवं कलिकालचक्रवर्त्ती था तथा पृथिवीमण्डलके महाराजाओंमें उसका प्रथम स्थान था।[5]"

अन्य समकालीन राजाओंमें रुद्रप्रताप चौहानका नाम प्रमुख है, जिसके राज्यकालमें कविने अपनी 'पुण्णासवकहा' नामक रचना लिखी थी।[6] इस रचनाके लेखनकालको देखते हुए राजा रुद्रप्रतापका समय वि० सं० १४६८ से १५३० के मध्य निश्चित होता है।

रुद्रप्रताप बड़ा पराक्रमी राजा था—उसे अपने पूर्वजोंसे उत्तराधिकारमें मात्र दो ही साधन उपलब्ध हुए थे—पराक्रम एवं शत्रुओंके साथ संघर्ष। किन्तु रुद्रप्रतापने इन्हें अपने जीवनका सर्व-श्रेष्ठ वरदान समझा। उसे अपने भुजबल पर बड़ा विश्वास था। वि० सं० १५०२ के लगभग उसने दिल्लीके अलाउद्दीन आलमशाहसे भोगाँव, कम्पिला एवं पटियालीके राज्य छीन ही नहीं

१. विद्यामन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर (१९६० ई०) से प्रकाशित।
२. दे० रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन—पृ० १०४।
३. रिट्ठणेमि०—१।२।१३।
४. सम्मत्त०—१।७।५।
५. दे० सावय०—१।३।११-१२।
६. दे० रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ११४।

लिए, बल्कि उस पर ऐसा प्रभाव जमाया कि आगे वह राजा रुद्रप्रतापसे कई विषयोंमें सलाह ही लेने लगा। शर्की राजाओंकी युद्धवृत्ति देखकर वि० सं० १५२० के लगभग रुद्रप्रतापने उनसे भी अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, किन्तु उसे उसके तुरन्त बाद सुलतान बहलोलसे लोहा लेना पड़ा, किन्तु बहलोलको भी अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। रुद्रप्रतापके इस पराक्रमका ऐसा आतंक फैला कि दिल्लीके सुलतान भी अवसर आनेपर उसकी सलाहसे कार्य करने लगे।[1]

'पुण्णासवकहा' के अनुसार राजा रुद्रप्रताप चौहानवंशी नरेश राजा रामचन्द्रका पुत्र था। रुद्रप्रताप अपने पिताके समान ही बड़ा तेजस्वी, यशस्वी एवं पराक्रमी था। भयानक युद्धोंमें भी वह निर्भीक होकर पराक्रमपूर्वक भिड़ता था। वह मेरुके समान धीर, कामदेवके समान सुन्दर, शत्रुओंके लिए प्रलयकालके समान, गुणीजनोंके सम्मानकी भावनासे युक्त तथा अत्यन्त लोकप्रिय राजा था। वह अपने पिताके जीवनकालमें ही राज्याभिषिक्त हो गया था।[2]

राजा रुद्रप्रतापकी राजधानी कुशस्थल देशान्तर्गत सभी प्रकारकी समृद्धियोंसे समृद्ध चन्द्रवाडपट्टन थी, जो कालिन्दी नदीके तीर पर बसी थी।[3] वहीं पर श्रावक नेमदास, जो कि प्रसिद्ध जौहरी थे तथा जिन्होंने चन्द्रवाडमें एक विशाल एवं भव्य जिनालय बनवाकर उसमे विद्रुम, रत्नों एवं पाषाणकी कई सुन्दर मूर्तियोंका निर्माण कराकर वहाँ प्रतिष्ठित कराई थी, निवास करते थे।[4] वे राजा रुद्रप्रताप द्वारा सम्मानित थे।[5] उन्हीके अनुरोधसे रइधूने 'पुण्णासवकहा' का प्रणयन[6] किया था।

काल-निर्णय

महाकवि रइधूने अपने जन्मकाल अथवा प्रारम्भिक रचनाका सूचक किसी प्रकारका संकेत अपनी रचनाओंमें नहीं किया। परवर्त्ती साहित्यमें भी एकाध उल्लेखको छोड़कर कहीं भी उसका उल्लेख उपलब्ध न हो सका। ऐसी स्थितिमें साधनोंके सीमित होनेपर भी हम अन्तर्बाह्य साक्ष्योंके आधार पर उनके जीवन-क्रमका अनुमान निम्नलिखित सहायक-सामग्रीके आधार पर कर सकते हैं—

क. महाकवि रइधूका प्रशस्ति-साहित्य।

ख. मूर्त्ति, प्रतिष्ठा एव यन्त्र-लेख।

ग. रइधूके परवर्त्ती कवियों द्वारा उनके उल्लेख।

घ. समकालीन भट्टारकों एवं राजाओंके उल्लेख एवं घटनाएँ, एवं

ङ. अन्य सामग्री।

उक्त आधार-सामग्रीमेंसे निम्न सन्दर्भ क्रमशः विचारणीय है—

---

१. दे० रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ११४।

२. पुण्णासव०—१।४।१–११।

३. वही—१।३।२–१२।

४. वही—१।५।१–१२।

५. वही—१३।११।२।

६. वही—१।६।३–१५।

पूर्वावधि

१. गंज-बासौदा (विदिशा, मध्यप्रदेश) में एक यन्त्र लेख[1] प्रतिष्ठित है, जिस पर काष्ठासंघ, माथुरगच्छकी पुष्करगण शाखाके भट्टारक हेमकीर्त्ति, कमलकीर्त्ति एवं पं० रइधूके नाम अंकित है। यह क्रमिक गुरु-शिष्य परम्परा है। रइधू प्रतिष्ठाचार्य भी थे। अतः प्रतीत होता है कि भट्टारक कमलकीर्त्तिकी उपस्थितिमें रइधूने इस प्रतिष्ठा-कार्यको सम्पन्न कराया होगा। यन्त्रलेखका समय वि० सं० १५०६ ज्येष्ठ सुदी·······शुक्रवार है।

२. रइधूने अपनी एक रचना 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' की अन्त्य-प्रशस्तिमें उसका रचना-समाप्ति-काल वि० सं० १४९९ भाद्रपद, शुक्लकी पूर्णमासी, कुजवार दिया है। इसकी समाप्तिमें कविको तीन मास लगे थे[2]।

३. रइधू-साहित्यमें गणेशनृप सुत राजा डूँगरसिंहका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। रइधूके 'सम्मइजिणचरिउ' के एक उल्लेखके अनुसार वह उस समय ग्वालियर-दुर्गमे ही निवास कर रहा था[3]। प्रतीत होता है कि उसने उसी समय 'सम्मइजिणचरिउ' का प्रणयन किया था। राजा डूँगरसिंहका राज्यकाल वि० सं० १४८२ से १५१०—११ है।

'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' के अनुसार रइधूने ग्वालियर-दुर्गमें एक विशाल उत्तुंग आदि-नाथकी मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी। प्रतिष्ठाके समय आयोजित समारोहका सुन्दर विस्तृत वर्णन उक्त ग्रन्थकी आद्य-प्रशस्तिमें उपलब्ध है। उसके प्रतिष्ठापक श्री कमलसिंह संघवीका राजा डूँगरसिंहके साथ हुआ वार्त्तालाप तथा मूर्त्ति-प्रतिष्ठा करा सकनेकी अनुमति एवं सहायता-प्राप्ति सम्बन्धी सरस-वर्णन भी उक्त प्रशस्तिमें अंकित है[4]। 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व'का रचनाकाल पूर्वमें लिखा हो जा चुका है।

'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व'की उक्त प्रशस्तिका समर्थन ग्वालियर-दुर्गकी ५७ फीट ऊँची आदिनाथकी मूर्त्ति पर अंकित उस लेखसे पूर्णतया हो जाता है, जिसमें उक्त कमलसिंहका नाम अंकित है तथा प्रतिष्ठाचार्यके रूपमें पण्डित रइधूका भी उल्लेख है। यह मूर्त्तिलेख वि० सं० १४९७ का है।[5]

४. रइधूने अपनी एक रचना 'सुकोसलचरिउ' में उसका रचना-समाप्ति-काल वि० सं० १४९६ दिया है।[6] इस रचनामें कविने अपनी पूर्वरचित रिट्ठणेमिचरिउ, पासणाहचरिउ, एवं बलहद्दचरिउ नामक तीन रचनाओंके उल्लेख किए हैं[7] तथा रिट्ठणेमिचरिउमें महापुराण—तेसट्ठि-

१. अनेकान्त—१८।६।२६४।
२. सम्मत्त०—४।३४।८–१०।
३. सम्मइ०—१।३।९–१०।
४. सम्मत्त०—१।११।१–२१।
५. दे०—रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन—पृ० १३० से १४१।
६. सुकोसल—४।२३।१–३।
७. वही०—१।३।५–७।

महापुरिसचरिउ, मेहेसरचरिउ जसहरचरिउ, वित्तसार, जीमंधरचरिउ, कोमुइकहपबंधु एवं पासणाहचरिउ नामक अपनी पूर्वरचित रचनाओंके उल्लेख किए हैं।[१] इसी प्रकार कोमुइकहपबंधु में भी महापुराण—तेसट्ठिमहापुरिसचरिउ, सिद्धन्तत्थसार, पुण्णासवकहा, मेहेसरचरिउ तथा जसहरचरिउके उल्लेख किए हैं।[२] परिमाणकी दृष्टिसे सभी रचनाएँ विशाल है। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वि० सं० १४९६ तक रइधूकी साहित्य-साधना पर्याप्त दीर्घकालीन हो चुकी थी।

५. रूपनगर (दिल्ली)के श्वे० जै० शा० भण्डारमें महाकवि रइधू कृत 'पासणाहचरिउ'की एक सचित्र प्रति सुरक्षित है, जिसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १४९८ है। यह प्रति कविके जीवनकालकी ही है तथा मूल रचनाके लिखे जानेके तत्काल बाद ही लिखी गई होगी।[३]

६. रइधूने अपनी एक रचना 'रिट्ठणेमिचरिउ' ब्रह्मचारी खेल्हाकी प्रेरणासे रची थी। यह ब्रह्मचारी भट्टारक गुणकीर्त्तिका शिष्य था, जिसने उनसे कुछ व्रत-नियम ग्रहण किए थे।[४] अतः खेल्हाका समय भट्टारक गुणकीर्त्तिके समयसे अर्थात् वि० सं० १४५७ के बाद काफी लम्बे समय तक रहा है, यह सुनिश्चित है, क्योंकि खेल्हाने भट्टारक यशःकीर्त्तिसे भी कुछ व्रत आदि ग्रहण कर तथा उन्हींसे प्रार्थना करके रइधूको 'सम्मइजिणचरिउ' के लिखनेकी प्रेरणा कराई थी।[५]

७. रइधूने अपनी 'धण्णकुमारचरिउ' नामक रचनाकी आदि एवं अन्त्य प्रशस्तियोंमें लिखा है कि उसने उसकी रचना अपने गुरु गुणकीर्त्ति भट्टारकके आदेशसे की है।[६] गुणकीर्त्तिका समय अनुमानतः वि० स० १४५७ से १४८६ के मध्य है। उक्त तथ्योंसे रइधूके रचनाकालकी पूर्वावधि वि० सं० १४५७ सिद्ध होती है।

उत्तरावधि

१. कवि महिंदुने अपने संतिणाहचरिउमें पूर्ववर्त्ती कवियोंकी परम्परामें कवि रइधूका स्मरण किया है।[७] इससे विदित होता है कि रइधू एक आदर्श कविके रूपमें विख्यात हो चुके थे। महिंदुका रचनाकाल वि० सं० १५८७ है।[८]

२ रइधूने अपनी कुछ रचनाओंकी प्रशस्तियोंमें राजा डूँगरसिंहके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह तोमर एवं रामचन्द्र चौहानके पुत्र राजा रुद्रप्रताप चौहानका वर्णन विस्तारपूर्वक किया है।[९] इन दोनों राजाओंका अन्तिम काल वि० सं० १५३० के आसपास तक ठहरता है।

---

१. रिट्ठणेमिचरिउ—१।३।१–१०।

२. कोमुइकह०—१।३।१–४।

३. दे० अनुसन्धान-पत्रिका [जन०—मार्च —१९७३] पृ० ५०—५७ मे प्रकाशित —'महाकवि रइधूकृत 'पासणाहचरिउ' की सचित्र प्रति : एक मूल्यांकन—' नामक हमारा शोध निबन्ध।

४-५ दे० अनेकान्त—१५।१।१६—२० प्रकाशित मेरा शोध-निबन्ध—'ब्र० खेल्हा'।

६. धण्ण०—१।२।८–१० तथा ४।१९।१०-११।

७. संतिणाहचरिउ—१।५।४।

८. प्रशस्ति-संग्रह भाग २ (सम्पा०—प० परमानन्दजी शास्त्री) भूमिका, पृ० १२३–४ तथा मूल—पृ० ११३।

९. दे० रइधू-साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन—पृ० ९५ से ११६।

३. अपनी 'रिट्ठणेमिचरिउ' नामक कृतिमें कवि रइधूने कमलकीर्त्ति भट्टारक द्वारा कनकाद्रिमें भट्टारकीय पट्टके स्थापित करने तथा उस पर अपने शिष्य भ० शुभचन्द्रको प्रतिष्ठित करनेका उल्लेख किया है।[१] । भ० शुभचन्द्रको कविने रिट्ठणेमिचरिउमें अपना गुरु भी माना है।[२] शुभचन्द्रका समय वि० सं० १५३० के आस पास है।[३]

उक्त सभी सन्दर्भोंके आधारपर निम्न निष्कर्ष सम्मुख आते हैं:—

१. रइधूने गुणकीर्त्ति भट्टारकको अपना गुरु माना है। उन्हींके आदेशसे उसने 'धण्णकुमारचरिउ' की रचनाकी थी।[४] पद्मनाभ कायस्थने भी राजा वीरमदेव तोमरके मन्त्री कुशराज जैनके निमित्त उक्त गुणकीर्त्तिके आदेशसे दयासुन्दर-काव्य (यशोधर-चरित) नामक ग्रन्थ लिखा था।[५] वीरमदेवका समय वि० सं० १४५७–१४७६ है।[६] भट्टारक गुणकीर्त्तिका भी वही समय रहा है। अतः वि० सं० १४५७ रइधूके रचनाकालकी पूर्वावधि सिद्ध होती है।

२. रइधूने 'रिट्ठणेमिचरिउ'की रचना भट्टारक शुभकीर्त्तिकी प्रेरणासे की थी। जिनका समय वि० सं० १५३०के आस-पास है। इसी प्रकार रइधू-साहित्य-प्रशस्तियोंमें राजा कीर्तिसिंह तोमरके राज्य-कालका वर्णन मिलता है। जिसका समय वि० सं० १५११–१५३०के मध्य रहा है।[७] इन उल्लेखोंके अनुसार रइधूके रचना अथवा जीवनकालकी उत्तरावधि भी वि० सं० १५३० स्थिर होती है।

३. वि० सं० १४५७ से १५३०का उक्त काल तो रइधूका ऐसा जीवन अथवा रचनाकाल है, जिसमें उसने गार्हस्थिक चिन्ताओंका भार वहन करते हुए लगभग २२-२३ विशाल ग्रन्थ लिखे थे। इनके अतिरिक्त उसने छोटी-बड़ी कुछ रचनाएँ और भी की थीं, जो भाषा-शैली आदिकी दृष्टिसे कुछ शिथिल जैसी प्रतीत होती हैं तथा किन्हीं-किन्हींमें कविने अपना नामोल्लेख भी नहीं किया, क्योंकि सम्भवतः उसे स्वयं उन रचनाओंसे सन्तोष न रहा होगा। हो सकता है कि कविने उन रचनाओंको प्रयोगात्मक समझा हो, क्योंकि ये हिन्दी, प्राकृत एवं अपभ्रंशमें हैं। उक्त रचनाओंके निर्माणमें कविको कुछ न कुछ समय अवश्य लगा होगा। अतः यदि हम यह समय २ वर्ष मान लें तथा यदि यह भी मान लें कि कविने अध्ययन-मनन करनेके बाद लगभग १६ वर्षकी आयुसे काव्य-रचना प्रारम्भकी होगी तब उसका कुल जीवन-काल वि० सं० १५३० – १४५७ = ७३ वर्ष तथा ७३ + २ + १६ = ९१ वर्षका माना जा सकता है। अतः उसका जन्मकाल वि० स० १४३९के आस-पास रहा होगा। इसके विरोधमें जब तक कोई ठोस प्रमाण न मिलें तब तक रइधूका कुल समय वि० सं० १४३९से १५३० [सन् १३८२–१४७३ ई०] माना जा सकता है।

---

१. रिट्ठणेमि—१।२।१३।
२. वही—१४।२३।९–१२।
३. भट्टारक-सम्प्रदाय—लेखांक ५९३।
४. धण्ण० १।२।८-१०; ४।१९।१०-११।
५. दे० रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन-पृ० १२०।
६-७. विशेष विवरणके लिए दे० 'मध्यप्रदेश-सन्देश' [ग्वालियर, मार्च १९६७]में प्रकाशित मेरा शोध-निबन्ध।

रइधू साहित्यमें गोपाचल

महाकवि रइधूने अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें ग्वालियरका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसके समयमें वहाँका वैभव अपने यौवन पर था। वहाँके कलापूर्ण भवन एवं मन्दिर, जन-कोलाहलसे परिपूर्ण सुन्दर सड़कें, सोने-चाँदी एवं हीरे-मोतियोंसे भरे हुए बाजार, स्थान-स्थान पर निर्मित दानशालाएँ एवं चटशालाएँ आदि किसीके भी मनको मोह लेती थीं। समृद्ध व्यापारी-वर्ग धर्म एवं साहित्यकी सेवामें सदैव अग्रगामी रहता था। ग्वालियरमें विद्वानों एवं कवियोंका जमघट था। समाजमे उन्हें खूब प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त होता था। नगर-वधुएँ जब प्रभाती-गीत एवं पूजन-भजनके सुन्दर पद्य मधुर स्वर-लहरीसे गाती हुई निकलती थीं, तब नगरमें शान्तिका साम्राज्य छा जाता था। इसे देखकर कवि स्वयं ही आत्म-विभोर हो उठता था। सर्वगुण सम्पन्न होनेके कारण कविको ग्वालियरके लिए 'पण्डित'की उपाधि प्रदान करनी पड़ी। वह कहता है[१]:—"पृथ्वी-मण्डलमें प्रधान, देवेन्द्रोंके मनमें भी आश्चर्य उत्पन्न कर देनेवाला, विशाल तोरणों एवं शिखरोंसे युक्त यह गोपाचल नगर ऐसा लगता है, मानों वह पण्डित-श्रेष्ठ गोपाचल हो।" आगे चलकर कविने ग्वालियर-नगरका बड़ा ही सुन्दर एवं विशद् वर्णन किया है। ग्वालियरको 'पण्डित-श्रेष्ठ'की संज्ञा देकर भी कविको जब पूर्ण सन्तोष न हुआ तब उसने पुनः उसे 'श्रेष्ठतम नगरोंका गुरु'[२] तथा 'स्वर्गका गुरु'[३] भी मान लिया।

पण्डित-श्रेष्ठ गोपाचलकी चरणरज लेकर अपनेको पवित्र माननेवाली सुवर्णरेखा नदीका चमत्कार भी देखिए कविने किस सरस-शैलीसे प्रस्तुत किया है:—

सोवण्णरेह णं उवहिं जाय। णं तोमरणिव पुण्णेण आय॥
ताइ वि सोहिउ गोवायलक्खु। णं भज्ज समाणउँ णाहु दक्खु॥

पासणाह० १।३।१५–१६

एक ओर गोपाचल नगर जहाँ अर्थ एवं कलाके वैभवका धनी था, दूसरी ओर वह प्रकृति का प्रांगण भी बना हुआ था। वहाँके नदी, नद, वन, उपवन विशाल सरोवर हरे-भरे मैदान, सरोवरोंमें कूजने वाले कलहंस एवं वापिकाओंमें जलक्रीड़ा करनेवाले नर-नारी सभीके मनोंको मोह लेते थे।[५] एक स्थान पर तो कविने बड़ी ही सुन्दर कल्पनाकी है। उसके अनुसार 'नगरके भवन भवन नहीं, बल्कि राजा डूँगरसिंहकी सन्तति-परम्परा ही थी।[६] कविका भाव देखिए

१. पासणाह० १।२।१५–१६।

२. पासणाह० १।३।१७–१८।

३. सम्मत्तगुण० १।१ घत्ता।

४. कविने अपनी एक अन्य कृतिमें भी उक्त नदीके विषयमें लिखा है:—
सोवण्णरेह णइ जहिं सहए। सज्जण वयणुव्व सा जलु वहए॥
मेहेसर० १।४।४।

५. मेहेसर०—१।४।३; समत्तगुण—१।३।१–३।

६. मेहेसर०—१।४।५।

गूढ़ है। एक तीरसे दो लक्ष्योंकी सिद्धि उसनेकी है। भवनोंकी कलात्मक भव्यताका दिग्दर्शन एवं दूसरी ओर राजाके यशका स्थिरीकरण।

गोपाचलकी महिला-समाजसे तो कवि इतना अधिक प्रभावित था कि उसके गुणोंके वर्णनमें कविकी लेखनी अबाध गतिसे दौड़ती थी। कवि लिखता है कि 'वहाँकी नारियाँ दृढ़ शीलव्रतसे युक्त थीं, विविध प्रकारके दानोंसे पात्रोंका संरक्षण करती थीं, ऐसा प्रतीत होता है, मानों वहाँ नारीके रूपमें साक्षात् लक्ष्मीने ही अवतार ले लिया हो। वहाँ असुन्दर तो कोई दीखता ही न था। प्रातःकालीन क्रियाओंसे निवृत होकर सुन्दर-सुन्दर मोती जड़े वस्त्राभूषणादि धारण कर पूजा-के निमित्त प्रमुदित-मनसे नारियाँ मन्दिरोंकी ओर जाती थीं तथा देव एवं गुरुके चरणोंमें माथा झुकाती थीं। वे सम्यग्दर्शनके पालनमें प्रवीण थीं तथा पर-पुरुषोंको अपने भाईके समान मानती थीं। मैं वहाँके महिला-समाजके विषयमें अधिक क्या कहूँ, वहाँका तो बच्चा-बच्चा सप्तव्यसनोंका त्यागी था[1]।"

ग्वालियरके समाजके सद्गुणोंसे प्रभावित होकर कविने लिखा है कि "वहाँ घरों-घरोंमें मंगल-गान होते थे। पात्रभेदके अनुकूल दान दिए जाते थे। दीन-दुखियोंके प्रति प्रत्येक हृदयमें दया एवं उदारताका भाव था। निर्लज्जताका तो वहाँ निर्वासन ही हो गया था। सप्त-व्यसनका त्याग सभीने किया था। सहधर्मियोंके प्रति स्वाभाविक वात्सल्यभाव था तथा आत्म-प्रशंसा एवं परदोष-कथनकी प्रवृत्ति लोगोंमें न थी[2]"।

ग्वालियर-नगरकी स्थितिके विषयमें रइधूने लिखा है कि "स्वर्ण-शिखरों एवं फहराती हुई ध्वजाओं वाले जिनालय, भव्य-तोरणोंसे युक्त सुन्दर-सुन्दर भवन, बाजार एवं जन-कोलाहल-पूर्ण राजमार्ग सुशोभित थे। वहाँ सर्वत्र विवेकी महाजन निवास करते थे। जहाँ चारों वर्णोंके व्यक्ति निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते थे। लोग सोनेके कड़े धारण करते थे। मानिनी रमणियाँ विविध क्रीड़ाओंमें आसक्त रहती थीं। कहीं भी दीन एवं दुःखी व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ते थे"।[3]

गोपाचलके बाजारोंके विषयमें कविने वर्णन किया है कि "वे नगरके मध्यमें स्थित थे। सोना-चाँदी, हीरा-मोती, वस्त्र-वर्त्तन आदि सभी वहाँके बाजारोंमे उपलब्ध थे। बाजारोंकी सड़कें खचाखच भरी रहती थीं। हाथी, घोड़े सभी वहाँसे निकलते थे। हाथियोंके मदजलसे सड़कें व्याप्त रहती थी। उसकी सुगन्धके कारण भौंरे चारों ओर मँडराया करते थे। वहाँकी सड़कें पानकी पीकोंसे रंगी रहती थीं"।[4]

कविके उक्त नगर-वैभवके वर्णनकी शैली एवं परम्परा ऐतिहासिक तथ्यको व्यक्त करने-की दृष्टिसे तो अपना विशेष महत्त्व रखती ही है लेकिन इससे भी अधिक महत्त्व इस बातमें है कि वह परवर्त्ती साहित्यकारोंके लिए एक प्रेरणाका स्रोत बन गया। जो सिद्धहस्त कवि थे, वे उससे

१. सम्मत्तगुण०—१।६।१०-१६।

२. सम्मत्तगुण०—१।४।१-९; १।६।१-१९; सम्मइ०—१०।२९।

३. पासणाह०—१।३।१-१२; मेहेसर०—१।३ घत्ता एवं १।४।१-२।

४. सम्मइ०—१०।२८।१३-१६, पासणाह०—१।२।५, १२; सम्मत्तगुण०—१।३।५-६ मेहेसर०—१।४।६-८।

अनुप्राणित हुए तथा जो नवशिक्षित अथवा नवदीक्षित थे उसका उन्होंने शब्दशः अनुकरण किया। महाकवि रइधूके लगभग ४० वर्ष बाद ही एक कवि माणिकराज (वि० सं० १५७६) हुए हैं, जिन्होंने अपभ्रंशमें 'अमरसेनचरिउ' नामक काव्य लिखा था। उसके प्रशस्ति-खण्डमें उन्होंने भी नगर-वर्णन किया है। उक्त कविने ४-६ शब्द बदलकर महाकवि रइधूका ग्वालियर नगर-वर्णन पूरा का पूरा आत्मसात् कर लिया। उदाहरणार्थ १-१ कडवक यहाँ प्रस्तुत हैं:—

रइधू

घत्ता—
महिवीढि पहाणउ णं गिरि राणउ,
सुरहँ वि मणि विभउ जणिउ।
कउसीसहिँ मंडिउ णं इहु पंडिउ।
गोयायलु णामें भणिउ॥
पासणाह०—१।२।१५–१६

जहिँ सहहिँ णिरंतर जिण-णिकेय
पंडुर-सुवण्ण धयवसु समेय।
सट्टाल-सतोरण जत्थ हम्म
मण-सुह-संदायण णं सुकम्म।
चउहट्ट-चच्चर-दाम जत्थ
वणिवर ववहरहिँ वि जहँ पयत्थ।
मग्गण-ठाण कोलाहल समत्थ
जहिँ जण णिवसहिँ परिपुण्ण अत्थ।
जहिँ आवणम्मि थिय विविह भंड
कसवट्टहिँ कसियहिँ भम्मखंड।
जहिँ वसहिँ महायण सुद्ध-बोह
णिच्चंचिय-पूया-दाण-सोह।
जहिँ वियरहिँ वर चउवण्ण लोय
पुण्णेण पयासिय दिव्वभोय।
ववहार-पार संपुण्ण सव्व
जहिँ सत्तवसण मय-हीण भव्व।
सोवण्ण-चूड-मंडियविसेस
सिंगार-भार-किय णिरवसेस।
सोहग्ग-णिलय जिण-धम्म-सील
जहिँ माणिणि-माण महग्घ लील।
जहिँ चरड-चाड-कुसुमाल-टुट्ठ

माणिक्कराज

महीवीढि पहाणउ गुणवरिट्ठु
सुरहँ वि मण विंभउ जणइ सुट्ठु।
वरतिण्णिसाल मंडिउ पक्तिु
णंदह पंडिउ सुरपार पत्तु।
रहियासु वि णामें चडिउ इट्ठु
अरियण जणाह हिय सल्ल-कट्ठु।
जहिँ सहहिँ णिरंतर जिण-णिकेय
पंडुर-सुवण्ण धयमुह ममेय।
सट्टाल-सतोरण जत्थ हम्म
मण-सुह-संदायण णं सुकम्म।
चउहट्टय-चच्चर-दाम जत्थ
वणिवर ववहरहिँ वि जहिं पयत्थ।
मग्गण-गण कोलाहल समत्थ
जहिँ जण णिवसहिँ संपुण्ण अत्थ।
जहिँ आवणम्मि थिय विविह भंड
कसवट्टहिँ कसयहिँ भम्मखड।
जहिँ वसहिँ महायण सुद्धबोह
णिच्चंचिय पूया-दाण-सोह।
जहिँ वियरहिँ वर चउवण्ण लोय
पुण्णेण पयासिय दिव्व भोय।
ववहार-पार संपुण्ण सव्व
जहिँ सत्तवसण मय-हीण भव्व।
सोवण्ण-चूड-मंडियविसेस
सिंगार-भार-किय-णिरविसेस।
सोहग्ग-णिलय जिण-धम्म-सील
जहिँ माणिणि-माण महग्घ लील।
जहिं चरड-चाड-कुसुमाल-टुट्ठु

दुज्जण - सखुद्द - खल-पिसुण-धिट्ठ।	दुज्जण - सखुद्द-खल पिसुण धिट्ठ।
णवि दीसहिं कहिंमिव दुहिय-हीण	णवि दीसहिं कहि महि दुहिय-हीण
पेमाणुरत्तु सव्व जि पवीण।	पेमाणुरत्त सव्व जि पवीण।
जहिं रेहहिं हय-पय-दलिय-मग्ग	जहि रेहहिं हय-पय-दलिय-मग्ग
तंबोल - रंग - रंगिय - धरग्ग।	तंबोल - रंग - रंगिय - धरग्ग॥

घत्ता

सुहलच्छि जसायरु णं रयणाहरु बुहयण जुहु णं इंदउरु।
सत्थत्थहिँ सोहिउ जणमण मोहिउ णं वर णयरहँ एहु गुरु॥

अमरसेण चरिउ—१।३।१-१८ (अप्रकाशित, जयपुर प्रति)

सुहलच्छि जसायरु णं रयणायरु बुहयण जुहु णं इंदउरु।
सत्थत्थहिँ सोहिउ जणमण मोहिउ णं वर णयरहँ एहु गुरु॥

पासणाह०—१।३।१-१

[१] पासणाहचरिउ

१८-१९ वी सदीके प्रारम्भसे ही भारतीय आचार, दर्शन, इतिहास एवं संस्कृतिके सर्वेक्षण प्रसगोंमें भगवान् पार्श्वनाथका व्यक्तित्व बहुचर्चित रहा है। पाश्चात्य विद्वानोमें कोल्ब्रुक, स्टीवेंसन, एडवर्ड टामस, शार्पेंटियर, गेरिनो, पुसिन, याकोबी, एवं ब्लूमफील्ड तथा भारतीय विद्वानोमें डॉ० भण्डारकर, डॉ० बेल्वेल्कर, डॉ० दासगुप्ता, डी० डी० कोशाम्बी एवं डॉ० राधाकृष्णन् प्रभृति विद्वानोने उन्हे सप्रमाण ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध किया है तथा उनके महान् कार्योंका मूल्याकन करते हुए उनके सार्वभौमिक रूपका विशद विवेचन भी किया है। प्राचीन भारतीय जैनेतर-साहित्य एव कलामे भी वे किसी न किसी रूपमे चर्चित रहे है। जैन कवियोंमें भी पार्श्व-चरित्त बड़ा लोकप्रिय रहा है, यही कारण है कि संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंशके महापुराणोंमें वर्णित कथानकोंके अतिरिक्त संस्कृतमें आचार्य जिनसेन (द्वितीय) का 'पार्श्वाभ्युदय' (९ वीं सदी), वादिराज कृत 'पार्श्वनाथ-चरित' (१०२५ ई०), माणिक्यनन्दि कृत 'पार्श्वनाथ-चरित' (१३ वीं सदी), भावदेवसूरि कृत 'पार्श्वनाथ-चरित' (सन् १३५५ ई०) सकलकीर्त्ति कृत 'पार्श्वनाथ-चरित' (१५ वीं सदी, तथा पद्मसुन्दर एवं हेमविजय कृत 'पार्श्वनाथ-चरित' (१५ वीं सदी) प्रमुख हैं।

प्राकृतमे अभयदेवके प्रशिष्य देवभद्र सूरि कृत 'पासणाहचरिय' (वि० सं० ११६८) प्रमुख है तथा अपभ्रंशमे पद्मकीर्त्ति कृत 'पासणाहचरिउ' (वि० सं० ९९२) विबुध श्रीधर कृत 'पासणाह-चरिउ' (वि० सं० ११८९) एवं, असवाल कृत पासणाहचरिउ (१५ वीं सदीके लगभग) महत्त्वपूर्ण हैं।

महाकवि रइधूको उपर्युक्त पार्श्वनाथ-चरितोंकी एक लम्बी शृंखला प्राप्त हुई। फलत: उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंशके पार्श्व-चरितोंका आलोडन कर पार्श्वकी कथावस्तुको सुन्दर एवं आकर्षण ढंगसे गुम्फित कर 'पासणाहचरिउ'की रचना की। उक्त ग्रन्थ सम्बन्धी कथाशिल्प, काव्य-सौन्दर्य, प्रबन्ध-पटुता एवं प्रबन्ध-नियोजन पर विचार करनेके पूर्व उसकी कथावस्तुका संक्षिप्त अंकन करना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार है :—

जम्बूद्वीप स्थित काशी देशमें अश्वसेन नामक राजा राज्य करते थे। उनकी पट्टरानीका नाम वामादेवी था। कालक्रमसे वामादेवी गर्भवती हुई।

[प्रथम सन्धि]

तीर्थंकर-पुत्रके गर्भमें आनेके कारण इन्द्रका आसन कम्पायमान हुआ। उसने अपने ज्ञान-बलसे उसके गर्भमें तीर्थंकर-पुत्रको आया जानकर देवाङ्गनाओंको भेजा। देवाङ्गनाओंने भी उबटन, कपोल-लेख एवं विविध मनोरंजनादिके माध्यमसे वामाकी सेवाएँ की।

एक दिन वामादेवीने पश्चिम-रात्रिमें १६ स्वप्न देखे। प्रातःकाल होते ही वह राजा अश्वसेनके पास स्वप्न-फल पूछने हेतु गई। अश्वसेनने भी उनका क्रमशः फल सुनाया। अपने गर्भमें तीर्थंकरके जीवको आया हुआ जानकर वह भी अत्यन्त प्रसन्न हुई।

पौष कृष्ण एकादशीको शुभ-मुहूर्त्तमे पार्श्वने जन्म लिया, जिसके उपलक्ष्यमें देवोंने आकर नाना प्रकारके उत्सव मनाए। चतुर्विध देवोंने पूजाकी तथा माताके पास एक मायामयी बालकको स्थापना कर वे पार्श्वके अभिषेकके लिए एक पाण्डुक-शिला पर ले गए। अभिषेकके बाद पुष्प-माल्यार्पण एवं पूजा आदि करके उन्होंने विविध आभूषण पहिनाए और हिन्दोले पर झुलाया।

आयु-वृद्धि होने पर पार्श्व समवयस्कोंके साथ तरह-तरहकी क्रीडाएँ कर सभीका मनोरंजन करने लगे और इस प्रकार आनन्द-पूर्वक समय व्यतीत करते हुए उनकी आयु ३० वर्षकी हो गई।

[दूसरी सन्धि]

एक दिन राजा अश्वसेन अपने राज-दरबारमे बैठे थे कि उसी समय कुशस्थलके राजा शक्रवर्माके पुत्र राजा अर्ककीर्त्तिके राजदूतने उन्हें एक सन्देश दिया कि—"यमुना नदीके किनारे पर रहनेवाले यवननरेन्द्रने अर्ककीर्त्तिसे उसकी पुत्री प्रभावतीको माँगा है और ऐसा न करनेपर उसने युद्धकी धमकी दी है।" दूतका सन्देश सुनकर एवं अपने साले अर्ककीर्त्तिका अपमान देखकर अश्वसेन क्रुद्ध हो उठे तथा उन्होंने यवननरेन्द्रपर चढ़ाई करनेके लिए सेनाको तैयार होनेका आदेश दे दिया। पिताको युद्धके लिए तैयार होते देख पार्श्वने उनके स्थानपर स्वयं ही युद्ध-हेतु जानेके लिए अत्यन्त आग्रह भरी प्रार्थना बारम्बारकी, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। पार्श्व-ने ससैन्य युद्धस्थलकी ओर प्रयाण किया। यवननरेन्द्र और अर्ककीर्त्तिमें घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें पार्श्वके प्रभावमात्रसे ही उनकी विजय हो गई और वापस लौटनेपर उनका एक महान् विजेताके रूपमें स्वागत किया गया, आरती उतारी गई एवं प्रजाओंने हर्ष-विभोर होकर नाना संगीत-वाद्य बजाए।

पार्श्वके मामा अर्ककीर्त्ति भी पार्श्वके विजय-पराक्रमसे अत्यन्त प्रसन्न थे। अर्ककीर्त्तिकी अत्यन्त सुन्दरी प्रभावती नामकी एक युवती कन्या थी, अतः अर्ककीर्त्तिने पार्श्वसे उसके साथ विवाह-सम्बन्ध कर लेनेका आग्रह किया। पार्श्वने उसे स्वीकृति प्रदान कर दी।

एक दिन नागरिकोंकी जाती हुई भीड़ देखकर पार्श्वने अर्ककीर्त्तिसे उसका कारण पूछा। अर्ककीर्त्तिने बताया कि समीपवर्त्ती वनमें एक तापस पधारे हैं, उन्हींके दर्शनार्थ ये लोग जा रहे हैं। कौतुहल-वश पार्श्व भी अपने मामा अर्ककीर्त्तिके साथ तापसके पास पहुँचे। उसे पञ्चाग्नि-तप

तपते देख पार्श्वने अपने ज्ञान-बलसे अग्निके ढेरमें लगे हुए एक सूखे वृक्षके कोटरमें जलते हुए नाग-नागिनीकी उससे चर्चा की। तापस अपनेको तिरस्कृत समझ अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा, किन्तु पार्श्वके कहनेसे उसने पञ्चाग्निमें लगे हुए सूखे वृक्षके उस कोटरको जब फाड़ा, तो उसमेंसे अर्धदग्ध नाग-नागिनी निकल पड़े। मरणोन्मुख देखकर पार्श्वने उन नाग-नागिनीको मन्त्रदान दिया, जिससे मरकर वे स्वर्गमें धरणेन्द्र एवं पद्मावतीके रूपमें उत्पन्न हुए। किन्तु उस घटनाके बाद ही पार्श्वनाथके मनमें संसारके प्रति असारताका भाव उदित हो गया और द्वादशानुप्रेक्षाओंका चिंतवन करते हुए उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया। [तीसरी सन्धि]

वैराग्य ग्रहण करनेके बाद पार्श्व रथमें बैठकर वनकी ओर चले और अथाह गंगा-प्रवाह लांघते हुए अहिच्छत्र-नगर पहुँचे। वहाँ एक सुन्दर-शिला पर बैठकर अपने समस्त आभरणोंको उतारकर फेंक दिया तथा पंच-परमेष्ठियोंका स्मरण करते हुए पर्यंकासन लगाकर केशलुंच किया। अष्टोपवासके बाद हस्तिनापुरके सेठ वरदत्तके यहाँ उन्होंने आहार ग्रहण किया तथा वहाँसे तपस्या-हेतु वे घोर वनमें चले गए।

इधर पार्श्वके वियोगमें अश्वसेन, वामादेवी, अर्ककीर्त्ति प्रभृति घरके लोग तथा राज्यके सभीजन शोक-सागरमें डूब गए। उधर गहन-वनमें जाकर पार्श्व प्रभुने दुर्धर-तप किया तथा कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त की।

इसी समय कमठ नामक एक देव अपनी भार्या सहित विमानमें आकाश-मार्गसे जा रहा था। जब वह पार्श्वके ऊपरसे निकला तभी अचानक ही उसका विमान रुक गया। उसने अपने ज्ञानबलसे पूर्वभवका स्मरणकर तथा विमानके रुकनेका कारण पार्श्वको ही समझकर उनपर भयंकर उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया, किन्तु पार्श्वप्रभु इससे जरा भी विचलित न हुए। उसी समय असुरेश्वरका आसन कम्पायमान हुआ। जब उसे पार्श्वप्रभु पर उपस्थित उपसर्गका ज्ञान हुआ तो तुरन्त ही उसके निवारणार्थ वहाँ आ पहुँचा और पार्श्वकी स्तुति कर उसने एक कमलासनकी रचना की। उस पर पार्श्वप्रभुको विराजमान कर उस फणीश्वर एवं पद्मावतीने उनके सिर पर छत्र तानकर उनके उपसर्गको दूर किया। यह सब देख कमठको और भी क्रोध आ गया और उसने दुगुना उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया, किन्तु पार्श्व अपनी तपस्यासे डिगे नहीं। उन्होंने अखण्ड-तपश्चर्याके कारण कषायादि सांसारिक बन्धनों एवं त्रेसठ-प्रकृतियोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। [चौथी सन्धि]

कैवल्य-प्राप्तिके बाद पार्श्वनाथ विहार करते-करते कन्नौज पहुँचे। वहाँके वनमालीने इसकी सूचना राजा अर्ककीर्त्ति को दी, जिससे वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सपरिवार उनके दर्शनोंके लिए पहुँचा। वन्दनादिके बाद उसने उनसे श्रावक-धर्मके सम्बन्धमें प्रश्न किया, जिसके उत्तरमें उन्होंने निर्दोष सम्यक्त्व, द्वादश-व्रत, दस-धर्म, षोडशकारणभावना, अष्टमूलगुण एवं सप्तव्यसन-त्यागका धर्मोपदेशकर लोक-रचनापर विशद प्रकाश डाला।

[पाँचवीं संधि]

धर्मोपदेश श्रवण करनेके बाद अर्ककीर्त्तिने कमठके द्वारा किए गए उपसर्गोंके कारणोंको जानने हेतु जिज्ञासा व्यक्त की, जिसके उत्तरमें पार्श्वने भवान्तर सुनाते हुए कहा :—

"सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरमें राजा अरविन्द राज्य करता था। उसका विश्वभूति नामक एक मन्त्री था, जिसकी अनुन्धरी नामकी पत्नीसे कमठ एव मरुभूति नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए। कमठ कुटिल बुद्धि था, जबकि मरुभूति बुद्धिमान् एवं सात्विक हृदय। कमठकी पत्नीका नाम वरुणा था। मरुभूतिकी पत्नी मरुभूतिके स्वभावसे विपरीत कुटिल चित्तवाली एवं चपल थी। वह पान चबाकर घूमती रहती थी। अवसर पाकर कमठने उससे बलात्कार कर लिया, जिसकी सूचना राजाके कानोंतक पहुँची। राजाने यही बात मरुभूतिसे पूछी। मरुभूतिने उसे भ्रामक समाचार कहकर उसे भुला देनेका निवेदन किया, किन्तु राजाने कमठको कठोर दण्ड देनेका ही निश्चय-कर उसे देश निकाला दे दिया। कमठ जंगलकी ओर भाग गया तथा उसने एक तापसका रूप धारण कर लिया।

मरुभूति भ्रातृ-शोकसे सन्तप्त होकर कमठकी खोजमे निकला। खोजते-खोजते वह जंगलमें पहुँचा, जहाँ उसने उसे एक तापसके पास देखा। तापसने मरुभूतिसे उसके आनेका कारण पूछा, तो उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुनकर कमठको मरुभूतिपर अत्यन्त क्रोध आया और उसने तप करते समय जो बड़ी-बड़ी शिलाएँ अपने हाथोपर रखी थीं, उन्हें ही मरुभूतिपर गिरा दिया। इस कारण तत्काल ही उसकी मृत्यु हो गई तथा अगले जन्ममें वह मरकर परिघोष नामक हाथी हुआ। संयोगसे कमठकी पत्नी वरुणा भी मरकर वही पर हथिनी हुई। राजा अरविन्दने भी अपने पुत्रको राज्य सौपकर दीक्षा ले ली। संयोगवश एकबार वही परिघोष हाथी मुनि अरविन्दके सम्मुख आया और पूर्वभवका स्मरणकर उसने उनसे व्रतधारण कर लिए।

इधर वह कमठ मरकर कुक्कुट सर्प हुआ। एक बार वह हाथी उसीके निवास स्थानके पास पानी पीने आया, जिसे देखकर उसको पूर्वभवका बैर स्मरण हो आया और उसे काट लिया। फलस्वरूप वह मरकर सहस्रार-स्वर्गमें उत्पन्न हुआ तथा वहाँसे चयकर लोकोत्तमपुरीके विद्याधर अशनिगतिकी पत्नी तडितवेगाकी कोखसे अशनिवेग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, किन्तु उसे ससारसे शीघ्र ही विरक्ति हो गई और वह एक गुफामें जाकर तप करने लगा।

कुक्कुट सर्प कालक्रमसे मृत्युको प्राप्त हुआ और सयोगसे उसी गुफामे अजगरके रूपमें उत्पन्न हुआ। अशनिवेगको देखते ही उसे पूर्व-बैरका स्मरण हो आया और वह उन्हें निगल गया, जिससे वे (अशनिवेग मुनि) मरकर अच्युत-स्वर्गमे देव उत्पन्न हुए। वहाँके सारे सुख भोगकर वह जम्बूद्वीपके अपर-विदेहके पद्मदेशकी आशापुरी-नगरीमें राजा वज्रवीणकी विजया नामकी रानीसे वज्रनाभि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने भी आगे चलकर क्षेमंकर मुनिसे दीक्षा ली।

वह अजगर सर्प भी मरकर पाँचवें नरकमें उत्पन्न हुआ तथा उसके बाद एक दुष्ट कुरंग-भिल्लके रूपमें जन्मा। एक दिन वज्रनाभि मुनि जंगलमें तपस्या कर रहे थे तभी उस भिल्लने पूर्व-भवकी शत्रुतावश उन पर घोर उपसर्ग किया, जिससे उनकी मृत्यु हो गई और तपके प्रभावके कारण वे ग्रैवेयक-स्वर्गमें अहमिन्द्र हुए तथा वहाँसे चयकर अयोध्या नगरीके वज्रबाहु राजाकी प्रियंकरी रानीसे आनन्दनामक पुत्र हुए। एक दिन वह आनन्द जिन-मन्दिर गया तथा वहाँ एक मुनिराजके दर्शनकर उनसे "मूर्त्ति-पूजासे क्या लाभ ?" जैसे कई प्रश्न किए। मुनिराजने उसके

प्रश्नोंका समाधान किया। उनसे प्रभावित होकर वह वैराग्यको प्राप्त हो गया तथा तप करने हेतु वनमें चला गया। इधर वह भिल्ल भी मुनि-हत्याके कारण सातवें नरकमें गया तथा वहाँसे लौटकर पुनः वह सिंहयोनिमें उत्पन्न हुआ। सिंहने पुनः पूर्व-बैरका स्मरणकर आनन्दमुनिका भक्षण कर लिया। जिससे मरकर वे १४वें स्वर्गमें उत्पन्न हुए। इधर वह सिंह भी मरकर प्रथम नरकमें जन्मा।

वही देव चयकर वाराणसी नगरीमें राजा अश्वसेनके यहाँ उनकी पट्टरानी वामादेवीके गर्भमें आया तथा पार्श्वनामसे जन्म लिया। इधर वह कमठका जीव प्रथम नरकसे निकलकर एक पाखण्डी तापस बना, जिसने पार्श्वपर घोर उपसर्ग किया।

[छठवीं सन्धि]

इस प्रकार भवान्तर सुनकर राजा अर्ककीर्त्तिने गृहस्थव्रत धारण किए तथा अखण्ड-पृथिवीका सेवन करने लगा। पार्श्वके उपदेशसे उनके माता-पिताने भी शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण कर ली। कालक्रमसे पार्श्वप्रभुने निर्वाण प्राप्त किया।

[सातवी सन्धि]

कथावस्तु-गठन एवं शिल्प

रइधूकृत 'पासणाहचरिउ'की कथाका मूल-स्रोत गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण है। उसके ३७वें पर्वमें पार्श्वनाथकी संक्षिप्त कथा वर्णित है। रइधूने उसे आत्मसात करके भी कथा-नियोजन में चातुर्यका प्रदर्शन किया है। उत्तरपुराण अथवा अन्य पार्श्व-चरितोंके आरम्भमें ही पार्श्वनाथकी पूर्वभवावली प्रारम्भ हो जाती है। पश्चात् पार्श्वनाथकी मूलकथा आती है। किन्तु 'पासणाह-चरिउ'में प्रथमतः कविने मूलकथाका अंकन किया है और बादमें मूलकथाको रसमय एवं उसमें जिज्ञासावृत्तिको-उत्पन्न करने हेतु सहकारी अवान्तर-कथाके रूपमें भवावलीको निबद्ध किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि रइधूका यह शिल्प काव्यतत्त्वकी दृष्टिसे अनुपम है। क्योंकि काव्यके पाठकोंको भवान्तरोंके जालमें पहले पहल ही उलझ जानेके कारण मूलकथा तक पहुँचनेमें बहुत ही आयास करना पड़ता है। वह सरल और सीधे रूपमें आदर्श-चरितको प्राप्त नहीं कर पाता। नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक आदर्श, जिन्हें वह अपने नायकके जीवनसे ग्रहण करना चाहता है, कथामें बहुत दूर तक उस नायकके यथार्थ स्वरूपसे अज्ञात ही रहता है। लम्बी-चौड़ी भवालियाँ नदीके आवर्तों-विवर्तोंके प्रतारणके समान पाठककी चेतनावृत्तिको मूच्छित जैसा बना देती हैं। फलतः कुछ दूर तक भावोंके प्रवाहमें बहनेके उपरान्त ही मूलकथाका वह सन्दर्भांश पाठकके हाथ आ पाता है, जिसका सम्बल पाकर ही वह समस्त कथामें अन्विति कर पाता है।

महाकवि रइधूने सर्वप्रथम ही काव्यकी शैलीमें मूलकथाका आरम्भ किया है। पार्श्वनाथ संसारसे विरक्त होकर तपश्चरण करने लगते हैं। पूर्वभवका शत्रु—कमठका जीव विविध रूपोंमें उनपर उपसर्ग करता है। उपसर्गके दूर होने पर जब उन्हे कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है तब अर्ककीर्त्ति द्वारा उपसर्गके रहस्यको प्रकट करनेकी प्रार्थना करने पर तीर्थंकर पार्श्व स्वयं ही पूर्वभवावलीका वर्णन करते हैं। रइधू द्वारा कथाके इस परिवर्त्तनसे वस्तु-विन्यासमें कार्य-कारण सम्बन्ध घटित हो गया है, जिससे कथावस्तुमें विश्वसनीयता, उत्कण्ठा, संघर्ष और भविष्य-संकेत

यथास्थान उत्पन्न होते चले गए हैं। इस परिवर्त्तनसे जहाँ कथानक-नियोजनमें सफलता प्राप्त हुई, वहीं इस चरितको काव्यका स्वरूप भी प्राप्त हो गया। प्रबन्धकाव्य या महाकाव्यके कविके लिए एक अनिवार्य शर्त्त यह है कि वह कथासूत्रका न्यास इस रूपमें करे कि जिससे रसज्ञ व्यक्ति मूलकथानकका आस्वादन करता हुआ चरमोत्कर्षकी ओर आकृष्ट हो सके। आलंकारिकोंने इसी कौशलका नाम प्रबन्ध-वक्रता बतलाया है। कुन्तकने अपने वक्रोक्ति-जीवितमें लिखा है—

प्रधानवस्तु सम्बन्ध तिरोधान विधायिना।
कार्यान्तिरान्तरायेण विच्छिन्न विरसा कथा॥
तत्रैव तस्य निष्पत्तेर्निर्निबन्ध रसोज्ज्वलाम्।
प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवां कामपि वक्रताम्॥

वक्रोक्तिजीवित ४।२०-२१

अर्थात् "कथाविच्छेद-वैचित्र्यसे प्रबन्धमें एक ऐसी सुन्दरता आ जाती है, जो पूर्वोत्तर कथा-निर्वाहके द्वारा कदापि नहीं आ सकती। अतः कुशल कलाकार प्रबन्ध-सौन्दर्यके निर्वाहके निमित्त-चरित-नायकके व्यक्तित्वको आरम्भमें ही प्रस्तुत कर देता है और आनुषांगिक कथासूत्रोंका नियोजन उस शैलीमें करता है, जिस शैलीमें सारा प्रबन्ध एकरस होकर चमत्कार उत्पादक बन सके"।

उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि महाकवि रइधूने परम्परा प्राप्त कथाके दो टुकड़े कर सर्वप्रथम उस टुकड़ेका सन्निवेश किया है जो मूलकथाका अंग है। इस प्रकारसे इसीको अंगी भी कहा जा सकता है, क्योंकि भवावलिकी कथा तो इस मूलकथाका अंगमात्र है।

प्रबन्ध-नियोजन एवं निर्वाह

प्रबन्धके ४ अवयव प्रधान होते हैं (१) इतिवृत्त (२) वस्तु-व्यापार वर्णन (३) संवाद, एव (४) भाव-व्यञ्जना। प्रबन्ध-निर्वाहमें क्रम-बद्धताका रहना तो अनिवार्य है ही, पर, कथाके मर्मस्थलोंकी पहिचान भी आवश्यक है। जो कवि मर्मस्थलोंकी परख रखता है, उसे ही प्रबन्धके सृजनमें सफलता प्राप्त होती है। महाकवि रइधूने प्रस्तुत चरित-काव्यके प्रबन्धसे ४ ऐसे मर्म-स्थलोंका नियोजन किया है, जिनके कारण इसके प्रबन्ध-गठनमें उसे अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। हम यहाँ उनके उक्त मर्मस्थलोंका उद्घाटन प्रस्तुत प्रसंगमें आवश्यक समझते हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१ प्रस्तुत चरित-काव्यका प्रथम मर्मस्थल वह है जब पार्श्वनाथ तीस वर्षके युवक हो जाते हैं[१]। तब शौर्य, वीर्य, आदि गुणोंके साथ नाना कलाएँ आकर स्वयमेव उनका वरण कर लेती हैं। क्षत्रियोचित वीरतेज सर्वत्र अपनी आभासे दिशाओंको प्रोद्भाषित कर देता है। इसी कालमें उनके मामा अर्ककीर्त्तिका दूत महाराज अश्वसेनकी राजसभामें आता है और निवेदन करता है कि "अर्ककीर्त्तिके पिता शक्रवर्माके दीक्षित हो जानेके उपरान्त अर्ककीर्त्तिको कमजोर पाकर उनके प्रतिद्वेषी यवन नरेन्द्रने उनकी कन्या प्रभावतीकी याचनाकी है और साथ ही यह

---

१. पासणाह०—२।१५।१०।

भी कहा है कि यदि प्रभावती उसे समर्पित न की जायगी तो वह समस्त राज्यको धूलिसात् कर देगा[1]।" अर्ककीर्त्तिके दूत द्वारा इन वचनोंको सुनकर महाराज अश्वसेन अत्यन्त क्रुद्ध हुए और स्वयं ही युद्धमें जानेके लिए सेनाको तैयार होनेका आदेश देते हैं[2]। चारों ओर रणध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। वीरोंकी हुंकारें मूर्त्तिमान् रौद्ररसके रूपमें उपस्थित होने लगती हैं।[3] जब पार्श्वनाथको इस सैन्य-सज्जाका वृत्तान्त अवगत होता है तो वे स्वयं पिताके समक्ष उपस्थित होते हैं और पितासे अनुरोध करते हैं कि—"मैं अकेला ही युद्धमें जा सकता हूँ। मेरे रहते हुए आपको युद्धमें जानेकी क्या आवश्यकता[4] ?" पार्श्वनाथ युद्धमें जाकर अपूर्व वीरताका प्रदर्शन करते हैं और यवन नरेन्द्रको परास्तकर विजयी बनते हैं[5]। अर्ककीर्त्ति पार्श्वकी इस वीरतासे प्रसन्न हो जाता है और अपनी पुत्री प्रभावतीका विवाह पार्श्वनाथके साथ करनेका पक्का विचार कर लेता है[6]।

उक्त सन्दर्भांश द्वारा नायकके अन्तर्द्वन्द्वका सुन्दर उद्घाटन हुआ है। यह द्वन्द्व कविने उक्त सन्दर्भांशके दो स्थलोंमें निर्दिष्ट किया है। प्रथमांश वह है, जब पिता युद्धके लिए प्रस्थानकी तैयारी करते हैं। लोक-मर्यादा-रक्षक पुत्र (पार्श्व) इसे अपनी वीरताके लिए चुनौती समझता है। अतः वह पिताको रोककर स्वयं ही युद्ध-क्षेत्रमें स्वयंके प्रस्थानकी अनुमति मांगता है। इधर पुत्र-वात्सल्य-विभोर पिता अपने पुत्रको युद्धमें जाने देना नहीं चाहता। महाकवि रइधूने उसी अन्तर्द्वन्द्वका कितना सुन्दर चित्रण किया है :—

"हे तात्, आप ही कहें, कि मुझ जैसे वज्र हृदय वाले पुत्रके घरमें रहते हुए भी आप युद्धमें क्यों जा रहे हैं ? मैं अकेला ही काल-यवनको रणभूमिसे उखाड़ फेकूँगा और जयश्रीको अनुरागपूर्वक अपने हाथोंमें ग्रहण करूँगा। मुझ जैसे पुत्रके रहते हुए हे राजन्, आपका युद्धमें जाना क्या योग्य है ?" [३।४।१०–१२]

पार्श्वका कथन सुनकर पिता अश्वसेनने कहा :—

"हे पुत्र, तुम्हारी पवित्र प्रवृत्तियाँ उचित ही हैं। तुम्हारा नाममात्र ही विघ्नोंको नष्ट कर देता है। हे आर्य, दूसरोंके लिए तुम अभी सरल स्वभाववाले बालक ही हो। देवेन्द्रके चित्तके लिए आनन्ददायक मात्र हो। तुमने यमराजके समान पापकारी एवं दूषित संग्रामके भयानक रंगको अभी नहीं देखा है। हे पुत्र, इसी कारणसे तुम्हें अभी युद्धमें नहीं भेजूँगा।"

[३।५।२–५]

पिताकी बात सुनकर पार्श्वने पुनः उत्तर दिया :—

१. वही—३।१–२।
२. वही—३।३।११–१२।
३. वही—३।८।९।
४. वही—३।४।६–११।
५. वही—३।९।४–६।
६. वही—३।११।१–३।

"हे तात्, क्या अग्निकी एक चिनगारी समस्त वनको जलाकर भस्म नहीं कर देती ? क्या मृगेन्द्र-शावक जंगलमें मदान्ध गजेन्द्र-समूहको पाकर उसे मार नहीं डालता ? उसी प्रकारमैं भी आकर युद्धमें देखता हूँ और यश-आशाके लोभी शत्रुको नष्ट कर डालता हूँ।" [३।५।६–१०]

दूसरा अन्तर्द्वन्द्व अर्ककीर्त्ति द्वारा प्रभावतीके साथ पाणिग्रहण करनेकी प्रार्थनाके अवसरका है। अनिन्द्य लावण्यवती चन्द्रवदनी प्रभावतीका सौन्दर्य युवक पार्श्वको अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है, पर जनता-जनार्दनका कल्याण करनेके लिए कटिबद्ध पार्श्वके अन्तस्में एक क्षण पर्यन्त अन्तर्द्वन्द्वके पश्चात् ही ज्ञान-रश्मि प्रस्फुटित हो जाती है और वे संकेत द्वारा ही अपनी हृदगत भावनाओंको निवेदित कर देते हैं। वह प्रसंग निम्न प्रकार है :—

अन्य दूसरे दिन अर्ककीर्त्तिने कहा—"मेरी मृगनयनी, चन्द्रवदनी, सौन्दर्यवती एवं स्वजनोंका मनोरंजन करनेवाली प्रभावती नामकी पुत्रीके साथ विवाह करो"। यह सुनकर पार्श्वजिनने कहा—"आप जो कहते हैं, वह शीघ्र ही हो" ? [३।११।१–३]

उक्त प्रसंग उपस्थित कर वस्तुतः रइधूने इस मर्मस्पर्शी सन्दर्भांशका नियोजन कर नायकके चरितको उदात्त तो बनाया ही है, साथ ही कथावस्तुको रसप्लावित भी किया है।

२ दूसरा मर्मस्थल वह है जब पार्श्वनाथ अपने मामा अर्ककीर्त्तिके साथ तापसके दर्शनार्थ वनमें पहुँचते हैं।[1] उस तापसको पञ्चाग्नि-तप करते हुए देखकर तथा जलते हुए काष्ठमें नाग-नागिनीको अपने ज्ञानबलसे दग्ध होते हुए जानकर तापससे वे कहते हैं कि "अज्ञानपूर्वक किया गया तप कर्मक्षयका हेतु नहीं होता। विवेक या ज्ञान ही ऐसी शक्ति है, जिससे ज्ञानी व्यक्ति अल्प साधना द्वारा ही बहुत फल प्राप्त करता है"। पार्श्वके उक्त वचनोंको सुनकर तापसका शिष्य—कमठ अत्यन्त क्रोधित होकर कहता है कि "इस तपको हम अज्ञानपूर्वक कैसे कर रहे है ? नाग-नागिनी कहाँ जल रहे हैं ? प्रत्यक्ष रूपसे दिखलाओ।" यह सुन पार्श्वने कहा कि 'जो लकड़ी पञ्चाग्निमें जल रही है, उसीको काटकर देखो, उसमें जलते हुए नाग-नागिनी दिखलाई पड़ जावेंगे।" पार्श्वके उक्त वचनानुसार वह अर्द्धदग्ध काष्ठ काटा जाता है और उसमेंसे अर्द्धदग्ध नाग-नागिनी निकाल पड़ते हैं।[2] मरणासन्न देखकर करुणावतार पार्श्व द्रवित हो उन्हें नमस्कार-मन्त्र सुनाते हैं, जिसके प्रभावसे वे मरकर धरणेन्द्र एवं पद्मावतीके रूपमें उत्पन्न होते हैं।[3]

उक्त कथांश भी उक्त प्रबन्धका मर्मस्थल है। यतः इसने देहली-दीपक-न्यायसे कथाके पूर्व एवं उत्तर दोनोंको आलोकित किया है।

३. प्रबन्धका तीसरा मर्मस्थल पार्श्वके पूर्वभवोंमें वर्णित मरुभूतिका भव है। कमठ इसका भाई है, जो दुराचारी और अनैतिक है।[4] मरुभूतिकी पत्नीके साथ वह अवसर पाकर दुराचार

१. पासणाह०—३।११-१२।

२. वही—३।१२।१५।१६।

३. वही—३।१३।२-५।

४. वही—६।२।६-७।

करता है ।[१] राजा अरविन्द कमठके इस कुकृत्यसे अत्यन्त रुष्ट हो जाता है और उसे राज्यसे निष्कासित कर देता है ।[२] मरुभूतिका करुण-हृदय भ्रातृ-वात्सल्यसे भर जाता है और अपने भाई को क्षमाकर देनेकी प्रार्थना राजासे करता है ।[३] किन्तु न्याय-परायण नृपति अरविंद आततायीको दण्ड देना राजधर्मके अनुकूल समझता है, फलतः उसे कमठको दण्ड देना पड़ता है ।[४]

निर्वासित होनेपर कमठके मनमें भयंकर प्रतिशोधाग्नि उत्पन्न होती है । वह अपने भाई मरुभूतिको ही इस अपमानका प्रधान कारण समझता है और तप द्वारा शक्तिका अर्जनकर मरुभूतिसे बदला चुकाना चाहता है ।[५] मानवताकी प्रतिमूर्त्ति मरुभूतिको कमठके निर्वासनसे घोर पश्चाताप होता है ।[६] वह अपने भाईको सभी तरहसे सुखी और सानन्द देखना चाहता है । अतएव राजा अरविन्दके द्वारा निषेध करनेपर भी कमठको वनसे वापिस लौटानेके लिए चल देता है । वह कमठकी तलाशमें वन-वनकी खाक छानता फिरता है और अन्तमें एक पाषाणशिलाके ऊपर उसे तप करते देख वह उसके पास पहुँच जाता है । अपनी निर्दोषता बतलानेके लिए और बीती बातें भूलकर घर लौट चलनेके लिए वह प्रार्थना करता है । कमठ क्रोधाभिभूत हो मरुभूतिके इस निश्छल-व्यवहारमे भी दुष्टताकी गन्ध पाता है और सात्त्विक प्रणामके लिए झुके हुए उस बेचारे मरुभूति पर पाषाण-शिला गिराकर वह दुष्ट उसका काम तमाम कर डालता है ।[७]

कथाका उक्त स्थल समस्त कथाको अनुप्राणित करता है । कमठके वैरका बीजवपन यहींसे होता है । आश्चर्य यह है कि वह एकांगी बैर जन्म-जन्मान्तरों तक चलता चला जाता है । महाकवि रइधूने यद्यपि यह सन्दर्भांश परम्परासे ही ग्रहण किया है, पर अपनी कल्पनाकी पुट भी जहाँ-तहाँ दी है, जिससे कथावस्तुमें रसमयता उत्पन्न हो गई है । चरित-काव्यके लिए जिस प्रकारके मर्मस्पर्शी कथांशकी आवश्यकता थी, उसे कविने उपमा और उत्प्रेक्षाओंके वातावरणमें उपस्थित कर दिया है ।

४ कथाका चौथा मर्मस्थल वह है जहाँ राजकुमार पार्श्व भगवान पार्श्वनाथ बननेके लिए प्रयत्नशील होते हैं । यह सत्य है कि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती । सबल कारण मिलते ही कार्य उत्पन्न हो जाता है । जिस प्रकार हवाका एक झोंका भस्मावृत्त अग्निको निवारण कर उद्दीप्त कर देता है, उसी प्रकार कोई भी सबल निमित्त किसी भी संवेगीको सहजमें ही विरक्त बना देता है ।

जलते हुए नाग-नागिनी[८] जन-कल्याणके लिए तत्पर पार्श्वनाथको एक नया विरक्तिका

१. वही—६।३।८ ।
२. वही—६।५।१२-१३ ।
३. वही—६।४।४-८ ।
४. वही—६।५।७-१० ।
५. वही—६।७ ।
६. वही—६।८।२-३ ।
७. पासणाह०—६।८।१७–१८ ।
८. वही—३।१२।१३ ।

सन्देश सुनाते हैं। उन्हें संसारका मोहक सौन्दर्य फीका दिखलाई पड़ने लगता है। फलतः वे दीक्षित होकर तपश्चर्यामें संलग्न हो जाते हैं।[1]

काव्यका अन्तिम लक्ष्य फल-प्राप्ति है। महाकवि रइधूने अपने उदात्त चरित नायक पार्श्वनाथको फलकी ओर अग्रेसर कर प्रबन्ध-निर्वाहमें मर्मस्थलका संचार किया है। यों तो उनके समस्त भव-भवान्तरोंकी अवान्तर कथाएँ ही मर्मस्थल हैं, जो मूल कथानकमें रस-संचरणकी क्षमता उत्पन्न करती हैं। अतः यह मानना तर्कसंगत है कि महाकवि रइधूने प्रस्तुत चरित-काव्यमें मर्मस्थलोंकी योजना स्पष्ट रूपमें की है।

यद्यपि वस्तु-व्यापार-वर्णनोंमें कवि पौराणिकताकी सीमामें ही आबद्ध है तो भी अवसर आनेपर नगर, वन, उषा, युद्ध, राज्य, सेना, पशु-पक्षी आदिके वर्णनोंमें भी वह पीछे नहीं है। इन वर्णनोंमें कुछ ऐसे वर्णन हैं, जो घटनाओंमें चमत्कार उत्पन्न करते हैं और कुछ ऐसे है जो परिस्थितियोंका निर्माण कर ही समाप्त हो जाते हैं। महाकवि रइधू काशी देशकी वाराणसी नगरीका स्वाभाविक चित्रण करते हुए वहाँके निवासी भोले-भाले ग्वाल-गोकुलोंका ऐसा वर्णन करते हैं, जिससे प्रबन्धांश प्रबन्धकी अगली कड़ीको पूर्णतया जोड़नेमें समर्थ होता है। यथा:—

इह जंबूदीवइ सुर-भूहरि दाहिण भरहवासि लच्छीहरि।
कासी णामु देसु तहिँ सुहयरु णं महि जुवईहिँ सुह-पोसण-वरु।
जहिँ गोउल-धवलंग चरहिँ कणु कोइ ण लुणइ ताह कज्ज तणु।
जहिँ गहवइ सुय सुयगण वारइ सो जि ताहँ पडिसद्द जि धारइ।
पंथिय पंथ खेउ णउ जाणहिँ मणइंछिय णाणासुह माणहिँ।
जहिँ गोवालिय दहिउ ण मंथहिँ देसियाहँ पीणहिँ थिय पथहिँ।
घत्ता—तहिँ जण-मण-हारी सुरहँ पियारी वाणारसि णयरी वसए।
रयणेहिँ पमंडिय वइरि अखंडिय गेहहिँ णं सग्गउ हसए॥

[१।९।४-११]

परिस्थिति-निर्माणके लिए जिन वस्तुओंकी योजना कविनेकी है, उनमें भगवान् पार्श्वनाथका जन्माभिषेक विशेष महत्त्वपूर्ण है। चतुर्जातिके देव एकत्र होकर उन्हें सुमेरु पर्वतपर ले जाते हैं तथा अत्यन्त उत्साहपूर्वक बड़े ही समारोहके साथ उनका जन्माभिषेक सम्पन्न करते है[2]। यह जन्माभिषेक निम्न परिस्थितियोंका निर्माण करता है:-

तीर्थंकरके पौराणिक अतिशयों और महिमाओंके प्रदर्शन द्वारा धीरोदात्त नायकके विराट और भव्य रूपका प्रस्तुतीकरण—पुराणकार इन पौराणिक सन्दर्भोंको केवल महान् व्यक्तियोंके ईश्वरत्व या महत्त्वके प्रतिष्ठापनमें आयोजित करता है, पर काव्य-स्रष्टा इन महत्त्वोंके द्वारा काव्योत्कर्षके लिए धरातलका निर्माण करता है। जिस प्रकार काव्य-कलाका मर्मज्ञ-कवि पौराणिक अतिशयोंको संचित कर काव्यके विराट फलकपर नवीन चित्राकनका कार्य सम्पन्न करता

१. वही—३।१४-२६।
२. पासणाह०—२।६-१५।

है। अतएव स्वप्न-दर्शन[1], स्वप्न-फल,[2] तीर्थंकर-जन्म[3] और इसी प्रकारके अन्य पौराणिक-अतिशय-काव्य ऐसी पृष्ठभूमि बनाते हैं, जिससे नायकका चरित्र उदात्त बनता है और रसोत्कर्ष भी वृद्धिगत होता है। महाकवि रइधूने अपने वस्तु-व्यापारों द्वारा प्रस्तुत काव्यमें अन्तर्द्वन्द्व, भावनाओंके घात-प्रतिघात एवं संवेदनाओंके गम्भीरतम संचारको उत्पन्न किया है। कविका सूक्ष्म-पर्यवेक्षण वस्तुओंके चित्रणमें सदा सतर्क रहा है। अतः संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि 'पासणाहचरिउ' के सीमित-व्यापार काव्यको प्रबन्ध-पटुतासे परिपूर्ण बनाते हैं।

संवाद-तत्त्व

काव्य-सौष्ठवके लिए संवाद-तत्त्व नितान्त आवश्यक है जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में मनुष्यकी बातचीत उसके चरित्रकी मापदण्ड बनती है, उसी प्रकार पात्रोंके कथनोपकथन उनके चरित्र एवं क्रिया-कलापोंको उद्भाषित करते हैं। मनुष्यकी बाह्य-आकृति एवं उसकी रूप-सज्जा केवल इतना ही बता सकती है कि अमुक व्यक्ति सम्पन्न है अथवा दरिद्र, किन्तु मनोभावोंकी गहरी छानबीन संवाद या वार्तालापोंके द्वारा ही सम्भव है। कर्मठता, अकर्मण्यता, उदारता, त्याग, साधुता, दुष्टता, दया, प्रेम एवं ममता आदि वृत्तियों एवं भावनाओंकी यथार्थ जानकारी सवादोंसे ही सम्भव है।

महाकवि रइधूने प्रस्तुत चरित-काव्यमें अनेक वर्ग और जातियोंके पात्रोंका समावेश कर उनके वार्त्तालापोंके द्वारा जातिगत विशेषताओं एवं उनके विभिन्न मनोवेगोंका सुन्दर विवेचन किया है। हम रइधूके संवादोंको निम्नश्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं:—

१. शृंखलाबद्ध संवाद, एवं
२. उन्मुक्तक-संवाद,

शृंखलाबद्ध संवाद वे संवाद हैं, जो प्रस्तुत चरित-काव्यमें कुछ समय तक धाराप्रवाह रूपमें चलते रहते हैं। यद्यपि चरित-काव्यमें उक्त श्रेणीके संवाद नगण्य ही हैं। राज-सभाओंके बीच होनेवाले संवादोंमें पर्याप्त मार्मिकता है। इस काव्यके संवादोंमें सिद्धान्त या आत्मतत्त्वोंकी सघनता पुराणके समान नहीं है क्योंकि पुराणके संवाद बहुत ही विस्तृत होते हैं और वे संवादसे भाषणका स्थान ग्रहणकर लेते हैं। पात्रोंके अभिभाषण इतने लम्बे हो जाते हैं कि जिससे पाठक सहज ही में ऊब जाता है, पर काव्यके संवाद उस करेंच (कोंच)की फलीके समान है, जिसका हलका-सा स्पर्श ही घंटोंतक तीक्ष्ण कंडू उत्पन्न करनेकी क्षमता रखता है। महाकवि रइधूने अपने इन क्षिप्रगामी संवादोंको इसी प्रकारका प्रभावोत्पादक बनाया है।

उन्मुक्तक संवादके अन्तर्गत उन संवादोंको लिया जा सकता है, जिनमें पात्र प्रश्नोत्तरके रूपमें अपने मानसिक वेगोंको प्रस्तुत कर देते हैं। कभी-कभी इस प्रकारके संवाद समस्याके समा-

१. पासणाह०—२।३।
२. वही—२।४।
३. वही—२।५।

धानके साथ-साथ किसी सिद्धान्त-विशेषका भी प्रतिपादन प्रस्तुत करते हैं। हम यहाँ 'पासणाहचरिउ'के प्रमुख संवादोंको प्रस्तुत करते हैं—

१. काशीनरेश अश्वसेन और अर्ककीर्त्तिके दूतका संवाद।
२. पार्श्वनाथका अपने पिताके साथ युद्ध विषयक संवाद।
३. पार्श्वनाथ और तापसका संवाद।
४. मरुभूति और राजा अरविंदका संवाद।
५. कमठ और तापसका संवाद, तथा
६. आनन्द और मुनिका संवाद।

काशी-नरेश अश्वसेनकी सभामें राजा अर्ककीर्त्तिका दूत आता है। वह अपने स्वामीकी अन्तर्व्यथाको महाराज अश्वसेनके सम्मुख उपस्थित कर देता है। महाकवि रइधूने राजदूतके भाषणको इतने अधिक आकर्षक और मनोहर ढंगसे उपस्थित किया है कि उससे आजकलके राजदूतका आभास होने लगता है। उसके प्रत्येक कथनमें तर्कके साथ भावनाओंको उद्वेलित करनेकी पूर्ण क्षमता है। वह अपने कथनको हृदयस्पर्शी बनानेके लिए सर्वप्रथम अर्ककीर्त्तिके पिता शक्रवर्माकी ससार-विरक्ति और दीक्षा-ग्रहणका सुख-सवाद उपस्थित करता है।[1] महाराज अश्वसेन अपने श्वसुरके आत्मकल्याणकी बात अवगतकर हृदयमे आनन्दित होते हैं। अर्ककीर्त्तिका दूत यहीं विराम नहीं लेता, वह महाराजाधिराजके उत्तराधिकारी अर्ककीर्त्तिकी अल्पशक्ति एव दुर्दमनीय यवननरेशकी अनीतिका उद्घोषणकर अश्वसेनमें क्रोधका सचार करता है।[2] यतः वीरताकी भावना जागृत करनेके लिए क्रोधका आवेश आना अत्यावश्यक है। महाकवि रइधूके इस सन्दर्भकी तुलना हम महाकवि कालिदासके 'आभिज्ञान-शाकुन्तल'में निरूपित उस स्थलसे कर सकते हैं जिसमे शक्रका सारथी—मातलि शकुन्तलाके विछोहमें डूबे हुए शोकमग्न दुष्यन्तमें वीरत्वके संचारके लिए उसके परममित्र विदूषकको छिपे रूपमें ताड़ना करता है। विदूषकका चीत्कार दुष्यन्तको क्रोधाभिभूत कर देता है, जिससे दुष्यन्तमे वीरत्वका संचार हो जाता है और मातलि इन्द्रकी सहायताके लिए दुष्यन्तको स्वर्गमे ले जाता है।[3] अर्ककीर्त्तिका दूत भी यवननरेशकी अनीतिका ऐसी अतिरजनाके साथ वर्णन करता है, जिससे अश्वसेन रणक्षेत्रमे ससैन्य जानेके लिए तैयार हो जाते है।[4] दूतके आमर्षोत्पादक कथनका उत्तर भी अश्वसेन बड़े ही सन्तुलित रूपमे देते है। प्रस्तुत संवादसे हमारे समक्ष तीन तत्त्व उपस्थित होते है:—

१. महाकवि रइधू संवादोके द्वारा मनोवेगोंको संचारित करते हैं।

२. आत्मीय और कौटुम्बिक मान-अपमान प्रत्येक सहृदय व्यक्तिके लिए निजी मान-अपमान बन जाता है। रइधू साधारणीकरणकी कलामें कितने पटु हैं, यह सहज ही जाना जा सकता है। अश्वसेन जब यह अवगत करते हैं कि उस जैसे शक्तिशाली सम्राटके रहते हुए उनके साले

---

१. पासणाह०—३।१।४–१४।
२. वही—३।३।११–१२।
३. आभिज्ञानशाकुन्तल अंक ६।
४. पासणाह०—३।२।१–१०।

अर्ककीर्त्तिका यवननरेश अपमान करे, यह कैसे सम्भव है ? फलतः वे अर्ककीर्त्तिके अपमानको अपना अपमान समझते हैं।

३. महाकवि रइधूको अपने नायकके चरित्रका सदा ध्यान रहता है और वे वातावरण एवं परिस्थितियोंका ऐसा निर्माण करते हैं, जिससे नायकका चरित्र उज्ज्वल हो उठता है। प्रस्तुत संवाद अर्ककीर्त्तिके दूत और अश्वसेनके बीच चल रहा है, पर इसका प्रतिफल तत्काल ही नायकके चरित्रपर पड़ता है और नायक को वीरताको दिखलानेका अवसर उपस्थित हो जाता है।

छठवाँ संवाद प्रश्नोत्तरके रूपमें आनन्द एवं एक मुनिराजके बीचमें घटित हुआ है।[1] यह संवाद दार्शनिक होते हुए भी रसोत्कर्ष विधायक है। इसमें बताया गया है कि आनन्द नामक एक युवक राजाने एक मुनिराजसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके सम्बन्धमें यथार्थ जानकारी प्राप्त करनेकी जिज्ञासा प्रकटकी। देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता एवं पाखण्ड-मूढताओंको मिथ्यात्ववर्द्धक सुनकर युवक आनन्दके मनमें पुनः एक अन्य जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जिनमूर्त्तिके पूजन-अर्चन एवं अभिषेककी भी क्या आवश्यकता है ? यतः पाखण्ड-मूढ़तामें भावरहित स्नान करना, सरागी प्रतिमाओंका दर्शन-पूजन करना एवं पुण्य-कृत्य समझकर किसी विशेषकालमें संक्रान्ति आदिके विशेष अवसरोंपर दानादि देना पाखण्डमूढ़ता है। अतः किसी भी युवकके मनमें इसप्रकारके प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि मूर्त्तिपूजाकी क्या आवश्यकता ? क्योंकि यह भी तो एक प्रकारकी मूढ़ता ही है। धातु या पाषाणकी प्रतिमामें कौन-सी करामात छिपी हुई है, जिससे उसका पूजन-वन्दन किया जाय ? पाषाणकी पूजा करनेवाला पाषाण हो जाता है, यतः कारण-तुल्य ही कार्य होता है। बबूलसे आमके मीठे फल प्राप्त नहीं किए जा सकते और न ही आमसे बबूलके काँटे प्राप्त किए जा सकते हैं। अतः मूर्त्तिपूजाको आवश्यकता और उपयोगिताके सम्बन्धमे यथार्थ जानकारी प्राप्त करनेके लिए कोई भी युवक इसी प्रकारकी जिज्ञासा व्यक्त कर सकता है।

मुनिराज आनन्दके प्रश्नोंका समाधान करते हुए मूर्त्तिपूजाके औचित्यपर प्रकाश डालते हैं।...."भावना हि भवनाशिनी, भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः[2]" के सिद्धान्तानुसार मूर्त्तिमें जिसकी स्थापनाकी गई है, उस महान् व्यक्तिको सामने समझकर सम्मानका प्रदर्शन किया जाता है। आराधकके मनमें यह कभी भी कल्पना नहीं आती कि वह पाषाणकी पूजा कर रहा है। वह तो सर्वदा आराध्यके गुणोंको मूर्त्तिके सहारे अपने हृदयमे उतारता है। जिस प्रकार आरम्भिक शिक्षार्थी गुरु द्वारा लिखे हुए साँचोंके ऊपर अंगुली या लेखनीको बार-बार घुमाकर अक्षरोंका अभ्यास करता है, उसी प्रकार आराधक पाषाण-मूर्त्ति द्वारा मूर्त्तिमान्‌के गुणोंका निरन्तर अभ्यास किया करता है और अपनी साधनाके बलसे उस मूर्त्तिमान्‌को प्राप्तकर लेता है। अतएव मूर्त्तिका खण्डन या उसका अपमान महान् अनर्थका कारण है। कोई भी अविचारक व्यक्ति अपने इस कुकृत्य द्वारा पाषाण-मूर्त्तिका खण्डन नहीं करता, अपितु मूर्त्तिमान्‌के गणोंकी लांछना करनेके कारण पापका बन्धक होता है। महाकवि रइधूने मुनिराजके इस भाषणके

---

१. पासणाह०—६।१८।

२. सागारधर्मामृत—२।६५।

माध्यमसे काव्यको सरल-शैलीमें मूर्त्तिपूजाका औचित्य सिद्ध किया है। प्रस्तुत संवाद द्वारा कविने निम्नलिखित तत्वोंकी अभिव्यञ्जनाकी है—

१. महाकवि रइधू १५-१६ वीं सदीके कवि हैं, अतः उन्होंने साक्षात् अपनी आँखोंसे मुस्लिम बादशाहों द्वारा अनेक मन्दिरोंका गिराया जाना देखा था। फलतः इस विध्वंसकारी अनास्थात्मक प्रवृत्तिका खण्डन करनेके लिए मूर्त्ति-पूजाका समर्थन अत्यावश्यक था। इसी कारण उक्त संवादमें सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्वके स्वरूप-विश्लेषणका प्रसंग उपस्थितकर मूर्त्तिपूजाका औचित्य सिद्ध किया गया है।

२. दूसरी बात यह है कि एक ओर जहाँ कविने मन्दिरों एवं मूर्तियोंका विध्वंस देखा, वहीं दूसरी ओर ग्वालियरके तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह एवं उनके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह द्वारा विशाल एवं अगणित जैनमूर्तियोंका निर्माण भी।[1] फलतः इस निर्माणकी सार्थकता और औचित्य-प्रतिपादनके लिए इस प्रकारके संवाद-गठनकी नितान्त आवश्यकता थी। यही कारण है कि उसने मूर्त्ति-निर्माण एवं प्रतिष्ठापनके महत्त्वका संक्षेपमें उल्लेख किया है।

३. कवि स्वयं ही कवि होनेके साथ-साथ प्रतिष्ठाचार्य[2] भी है। प्रतिष्ठाचार्य भी मूर्त्ति-कलाका विशेषज्ञ होता है। वह पाषाण जैसी जड़ वस्तुसे निर्मित प्रतिमाको विशिष्ट मन्त्रों द्वारा चेतनतुल्य बना देता है। इसी कारण प्रतिमा या मूर्त्तिको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण माना गया है।[3]

रइधू द्वारा गठित अन्य संवादोंके भी इसी प्रकार विश्लेषण किए जा सकते हैं। स्थानाभावके कारण उन सभीका अंकन यहाँ सम्भव नहीं है। इनका विस्तृत विश्लेषण "रइधू-साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन" (पृ० १५७-१६१) में देखा जा सकता है।

भावाभिव्यञ्जना

प्रबन्ध-काव्यका एक अन्य प्रमुख तत्त्व भावाभिव्यञ्जना है। महाकवि रइधूने अपने इस काव्यमें उक्त तत्त्वका सुन्दर समावेश किया है। पुराणनिरूपित कथानक होनेपर भी वर्णनोंको उन्होंने इतना सरस बनाया है कि जिससे उसे पढ़ते ही हृदयकी रागात्मक-वृत्तियोंमें सिहरन उत्पन्न हो जाती है। मननशील प्राणोंके आन्तरिक सत्यका आभास, जो कि जीवनके स्थूल सत्यसे भिन्न है, प्रकट हो जाता है। जीवनकी अन्तश्चेतना तथा सौन्दर्यभावना उद्बुद्ध हो चिरन्तन-सत्यकी ओर अग्रसर करती है। महाकवि रइधू घटना-वर्णन, दृश्ययोजना, परिस्थिति-निर्माण और चरित्र-चित्रणमें इतने अधिक नहीं उलझे हैं, जिनसे उनके भाव अस्पष्ट ही रह जावें। उन्होंने भाव, रस और अनुभूतियोंको सर्वत्र ही अभिव्यञ्जित करनेकी सफल चेष्टाकी है। वैरकी परम्परा, प्राणीके

१. दे० ग्वालियर राज्यके अभिलेख (ग्वालियर, १९४७) भूमिका।

२. जैनलेख संग्रह (नाहर, भाग २) पृ० ९१-९३ तथा रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४३-४४।

३. सर्वार्थसिद्धि (शोलापुर, १९३९) १।५, पृ० ८-९।

अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक किस प्रकार चलती है, और कौन-सी ऐसी भावनाएँ हैं जो इस बैरको अचार और मुरब्बा बनाकर कर्मबन्धका सबल-हेतु बना देती हैं ? तथ्य यह है कि जिस प्रकार अचार या मुरब्बा पुराना होनेपर अधिक स्वादिष्ट मालूम पड़ता है, उसी प्रकार बैर भी पुरातन होनेके बाद अनन्तानुबन्धी शत्रुताके रूपमें परिणत हो जाता है और अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक इसका फल भोगना पड़ता है। महाकवि रइधूने पार्श्वनाथके नौ भवोंद्वारा एक ओर अहिंसा और जीवन-साधनाका उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित किया है, तो दूसरी ओर हिंसा और कषायोंका प्रचण्ड ताण्डव। पार्श्वका जीव—मरुभूति अहिंसा-संस्कृतिका प्रतीक है, तो कमठ हिंसा-प्रधान-संस्कृतिका। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि श्रमण एवं श्रमणेतर संस्कृतियोंका संघर्ष ही प्रस्तुत काव्य-का उदात्त-तत्त्व है और इसी भाव-भूमिको कविने पार्श्वके चरित द्वारा अभिव्यक्त किया है।

पौराणिक महाकाव्यत्व

प्रस्तुत 'पासणाहचरिउ' एक सफल पौराणिक महाकाव्य है। इसमें पौराणिक महापुरुष तीर्थंकर-पार्श्वकी कथावस्तु वर्णित है। पौराणिक-महाकाव्यमें अति प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओंके साथ-साथ धर्मोपदेश, दार्शनिक-मान्यताएँ, सिद्धान्त-निरूपण, आचार विषयक तथ्य एवं स्वप्न-दर्शनादि सन्दर्भोंका रहना आवश्यक माना जाता है। यद्यपि पौराणिक या चरित-महाकाव्यका लेखक कथावस्तुमेंसे उन्हीं सूत्रोंको ग्रहण करता है, जिन्हें वह काव्यशैलीमें रसमय बनानेकी क्षमता रखता है, क्योंकि महाकाव्यके लिए एक अनिवार्य शर्त्त यह है कि समस्त घट-नाओंको रसमय बिन्दुकी ओर अग्रसर होना चाहिए। यदि यह क्षमता कवि या लेखकमें नहीं है तो वह अपने काव्यको काव्य-कोटिमें नहीं रख सकता। महाकवि रइधूने प्रस्तुत पार्श्वचरितमें ऐसे कथानकोंकी ही योजना की है. जिनके द्वारा महदुद्देश्यकी पूर्ति होती है। कथा-प्रवाह या अलंकृत वर्णन सुनियोजित और सांगोपांग है।

पार्श्वनाथके मरुभूति (६।२।८), वज्रघोष हाथी (६।९।५); सहस्रार स्वर्गका देव (६।१३।५); अशनिवेग विद्याधर (६।१४।१); अच्युतस्वर्गका देव (६।१४।१०); वज्रनाभि चक्रवर्त्ती (६।१५।६); अहमिन्द्र (६।१६।१२); आनन्द राजा (६।१७।७); चौदहवें स्वर्गका देव (६।२०।१४) एवं पार्श्वनाथ (६।२२।२) रूप दसभवोंका जीवन्त लम्बा कथानक रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करनेमें पूर्ण समर्थ है। तीर्थंकर पार्श्वनाथके जन्मकी एक ही नहीं, दस जन्मोंकी कथा उस विराट जीवन का चित्र प्रस्तुत करती है, जिस जीवनमें अनेक भवोंके अर्जित संस्कार तीर्थंकरत्वको उत्पन्न करने-में समर्थ होते हैं। इस काव्यमें महत्प्रेरणासे अनुप्राणित होकर मोक्षप्राप्तिरूप महदुद्देश्य सिद्ध होता है। यद्यपि रहस्यमय एवं आश्चर्योत्पादक घटनाएँ भी इस ग्रन्थमें वर्णित हैं, पर इन घटनाओंके निरूपणकी काव्यात्मक शैली इतनी गरिमामयी और उदात्त है कि जिससे नायकके विराट-जीवन का ज्वलन्त चित्र प्रस्तुत हो जाता है। संस्कृतके लक्षण ग्रन्थोंके अनुसार महाकाव्यमें निम्न तत्त्वोंका रहना आवश्यक माना गया है[1] :—

१. सर्गबन्धत्व।

१. काव्यादर्श—१।१४-२४. तथा साहित्यदर्पण (बम्बई १९१५) पृ० ३५३-५५, श्लोक ३१५-५५।

२. समय-जीवन-निरुपण, अतएव इतिवृत्तका अष्ट सर्ग प्रमाण या इससे अधिक होना।

३. नगर, पर्वत, चन्द्र, सूर्योदय, उपवन, जलक्रीड़ा, मधुपान एवं उत्सवोंका वर्णन।

४. उदात्तगुणोंसे युक्त नायककी चतुर्वर्ग-प्राप्तिका निरूपण।

५. कथावस्तुमें नाटकके समान सन्धियोंका गठन।

६. कथाके प्रारम्भमें मंगलाचरण, आशीर्वाद आदिका रहना एवं सर्गान्तमें आगामी कथा-वस्तुका सूचन करना।

७. शृंगार, बीर और शान्त इन तीन रसोंमेंसे किसी एक रसका अंगीरूपमें और शेष सभी रसोंका अंगरूपमें निरूपण आवश्यक है। यतः कथावस्तु और चरित्रमें एक निश्चित एवं क्रमबद्ध विकास तथा जीवनकी विविध सुख-दुखमयी परिस्थितियोंका संघर्ष-पूर्ण चित्रण रस-परिपाकके बिना सम्भव नहीं है।

८. सर्गान्तमें छन्द-परिवर्त्तन—कथाके विकास और रस-प्रवाहको अबाधगतिके लिए एक सर्गमें एक ही छन्दके प्रयोगका नियम है। पर सर्गान्तमे छन्दका परिवर्त्तन होना आवश्यक है। चमत्कार-वैविध्य या अद्भुत-रसकी निष्पत्तिके हेतु एक सर्गमें अनेक छन्दोंका व्यवहार करना अनि-वार्य जैसा है।

९. महाकाव्यमें विविधता और यथार्थता दोनोंका ही सन्तुलन रहता है तथा इन दोनोंके भीतरसे ही विविध भावोंका उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि महाकाव्यका प्रणेता प्राकृतिक-सौन्दर्यके साथ नर-नारीके सौन्दर्यका चित्रण, समाजके विविध रीति-रिवाज एव उसके बीच विकसित होनेवाले आचार-व्यवहारका निर्माण करता है।

१०. महाकाव्यका नायक उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय या देवता होता है। उसमें धीरोदात्त-गुणोंका रहना आवश्यक है। नायकका आदर्श चरित समाजमें सद्वृत्तियोंका विकास एवं दुर्वृत्तियों-का विनाश करनेमें सक्षम होता है।

११. महाकाव्यका उद्देश्य भी महत् होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिके लिए वह प्रयत्नशील रहता है। संघर्ष, साधना, चरित्र-विकास आदिका रहना अनिवार्य होता है। महाकाव्यका निर्माण युग-प्रवर्त्तनकारी परिस्थितियोंके बीचमें सम्पन्न किया जाता है।

प्रस्तुत 'पासणाहचरिउ'में चतुर्विंशति तीर्थंकरों (१।१); जिनवाणी (१।१); साधक-मुनियों (१।२)को नमस्कार एवं उनकी स्तुति, तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह (१।४) एवं कीर्त्तिसिंह (१।५); तथा अपने आश्रयदाता श्री खेमसिंहकी प्रशस्ति (१।५-६, एवं ७।८), तत्पश्चात् कथावस्तुका आरम्भ किया गया है। नगर (१।२; २।१; ५।१) वन (३।११; ४।१); नदी, सरोवर (२।११; ४।११) आदिका सुन्दर चित्रण है। इसमें ७ सन्धियाँ हैं। शान्तरस अंगीरसके रूपमें प्रस्तुत हुआ है। गौण-रूपमें शृंगार, वीर, भयानक और रौद्ररसोंका परिपाक निरूपित है। समस्तकाव्यमें अडिल्ल, दुवई, मोत्तियदाम, रड्डा, चन्द्रानन आदि विविध छन्दोंका प्रयोग है। महाकाव्यके महदुद्देश्य—मोक्ष-पुरुषार्थका चित्रण किया गया हैं। कथाके नायक पार्श्वनाथ धीरोदात्त हैं। वे त्याग, सहिष्णुता, उदारता, सहानुभूति आदि गुणोंके द्वारा आदर्श उपस्थित करते हैं।

प्रबन्धोचित गरिमा, और कथावस्तुका गठन एवं महाकाव्योचित वातावरणका निर्माण कविने मनोयोग पूर्वक किया है। अतएव इतिवृत्त, वस्तु-वर्णन रस, भाव एवं शैलीको दृष्टिसे यह एक पौराणिक महाकाव्य है। नख-शिख चित्रण (१।१०) द्वारा नारी-सौन्दर्यके उद्घाटनमे भी कवि पीछे नहीं रहा। पौराणिक आख्यानके रहते हुए युग-जीवनका चित्रण बड़े ही सुन्दर ढगसे प्रस्तुत किया गया है। धार्मिक और नैतिक आदर्शोंके साथ प्रबन्ध-निर्वाहमें पूर्ण पटुता प्रदर्शितकी गई है। यद्यपि यह प्रशस्ति-मूलक महाकाव्य है, पर इसमें मानव-जीवनके समस्त भाव तरंगित हैं। पात्रोंके चरित्रांकनमें भी कवि किसीसे पीछे नहीं है। मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व, जिनसे महाकाव्यमे मानसिक तनाव उत्पन्न होता है, पिता-पुत्र (३।४, ३।५) एवं तापस-संवाद (३।१२)में वर्त्तमान है।

महाकवि रइधूने इस पौराणिक महाकाव्यकी कथावस्तुको गुणभद्रके संस्कृत उत्तरपुराण और पुष्पदन्तके अपभ्रंश-महापुराणसे ग्रहण कर कल्पनाके सम्मिश्रण द्वारा अनेक मौलिक उद्भावनाओंको उपस्थित किया है। संक्षेपमें उद्देश्य, शैली, नायक, रस एव प्रबन्ध-नियोजनकी दृष्टिसे प्रस्तुत ग्रन्थ एक श्रेष्ठ महाकाव्य है।

काव्योपकरण

'पासणाहचरिउ'म रस, अलंकार, गुण आदि सभी काव्योपकरण समाविष्ट है। कवि रइधूने इस काव्यम उन घटनाओं और वर्णनोंका नियोजन किया है, जिनके द्वारा मनके प्रसुप्त भावोंको जागृत होनेमे आयासका सामना नहीं करना पड़ता। कविने भावनाओंका बिम्ब ग्रहण कराने मे अलंकारोंका सुन्दर नियोजन किया है। भावोका प्रत्यक्षीकरण करानेके हेतु अनेक उपमानों और प्रतीकोका आलम्बन ग्रहण किया गया है। हम यहाँ प्रस्तुत काव्यमें प्रयुक्त अलकार, रस एवं गुणोंका सक्षेपमे विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं:—

अलंकार—

यह सत्य है कि यत्न पूर्वक अलंकार-विधानसे ही काव्यमें सौन्दर्यका समावेश होता है। वामन, दण्डी, मम्मट प्रभृति अलकार-शास्त्रियोंने काव्य-रमणीयताके लिए अलंकारोंका समावेश आवश्यक माना है। तथ्य यह है कि भावानुभाव वृद्धि करनेमे या रसोत्कर्षको प्रस्तुत करनेमें अलकार बहुत ही सहायक होते हैं। अलकारों द्वारा काव्यगत अर्थका सौन्दर्य चित्तवृत्तियोंको प्रभावित कर भाव-गाम्भीर्य तक पहुँचा देता है। रसानुभूतिको तीव्रता प्रदान करनेको क्षमता अलकारोंमे सर्वाधिक है। अलकार भावोंको स्पष्ट एवं रमणीय बनाकर रसात्मकताको वृद्धिगत करते है।

आधुनिक काव्य-शास्त्रियोंके मतमें काव्यकी आत्मा मुख्य रूपसे भाव, विचार और कल्पनामें है। इन्हींके कारण काव्यमें स्थायित्व आता है। अलंकार कविता-कामिनीके स्थायित्वको और भी अधिक सुन्दर बना देते है। यही कारण है कि आचार्य वामनने "सौन्दर्यमलंकारः" (काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिः पृ० ७), "काव्य ग्राह्यमलंकारात्" (वही, पृ० ३) जैसे अनुशासन-काव्य अंकित किए है। मानव स्वभावतः ही सौन्दर्य-प्रिय प्राणी है। उसकी यह सौन्दर्य-प्रियता जीवनके अथसे इति तक प्रत्येक क्षेत्रमें बनी रहती है। वह सर्वदा सुन्दर वस्तुओंका चयन कर कार्योंको सुन्दरतासे सम्पादित

करनेकी आकांक्षा रखता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विश्लेषण करनेपर मानवकी यह प्रवृत्ति ही अलंकार-विधानका मूल है। अतएव मानव-हृदय एवं अलंकारोंका घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है।

महाकवि रइधूने ऐसे ही अलंकारोंका प्रयोग किया है, जो रसानुभूतिमें सहायक होते हैं। 'पासणाहचरिउ'में उन्हीं स्थलों पर अलंकृत पद्य आए हैं, जहाँ भावोद्दीपनका अवसर दिखाई पड़ा है। यतः भावनाओंके उद्दीपनका मूल कारण है मनका ओज, जो मनको उद्दीप्त कर देता है तथा मनमें आवेग और संवेग उत्पन्न कर पूर्णतया उसे द्रवित कर देता है।

शब्दालंकारोंकी दृष्टिसे अपभ्रंश-भाषा स्वयं ही अपना ऐसा वैशिष्ट्य रखती है, जिनसे बिना किसी आयासके अनुप्रासका सृजन हो जाता है। परन्तु कुशल कवि वही है, जो अनुप्रासके द्वारा विशेष भावनाको किसी विशेष रूपसे उत्तेजित कर सके। 'पासणाहचरिउ'में कई स्थलोंमें अनुप्रासकी ऐसी योजना प्रकट हुई है, जिसने भावोंको जलमें फेंके हुए पत्थरके टुकड़ेके समान असंख्यात लहरें उत्पन्न कर भावोंको आस्वाद्य बना दिया है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर उक्त काव्यके वैशिष्ट्यको प्रस्तुत किया जाता है:—

ता तिक्ख कुठारेँ कोहिएण कठु वियारिउ तेण णिरु।
अद्धद्धु-अद्धु तहँ उरय-जुउ दिट्ठउ तत्थ धुणंतु सिरु॥

पासणाह०, ३।१२।११-१२

उक्त पद्यमें 'अद्धद्धु-अद्धु'में अनुप्रास है तथा अन्त्यानुप्रास तो इस पद्यमें सर्वत्र ही विद्यमान है। महाकवि रइधूने 'अद्धद्धु-अद्धु' द्वारा अर्धदग्ध नाग-युगलका बहुत ही करुणा पूर्ण चित्र उपस्थित किया है। इसी प्रकार 'कुठारेँ' और कठु-वियारिउ' अनुप्रास-नियोजन कर उक्त पद्यमें काठकी कठोरताको कुठार द्वारा जिस प्रकार छिन्न किया गया उसी प्रकार तपस्वीके मान रूपी काठका नाग-युगलके प्रत्यक्षीकरण रूप कुठार द्वारा छिन्न होना भी संकेतित है। कविके कुठारका 'तिक्ख' विशेषण तथा उस 'तिक्ख'के पूर्व प्रयुक्त 'ता' सर्वनाम भी 'तिक्ख'के साथ एक प्रकारसे अनुप्रासका ही सृजन कर रहा है। 'ता' और 'तिक्ख' दोनों मिलकर हेतुकी सूचना तो देते ही है, पर पचाग्नितपकी निस्सारता और इन्द्रिय-निग्रह रूप तपकी महत्ता भी प्रकट करते है। रइधूका यह अनुप्रास-नियोजन शान्तरसके उत्कर्षमें बहुत ही सहायक है। एक ओर मानो तापसके मानका खण्डन और दूसरी ओर अर्धदग्ध नाग-दम्पतिका अहिंसा-साधना द्वारा उद्धार ये दोनों ही तथ्य समस्त कडवकको शान्तरसके आस्वादके योग्य बना देते हैं। इसी प्रकार:—

कि हउँ रउ जाउ तव-तवेण खीणु पंचग्गि सहणि जो णिरु पवीणु॥

पास० ३।१२।१४

उपर्युक्त पंक्तिमें आया हुआ 'उ'का अनुप्रास तथा 'तव' और 'तव'का अनुप्रास और पद्धडियाका 'खीणु' और 'पवीणु'का अनुप्रास मात्र अर्धालीके रूपको ही आकर्षक नहीं बनाते, अपितु उस तापसके स्वाभिमानकी अग्निको भी प्रज्ज्वलित करते हैं। अनुप्रास में प्रयुक्त 'उ' ध्वनि इस बातका भी संकेत प्रस्तुत करती है कि युवक पार्श्वनाथ चिरकालसे तपस्यामें संलग्न उस तापसको प्रणाम न

कर उसका छिद्रान्वेषण करता है। इसी कारण कविने 'हउँ' 'रउ' 'जाउ' इन तीनों पदोंमें जो कि 'अहम्', 'रत' एवं 'जात'के प्रतिनिधि हैं, एक साथ प्रयुक्त कर भावोंको गहन और मूर्त्तिमान् बनाया है। यदि यहाँ इन तीनों पदोंमें अनुप्रास न होता तो तपस्वीका अभिमान इतना मूर्त्तिमान् न हो पाता। अतः ओष्ठ्य-वर्णोंमें अनुप्रास घटित रहनेसे तपस्वीकी ओष्ठ फड़कती हुई क्रोधित मूर्ति भी प्रत्यक्ष हो उठी है अर्थात् तपस्वीकी क्रोधाभिभूत-मुद्राका प्रत्यक्षीकरण ओष्ठ्य-वर्णोंके अनुप्राससे सम्पन्न हुआ है।

महाकवि रइधूने संगीत-तत्त्वको उत्पन्न करनेके लिए ऐसे अनुप्रासोंकी भी योजनाकी है, जिनमें भावगत चमत्कार न होते हुए भी संगीत एवं लयकी दृष्टिसे जो पर्याप्त महत्त्व रखते हैं। यथा:—

तया पुत्त जुत्तं पउत्तं पवित्तं पणासंति विग्घं तुमं णाम मित्तं।

पासणाह० ३।५।१

'पासणाहचरिउ' में श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास एवं अन्त्यनुप्रासके साथ-साथ यमकालंकारका प्रयोग भी भावोत्कर्षके लिए हुआ है। कविने रूप, गुण, और क्रियाका तीव्र अनुभव करानेके हेतु इस अलंकारका प्रयोग किया है। यहाँ एक उदाहरण देकर ही प्रस्तुत काव्यकी मार्मिकतापर प्रकाश डालनेकी चेष्टाकी जायगी। महाकवि डूँगरेन्द्र नृपतिके पराक्रम और शासन-पटुताका चित्रण करता हुआ कहता है:—

परबलसंतासणु णिव-पय-सासणु णं सुरवरु बहुधण-धणिउँ।
णव जलहर वस्सरु पहु पहुइधरु डोंगरिंदु णामें भणिउँ॥

पासणाह० १।४।११-१२

उक्त पद्यमें 'संतासणु' एवं 'पय-सासणु' तथा 'पहु'-'पहु' पद विचारणीय है। 'संतासणु' शब्दका अर्थ संत्रास देना या कष्ट देना है और इस पदका सम्बन्ध 'परबलु' के साथ है। राजा डोंगरेन्द्र शत्रु-सैन्यको संत्रास उत्पन्न करनेवाला था। 'सासणु' पद शासनके अर्थमें है जो कि 'णिव-पय' से सम्बन्धित होकर प्रजाके शासनका अर्थ प्रकट करता है। इस प्रकार 'तासणु' और 'सासणु' दोनों पद समान होते हुए भी भिन्नार्थक है। इसी भाँति 'पहु' पद 'प्रभु' अर्थका द्योतक है और दूसरा 'पहु' शब्द पृथिवीका वाचक है। अतएव 'पहु' पदकी आवृत्ति भी भिन्नार्थक होनेसे यमकालंकार है। उक्त दोनों ही उदाहरण भागावृत्तिके है।

अर्थालंकारोंमें प्रस्तुत ग्रन्थमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, स्वभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, समासोक्ति एवं अतिशयोक्तिके प्रयोग विशेष रूपसे हुए है। प्रायः सभी अलंकार भावोंको सजानेका कार्य सम्पन्न करते हैं। यहाँ क्रमशः उनके उदाहरण प्रस्तुत कर उक्त कथनकी पुष्टिकी जा रही है। कविने तोमरवंशके पराक्रम, दया, एवं दाक्षिण्यादि गुणोंका वर्णन करते हुए कहा है:—

तहिँ तोमर-कुल-सिरि-रायहंसु गुणगण रयणायरु लद्धसंसु॥

पासणाह०—१।४।१

उक्त उद्धरणमें तोमरवंशकी श्रीको राजहंसके समान बताया गया है। 'राजहंस' उपमान

है और तोमरवंशकी श्री उपमेय। कविने मूर्त्तीक उपमानके द्वारा मूर्त्तीक उपमेयकी श्रेष्ठता व्यञ्जितकी है। राजहंस नीर-क्षीर विवेकी होता है। तोमरकुलश्री भी न्याय-अन्याय एवं सदसद्के परिज्ञानमें विवेकिनी है। राजहंस उज्ज्वल होता है, तोमरकुलकी श्री भी धर्म, समाज और देशके उन्नतिकारक कार्योंके सम्पन्न करनेके कारण उज्ज्वल है। जब किसी वंशमें कोई निन्द्य-कार्य किया जाता है, तो कुलश्री कलंकित हो जाती है। पर जब उसी वंशमें सदाचार-पूर्ण शुभ-कृत्य सम्पन्न किए जाते हैं, तो वह कुल उज्ज्वल हो जाता है। कवि-सम्प्रदायमें यशका वर्ण श्वेत माना गया है। यहाँ प्रस्तुत तोमरकुलश्री भी धवल है। अतएव कविने राजहंसके उपमान द्वारा तोमरकुलके वैभव और यशस्वी-कार्योंकी अभिव्यञ्जनाकी है।

तोमरकुलश्रीको रत्नाकरके समान गुणोंसे मण्डित बताया गया है। रत्नाकर—समुद्रमें नाना प्रकारके मणि-माणिक्य उत्पन्न होते हैं। इन्हीं रत्नोंकी विपुलताके कारण वह 'रत्नाकर' कहलाता है। तोमरकुलकी श्री भी गुणोंके समूहमें परिपूर्ण है। यहाँ 'रत्नाकर' उपमान, गुणगान रूप उपमेयकी असंख्यता व्यक्त कर रहा है। अर्थात् तोमरवंशकी श्री अगणित-गुणोंसे परिपूर्ण है। वे गुण भी सामान्य नही है। मुक्ता-माणिक्यके समान बहुमूल्य और दीप्तमान हैं। प्रकाशकी किरणें उनमेंसे बिकीर्ण हो रही हैं। इस प्रकार कविने उक्त दोनों उपमानों द्वारा तोमरकुलश्रीका मूर्त्तिमान् रूप उपस्थित कर दिया है।

उत्प्रेक्षालंकारकी दृष्टिसे अपभ्रंश-भाषा अत्यन्त ही समृद्ध है। 'णं' जो कि संस्कृत शब्द 'ननु' का प्रतिनिधि है, उत्प्रेक्षाको उत्पन्न करनेमे सक्षम है। महाकवि रइधूने अपने इस काव्य-ग्रन्थमें बड़ी सुन्दर-सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुतकी है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृतकी जाती है :—

इंदु लेवि वीयराय-पाय-मूलि थप्पए णं अणंग-सायकस्स सामि-पाय चच्चए।

पासणाह०—२।१३।४

तीर्थंकर पार्श्वनाथका देवलोग सुमेरु पर्वत पर अभिषेक कर रहे है। इन्द्राणी प्रमदवनमे चमेली, चम्पक आदि विभिन्न जातिके सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पोंकी सुन्दर पुष्पमाला गूँथती है और इन्द्र उस मालाको लेकर तीर्थंकरके पादमूलमें समर्पित कर देता है। कवि उसी समर्पणकी प्रक्रिया पर कल्पना कर रहा है "कि इन्द्रका यह समर्पण-कार्य उसी प्रकारका है, जिस प्रकार पंचवाणधारी कामदेवके चरणोंकी कोई अर्चना हो कर रहा हो"। यहाँ तीर्थंकरके सौन्दर्यकी अभिव्यञ्जनाके लिए अनङ्गकी उत्प्रेक्षाकी गई है और यह अनङ्ग भी साधारण अनङ्ग नही है। वह पंचसायकधारी है, जो सौन्दर्य, वातावरण और परिस्थितियोंको रसमय बनाकर मूर्त्तिमान् हुआ है।

रूपकालंकारोंकी योजना भी प्रस्तुत काव्यमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। कविके रूपक भावाभिव्यञ्जनमें पूर्णतया सशक्त हैं। उदाहरणार्थ देखिए :—

मणि जडियहिँ मज्झिम सिंघासणि थप्पिउ तहिँ जिणेसु चिंतामणि।

पासणाह०—२।११।५

उक्त पद्यमें कहा गया है कि देवोंने मणिजटित सिंहासनके मध्यमें तीर्थंकरको स्थापित किया है। यहाँ तीर्थंकर पार्श्वनाथको कविने 'चिन्तामणि' का रूपक दिया है। 'चिन्तामणिरत्न' जिस प्रकार समस्त चिन्ताओंको दूरकर जन-मनके सन्तापको हर लेता है उसी प्रकार पार्श्वनाथ भी अपने रूप और अलौकिक तेज द्वारा समस्त प्राणियोंके दुःख-शोकका अपहरण कर उन्हें शान्ति प्रदान करते हैं। कविका 'चिन्तामणि' रूपक यहाँ बहुत ही सटीक सिद्ध हुआ है और यह उपमेयके समस्त गुणोंको अभिव्यञ्जित करता है।

रस-परिपाक—

महाकवि रइधूने प्रस्तुत पौराणिक महाकाव्यमें आलम्बन और आश्रयमें होनेवाले व्यापारोंका सुन्दर अंकन किया है, जिससे रसोद्रेकमें किसी भी प्रकारकी न्यूनता नहीं आने पाई है। वीणाके घर्षणसे जिस प्रकार तारोंमें झंकृति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार हृदयग्राही राग-भावनाएँ काव्यके आवेष्टनमें आवेष्टित होकर रसका संचार करती हैं। यों तो इस काव्यका अंगीरस शान्त है, पर श्रृङ्गार, वीर, और रौद्र रसोंका भी सम्यक् परिपाक हुआ है। यहाँ वीर-रसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। महाकवि रइधूने युद्धके लिए प्रस्थान, संग्राममें चमकती हुई तलवारें, लड़ते हुए वीरोंकी हुंकारें एवं योद्धाओंके शौर्यका कैसा सुन्दर जीता-जागता चित्र उपस्थित किया है:—

आयड्ढियाइँ खग्गइँ सुतिक्ख णं जमेण जीह दंसिय पयक्ख।
वर पहरणु लेइ णवि को वि धीरु मण्णेप्पिणु गरुवउ मारु वीरु।
चंडासिहिँ खंडिय गयहँ जूह खंडंति परोप्परु सवल जूह।
कासु वि गउ कासु वि तुरिउ भिण्णु केणावि कासु तहु सीसु छिण्णु।

३।७।१–५

भज्जमाणा स-जोहा वि तेँ धीरिया सेणपूरेण पच्छाउ पुणु भारिया।
तेवि लग्गा रणे लज्जभर भारिया कोहपूरेण हय-जोह तहिँ दारिया।
को वि केणावि णामेण पच्चारिउ तत्थ केणावि जिण-वयणु उच्चारिउ।
को वि धावंतु सम्मुहउ उरि-विद्धउ णाइँ सामिस्स दाणस्स फलु सिद्धउ।

३।८।१-४

उक्त सन्दर्भमें आलम्बन यवन नरेशकी सेना है और आश्रय है पार्श्वकुमार। उत्साह स्थायी भाव है। वीरोंकी ललकार, अस्त्र-शस्त्रोंका चमकना एवं योद्धाओंका आपसमें एक दूसरेको ललकारना उद्दीपन है। गर्व आवेग, आमर्ष आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार महाकवि रइधूने वीर-रसका जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है।

वीर-रसका सहायक रौद्र-रस भी होता है। यहाँ विरोधी-दलोंकी छेड़खानी, अपमान, एवं दर्पपूर्ण उक्तियाँ रौद्र-रसकी परिपोषक हैं और पृष्ठभूमिमें वीर-रसका उक्त चित्रण उपस्थित किया गया है:—

ते विण्णि णरेसर धगु टंकरा जा तज्जंति परुप्परु····

३।८।११

उक्त प्रसंगमें प्रतिद्वन्द्वी यवन-नरेशके धनुषकी टंकार, जिसने सभी लोगोंको सन्त्रस्त कर रखा है, सुनकर पार्श्वकुमार युद्धके लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। इतना ही नहीं, कवि रइधूने—'ते वि कुद्धाणि बाणाइँ-पंचाणणं' (३।८।१०) में यवन-नरेशको 'क्रोधातुर-पंचानन' कहा है। यहाँ पर यह पंचानन रौद्र और भयानक-रसोंके मिश्रण द्वारा वीर-रसको मूर्त्तिमान् कर देता है।

कविने स्वतन्त्र रूपसे भी रौद्र-रसका सुन्दर निरूपण किया है। राजा अरविन्द कमठके दुराचारसे खिन्न होकर क्रोधातुर हो जाता है और उसे नाना प्रकारके दुर्वचनों द्वारा तिरस्कृत करता है। कविने राजाकी रौद्र-मुद्राका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। यथा—

अणिट्ठो ण इट्ठो पुरे एहु धिट्ठो पमुत्तो खलो पावयम्मो णिकिट्ठो।
तुमं लज्जयारी - कुलायार - भट्ठो पुराउ सुणिस्सारयामीत्ति भट्ठो॥
६।४।१-२

उक्त पद्यमें आलम्बन कमठ है, आश्रय अरविन्द नृपति, उद्दीपन कमठका दुराचार एवं अनीति है तथा स्थायीभाव क्रोध है। मुखमण्डलका लाल हो जाना, भौंहोंका तनना, आँखोंका तरेरना, दाँत पीसना, ओठ चबाना, ललकारना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, अमर्ष उद्वेग, असूया, आवेग आदि संचारी हैं। कविने उक्त प्रसंगमें रौद्र-रसका जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है। यहाँ साधारणीकरण इस अवस्था तक पहुँच गया है कि अन्य कोई भी व्यक्ति दुराचारी एवं दुष्ट कमठ जैसे व्यक्तिको अपने सामने देखकर क्रोधाभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

पार्श्वनाथ विरक्त होकर जब वन जाने लगते हैं, तो वाराणसी नगरीमें सर्वत्र शोक छा जाता है और चारों ओर हाहाकर मच जाता है। उक्त प्रसंगमें कविने पार्श्वके वियोगमें करुण-रसका मूर्त्तिमान्-चित्र उपस्थित किया है—

हा-हा रउ वट्टिउ पुरवरम्मि सोउ वि णउ मायउ जण-मणम्मि।
चमराणिलेण उम्मुच्छु राउ णिव्विट्ठु महीयलि विगयराउ।
हा पइँ बिणु पुत्त मणोहराइँ को महु पूरेसइ सुहयराइँ।
हा महु कराउ कहँ रयणु भट्ठु हा किह मइ पेसिउ गुणवरिट्ठु।
४।५।१-५

यहाँ शोक स्थायी भाव है, पर यह शोक भी एक प्रकारसे विकसित होकर हर्षमें ही परिणित हो जाता है। पार्श्वके द्वारा दीक्षा-ग्रहण करनेसे उनके भौतिक-सम्पर्कका वियोग आलम्बन विभाव है। वाराणसी नगरीका जन-समूह, जिसमें कि करुणरसका उद्रेक होता है, आश्रय है। पार्श्वके प्रति ममता, उनके श्रेष्ठ-गुणोंका स्मरण एवं सत्कार्योंका चिन्तन उद्दीपन विभाव हैं। रुदन, उच्छ्वास, हाहाकार शब्द, भूमिपतन, प्रलाप, आदि अनुभाव हैं। विषाद, उन्माद आदि संचारीभाव हैं। इसप्रकार करुण-रसकी समस्त सामग्रीका कविने यहाँ समवाय किया है।

शान्तरस इस काव्यमें सर्वत्र अनुस्यूत है। पार्श्व विरक्त होकर तप करने चले जाते हैं और वनमें जाकर केशलुंच आदि करते हैं। उक्त सन्दर्भमें शान्तरसका सुन्दर परिपाक हुआ है :—

बइराउ जिणे दहु जाउ खणि	थिउ अरुहु अधुवु चे तंतु मणि।
पुग्गल-सहाउ पूरइ गलए	अंजलि-जलुव्व आउसु ढलए।
महुवा-घणुव्व घणु सुहु अथिरु	जूवा-घणुव्व खणि होइ परु।
संझा घणरंगु व राय-रुइ	इंदिय-सुहु परु जहिँ असइ मइ।
कंतारइँ तारायण तरला	जलहरउ णाइँ जहिँ विहि चवला।
णव-जोव्वणु णइ पूरुव वरसइ	लावण्णु वण्णु दिणि-दिणि ल्हसइ।
इंदिय-सुहु तडि तरलत्तणउ	अवसाणि सरीरु ण अप्पणउ।
भारु वहय जर-पत्तुव सरिसु	तह रज्जु-भोउ सासउ ण कसु।

घत्ता—इउ अणिच्चु मण्णिवि सयलु णिच्चु णिरंजणु सुद्धु जिउ।
भावंतु वि णियमणि पासु जिणु पुणु असरणु चिंतंतु थिउ॥

३।१४।१-१०

यहाँ निर्वेद स्थायी भाव है। भवान्तरसे तत्त्वज्ञानको भी स्थायीभाव माना जा सकता है। संसारकी असारता, शरीरकी अनित्यता एवं अंजुलीके जलकी तरह आयुका क्षीण होना आलम्बन है। पार्श्व आश्रय हैं। द्वादश-भावनाओंका चिन्तन, अर्धदग्ध नाग-दम्पत्तिका दर्शन, दर्शन-मोहनीय एवं चारित्र-मोहनीयकर्मके क्षयोपशमका प्रादुर्भाव एवं अनित्यताका चिंतन उद्दीपन है। अर्धदग्ध नाग-नागिनीको देखकर कातर होना, संसारके स्वार्थ-संघर्षोंसे घबराकर संसार-त्यागकी तत्परता अनुभाव है। धृति मति, उद्वेग, ग्लानि एवं निर्वेद संचारी-भाव हैं। कविने इस प्रसंगमें रस-सामग्रीका पूर्ण विश्लेषण किया है। अनित्य, अशरण, संसार आदि द्वादशानुप्रेक्षाएँ वैराग्यको उदीप्त करनेमें पूर्ण सहायक हैं। जिस प्रकार पवन अग्निको दीप्त बनाकर प्रज्ज्वलित बना देता है, उसी प्रकार उक्त भावनाएँ भी वैराग्यको कई गुना वृद्धिगत कर देती हैं। पार्श्वनाथ 'चउगइ संसारहँ संसरणु पुणु (३।१५।१०)में संलग्न हो जाते हैं और उनकी चिन्तन-प्रक्रिया 'भमइ जीउ चउगइ संसारइ। सहइ दुक्ख तहँ विविह पयारइ (३।१६।१) रूप चतुर्गतिके दुःखों के साक्षात्कारमें संलग्न हो जाती है। वे सोचते हैं कि वास्तविक सुख निर्वाणमें है। अनादिकालसे लगे हुए कर्मोंके संस्कार इस जीवको जन्म-मरणके कष्ट देते हैं। जब तक ध्यानाग्निमें साधन-प्रक्रिया द्वारा इन कर्म-संस्कारों की आहुति न दी जावेगी, शान्ति प्राप्ति नहीं हो सकती।

श्रृंगार-रस भी जहाँ-तहाँ मध्यमें आया हुआ है, परन्तु इस ग्रन्थका श्रृंगार रति-भावको पुष्ट करता है। कविने नगर, वन, पर्वत एवं नर-नारीके सौन्दर्यका भी चित्रण किया है। यहाँ उसके कुछ उदारण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। राजा अश्वसेनकी पट्टरानी वामादेवीके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तहु पिय वम्माएवि सुवल्लह	रयणणिही विव सव्वहँ दुल्लह।
पाणि-पाय-तल-रत्त सुहंकर	रणरणंति णेउर णं किंकर।
णिव-मंतिव गुंफहिँ गुंफत्तणु	जंघजुवलु णं खल-मित्तत्तणु।
पिहुल-णियंवु वि कडियलु खीणउ	णं सिहिणहु भरेण हुउ खीणउ।
भुय-जुय माणं माल-समाणउँ	णं जिणवर-पय-अंचण ठाणउँ।

मुहमंडलु ससि-मंडल-तुल्लउ जणु जोवइ पुणु-पुणु मणि भुल्लउ ।
सीस-चिहुर कुसुमहँ भरसोहिय गंध - लुद्ध - छप्पय संमोहिय ।
[१।१०।६-१२]

आचार और सिद्धान्त

पौराणिक काव्यमें नायकके उदात्त-चरितके साथ-साथ आचार, दर्शन एवं सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताओंका रहना आवश्यक माना गया है। महाकवि रइधूने इस चरित-काव्यमें जैनागमका सार गागरमें सागरकी तरह भर दिया है। गुणभद्राचार्य कृत 'उत्तरपुराण' एवं अन्य पार्श्वनाथ चरितोंमें यह सिद्धान्त उतने विकसित रूपमें नहीं दिखाई पड़ता। जिस प्रकार महाकवि जिन-सेनाचार्य अपने 'महापुराण'में तथ्यों और सिद्धान्तोंको अंकित कर उसे धर्मकथाका रूप प्रदानकर सके हैं, उसी प्रकार महाकवि रइधूने भी इस 'पार्श्वचरित'में अपनी पूर्वकालीन समस्त परम्पराओं-को समाविष्ट किया है।

समवशरणमें राजा अर्ककीर्त्ति द्वारा धर्मोपदेशके निमित्त प्रार्थना करनेपर पार्श्वप्रभु सर्व-प्रथम श्रावक-धर्मके मूलरूप सम्यक्त्वका उपदेश देते हैं।[1] यतः धर्मका आधार सम्यक्त्व ही है। जब तक जीवनमें सम्यक् श्रद्धा नहीं, आस्था नहीं, तब तक सद्वृत्तियोंका प्रादुर्भाव होना शक्य नहीं। मिथ्यात्व-भाव व्यक्तिके अन्तरंगको तो कलुषित करते ही है, साथ ही उसे जीवनमें गति-शील होनेसे भी रोकते हैं। इसी कारण 'सम्मद्दंसण पढमउ धरेवि' (५।२।८) वाक्यांश कहा गया है। यह सम्यग्दर्शन शरीरके अष्टांगोंके समान अष्टांगपूर्ण है। यदि एक भी अंग विकृत हुआ अथवा एक भी अंगकी कमी हुई तो जिस प्रकार शरीर अपूर्ण है और कार्यकारी शक्तिसे रहित है, ठीक उसी प्रकार जीवनमें अष्टांगके बिना धार्मिकता भी अपूर्ण है।

कविने सम्यक्त्वके स्वरूपमें देव-शास्त्र और गुरुके श्रद्धानको तो स्थान दिया ही है, साथ ही उन कारणोंका भी विवेचन किया है, जिनसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति और समृद्धि होती है।[2] उत्पत्तिमें स्वाध्याय एवं ध्यानके अतिरिक्त मोह, माया, प्रमादका त्याग, दया धर्मके प्रति अनुराग, पाप-कर्मके प्रति विचिकित्सा आदि भी परिगणित हैं। सम्यक्त्वकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है:—

तें विणु भवसायरि बहुदुक्खायरि णिवडइ जीउ ण भंति कवि।
तें सहुँ णारउ पुणु णरु होइबि सुणु सिवपउ लहइ ण भमइ भवि ॥
[५।३।११-१२]

तदन्तर कविने पंचाणुव्रतोंका निरूपण किया है। अहिंसाणुव्रतों[3] में सकल्पी हिंसाके त्याग के साथ-साथ आचार-विचार, रहन-सहन एवं भोजन-पानकी शुद्धिको भी महत्त्व दिया है। कविने आर्य-परम्पराके अतिरिक्त अपने अनुभव और आचारके आधारपर भोजन-शुद्धि एवं आचार-विचार

१. पासणाह०—५।२।५।
२. वही—५।२।६–१४ तथा ५।३।१-१०।
३. वही—५।४।१-१०।

को भी अहिंसाव्रतमें परिगणित किया है। मद्य, मांस एवं मधुका त्याग एवं अन्य भोजन-सम्बन्धी विवेक भी इस व्रतमें परिगणित हैं। दया, दान, पूजा आदि भी इस व्रतके धारीके लिए आवश्यक हैं। कंद, फल, मूलका त्याग एवं अभक्ष्य-त्याग भी अनिवार्य है।

सत्याणुव्रतका[1] स्वरूप परम्परा-प्राप्त ही है। कविने सत्याणुव्रतीके लिए विवेकपूर्ण भाषण करनेपर जोर दिया है। वह हित मित एवं यथार्थ वचनोंको ही इस व्रतमे परिगणित करता है। अचौर्याणुव्रत[2] के अन्तर्गत अदत्त वस्तुओंके ग्रहणका परित्याग बताया गया है। ब्रह्मचर्याणुव्रतमें[3] परस्त्रियोंको बहिन, माता एव सुताके समान समझनेपर जोर दिया गया है। कवि कहता है कि चेतन-अचेतन सभी प्रकारको स्त्रियोंका त्याग आवश्यक है। दासी, वेश्या आदिको आसक्ति भी ब्रह्मचर्याणुव्रतीके लिए सर्वथा वर्जित है। परिग्रह-परमाणुव्रत[4] मे अतरंग मूर्च्छाके त्यागपर बहुत जोर दिया गया है। कवि ने धन-धान्य, सोना-चाँदी आदि दसों प्रकारके परिग्रहका त्याग अनिवार्य बताया है। इसी प्रकार कविने चार शिक्षाव्रतों[5] एवं तीन गुणव्रतोंका[6] भी विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। अनर्थदण्डव्रत[7] में पापोपदेश आदि पाँचों अपध्यानोंका त्याग आवश्यक बताया गया है। सामायिक[8] प्रोषधोपवास[9] और अतिथिसंविभाग[10] व्रतोंका वर्णन भी बड़ा सुन्दर किया है। इसके बाद कविने रात्रिभोजन[11] त्यागको भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जलगालन[12] सप्तव्यसनत्याग[13] एवं द्वादशानुप्रेक्षाओं[14] आदिका विशद् एवं सरस विवेचन किया है।

आचार एवं तत्त्व-दर्शनके साथ-साथ सृष्टि-विद्याके वर्णनमें ही धर्म-सिद्धान्तकी पूर्णता मानी जाती है। यतः लोक-संस्थान, लोक-विस्तार, लोकाकृति तथा इस पृथिवीपर सन्निविष्ट द्वीप, सागर, कुलाचल, नदियो आदिका विवेचन भी अत्यावश्यक है। जब तक कोई भी धर्म-जिज्ञासु इस लोककी रचनाके सम्बन्धमें अपनी जिज्ञासाकी तृप्ति नहीं कर लेता, तब तक उसकी धर्मधारणाकी ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती। महाकवि रइधूने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्त्ती कृत

१. पासणाह०—५।५।१–३।
२. वही—५।५।४–७।
३. वही—५।५।८–१२।
४. वही—५।५।१३–१६।
५. वही—५।६।१–१४।
६. वही—५।७।
७. वही—५।६।६–१२।
८. वही—५।७।१–६।
९. वही—५।७।७–११।
१०. वही—५।७।१२–१४।
११. वही—५।७–८।
१२. वही—५।८।६–७।
१३. पासणाह०—५।८–९।
१४. वही—३।१५–१६।

त्रिलोकसार एवं जिनसेन कृत हरिवंशपुराणके आधारपर लोकका विवेचन किया है। तात्त्विक दृष्टिसे इस लोक-वर्णनमें कोई भी नवीनता नहीं है। कविने परम्परा-प्राप्त तथ्यों और मान्यताओंको कविताके रूपमें प्रस्तुत किया है।[१] अन्तमें कविने क्षपक-श्रेणी द्वारा कर्म-क्षयकी प्रक्रिया विस्तार पूर्वक उपस्थितकी है।[२] इस प्रक्रियाका आधार आचार्य पूज्यपाद कृत 'सर्वार्थसिद्धि' नामक ग्रन्थ है।

महाकवि रइधूकी साहित्यिक विशेषताओंमेंसे एक विशेषता यह है कि वे पौराणिक प्रबन्धों-को प्रस्तुत करते समय अपने रचनातन्त्रमें कुछ ऐसी भिन्नता संयोजित करते है, जिससे एक प्रकारकी रचनाओंमें भी विभेदक-रेखा अंकित हो जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह पौराणिक प्रबन्ध-साहित्य शैली या रचना-विधानकी दृष्टिसे एक नहीं है। यद्यपि सामान्यतः अवलोकन करनेपर सभी रचनाएँ एक ही शैलीमे गुम्फित प्रतीत होती है, पर रचनाओंमें अन्तः प्रवेश करनेपर स्पष्टतः भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है। कहीं-कही तो ऐसा भी आभास होता है कि रचना-विधानमें ही भिन्नता नहीं है अपितु जीवन-उत्क्रान्तिमें भी भिन्नता है।

प्रस्तुत ग्रन्थावलीमें 'पासणाहचरिउ' के अतिरिक्त अन्य जिन रचनाओंका अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, उनकी रचना-प्रक्रिया प्रायः समान है। उनके नायकोंका विकास जन-जीवनसे ही होता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि किसी प्रचलित लोक-कथाको ग्रहण कर उसके पात्र कथावस्तु और वर्णनोंमें जहाँ-तहाँ छील-छालकर मनोनुकूल बनानेकी चेष्टाकी गई है। फलतः वे पात्र, जो कि लोक-कथाओंके बीच हँसते-खेलते एव क्रीड़ा-विनोद करते दिखलाई पडते थे, वे व्रतोंकी आराधना एवं त्याग तथा संयमके बीच जीवन-यापन करते परिलक्षित होते हैं' यह विशेषता महाकवि रइधूकी ही नहीं है, अपितु प्रायः समस्त श्रमण-साहित्यकी है। छोटी-छोटी कथाओंके पात्रों द्वारा जैनधर्मका आचरण और अनुष्ठान करते हुए दिखलाना तथा शृंगारिक वर्णनोंको एकाएक वैराग्यकी ओर मोड देना जैन-लेखकोंके लिए एक रचनातन्त्र ही वन गया है। इस तन्त्रके अनुसार जिन रचनाओंका गठन किया जाता है, वे प्रायः जीवनके समग्र चित्रको प्रस्तुत करनेमें अक्षम हैं। अतएव इस श्रेणीकी कृतियोंको खण्डात्मक या लघु कथात्मक प्रबन्ध-काव्यके भीतर ही रखा जाता है। महाकवि रइधूकी इस श्रेणीकी दो रचनाओंको प्रस्ततु ग्रन्थावलीमें सम्मिलित किया गया है, जिनका संक्षिप्त अध्ययन यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है—

[२] सुकोसलचरिउ

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्यमे सुकौशलका आख्यान बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। रइधूने भी उससे प्रभावित होकर उक्त खण्डकाव्यका प्रणयन किया। प्रस्तुत लघु आख्यानमें कविने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और भरतके चरितोंका प्रासंगिक कथाओके रूपमें ग्रथन कर प्रमुख चरितको उदात्त बनाया है। उसने अयोध्या-नगरीके इक्ष्वाकुवशीय महाराज नाभिरायसे कथा-

१. वही—५।१४–३४।

२. वही—७।३।

नकका सम्बन्ध जोड़कर अपने चरित-नायकको भी इक्ष्वाकुवंशीय-तीर्थंकरका वंशधर सिद्ध किया है।[1] कविने मूलचरितके आख्यानका पल्लवन ऋषभदेवके चरितसे आरम्भ किया है।[2] बताया गया है कि कर्मभूमिके आदि प्रवर्त्तक ऋषभदेवने जन सामान्यको असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य आदि छह प्रवृत्तियोंकी शिक्षा देकर उसे कर्म करनेमे प्रवृत्त किया।[3] महाराज भरतने ऋषभदेवके समवशरणमें इक्ष्वाकुवंशके महनीय कीर्त्तिधारी नृपतियोंकी वंशावली पूछी, जिसके उत्तरमें ऋषभदेवने प्रमुख महापुरुषोंके उल्लेख किए।[4] उसी वंश-परम्परामें विजयरथ[5] नामका एक प्रतापी राजा हुआ। विजयरथका पुत्र जयरथ[6] हुआ। उसके दो पुत्र हुए—वज्रबाहु[7] एवं पुरन्दर[8]। पुरन्दरका पुत्र कीर्त्तिधर[9] हुआ और इसी कीर्त्तिधरका पुत्र था प्रस्तुत कृतिका नायक सुकौशल[10]। इससे स्पष्ट है कि कवि रइधूने अपने चरितनायकको धीरोदात्त सिद्ध करनेके लिए इक्ष्वाकुवंशीय तथा आदि तीर्थंकर ऋषभदेवका वंशधर निबद्ध किया है। इसका मूलकथानक संक्षेपमें इस प्रकार है—

कविने सर्वप्रथम समस्त तीर्थंकरों, गणधरों एवं वाग्वादिनी सरस्वतीको नमस्कार कर अपने गुरु भट्टारक कुमारसेनको प्रणाम किया है तथा उनकी पूर्व-परम्पराका स्मरण किया है। तत्पश्चात् अपनी पूर्वरचनाओं—णेमिणाहचरिउ, पासणाहचरिउ एवं बलहद्दचरिउकी चर्चा करते हुए अपने आश्रयदाता रणमल साहूके निमित्त 'सुकोसलचरिउ' के प्रणयनकी प्रतिज्ञाकी है। प्रसंग-वश समकालीन तोमर राजा डूँगरसिंहका परिचय भी प्रस्तुत किया है। तदन्तर कथावस्तुका प्रारम्भ किया है। उसके अनुसार भारतमें राजगृही नामकी नगरीमें श्रेणिक-नरेश राज्य करते थे। उनकी पट्टरानीका नाम चेलना था। एक दिन वे राजदरबारमें बैठे थे कि प्रतिहारीने आकर वन-उपवनमें असमयमें ही सभी ऋतुओंके फल-फूलोंके लग जाने तथा वीरप्रभुके समवशरणके आगमनकी सूचना दी। यह सुनकर श्रेणिक बड़ा प्रसन्न हुआ और घोड़ोसे युक्त स्वर्णरथ पर सवार होकर समवशरणमें पहुँचा। भगवानको नमस्कार कर उसने उनसे 'सुकौशल' का जीवन-चरित पूछा। उत्तर स्वरूप गौतम-गणधरने तीनों लोकों, भोगभूमि, कर्मभूमि, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणीकाल तथा उनके विस्तृत भेद,प्रभेद एवं चौदह कुलकरोंके नाम बतलाकर अन्तिम कुलकर नाभिरायका जीवन-वृतान्त बतलाया। कुलकर नाभिरायकी पट्टरानीका नाम मरुदेवी था।

---

१. सुकोसल०—१।८।४।
२. वही—१।१३–१८ से २।१–१० तक।
३. वही—२।२।५।
४. वही—२।११।३–९।
५. वही—२।११।११।
६. वही—३।१।१।
७. वही–३।१।४।
८. वही—३।१।५।
९. वही—३।१६।५।
१०. वही—३।२२।८।

एक दिन रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उसने सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होते ही उसने अपने प्रियतमसे उक्त स्वप्नोका फल पूछा। नाभिरायके मुखसे अपनी कोखमे आनेवाले तीर्थंकर पुत्रका वृत्त जानकर मरुदेवी अत्यन्त प्रसन्न हुई। भगवानके गर्भमे आते ही विभिन्न देव-देवियोंने मरु-देवीको नाना प्रकारके संगीत एवं अन्य विविध क्रीड़ाओंके द्वारा मनोरंजन एवं सेवा आदि कार्य प्रारम्भ कर दिए। नवमें मासमे समय प्राप्त होनेपर पुत्र-जन्म हुआ। देवेन्द्रोंने बड़े ही उत्साहके उसका जन्मोत्सव मनाया तथा पाण्डुक-शिला पर ले जाकर अभिषेक किया। कालक्रमानुसार नाभय बड़े हुए। माता-पिताने बड़े हो स्नेहपूर्वक उन्हे विविध शिक्षाएँ प्रदानकी।

[प्रथम सन्धि]

एक दिन नाभेय अपने श्रीगृहमें विराजमान थे कि उसी समय भूख, ठण्ड एव गर्मीसे संतप्त प्रजाजन उनके समीप पहुँचे और निवेदन किया कि अब कल्पवृक्षोंने इच्छित वस्तुएँ देना बन्द कर दी है। अतः सुखपूर्वक जीवन-यापनके कुछ उपायोंका निर्देश कीजिए। तब नाभेयने सर्वजनहिताय असि, मसि, कृषि आदि ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षाएँ प्रदानकी।

बीसलक्ष पूर्व तक राज्य-संचालनके बाद नाभेयने कच्छ एवं महाकच्छकी नन्दि एवं सुनन्दि नामक कन्याओंके साथ पाणिग्रहण किया, जिनसे भरत, बाहुबलि प्रमुख कई पुत्र एवं ब्राह्मी तथा सुन्दरी नामकी दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं।

एक दिन इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई कि त्रेसठ लक्ष पूर्व व्यतीत हो चुकनेके बाद भी नाभेयको वैराग्य उत्पन्न क्यों नही हो रहा है? अतः उसने समय पाकर नीलाजना नामक एक अप्सराको उनके दरबारमें भेजा। उसने वहाँ सुन्दर नृत्य किया। अचानक ही वह वही चक्कर खाकर गिर पड़ी और मृत्युको प्राप्त हो गई। यह दुर्घटना देखकर नाभेयके मनमे संसारके प्रति असारताका भाव जाग उठा और वे अपने पुत्रको राज्य सौपकर अनेक राजाओंके साथ तपस्या करने हेतु वनमे चले गए। वहाँ उन्होंने छह मास तक घोर तपस्याकी। उनके साथ दीक्षित हुए अन्य राजा लोग नाभेय जैसी घोर तपस्या न कर सकनेके कारण मिथ्याचारी बन गए। किसीने यह वृत्तान्त नाभेयको सुनाया और निवेदन किया कि वे पारणा ग्रहण करें।

नाभेय पारणाके लिए निकले। कितने ही स्थानोंमें उन्होंने विहार किया किन्तु सर्वत्र अन्तराय आ जानेके कारण वे पारणा ग्रहण न कर सके। विचरण करते-करते वे कुरुदेश पहुँचे। वहाँके राजा श्रेयासने उन्हें पडगाहकर भक्ति-विधि पूर्वक इक्षुरसका दान दिया।

पारणाके बाद वे पुनः तपश्चर्यामें लीन हो गए। शीघ्र ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवोंने ज्ञान-कल्याणक मनाकर समवशरणकी रचनाकी, जहाँपर कई राजाओंके साथ भरत भी पहुँचे। भरतके प्रश्न करने पर केवलज्ञानी प्रभुने छह-द्रव्य, सप्त-तत्त्व, नौ-पदार्थ, संयम, लेश्या, तप, शील, ध्यान, गुणस्थान, मार्गणा, दान, भाव आदि विषयोंका विवेचन करके उन्हे धर्मा-मृतका पान कराया। फलस्वरूप भरतको वैराग्यका उदय हो आया और उन्होंने अपने पुत्र रविकीर्त्तिको राज्य सौंपकर दीक्षा ग्रहण कर ली। भरतके दीक्षा ग्रहण कर चुकनेके बाद रवि-कीर्त्तिने बड़ी ही कुशलतापूर्वक राज्य संचालन किया। उसके बाद इक्ष्वाकुवंशमें अन्य कई राजा-

गण हुए, उसीमें से विजयरथ नामका भी एक राजा हुआ, जिसकी पट्टरानीका नाम कनकचूलिका था। [द्वितीय सन्धि]

राजा विजयरथको कालक्रमानुसार एक पुत्रकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम जयरथ रखा गया। विवाहोपरान्त उसके भी दो पुत्र हुए पविबाहु (वज्रबाहु) एवं पुरन्दरबाहु (इन्द्रबाहु)। पिताने उनका लालन-पोषण बड़े स्नेहके साथ किया।

नागपुर नगरके राजाका नाम गजवाहन था। वह अपनी रानी चूड़ामणिके साथ सुखपूर्वक जीवन-यापन कर रहा था। समय आने पर उसे दो सन्तानें प्राप्त हुईं—मनोहर नामक एक पुत्र एवं मणोदा नामकी पुत्री। मणोदा जब युवावस्थाको प्राप्त हुई तब मनोहर अयोध्या गया और राजा जयरथको अपना परिचय देकर कहा कि "मै अपनी बहिन मणोदाका पाणिग्रहण आपके ज्येष्ठ पुत्र बज्रबाहुसे करना चाहता हूँ।" जयरथने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मनोहरके साथ ही अपने पुत्रको मणोदाके साथ विवाह-हेतु रवाना कर दिया। मार्गमें जाते समय उन्हें गुणसागर नामक मुनिके दर्शन हुए। उनसे धर्मोपदेश सुनकर दोनोंने वही दीक्षा ले ली। यह समाचार जब विजयरथ एवं गजवाहनने सुना तो पुत्र-वियोगजन्य दुःखसे दुखी हो गए। पुत्रको दीक्षित देखकर विजयरथके मनमें भी वैराग्यका उदय हो गया। उसने अपने छोटे पुत्र पुरन्दरबाहु (इन्द्रबाहु) को राज्यभार सौंप दिया और द्वादशानुप्रेक्षाओं तथा दसलक्षणधर्मका चिन्तन कर उसने भी निर्वाणघोष नामक मुनिराजके पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

पिताके उत्तराधिकारकी सुरक्षा करते हुए राजा पुरन्दर अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करने लगा। उसे एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई, जो कीर्त्तिधरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। कीर्त्तिधर जब युवक हुआ तब उसका विवाह सहदेवी नामक एक सुन्दरी राजकुमारीके साथ कर दिया गया।

कीर्त्तिधर बड़े ही धैर्यशाली एवं सात्त्विक प्रकृतिके राजा थे। वे अपनी पट्टरानी सहदेवीके साथ आनन्दपूर्वक राज्य करने लगे। एक दिन जब वे अपनी रानीके साथ राजमहलकी छत पर बैठे थे, तभी उन्होंने आकाशमें बादलोंको उमड़ते देखा। उनके रूप-परिवर्त्तनको देखकर कीर्त्तिधरको संसारकी अनित्यताका विवेक जागृत हो उठा। अतः दीक्षित होकर एकान्त-वनमें तप करनेका विचार करने लगे। लेकिन उनके मन्त्रियोंने उन्हें समझाया कि उत्तराधिकारी पुत्रके बिना दीक्षा लेना उचित नहीं, क्योंकि वह राज्य-विरुद्ध कार्य है। राजाने भी इस सलाहको उचित मानकर कुछ समयके लिए अपना विचार स्थगित कर दिया और नगरमें आए हुए एक मुनिराजके दर्शन कर अपने लिए पुत्र-प्राप्तिका समय आदि पूछा। मुनिराजने तुरन्त ही भविष्यवाणी करते हुए कहा कि "तुम्हें शीघ्र ही पुत्र उत्पन्न होगा, किन्तु वह अल्पवयमें ही मुनिपद धारण कर लेगा।"

मुनिराजकी भविष्यवाणीके कुछ समय बाद ही रानी सहदेवी गर्भवती हुई। रानीको इससे बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु पुत्रोत्पत्तिके बाद पतिका गृहत्याग एवं पुत्रके मुनिपद धारण करने सम्बन्धी मुनिराजकी भविष्यवाणीका स्मरणकर वह चिन्तित थी। इन दोनोंसे बचनेके लिए उसने अपने मनमें एक षडयन्त्र सोचा कि यदि गर्भ सम्बन्धी वृत्त पति अथवा परिवारके लोगोंसे

छिपाकर रखा जाय तथा पुत्र-जन्मका उत्सव भी न मनाया जाय और पुत्रके बड़े होने पर उसे नगरके बाहर न जाने दिया जाय तो दुःख एवं बिछोहका कारण उपस्थित नहीं हो सकेगा। रानीने यथाशक्ति अपने षडयन्त्रको सफल बनानेका प्रयास किया किन्तु अन्तमें उसे निराश होना पड़ा। राजाको पुत्रोत्पत्तिका समाचार मिल गया। अतः वे शीघ्र ही रानी सहदेवी पर राज्य-संचालनका उत्तरदायित्व एवं पुत्र-पालनका भार सौंपकर जंगलमें तपस्या-हेतु चले गए।

सहदेवी पतिवियोगका दुःख सहन न कर सकी, किन्तु नवजात सुकौशल नामक पुत्रका मुख-दर्शन कर उसने जैसे-तैसे धैर्य धारण किया और उसीके लालन-पालनमें अपना समय व्यतीत करने लगी। [तीसरी सन्धि]

सुकौशल अपने पिताके मार्गका अनुकरण न कर ले, इसके लिए माँ बड़ी चिन्तित हुई। अतः उसने राज्यमें दिगम्बर-मुनियोंका प्रवेश निषिद्ध कर दिया। प्रजाजनोंमें इससे बड़ी खलबली मच गई। इस आदेशसे उनके मनमें बार-बार राज्यके भयानक भविष्यकी कल्पना उठने लगी।

सुकौशल जब युवक हुआ तब उसकी माँ ने उसके एक के बाद एक कुल बत्तीस विवाहकर दिए तथा उसके सम्मुख भोग-विलासोंका ऐसा वातावरण तैयार कर दिया, जिससे मुनिपद धारण करनेकी प्रवृत्ति ही उसमें जागृत न हो सके। उसने ऐसा भी कोई अवसर न रखा कि जिससे वह राज्य-भवनके बाहर निकल सकें। उसकी युवती सुन्दरी रानियाँ भी उसे घेरे रहने लगी तथा नाना कामभोगोंमें उसे उलझाए रखने लगीं।

एक दिन जब सुकौशल अपनी माँ के साथ राजमहलकी अट्टालिका पर बैठा था तभी उसने एक दिगम्बर मुनिको राजमहलकी ओर आते हुए देखा। उनके दर्शन कर सुकौशल अत्यन्त प्रभावित हुआ तथा अपनी माँ से उनका परिचय पूछा। माँ ने प्रथम तो उसे यहाँ-वहाँकी बातोंमें बहलाना चाहा किन्तु अन्तमें जब सुकौशलने हठ किया तब उसे मुनिराजका यथार्थ परिचय देते हुए कहना पड़ा "कि ये कीर्त्तिधवल नामक मुनिराज हैं, जो दीक्षा लेनेके पूर्व तुम्हारे पिता कीर्त्तिधर थे। तुम्हारी शैशवावस्थामें ही इन्होंने हमें अनाथावस्थामें छोड़कर दीक्षा धारण कर ली थी। इनका यह कार्य मुझे रुचिकर नहीं लगा अतः मैंने इनका नगर-प्रवेश रोक दिया था फिर भी ये यहाँ पहुँच गए, किन्तु अब मेरे आदेशसे इन्हें इस नगरमें कोई भी आहारदान नही देगा।" यह सुनकर सुकौशल बड़ा दुखी हुआ। उसके मनमें भी संसारके प्रति असारताका भाव उदित हो गया और वनमे जाकर घोर तपस्या करने लगा।

इधर सुकौशलकी एक रानी विचित्रमाला गर्भवती थी। अतः उसके गर्भस्थित बच्चेको ही राज्यका उत्तराधिकारी मानकर नृपपट्ट बाँध दिया गया। सुकौशलके गृहत्यागसे रानियाँ तो गगनभेदी विलाप करने ही लगीं, माँ ने भी शोकाकुल होकर भोजनादिका त्यागकर दिया और फलस्वरूप वह मृत्युको प्राप्तकर व्याघ्र-योनिमें उत्पन्न हुई।

एक दिन वह व्याघ्री (माँ सहदेवीका जीव) वहाँ पहुँची जहाँ सुकौशल मुनि तपस्या कर रहे थे। उन्हें देखते ही उस व्याघ्रीको पूर्वभवका स्मरण हो आया और क्रोधवश उनका भक्षण

कर डाला। घोर वेदना होने पर भी सुकौशलने इसे धैर्यपूर्वक सहन किया और शुभ ध्यान पूर्वक मृत्यु प्राप्तकर मुक्तिपद प्राप्त किया। [चौथो सन्धि]

कथास्रोत

प्रस्तुत 'सुकोसलचरिउ'का मूलस्रोत हरिषेण कृत 'बृहत्कथाकोष'[1] के १२७ वें एवं १५२ वें आख्यान है। ऐसा प्रतीत होता है कि कविने दोनों ही आख्यानोंको मिलाकर अपने इस चरित-काव्यका निर्माण किया है। उसके १२७ वें 'सुकौशलकथानकम्' नामके आख्यानमें बताया गया है कि "अयोध्या नगरीमें सिद्धार्थ नामका एक सेठ रहता था। उसकी प्रधान वल्लभाका नाम जयामती था। यों तो उसकी बत्तीस पत्नियाँ थीं पर उसे सन्तान-लाभ किसी भी पत्नीसे न हुआ। एक दिन सिद्धार्थ निर्मल आकाशकी ओर मेघोंकी क्रीड़ाओंके देखनेमें संलग्न था कि उसकी प्रिय पत्नी जयामतिने पलितकेश उखाड़कर कहा :—'स्वामिन्, देवदूत प्राप्त हुआ है।' सिद्धार्थ देवदूत का नाम सुनकर चारों दिशाओंमें दत्तचित्त होकर देखने लगा, लेकिन उसे कोई भी दिखलाई न पड़ा। तब उसने अपनी पत्नीसे पूछा—'वह देवदूत कहाँ है?' पत्नीने तुरन्त ही हाथकी मुट्ठी खोलकर कहा—'प्रभु, मैं राजदूतकी बात नहीं करती, मैं तो धर्मदूतकी बात कर रही हूँ।' तब सिद्धार्थको अपना पलितकेश दिखलाई पड़ा, साथ ही दो विद्याधर भी उसे दृष्टिगोचर हुए तो उसका मन विरक्तिसे भर गया और वह तप करनेके लिए प्रस्तुत हो गया। पुरजन-परिजन तथा अन्य हितैषियोंने उसे समझाते हुए कहा कि आपके प्रव्रजित होते ही आपका वंश निर्मूल हो जायगा, अतः पुत्र-लाभके अनन्तर ही आपको दीक्षित होना चाहिए। हितैषियोंकी यह सलाह सुनकर सिद्धार्थने अपना यह विचार कुछ समयके लिए स्थगित कर दिया।

जयामती सन्तान-प्राप्तिके लिए अनेक प्रकारके उपाय करने लगी। एक बार वह एक मुनिराजके समीप पहुँची। उनके आशीर्वचनसे सन्तान-लाभका विश्वासकर उसने निश्चय किया कि मैं पुत्र-प्राप्त हो जानेपर भी पुत्रलाभका समाचार सिद्धार्थके पास नहीं भेजूँगी। उसने अपने निश्चयके अनुसार किया भी वैसा ही। पर अन्ततोगत्वा सिद्धार्थको पुत्रजन्मका समाचार अवगत हो गया और वह तपस्या करने वनको चला गया। इधर श्रेष्ठगुणोंकी प्रवीणताके कारण पुत्रका सार्थक नाम सुकौशल रखा गया।

जयामती पति-विरहसे दुखी होकर उदास रहने लगी। उसने अपने पुत्रके लालन-पालनके लिए पाँच उत्तम धायोंका प्रबन्ध किया। जब सुकौशल युवा हुआ, तो उसका बत्तीस सुन्दरियोके साथ विवाहकर दिया गया और माताने ऐसा प्रबन्ध किया कि जिससे वह कभी घरसे बाहर न निकल सके तथा अहर्निश संसारके भोग-विलासमें ही मग्न रहे।

एक दिन नगरीमें भिक्षार्थ पधारे हुए मुनिराजके दर्शनकर सुकौशल विरक्त हो गया तथा माँ के द्वारा रोके जानेपर भी उसने हठात् दीक्षा धारण करली। पति और पुत्रके न रहनेसे जयामतीको अत्यन्त कष्ट हुआ। वह सिर पीट-पीटकर रोने लगी और आर्त्तध्यानके कारण मृत्युको प्राप्त करनेसे वह अगले भवमें व्याघ्री बनी।

---

१. दे० बृहत्कथाकोष [सिंघी जैन सीरीज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, संस्करण १९४३ ई०]।

२. दे० वही, पृ० ३०५—३१४।

जिस पर्वतपर सेठ सिद्धार्थ और सुकोशल तपस्या कर रहे थे, उसी पर्वतकी गुफामें वह व्याघ्री रहने लगी ! एक दिन क्षुधासे पीड़ित होकर उसने अपने पूर्वजन्मके पुत्र सुकोशलका उनके तपश्चरण करते समय भक्षण कर लिया। जब सिद्धार्थका ध्यान टूटा तो उसने व्याघ्रीको सम्बोधित किया, जिससे उसे पूर्वभवका स्मरण हो आया और वह भी अपने पापका प्रायश्चित करने लगी। समाधिकी दृढ़ताके कारण सुकौशलने केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण लाभ किया।''

'बृहत्कथाकोष'के १५२वें आख्यान[1]के अनुसार "अयोध्यामें राजा कीर्त्तिधरका पुत्र सुकौशल हुआ और किसी विशेष निमित्तको पाकर पिता-पुत्र दोनों ही प्रव्रजित हो गए। सहदेवी, जो कि कीर्त्तिधरकी पत्नी और सुकौशलकी माँ थी, पति-पुत्रके वियोगको सहन न कर सकी और आर्त्तध्यानसे मृत्युको प्राप्त करनेके कारण व्याघ्री बनी। एक दिन उसने तपश्चरण करते हुए सुकौशलका भक्षणकर लिया। शान्तिपूर्वक-तपश्चरण करनेके कारण सुकौशलको मोक्षलाभ हुआ।"

उपर्युक्त दोनों ही कथानकोंकी महाकवि रइधूके "सुकौशलचरित"के कथानकके साथ तुलना करनेसे अवगत होता है कि कवि रइधूने उक्त दोनों कथानकोंका सम्मिश्रणकर अपने काव्यके कथानककी नवीन रूपमें योजनाकी है। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भकी दो सन्धियोंका कथानक, जिसका कि आधार आचार्य जिनसेनकृत 'आदिपुराण' है कविने इस कथानकमें जोड़ दिया है और छोटी-सी मूलकथाको चरित-काव्यके योग्य बना लिया है।

अन्तकी चतुर्थ सन्धिमें पूर्वभवावलीके मार्मिक चित्र जोड़कर कथानकका ऐसा मानचित्र प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह काव्य बहुत ही सरस और हृदयग्राही बन गया है।

काव्यतत्त्व

कवि रइधूने अपने काव्यके प्रारम्भमें स्वयं ही काव्य-स्वरूपका विश्लेषण करते हुए बताया है कि यह "सुकौशल" धर्म-रसायन होनेके कारण सैकड़ों भवोंको दूर करनेवाला है। कविने बताया है:—

भव-सय-दुक्ख-खयंकरु··········सुकोसल० १।३।८।

सद्द-अत्थ-हीणउ (१।३।१०) नामक काव्य-पंक्तिसे स्पष्ट है कि कविकी दृष्टिमे शब्द और अर्थका साहचर्य ही काव्य है। शब्द और अर्थका इस प्रकारका समन्वय रहना चाहिए कि जिससे रागतत्त्वकी व्यंजना अधिकसे अधिक हो सके। कविकी दृष्टिमें हृदय और बुद्धिकी संश्लिष्टि ही काव्य है। अतः रस एवं काव्यतत्त्व हृदय-पक्ष हैं और विचार-चमत्कार एवं परिहासादि बौद्धिक-पक्ष। कवि काव्यके अन्य उपकरणोंका निम्न प्रकार निर्देश करता है। उसने अपनी असमर्थता व्यक्त करनेके बहाने कहा है :—

पिंगल-छंदु वि दुविह त्ति ण जाणमि   किं अप्पउ कइत्त गुणि माणमि।
१।३।१४

---

१. बृहत्कथाकोष—पृ० ३४६।

उक्तकथनसे स्पष्ट है .कि काव्यके निर्माणमें कवि छन्द, अलंकार, रीति, गुण, औचित्य आदिको भी आवश्यक समझता है। अन्यथा वह अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए इस प्रकारके पदोंका प्रयोग न करता। वस्तुतः 'सुकौशल-चरित' जैसे चरित-काव्य इस कोटिके काव्य हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य दमित कुण्ठाओंका परिमार्जनकर भावोंका परिष्कार करना है। शृंगारिक कविता जहाँ ऐकान्तिक कक्षकी ओर ले जाती है, वहाँ नैतिक भावमूलक-काव्य व्यक्तिको समाज की ओर। उसका ध्येय एकमात्र विलास और मनोरंजन नहीं होता, बल्कि किसी आदर्शनायकके सम्पर्कमें पहुँचकर आत्म-शोधनके साथ समाजका उदात्तीकरण भी होता है। इसी कारण कविने स्वयं लिखा है :—

सज्जण - मण - संतोसयारि णियमइ जंपेसहि पावहारि।

१।४।१४

अर्थात् कविका यह काव्य सज्जन व्यक्तियोंके मनको सन्तोष देनेवाला और विलास एव वासना-रूप पापोंको भस्मसात् करनेवाला है। कविने आगे स्वयं अपने इस काव्यका महत्त्व निम्न प्रकार बताया है :—

ए वयणविलासहिँ चित्तुल्लासहिँ कोसलचरिउ सुहावणउ।
ते करुणाढत्तउ कलिमल चतउ जण सवणहँ सुहदावणउ॥

सुकोसल०—१।४।१५-१६

प्रस्तुत चरितकाव्यके प्रारम्भमें कविने महाकाव्योंके रचयिता कवियोंके समान ही अपनी लघुता प्रदर्शित की है। हमारा अनुमान है कि हिन्दीके महाकाव्योंमें कवियों द्वारा लघुता-प्रदर्शित करनेकी यह विस्तृत प्रणाली सम्भवतः रइधू जैसे अपभ्रंश-काव्यके रचयिताओंसे ग्रहण की गई है। यों तो संस्कृत-काव्यके रचयिताओंने भी काव्यके आरम्भमें अपनी लघुता प्रदर्शित की है, पर इस प्रणालीका सम्यक् विकास अपभ्रंश-काव्योंमें ही हुआ है। लगभग १०–१५ पंक्तियोंके बीच कवि जिस मार्मिकताके साथ अपनी लघुताकी अभिव्यंजना करता है, वह निश्चयतः सस्कृत-काव्योंकी अभिव्यंजनासे भिन्न है। हम कविकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत करते हैं :—

सद्द-अत्थ-हीणउ हउँ सामिय किं पंगुल हवंति णहगामिय।
कि अतरंडु तरइ पुणु सायरु किं अभिडइ रणंगणि कायरु।
बोक्कडु-धूलु करिहु किं बोल्लइ किं वच्छउ धवलह भरु झिल्लइ।
आसि कइंदहि चरिउ जि भासिउ कह विरयमि हउँ तं गेहासिउ।

सुकोसल०—१।३।१०-१३

रइधूने ग्रन्थारम्भके पूर्व श्रोताओंकी महत्ताको भी चर्चा की है और बताया है कि यदि श्रोता न हों तब शास्त्रकी शोभा एवं महत्ता ही क्या ? यह तो उसी प्रकार होगा जिस प्रकार सुन्दर हाथ-पैर स्वर्णके कड़ोंसे विहीन रहें। श्रोताओंके बिना संसारमें ज्ञानका विस्तार ही कैसे सम्भव हो सकता है ? कविने यह वर्णन-परम्परा जिनसेनसे ग्रहण की है। उन्होंने अपने 'आदि-

पुराण'में श्रोताओंके १४ भेद बतलाए हैं।[1] कवि रइधूने उनमेंसे उत्तम एवं मध्यम-कोटिके क्रमशः गाय, हंस एवं तोता कोटिके श्रोताओंकी चर्चा की है। यथा :—

सोयारें विणु णउ सहइ सत्थु विणु कणयकडें पुणु जिण पयत्थु।
तिं विणु के वित्थारेइ लोइ सोयारें विणु पायडु ण होइ।
जिणवरहु वि झुणि णिग्गमणु णत्थि सोयारें विणु [ण] पयडिय पयत्थि।

सुकोसल०—१।४।१–३

भगवान् ऋषभदेवके गर्भावतरण और जन्माभिषेकके चित्रणमे कविने काव्यात्मकता पूर्ण उपयोग किया है। ऋषभके जन्मके पूर्व यक्षेन्द्र द्वारा रत्नवृष्टिको कविने वर्षाऋतुकी मेघवृष्टि कहा है। जिस प्रकार वर्षाऋतुमें रिमझिम-रिमझिम करनेवाली जलकी फुहार मनको हर्षित कर आमोद-प्रमोदसे भर देती है, उसी प्रकार यक्षेन्द्र द्वाराकी गई रत्नवृष्टि एव अन्य कार्य-कलाप अयोध्या-निवासियोंके मनमें अपार हर्ष भर देती है। इस प्रसंगमे अयोध्यामे की गई देवोंकी व्यवस्थाका रमणीक चित्रण "सुकोसलचरिउ"में देखा जा सकता है।

"पाण्डुक-शिला पर आसीन ऋषभदेवका अपूर्व सौन्दर्य किसे अपनी ओर आकृष्ट नही करेगा? क्षीरसागरके जलसे अभिषिक्त होनेके कारण यहाँ स्वयं ही क्षीरसागरका प्रवाह उमड़ पड़ा है। विविध प्रकारके वाद्योंसे सारा वातावरण अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव करा रहा है"। कविने उपमा और उत्प्रेक्षाके सहारे इस दृश्यका बड़ा ही भावपूर्ण चित्र उपस्थित किया है—

[दे० सुकोसल०–१।१७।५-९]

'सुकोसलचरिउ' जैसे छोटे काव्यमें भी कविने यथास्थान उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारोंकी भी स्वाभाविक एवं सटीक योजनाकी है। रमणीय वर्णनोंका तो इसमें अपूर्व साम्राज्य है। कविने जिस वर्णनको आरम्भ किया है, उसका सांगोपाग-चित्र नेत्रोंके समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। यदि कोई चित्रकार चाहे तो इन वर्णनोंसे सुन्दरतम रेखाचित्र प्रस्तुत कर सकता है।

यह सत्य है कि 'सुकौशलचरित' के समस्त वर्णन संस्कृतके महाकाव्योंके वर्णनोंसे भिन्न हैं, पर मुनि, व्याघ्री, रमणी, जन्माभिषेक, यात्रा, पर्वत, वन, निर्झर, प्रभृति वर्णन निश्चयतः सांगोपांग हैं। इसी प्रकार मुनि-चित्रण, अटवी-वर्णन, व्याघ्री-चित्रण एव नारी-चित्रण आदिके वर्णनोंसे रेखाचित्रोंका निर्माण बड़ी ही कुशलताके साथ किया जा सकता है। मुनि-चित्रण करते हुए कवि कहता है—

परिहरिय संगु जह जायलिंगु।
कायहु विरत्तु मुत्तिहिँ विरत्तु।
बुज्झिय-सतत्तु भव-जाण- वत्तु।
वज्जिय-ममत्तु सम-मित्त - सत्तु।

---

१. मृच्चालिन्यजमार्जरशुककङ्कशिलाहिभिः।
गोहंसमहिषच्छिद्रघटदंशजलौककैः ॥

आदिपुराण प्र० भा० १।१३९

मयमाण - चत्तु जिणसमय - भत्तु ।
णीराय - मुत्ति णं झाण - थत्ति ।
धारिय-तिगुत्ति किय-भिक्ख-भुत्ति ।
णिक्कंपु धीरु खय-समर वीरु ।

सुकोसल०—३।४।१,८

उपर्युक्त पंक्तियोंमें मुनिकी शान्त एवं ध्यानमग्न मुद्राका सजीव चित्रण हुआ है। उक्त वर्णनानुसार मुनि संसार, शरोर और भोगाशक्तिसे विरक्त होकर व्रत, संयम और आचारका पालन करते हुए ध्यानमें मग्न रहते हैं। वे उस सुमेरुके समान अडिग हैं, जिसके ऊपर सर्दी, गर्मी, बरसात आदिका प्रभाव निरन्तर पड़ता रहा है। पर उसमें किसी प्रकारका भी परिवर्त्तन नहीं होता। मुनिराज भी नाना प्रकारके उपसर्गोंसे प्रताडित होनेपर भी अडिग रहते हैं। कविने वनका वर्णन भी बहुत ही सुन्दर किया है। वह कहता है—

णाणाविह तरुवर-सिरि-रवण्णु बल्लीगेहहिँ दिसमग्ग छण्णु ।
वरकुसुमरेणु - रंजिय - धरत्ति छप्पयगणरंजिय - गंधसत्ति ।
फल-दल - सोहिय भूरुह - अणत सज्जण-जण इव णमियंग संत ।
णिज्झरण-जलेँ तित्तिय गइद अविरुद्ध वि जहिँ थिय पुणु मइँद ।

सुकोसल०—३।३।४-७

वन विविध प्रकारके वृक्षोंसे परिपूर्ण हैं। नाना प्रकारकी लताएँ छाई हुई हैं, जिनमें रंग-विरगे पुष्प विकसित हो रहे हैं। किसी व्यक्ति-विशेषके न पहुँचनेसे उन पुष्पोंका कोई भी चयन नही करता, अतः वे स्वयं गिरकर मुरझा जाते हैं, जिससे वह भूमिभाग अत्यन्त सुगन्धित हो उठा है। अनेक झरनें पर्वतोंसे निकल रहे हैं और उनका कल-कल निनाद गमन करते हुए पथिकोंको सन्देश देनेके लिए अपनी ओर आकर्षित करता है। वनमें निवास करनेवाले व्याघ्र, चीते आदि जंगली पशु अपनी कल्लोल-क्रीड़ाओं द्वारा उल्लासको प्राप्त कर रहे हैं।

कविने उस आर्त्तध्यानसे मरकर व्याघ्रीकी योनि प्राप्त करनेवाली रानी सहदेवीकी व्याघ्री-पर्यायका जीवन्त-चित्रण प्रस्तुत किया है। व्याघ्रीकी दाढ़ कितनी भयंकर होती है और उसकी लपलपाती जिह्वा तलवार जैसी मालूम पड़ती है। कवि रइधूने ध्यानस्थ सुकौशल-मुनि का भक्षण करते समय उसके भयावने रूपका चित्रण निम्न प्रकार किया है:—

दाढ़ाकराल वियरालवत्त मुणिणाह अंति स खणेण पत्त ।
पयधरिवि खाहु पारद्धु ताइ रिसि लीणु जाउ णियसुद्धभाइ ।
णह-घाय-पहारइँ देहु तासु महियलि विलुलिउ सिरिमुणिवरासु ।
अंतावलीउ तोडइ तडत्ति सोणिय जलु घुट्ट [उ] पाव झत्ति ।

सुकोसल०—४।२१।८-११

वस्तु-चित्रणके अतिरिक्त कवि दार्शनिक तत्त्वोंके विवेचन और विश्लेषणमें भी काव्यात्मकताका प्रयोग करता है। वह मात्र ब्यौरे ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु जीव, अजीव, आश्रव,

बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष इन ७ तत्त्वोंके साथ द्वादशानुप्रेक्षाओं [३।८–१४], दशलक्षणधर्म [३।१५] आदिका विश्लेषण भी सुन्दर रूपसे करता है।

व्यक्ति और समाजके जीवनमें दानकी प्रवृत्ति आवश्यक मानी गई है। उसके अभावमें करुणा, अहिंसा, प्रमोद, एवं मैत्रीके भाव प्रादुर्भूत नहीं हो सकते। कवि रइधूने एक प्रसंगमें बताया है, कि नगरके भीतर मुनिराजका प्रवेश निषिद्ध कर दिए जानेके कारण वहाँकी प्रजा अपने भाग्यको कोसने लगी। उसकी दृष्टिसे नगरमें मुनिके अनागमनसे वह म्लेच्छोंका आवास एवं दानके अभावमें गृहस्थोंका निवास श्मशान जैसा बन जाता है [सुकोसल०—४।१।४–६]।

संसारकी असारताका चिन्तन भारतीय आस्तिकताका मुख्य प्रयोजन है। पुराचार्योंने अपने आध्यात्मिक अन्वेषणोंके आधार पर इसकी बार-बार पुनरावृत्तिकी है कि संसार अनर्थोंका मूल-स्रोत है। इसमें व्याप्त समस्त पदार्थ क्षणिक हैं। सांसारिक सुख अनन्त-दुखोंके मूल कारण हैं। रइधूने भी नीलांजना नामक नर्त्तकीके असामयिक अवसानके कारण उत्पन्न वैराग्यके समय ऋषभदेवके मुखसे संसारकी असारताका बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है—[दे० २।४।२-५]।

प्रस्तुत चरित-काव्यको सरस बनानेके लिए भाव और विभावोंका संयोजन भी सुन्दर रूपमें कविने प्रस्तुत किया है। माताके द्वारा विलास और वैभवकी सारी सामग्रीके प्रस्तुत किए जानेपर भी सुकौशल नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करते हुए भी "जलमें भिन्न कमल है" की तरह घरकी आसक्तिसे दूर है। बत्तीस सुन्दरियोंके नानाविध हाव-भाव और विलास-सुखके वातावरणके बीच निवास करता हुआ सुकौशल शृंगार-रसकी समस्त सामग्रीका उपभोग करता है। इस प्रसंगमें कविने सुकौशलकी भावराशिका मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण किया है। [दे० सुकोसल०—४।२–३]।

राजप्रासादके सौध-शिखरपर आसीन सुकौशलको अस्थि-चर्म मात्रावशेष मुनिराजका दर्शन एकाएक आकाशसे भूमिपर खींच लाता है। एक छोटा सा निमित्त उसके जीवनका आमूल चूल परिवर्तन कर देता है। उसके हृदय-सागरमे ज्वार-भाटा उत्पन्न हो जाता है। संसारकी स्वार्थपरताओंके मूर्त्तिमान् रूप अपनी भयंकर आकृतियाँ उपस्थित करने लगते हैं [सुकोसल—४।४] पुत्रवत्सला रानी सहदेवीके द्वारा नाना प्रकारसे समझाए जाने, दिगम्बर मुनिकी बुराइयाँ कर उनके प्रति घृणाका भाव उत्पन्न करने एवं अन्य भुलावा दिए जानेपर भी वह घरसे निकल पड़ता है। इस स्थल पर कविने भावोंका तनाव कुशल-कलाकारके समान प्रस्तुत किया है [सुकोसल० ४।५।२–७ एवं ४।७।१०–११]।

रानी सहदेवीका जीव—'व्याघ्री' बुभुक्षासे पीड़ित है। जिस पुत्रके स्नेहके कारण उसने विलख-बिलखकर अपने प्राणोंका विसर्जन किया, उसी पुत्रके शरीरका भक्षण करते हुए उसके मनमें रंचमात्र भी दयाका भाव जागृत नहीं हुआ। इस सन्दर्भमें कविने सुकौशलकी दृढ़ता द्वारा भावभूमिका बहुत ही उन्नत हिमालय खड़ा किया है। एक व्याघ्री निर्मम-भावसे ध्यानस्थ मुनिके शरीरका भक्षण कर रही है। नासाग्र-दृष्टि मुनि आत्मचिन्तनसे जरा भी विचलित नहीं। अस्थि, मज्जा और रुधिरादिके सफाचट कर जानेपर भी ध्यानमुद्रामें संलग्न मुनिराजका धैर्य किसे आश्चर्य चकित न कर सकेगा [सुको० ४।२१]?

कर्मोंकी ग्रन्थियाँ तड़ातड़ टूट जाती हैं। शुक्ल ध्यानाग्नि प्रज्ज्वलित हो जर्जरित अघातिया-कर्मोंको भस्मकर निर्वाणका लाभ करा देती है। [सुकोसल० ४।२२]

कवि रइधूने प्रस्तुत ग्रन्थमें कथनोपकथनोंका भी सुन्दर आयोजन किया है। सबसे अधिक मार्मिकता उस कथनोपकथनमें प्राप्त होती है जिसमें राजा कीत्तिधर राज्यपाटका त्यागकर तपस्या हेतु वनगमन करना चाहता है किन्तु मंत्री उससे आग्रह करता है कि "पुत्रोत्पत्तिके पूर्व यह कार्य राजनीति एवं धर्मनीति-विहित नहीं है"। रानी भी मन्त्रीके इस कथनका पूर्ण समर्थन करती है। मन्त्रीके बार-बार आग्रह करनेपर राजा अपने इस विचारको कुछ समय तकके लिए स्थगित कर देता है। (स्पष्टीकरणके लिए दे० सुकोसल—३।१८।१-१५)।

अन्य वर्णन-प्रसंगोंमें कविने दन्तमुसल संग्राम एवं रत्नकम्बल सम्बन्धी दो विशेष उल्लेख किए हैं। कवि रइधूने अंग देश स्थित चम्पानगरीके राजा द्वारा किए गए एक युद्धमें प्रयुक्त उक्त दंतमुसल [सुको०—४।१७।३] नामक युद्धास्त्रकी चर्चाकी है। अर्धमागधी आगम-साहित्यके 'भगवतीसूत्र' [७।९।३०१] में भी 'रथमुसल संग्राम' की चर्चा आती है। प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगमयुगसे लेकर रइधू-युग तक उक्त युद्धास्त्र पर्याप्त रूपमें महत्त्वपूर्ण रहा है। 'दन्त' सम्भवतः हाथी-दाँतका बना हुआ दाँतके आकारका कोई अस्त्र रहा होगा। तथा 'मुसल' मूसलके आकारका कोई मारक हथियार था। मध्यकालीन साहित्यमें रइधूको छोड़कर अन्यत्र इसका प्रयोग मेरी दृष्टिमें नहीं आया।

कविका दूसरा उल्लेख 'रत्नकम्बल' सम्बन्धी है [दे० सुकोसल ४।१५।१]। प्राचीनकालमें रत्नोंके बहुमूल्य कम्बल निर्मित होते थे, जिनका प्रयोग लक्षपति या कोटिपति ही कर सकते थे। क्योंकि उनका मूल्य सहस्र-सहस्र रुपयोंका होता था। आगम-साहित्यके 'कोशा-गणिका आख्यान' तथा सोमप्रभसूरिकृत 'कुमारपालप्रतिबोध'के शालिभद्रचरितमें भी इसकी चर्चा आती है। कोशागणिकाने अपने सौन्दर्यपर मोहित एक साधुसे नेपालमें निर्मित 'रत्नकम्बल'की माँगकी थी, जिसे वह घोर कष्टों एवं बाधाओंको सहन करके भी उसे उपलब्ध कर ले आया था। 'शालि-भद्रचरित'के अनुसार मगधकी राजधानी राजगृहीमें एक परदेशी व्यापारी रत्नकम्बल बेचने आता है। उनकी कीमत इतनी अधिक थी कि रानी चेलनाके बार-बार आग्रह करनेपर भी मगध-नरेश उसे खरीदनेका साहस न कर सके। किन्तु उसी नगरके सेठ शालिभद्रकी विधवा माताने उस आगत व्यापारीके सभी रत्नकम्बल खरीद लिए और उनके टुकड़े-टुकड़ेकर अपने महलके प्रत्येक कक्षमें पैर पोंछनेके निमित्त द्वार-मुखोंपर डाल दिए[1]।

मध्यमकालमें रत्नकम्बलोंके नामोल्लेख तो मिलते हैं किन्तु उनका निर्माण एवं प्रयोग होता था या नहीं, इसकी चर्चा कहीं भी देखनेको नहीं मिलती। कविका यह उल्लेख परम्परा-प्राप्त ही प्रतीत होता है।

[३] धण्णकुमारचरिउ

प्रस्तुत चरित एक पौराणिक काव्य है। कवि रइधूने इस काव्यमें पात्रोंके नामोंकी कल्पना

---

१. दे० कुमारपाल प्रतिबोध—G. O. S. no. XIV, 1920. Poges 458–59.

इस रूपमें की है कि जिससे उनके नाम लेते ही तत्काल उनका अर्थबोध हो जाता है। धन्यकुमार, कृतपुण्य, अकृतपुण्य, भोगवती प्रभृति इसी प्रकारके नाम हैं, जिनमें नादतत्त्व तो सम्मिलित है ही, पर साथ ही उनके गुण और स्वभाव भी निहित हैं। काव्यका नायक धन्यकुमार वस्तुतः धन्यका ही कुमार है। उसके नामसे ही स्पष्ट है कि उसके दर्शन करते ही सैकड़ों विघ्न-बाधाएँ काफूर हो जाती हैं और वैभव या कल्याण सम्बन्धी जितनी भी सिद्धियाँ हैं वे स्वयमेव उसके पास उसी प्रकार चली आती हैं, जिस प्रकार नदी और नाले समुद्रको प्राप्त होते हैं।

रइधूने अपने पूर्वकालीन साहित्यसे ही इस आख्यानको लिया है। 'णायाधम्मकहाओ'में भी इस प्रकारके कतिपय आख्यान हैं, जिनमें धन्यकुमार जैसे पात्रोंके समक्ष सारी सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। भट्टारक सकलकीर्त्तिने संस्कृतमें एक 'धन्यकुमार रचित'[1] की रचनाकी है, जिसका कथानक भी लगभग इसीके समान है। प्राचीन कथा-साहित्यकी यह एक मौलिक विशेषता है कि उसका नायक इतना पुण्यशाली और सौभाग्यशाली रहता है कि उसके समक्ष सभी सिद्धियाँ अपने आप आकर नतमस्तक हो धाती हैं। कविका चरित-नायक धन्यकुमार भी इतना पुण्यशाली है कि उसे अपने चारित्रिक-विकासके लिए किसी भी प्रकारका आयास नहीं करना पड़ता।

लेखकने नायककी इस सफलताका मूलकारण उसका पूर्वजन्ममें मुनिको आहारदान बताया है। एक मुनिको आहारदान देनेके प्रभावसे अकृतपुण्य जैसा दुर्भाग्यशाली व्यक्ति, जिसके कि स्पर्शमात्रसे ही स्वर्ण धूलि बन जाता है, कल्याण अकल्याणमें परिवर्त्तित हो जाता है, सिद्धि असिद्धिके रूपमें बदल जाती है और सामने रखा हुआ धन देखते-देखते विलीन हो जाता है, ऐसा व्यक्ति भी दान और त्यागके प्रभावसे धन्यकुमार जैसा ऐश्वर्यशाली, ऐश्वर्यवान् और तेजस्वीके रूपमें अवतरित होता है। वस्तुतः पौराणिक चरितकाव्यके लेखकोंकी यह शैली रही है कि वे किसी भी व्रत, अनुष्ठान, संयम एवं अन्य पुण्यकृत्योंके प्रभावसे नायकका रूप इस प्रकारसे गठित करते हैं, जिससे कि वह मानव कम और देव अधिकरूपमें प्रस्तुत होता है। पौराणिक चरितकाव्योंके लेखकोंका मुख्य उद्देश्य पुण्य और पापके प्रभावको प्रदर्शित करनेका हुआ करता है। कवि रइधूने भी धन्यकुमार-चरितकी रचना इसी रूपमें की है और उनका यह काव्य भी पौराणिक-चरितके गुणोंसे युक्त है।

धन्यकुमारकी माता लक्ष्मीवती, जो कि भोगवतीका जीव है, धन्यकुमारको इसी कारण अधिक प्रेम करती है कि उसके साथ मिलकर उसने भी मुनिको आहारदान दिया था। धन्यकुमार का जीव अकृतपुण्य भोगवतीका पुत्र था और भोगवती उस भवमे अकृतपुण्यको इतना अनुराग और प्रेम करती थी कि उसके बिना उसका एक क्षण रहना भी सम्भव न था। अकृतपुण्य जब गुफामें सिंहके द्वारा मृत्युको प्राप्त हुआ तब भोगवतीको भी विरक्ति हो गई और वह भी दीक्षित होकर तपश्चरण करने लगती है। पुत्रके अभावमें उसे सारा संसार शून्य जैसा प्रतीत होने लगता है। दुर्धर साधना द्वारा वह प्रथम स्वर्ग प्राप्त करती है और स्वर्गसे च्युत होकर लक्ष्मीवतीके रूपमें धन्यकुमारकी माँ बनती है। धन्यकुमारके अन्य भाई, जो उससे द्वेष करते हैं, उसका भी

१. भारती भवन काशी, [१९११ ई०] से प्रकाशित।

कारण पूर्वभवका बैर-विरोध ही है। कवि रइधूने पूर्वजन्मके संस्कारोंकी यह परम्परा बहुत ही सुन्दर ढंगसे प्रदर्शित की है। ऐसा विश्वास होने लगता है कि हम किसीसे प्रेम और द्वेष यों ही नहीं करने लगते। इसके कारण कोई अदृष्ट ही हैं। अनेक जन्म-जन्मान्तरोंके संस्कार और संबंध हमारे साथ चले आ रहे हैं। इन्हीं सम्बन्धों और संस्कारोंके कारण हम किसीके प्रति आकर्षित और किसीके प्रति विकर्षित होते हैं। प्रायः देखा जाता है कि अनेक सद् प्रयत्न करनेपर भी हम किसीको अपना मित्र नहीं बना पाते और किसीको बिना प्रयत्नके ही अपना मित्र बना लेते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि अकारणमित्र या शत्रु बननेका क्या हेतु है? कवि रइधूने इस समस्याका समाधान इस चरित-काव्यमें सहज ही प्रस्तुत कर दिया है। हमारे इस जन्मके प्रयत्न और कार्य अगले जन्मके लिए अदृष्ट बनते हैं और पिछले जन्ममें किए गए कार्य इस जन्म के अदृष्टके रूपमें उपस्थित होते हैं। अतः अदृष्ट और कार्योंकी कार्य-कारण जन्य अदृष्ट-शृंखला उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है और हम नाना योनियोंमें परिभ्रमण करते हुए सुख और दुख प्राप्त करते हैं। कदाचित् गुरु या मुनिका संयोग मिले तो आत्मबोध जागृत हो जानेपर हम निर्वाणकी साधनामें संलग्न हो जाते हैं और अपने पुरुषार्थके अनुसार निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार कवि रइधूने इस चरितकाव्यमें उक्त कर्म-सिद्धान्तका याथार्थ्य प्रकटीकरण किया है।

रचना-विषय संक्षेप

महाकवि रइधूने सर्वप्रथम भगवान् महावीरको नमस्कार कर भट्टारक सहस्रकीर्त्तिके पट्टधर भट्टारक गुणकीर्त्तिको अपने गुरुके रूपमें स्मरण किया है। गुणकीर्त्तिने कविसे कहा कि 'तुमने पार्श्वचरित बलभद्रचरित, अरिष्टनेमिचरित, एवं वर्द्धमानचरित जैसी श्रेष्ठ रचनाएँ की हैं, अत· अब 'धन्यकुमारचरित' की रचना करो।' इसके साथही उन्होंने आरौन (गोपगिरि) के जैसवाल जातीय श्री करमू पटवारीके पौत्र भुल्लण साहूके नामकी चर्चाकी तथा उन्हींके निमित्त प्रस्तुत चरितके लिखनेका आदेश दिया। कविने उसे स्वीकार कर पद्धड़िया-बन्धमें इसकी रचना की।

इसके बाद कविने उज्जयिनी नगरी तथा वहाँके राजाका वर्णन कर वहाँके सेठ श्रीदत्त तथा उनकी पत्नी लक्ष्मीदत्ताका वर्णन किया है। कथानुसार उस सेठके सुरवल्लभ, देवल, सुरनन्दन, सुरचन्द्र धनदत्त, धनेश्वर एवं धणउ नामक सात पुत्र थे। आठवाँ पुत्र जब गर्भमें आया तब उसकी माँको दोहद हुआ जिसकी पूर्त्ति श्रीदत्तने उसकी इच्छानुसार की। समय आनेपर सर्वगुण सम्पन्न धन्यकुमार नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिससे सारे नगरमें आनन्द मनाया गया।

जब वह आठ वर्षका हो गया, तो माता-पिताने विचार कर उसे उपाध्यायके पास पढनेके लिए भेज दिया। उपाध्यायने उसे 'अ' आदि स्वर एवं व्यञ्जन, अक्षरभेद आदि सिखाकर संस्कृत प्राकृत एवं देश्य भाषाओंका ज्ञान तथा शास्त्रोंमें गणित, लक्षण, अलंकार, विधि आदि एवं लिंगभेद, सन्धि, समास, व्याकरण, भाषा, तर्कशास्त्र, षड्द्रव्य, साततत्त्व, नौपदार्थ, आगमशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र, औषधि, गन्धर्व, वेदविद्या, संगीत, नृत्य-कला, हाथी एवं घोड़ेकी सवारी आदि सभी विद्याएँ सिखा दीं। [प्रथम सन्धि]

तत्पश्चात् अपने गुरु एवं रचना-प्रेरकके प्रति श्रद्धा व्यक्त कर कवि ने धन्यकुमारके सौन्दर्य एवं लोकप्रियताका वर्णन किया है। माता-पिताका सर्वाधिक प्रेम एवं सर्वत्र प्रशंसा सुन

कर धन्यकुमारके भाई उससे ईर्ष्या करने लगे। वे माता-पितासे उनकी बुराई करते हुए कहते हैं कि "अब वह कमाई करने योग्य हो गया है, अतः उसे भी व्यापारमें परिश्रम करना चाहिए"। माता-पिताने उनका अंतरंग जानकर धन्यकुमारको उचित शिक्षाएँ देकर उसे सर्वप्रथम पाँच सौ दीनारें देकर व्यापार हेतु भेज दिया।

बाजारमें आकर धन्यकुमारने पाँच सौ दीनारें देकर सर्वप्रथम इंधनसे भरी हुई एक बैल-गाड़ी खरीदी, जिसे देखकर सभी भाइयोंने मिलकर उसका उपहास किया, किन्तु वह यह सब देखकर भी चुप रहा। इतनेमें एक मेस वालेने सामने आकर धन्यकुमारसे उसे खरीद लेनेकी प्रार्थना की। उसने दयार्द्र होकर इंधन सहित बैलगाड़ी देकर उस मेस (भेड़ा) को ले लिया। उसी समय अपने पलंगके चार पायोंको लिए हुए एक अभागे मातंगको बैठा देखा और उससे उनका मूल्य पूछा। उसके मूल्य बता देनेपर धन्यकुमारने बदलेमें उसे मेस देकर पलंगके वे चारों पाए ले लिए और घर आकर मांको सारी घटनाएँ बता दीं। मांने प्रसन्न होकर तथा आसनपर बैठा· कर उसे तिलक काढ़ दिया।

थोड़ी देर बाद धूल भरे उन पलंगके पायोंको जब धोया गया तब उनमेंसे एक पत्रके साथ ही पाँच प्रकारके बहुमूल्य रत्न निकल पड़े, जिन्हें देखकर उसके भाई आश्चर्यचकित रह जाते हैं। माँ भी अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने पतिको सारा समाचार देती है। पिता उस पत्र एवं रत्नोंको राजकीय सम्पत्ति मानकर उसे राजदरबारमें ले गया। वहाँ राजाने उस पत्रको पढा तो उसमें लिखा था—"इस नगरके नीति-परायण राजाने अपने घरके भीतर कलशोंमें निधि भरकर रखी है। साथ ही अपनी शैयामें पायोंके भीतर अपने हाथोंसे रत्नोंको भरकर रखा है।" यह पढ़कर राजा आश्चर्य चकित हो गया तथा भाग्यशाली धन्यकुमारकी प्रशंसा की। राजाने तत्काल ही उसे पत्रके अनुसार राज्यसम्पत्ति एवं रत्न-प्रदानकर स-सम्मान विदा किया।

[द्वितीय सन्धि]

धन्यकुमारके इस प्रकारके भाग्यशाली जीवनसे उसके सभी भाई मन ही मन विद्वेष करने लगे। एक दिन इस कटकको दूर करनेके निमित्तसे वे उसे गाँवके बाहर एक बावड़ीमें जलक्रीड़ाके लिए ले गए। कुछ देर तक तो वे लोग साथ-साथ खेलते रहे, लेकिन अवसर पाते ही उन्होने धन्यकुमारको एक धक्का देकर बहुत दूर पानीमे फेंक दिया तथा उसे मरा हुआ जानकर सभी भाई निश्चिन्त मनसे घर वापिस आ गए।

धन्यकुमार इस घोर विपत्ति-कालमें भी धैर्यशाली बना रहा। उसने 'णमोसिद्धाण' का पाठ प्रारम्भ किया, जिसके प्रभावसे वह बावड़ीके बाहर निकल आया। उसके मनमें विचार आया कि दुष्ट भाइयोंके साथ रहना श्रेयस्कर नही, अतः वह परदेशकी ओर चला गया। जब वह मार्गमें जा रहा था, तब रास्तेमें उसे एक ब्राह्मण-किसान मिला जो अपने खेतमें हल चला रहा था।

धन्यकुमारने सोचा कि यह कृषि विद्या मुझे नहीं आती, क्यों न इसे भी सीख लूँ। उसने अपनी यह इच्छा उस किसानको बताई तो सिखानेके पूर्व सर्वप्रथम वह किसान उसे जलपानका आग्रह कर पत्तल लानेके लिये चला गया। धन्यकुमारने अवसर पाते ही हल चलाना प्रारम्भ कर

दिया। हल थोड़ा सा चला ही था कि वह भूमिमें ही अटक गया। इधर वह किसान पत्तल लेकर लौटा और कृषकके जलपानको स्वीकारकर वह धन्यकुमार अपने रास्तेमें आगे बढ़ गया।

इधर जब किसानने देखा कि हल अटका हुआ है और वह भी धनसे भरे हुए घड़ेसे। यह देख उसे आश्चर्य हुआ। उसने उसे उसी अपरिचित आगन्तुककी सम्पत्ति जानकर उसका पीछा किया। भेंट होने पर किसानने खेतमें मिली हुई वही सम्पत्ति वाली बात कही। तब धन्यकुमारने कहा कि वह न मेरी सम्पत्ति है और न मैं उसके विषयमें कुछ जानता ही हूँ। किन्तु किसान न माना। अन्तमें धन्यकुमारने विवादसे बचनेके लिए यह मान लिया कि उसीके प्रभावसे वह सम्पत्ति मिली और किसानसे उसका उपभोग करनेका-स्नेह भरा आग्रह किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया और धन्यकुमार आगे बढ़ गया। रास्तेमें उसे एक मुनि मिले। उन्हें प्रणाम कर तथा धर्मलाभ लेकर उसने उनसे अपने सभी भाइयोंका अपने प्रति ईर्ष्या और विद्वेषका कारण पूछा तो मुनिराजने उसके भव-भवान्तरोंका सारा वृत्तान्त बतलाया, जो बड़ा ही मार्मिक है।

अपनी पूर्वभवावली सुनकर धन्यकुमार आगे बढ़ा और राजगृही पहुँचा। वहाँ वह जिस वृक्षके नीचे बैठा था, उसकी छाया अचल हो गई। यह देख वनपाल आश्चर्यमें पड़ गया तथा उसके पास उसका नाम-पता आदि पूछनेके लिए गया। उसके वार्त्तालापसे प्रभावित होकर उसने धन्यकुमारसे अपने घर चलनेके लिए आग्रह किया तब वह उसके घर पहुँचा। यह देख वनपालकी पुत्री पुष्पावतीने वनपालसे पूछा कि यह नवागन्तुक कौन है ? तब वनपालने उसे अपना भानजा बताया। अपना सम्बन्धी जानकर उसने उसकी सेवा प्रारम्भकी। [तृतीय सन्धि]

एक दिन धन्यकुमारने पुष्पावतीके दिए हुए फूलोंकी माला गूँथ दी, जिसे उसने नगरकी राजकुमारीको भेंटमें दी। वह माला उस राजकुमारीको इतनी सुन्दर लगी कि उसने उसके बनाने वालेका नाम पूछा। पुष्पावतीने बड़ी ही प्रशंसाके साथ धन्यकुमारीका नाम बता दिया। जिसे सुनकर राजकुमारीने पुष्पावतीसे दिल्लगीमें कहा--'तुम्हें तो घर बैठे ही सुन्दर वर मिल गया।'

दूसरे दिन धन्यकुमार बाजारमे घूमते-घामते एक दूकानदारके यहाँ जा बैठा। उसके बैठते ही उस दूकानदारकी अपेक्षाकृत अधिक बिक्री हुई। तीसरे दिन वह पुनः एक दूसरी दूकान पर बैठा, उसे भी उस दिन आशातीत लाभ हुआ। उसने स्वयं ही एक दिन राजकुमार अभय-कुमारको चन्द्रकवेधमे पराजित कर दिया। राजमन्त्रीके लड़कोंको भी जुएमें पराजित कर दिया। इस प्रकार उसका प्रभाव देखकर बहुतसे लोग उससे ईर्ष्या करने लगे।

धन्यकुमारके ऐसे प्रभाव एवं प्रशंसाकी चर्चा राजकुमारी तक पहुँची, जिससे वह धन्य-कुमारके प्रति आकर्षित होकर मन ही मन दुखी रहकर पीली पड़ने लगी। राजाको जब इसका कारण ज्ञात हुआ तो उसने धन्यकुमारके साथ उसका विवाह करनेका निश्चय किया, लेकिन उससे विद्वेष रखने वाले उसके राजकुमार अभयने कहा कि 'अपनी बहिनके विवाहके पूर्व नगरके बाहर स्थित राक्षस-भवनमें भेजकर धन्यकुमारकी शक्ति-परीक्षा आवश्यक है। उसे कल ही वहाँ

भेजा जाय।' अभयकुमारकी इच्छानुसार दूसरे ही दिन धन्यकुमार अभयके साथ राक्षस-भवनकी ओर गया। अभयने सोचा था कि अन्य लोगोंके समान ही धन्यकुमार भी वहाँ नष्ट हो जायगा। लेकिन उसके विचारके प्रतिकूल ही घटना घटी।

राक्षस-भवनमें पहुँचते ही राक्षसने धन्यकुमारको उच्चासन पर बैठाया और सम्मानपूर्वक कहा—'मैं चिरकालसे आपकी प्रतीक्षामें था। अब आप आए हैं तो कृपाकर इस सारी निधिको सम्हालें। अब मैं यहाँसे वापिस जाता हूँ। उसके चले जाने पर वहीं पर कुसुम-वृष्टि की और 'साधु-साधु' कहकर धन्यकुमारका अभिवादन किया।

इधर नागरिक एवं राजा धन्यकुमारके लिए बड़े चिंतित थे। अगले दिन प्रातःकाल जब वह राक्षस-भवनसे प्रसन्नचित होकर निकला तो सभी आश्चर्यचकित हो उठे। राजाने स्वयं ही उसका स्वागत किया और राजमहलमे लाकर अपनी प्रधान राजकुमारी एवं अन्य १६ राजकुमारियोंके साथ उसका विवाह कर दिया। धन्यकुमार वही सुखपूर्वक रहने लगा।

एक दिन धन्यकुमारको नीद नहीं आई। उसी समय उसने देखा कि उसके पिता उसके भवनके सम्मुख ही दरिद्रावस्थामें खड़े है। वह अपने सेवकोंके साथ उनके पास गया। पिताने उसे राजा समझकर उससे कहा कि आप मुझ दुखीको अपने रास्तेसे जाने दीजिए। इसी बीच धन्य-कुमारके किसी साथीने पिताको समझाया कि वह और कोई नहीं, उसीका सबसे छोटा बेटा धन्यकुमार है। यह सुनकर पिताने गद्‌गद् होकर उसे अपने गलेसे लगा लिया। धन्यकुमारने अथसे इति तक अपना समस्त वृत्तान्त पिताको सुनाया तथा सेवकोंको भेजकर उसने अपने सातों भाइयोंको भी अपने यहाँ बुलवा लिया। धन्यकुमारका वैभव देखकर वे सभी भाई लज्जासे गडे जा रहे थे। धन्यकुमार तुरन्त ही उनके मनोभावको ताड़ गया तथा उनसे ऐसा व्यवहार किया कि फिर वे नि.संकोच जैसे हो गये। माँ तो अपने प्रिय पुत्रके दर्शनोसे भाव-विभोर हो हो उठी। धन्यकुमारने सभीको खूब सम्मानित कर प्रसन्न कर दिया और इस प्रकार सभी सुख पूर्वक रहने लगे।

कालक्रमानुसार धन्यकुमारके धनभद्र नामक पुत्र हुआ जिसका जन्मोत्सव बड़े ही ठाट-बाटसे मनाया गया। कुछ समयके बाद धन्यकुमारके साले शालिभद्रको वैराग्य हो गया जिसे देख धन्यकुमारको भी संसारके प्रति विरक्ति हो गई और जिनभद्र नामक मुनिराजसे जिनदीक्षा ले ली और तपकर मोक्ष को प्राप्त किया।

[चतुर्थ सन्धि]

मूल्यांकन

महाकवि रइधूने प्रस्तुत कृतिके द्वारा हमारे सम्मुख निम्न तथ्य प्रस्तुत किए हैं:—

१ प्राचीन परम्पराके अनुसार यह मान्यता चली आ रही है कि कर्मफल अनिवार्य है। पर यह कर्मफल इतना सुदृढ़ और सुनिश्चित नहीं कि इसमें किसी भी प्रकारका परिवर्त्तन न किया जा सके। अपने पुरुषार्थ और सदाचरण द्वारा व्यक्ति दुष्कृत्योंका परिमार्जन कर सुकृत्योंका अर्जन

कर सकता है। इसके लिए कर्मसिद्धान्तके दस-करण[१] साक्षी हैं। अनुभव यह होता है कि कविने यहाँ संक्रमणका व्यावहारिक प्रयोग दर्शाया है।

अकृतपुण्यका जीव अपनी पापबहुलताके कारण समस्त कष्ट और दुखोंको प्राप्त करता है।[२] परन्तु मुनिके आहारदानके प्रभाव[३] एवं अन्तिम समयमें मुनिके धर्मोपदेश[४]के कारण उसका पाप पुण्यमें परिवर्तित हो गया अथवा उसकी सद्भावनाओं एवं सद्विचारोंके कारण शुभाश्रव इतना अधिक हुआ, जिसके कारण वह पामर प्राणी—अकृतपुण्य धन्यकुमार[५] बन गया। इससे स्पष्ट है कि कवि हमारे सम्मुख सदाचार, धर्म, श्रद्धा तथा देव एवं गुरुके प्रति दृढ़ आस्थाके फल उपस्थित करता है और यह दिखलाना चाहता है कि एक सामान्य व्यक्ति भी आचरण एवं धर्मसाधनासे महान् बन सकता है।

२. लेखकने दूसरा दृष्टिकोण यह उपस्थित किया है कि जो कोई भी व्यक्ति वैभव और सम्मान प्राप्तकर अहंभावको छोड़ अपने विरोधियोंका आलिंगन करता है, वह धन्यकुमारके समान यशस्वी बन जाता है। धन्यकुमारके भाई ईर्ष्यावश उसका प्राणान्त कर देना चाहते है,[६] पर वैभव प्राप्त करके भी धन्यकुमार उन अपने सभी भाइयोंका सम्मान करता रहा तथा उनके प्रति सज्जनोचित व्यवहार प्रकट करता रहा।[७]

३. जैन कथा-साहित्यका एक प्रधान स्थापत्य कदली-स्तम्भ-स्थापत्य है अर्थात् जिस प्रकार केलेके छिलकोंके परत एक दूसरे पर आरूढ़ रहते हैं और उद्घाटन करने पर उन परतोंकी तह की तह निकलती चलती है, उसी प्रकार कथाकार एक जन्मकी कथाके साथ जन्म-जन्मान्तरकी कथाका नियोजन करता हुआ अपना उद्देश्य सिद्ध करता है। प्राय: जैन-कथा-साहित्यमें परलोक-भावना और सुकृत्य-फल दिखलानेके लिए जन्म-जन्मान्तरोंकी कथाओंका नियोजन सम्यक् प्रकार किया है। 'धन्यकुमारचरित' में भी इस स्थापत्यका पूर्ण प्रयोग हुआ है। इसी कारण कविने धन्यकुमारका मुनिके साथ वनमें साक्षात्कार कराया है और पूर्वजन्मकी कथाओंका प्रसंग उपस्थित किया है।

४. कविने अन्य कलाओं एवं शास्त्रोंके ज्ञानके साथ जीवनमें कृषिज्ञानको भी आवश्यक माना है। यही कारण है कि धन्यकुमार खेतमें हल चलाते हुए किसानको हल चलाना सीखनेके लिए लालायित हो उठता है।[८]

---

१. दे० गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा—४३७-३८।

२. धण्ण० ३।७-१२।

३. वही०—३।१३-१४।

४. वही०—३।२२-२६।

५. वही०—३।२७।

६. वही०—२।२-३।

७. वही०—४।७-८।

८. वही०—३।३।३-७।

५. अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे भी इस आख्यानमें कई नई उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जिस सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति-विशेषका अधिकार नहीं, वह सम्पत्ति राज्यकी सम्पत्ति होती थी। धन्यकुमारका पिता चारपाईके पायोंमेंसे निकले हुए रत्नोंको राजाके लिए भेंट करता है और स्वामी-विहीन धनका अधिकारी राजाको ही बतलाता है।[1]

कविने प्रसगवश अर्थशास्त्र विषयक ३ बातोंकी ओर भी चर्चा की है:—

[क] पारिश्रमिक सम्बन्धी—जिसके विषयमें कविने एक सूत्रका उल्लेख किया है, जिसके अनुसार—"कार्यके अनुसार ही वृत्ति अर्थात् पारिश्रमिक [कम्माणुसारि वित्ति ३।८।४]।" यह वृत्ति वस्तुके रूपमें दी जाती थी। कृतपुण्य सेठके यहाँ जब अकृतपुण्यने खेतमें अनाज काटने एवं बालोंके चुननेका काम किया था, तब उसे पारिश्रमिक एक पाटली भरकर चने दिए गए थे [३।९।३]। लेकिन मजदूर अकृतपुण्यका वस्त्र इतना फटा एवं सड़ा था कि उसमें बँधे हुए चने खिरने लगे और धीरे-धीरे कपड़ेके और अधिक फट जानेसे सारे चने भूमि पर बिखर गए [३।९।८]।

[ख] कवि रइधूके उल्लेखके अनुसार धनसुरक्षाके प्रमुख साधन या तो घड़ों या कलशोंमें सोना-चाँदी आदि भरकर तथा बन्द कर उन्हें भूमिमे गाड़ दिया जाता था अथवा भारी पलग आदिके पैरोमें उसे बन्दकर दिया जाता था [२।८।३-६; ३।३।१००-१२]।

[ग] वस्तुओंके क्रय-विक्रयके सम्बन्धमें दो प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। (१)—प्रचलित-मुद्राके बदलेमें वस्तुओंका क्रय-विक्रय (Purchase and sale)। धन्यकुमार जब सर्वप्रथम व्यापार-हेतु बाजार जाता है, तब उसका पिता उसे ५०० दीनारें देता है। धन्यकुमार भी उन दीनारोंसे लकड़ियोंसे भरी हुई एक गाड़ी बैलों सहित खरीदता है। धन्यकुमार गाड़ीवालेसे मोल-तोल करता हुआ कहता है—

वसहेँ सहु गड्डी देहि महु   दीणार पंच-सय मज्झ पहु [२।६।७]।

गाड़ीवाला भी धन्यकुमारकी बात सुनकर कहता है कि "भाई, यदि तुम यही चाहते हो, तब तुम्हारे मनकी ही बात रह जाय। ले लो लकड़ियोंसे भरी हुई यह बैलगाड़ी और लाओ ५०० दीनारें। धन्यकुमार उसे मुद्राएँ देकर बैलगाड़ी ले लेता है। गाड़ीवान मुद्राओंकी पोटलीको चोरीके भयसे लोगोंकी दृष्टि बचाकर लुका (छिपा) लेता है [२।६।२-५]।

कविने क्रय-विक्रयकी दूसरी पद्धति 'वस्तु विनिमय प्रणाली' [Barter system] का भी उल्लेख किया है। धन्यकुमार लकड़ी सहित बैलगाड़ीके बदलेमें विकराल सींगोंवाला तथा स्थूल-काय एक मेष (भेड़ा) को ले लेता है [२।६।९-१५]। इतना ही नहीं, इसके बाद भी वह मेष (भेड़ा) के बदलेमें एक मातंगसे पलंगके मिचवा एवं पाए भी खरीदता है और कहता है कि मेरा यह व्यापार लाभजनक रहा है [२।७।१-४]।

६. समाज-शास्त्र [Social-Science] की दृष्टिसे कविने इस कथाके विकासमें सहयोग और संघर्ष (Canflict) के अतिरिक्त सहवास को भी स्थान दिया है। धन्यकुमारके जीवनका आरम्भ

१. वही—२।९।१०-११; २।१०।२; २।११।२।

संघर्षसे होता है।[1] यद्यपि वह संघर्ष एकपक्षीय है, फिर भी धन्यकुमारके जीवन-विकासमें इस संघर्षका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि उसका उसके भाईयोंके साथ संघर्ष न होता तो धन्यकुमारका जो विकास हमारे लिए दृष्टिगोचर है, वह कभी न हो पाता। संघर्षके अनन्तर धन्यकुमार सहयोगका आश्रय लेता है और राजगृही नगरीमें इसी सहयोगके बलसे अपना सामाजिक विकास करता है। यहींपर उसके विरोधी भाइयोंका समागम होता है।[2] सामाजिक-दृष्टिसे वह उन्हें सहवास प्रदान करता है। अतः स्पष्ट है कि कवि समाज-विकासके सिद्धांतोंका आधार लेकर अपने नायकके जीवन-विकासके क्रमको दिखलाता है।

७. पौराणिक आस्था और विश्वासोंका कथा और काव्यकी शैलीमें निरूपण।

८. नायकके साथ प्रतिनायककी योजनाकर एकके जीवनको आद्यन्त उत्तम और भव्य तथा दूसरेके जीवनको सदोष और अनेक दुर्गुणोंसे परिपूर्ण चित्रण करना।

९. कथानकको सरस और मनोरंजक बनानेके लिए ऐसे वातावरणका नियोजन, जिनके द्वारा दार्शनिक और पौराणिक तथ्योंकी अभिव्यञ्जना सम्भव हो।

१०. कथानकमें सामन्तवादी ऐश्वर्य और त्यागका प्रदर्शन।

११. पौर-शिल्पन द्वारा आख्यानमें इस प्रकारके वैचित्र्यका न्यास, जिससे कथानकके आयामका उसी प्रकार दर्शन सम्भव हो सके, जिस प्रकार हम किसी चौराहेपर खड़े होकर किसी पुर-विशेषके सौन्दर्यका दर्शन कर लेते हैं। शान्त वातावरणमें किसी चौराहेपर खड़े होनेपर जैसे हमें नगरका सारा दृश्य एक ही दृश्यमे दिखलाई पड़ जाता है, उसी प्रकार आख्यानके किसी भी बिन्दुसे नायकके समग्र जीवनका दर्शन भी सम्भव होता है। यतः पौर-शिल्पनकी प्रमुख विशेषता यही है कि उसका नायक संसारके समस्तगुणोंका समवाय अपने भीतर उपस्थित करता है। अतः एक ही दृष्टिमें उसकी सारी विशेषताएँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं।

१२. कथानकके साथ-साथ तत्कालीन संस्कृति और समाजके भी सुन्दर चित्रण विद्यमान हैं। यही कारण है कि कवि रइधूने इस काव्यमें कला-विद्याओं, संस्कृतियों और सगीतोंके केवल नाम-निर्देश ही नहीं किए हैं, बल्कि उनकी गोष्ठियों एवं विभिन्न रूप भी प्रदर्शित किए हैं। तत्कालीन समाजमें व्यापार, रहन-सहन, आचार-विचार एवं वैवाहिक रीति-रिवाजोंके भी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। (धन्यकुमार द्वारा प्राप्त कला-विद्याओंके लिए देखिए कडवक स० १।१०।११–१२ से १।११।१–७)। यह प्रसंग रइधूकालीन कलाओं एवं शिक्षा-पद्धतिपर अच्छा प्रकाश डालता है।

१३ व्रत, त्याग, अनुष्ठान आदिके फलकी अभिव्यञ्जनाओंके लिए आख्यानोंमें चमत्कारों और रसोंका समावेश दृष्टव्य है। राजगृही नरेशकी कन्या धन्यकुमारके वियोगमें पाले पड़ी हुई लताके समान मुरझाकर पीतवर्णकी हो जाती है। इस प्रसंगमें कविने कामावेशकी अवस्थाओंका सुन्दर वर्णनकर शृंगार-रसका उत्तम प्रणयन किया है। (दे० ४।२–३)।

---

१. धण्ण०—३।२–१४; ३।१–२।

२. वही—४।७–११।

१४. माता-पिता और भाइयोंके मिलनके अवसर पर पात्रोंके मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व प्रस्तुत किए गए हैं। कथाओंमें नियोजित पात्रोंके मनके तनावकी स्थिति आधुनिक मनोविज्ञानके समान ही समाविष्ट है [४।६-९]।

१५. वैदर्भी-शैली द्वारा कविने प्रमुख पात्रोंके जीवनकी गाथा बड़े ही सरस और मधुर ढंगसे उपस्थितकी है। जिज्ञासा और कुतूहल-तत्त्व इतना अधिक समाविष्ट है, जिससे पाठक आरम्भ करनेपर ग्रन्थका अन्त किए बिना विराम नहीं ले सकता।

१६. प्रवाह-गुण शरदकालीन गंगाकी धाराके समान आख्यानके माध्यमसे पाठकके चित्त-को अपने साथ लिए चलता है। कवि रइधू कथाके रूपायनमें इतने पटु हैं, कि जिससे उनका कथातत्त्व बिना किसी आयासके स्वयमेव यथास्थान व्यक्त होता जाता है।

उक्त विशेषताओंके अतिरिक्त कविने प्रसंगवश सुन्दर सूक्तियों, शिक्षात्मक-सूत्रों एवं कहावतोंके प्रयोग कर कथ्यको अधिक स्पष्ट एवं मार्मिक बनाया है। इनमें वाणिज्य-पद्धति [२।४। १-९]; उद्यममहिमा [२।१३।९-१२]; पुण्यमहिमा [२।९।२-४, तथा ३।४।७]; लोभ-निन्दा [२।१३।६-७]; धर्म-महिमा [२।१४।१५-१८]; कर्म-महिमा [३।९।२]; तथा कड़वक संख्या ३।१।४; ३।३।१; १।५। ३-७; २।२।४-८; २।७।४, ३।२।११;के अंश प्रमुख हैं।

भाषा

काव्य एवं विचारोंका शरीर भाषा एवं अनुभूति आत्मा है। महाकवि रइधूने अपने समस्त वाङ्मयमें निम्नलिखित चार भाषाओंके प्रयोग किए हैं :—

(१) संस्कृत (२) प्राकृत (३) अपभ्रंश, एवं (४) हिन्दी। इनमेंसे संस्कृत-भाषामें कविने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना नहीं की। किन्तु सन्धियोंके प्रारम्भमें तथा कहीं-कहीं अन्तमे मगल या आशीर्वादात्मक विचार विविध संस्कृत-श्लोकोंमें व्यक्त किए हैं। समग्र उपलब्ध रइधू-साहित्यमें कुल संस्कृत-श्लोक संख्या १६३ है। उनमेंसे प्रस्तुत ग्रन्थावलीके पासणाहचरिउमें ६; सुको-सलचरिउमें ४ तथा धण्णकुमारचरिउमें ३; इस प्रकार कुल संख्या १३ है। इन संस्कृत-पद्योंके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि वे प्राकृत एवं अपभ्रंशसे पूर्णतया प्रभावित हैं। बौद्ध-साहित्यमें मिश्र-संस्कृत (Hybrid Sanskrit) के जो नमूने उपलब्ध है, कवि रइधूके संस्कृत-पद्य भी उन्ही नमूनोंके तुल्य प्रतीत होते हैं। यद्यपि कुछ पद्योंकी संस्कृत-भाषा पाणिनि-व्याकरणसे सम्मत और परिमार्जित है, तो भी प्राकृत और अपभ्रंशके बीचमें संस्कृत-पद्योंको निबद्ध करनेके कारण उन पर प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कविने खेमराज, भुल्लण, तोसउ, हरसीहु प्रभृति प्राकृतके व्यक्ति-वाचक पद संस्कृत-श्लोकोंमें ज्यों के त्यों निबद्ध कर दिए हैं। यदि कवि चाहता तो इनके संस्कृत-रूप भी प्रस्तुत कर सकता था। कुछ स्थानों पर कविने ऐसा किया भी है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि कवि प्राकृत और अपभ्रंश की शब्दावलीके साथ पद-रचनामें भी उक्त भाषाओंका अनुसरण करता रहा है। यही कारण है

कि उपलब्ध संस्कृत-पद्योंमें २–४ पद्य ही इस प्रकारके हैं, जो छन्द और व्याकरणकी दृष्टिसे समीचीन हैं। अधिकांश पद्य छन्दोभृष्ट एवं व्याकरण असम्मत प्रतीत होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कवि रइधूका संस्कृत-भाषा पर पूर्ण आधिपत्य और पद्य-रचनामें भी नैपुण्य है। एक ओर जहाँ वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित आदि जैसे विविध सुन्दर छन्दोंका प्रयोग कर कवितामें सुन्दर चमत्कार उत्पन्न करनेका आयास भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। अपने आश्रयदाताके बल, वैभव और पराक्रमके वर्णनोंके अवसर पर कविको शब्दावली अत्यन्त ओजपूर्ण रहती है और ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक पद वीरताकी हुंकार करता हुआ आश्रयदाताके यशका संवर्द्धन कर रहा है। श्री भुल्लण साहू, जो सम्भवतः तोमरवंशी राजा डूँगरसिंहका मन्त्री या सामन्त था, कविने ओजपूर्ण पदावलीमें उसका यशोगान करते हुए लिखा है :—

प्रतापसिंहं जितबैरिसिंहं नरेन्द्रचन्द्रं सविधूतचन्द्रम्।
अहर्निशं यो निजभृत्यसेवकैः संसेवितं सो जयत्यत्र भुल्लणम् ॥
धण्ण०—४।१

इस प्रकार कवि संस्कृतका भी पण्डित रहा है। संस्कृत-भाषा पर उसका अक्षुण्ण अधिकार था। श्लेष एवं अनुप्रास युक्त शब्दावलीका प्रयोग उसने स्वेच्छया प्रसंगानुसार किया है। निरीक्षण-शक्तिकी प्रबलता और उर्वर-कल्पनाके द्वारा कविने प्रसंगानुकूल क्लिष्ट और कोमल शब्दोंको स्थान दिया है। आवश्यकतानुसार समासका प्रयोग कर सुकुमार-भावोंकी सुन्दर अभिव्यञ्जनाकी है।[1]

रइधू ग्रन्थावलीके प्रस्तुत खण्डमें प्राकृत भाषाके किसी भी ग्रन्थका संग्रह नहीं किया गया है, अतः रइधू द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा पर विचार करना यहाँ प्रासंगिक न होगा। उसपर अगले किसी खण्डमें विचार किया जायगा। यहाँ इतनी सूचना-मात्र पर्याप्त होगी कि कविने अपनी प्राकृत रचनाओंमें मूलतया शौरसेनी प्राकृतके प्रयोग किये हैं। हाँ, कहीं कहीं महाराष्ट्री एवं क्वचित् कदाचित् अर्धमागधीके प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। उक्त शौरसेनी-प्राकृत भी कहीं-कहीं अपभ्रंशसे प्रभावित है।[2]

अपभ्रंश—महाकवि रइधू द्वारा व्यवहृत भाषाओंमें तीसरी भाषा अपभ्रंश है। प्रस्तुत भाषामें कविके उपलब्ध १४ ग्रन्थोंमेंसे तीन ग्रन्थ प्रस्तुत ग्रन्थावलीमें संकलित हैं। इन ग्रन्थोंकी अपभ्रंश-भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश तो है ही, पर ऐसी शब्दावलियाँ भी प्रयुक्त हैं, जो आधुनिक भारतीय भाषाओंकी शब्दावलियोंसे समकक्षता रखती हैं। कविकी कुछ रचनाओंमें राजस्थानी, ब्रजभाषा, बुन्देली एवं बघेलीके भी अनेक शब्द प्रयुक्त हुए मिलते हैं। इनकी परिनिष्ठित अपभ्रंशका व्याकरण सम्बन्धी विश्लेषण निम्न प्रकार है:—

---

१. उदाहरण एवं विस्तारके लिए दे० "रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन" का भाषा एवं शैली नामक प्रकरण।

२. विशेषके लिए दे० र० सा० आ० प०का भाषा प्रकरण।

सामान्यतः कविकी अपभ्रंश-भाषामें प्रयुक्त शब्दावली कवि विरचित प्राकृत रचनाओं—"सिद्धन्तत्थसार" एवं "वित्तसार"के समान ही हैं। स्वर और व्यञ्जन सम्बन्धी जो विकार कविकी प्राकृत-भाषामें पाए जाते हैं, प्रायः वे ही विकृतियाँ उक्त ग्रन्थोंकी अपभ्रंश-भाषामें भी निहित हैं। अतः इस प्रसंगमें उन्हीं ध्वनि-परिवर्त्तनोंका विवेचन प्रस्तुत किया जायगा, जो अपभ्रंशके निजी लक्षणोंके अन्तर्गत आते हैं। यथा:—

१. ऋ ध्वनिके स्थानपर अ, इ, ई, ए, अर, के प्रयोग यथा :—
णच्चइ<नृत्यति [पास० २।५], घरं<गृहम् [पास० १।२०];
किण्हु<कृष्णः [पास० २।५]; गिहि<गृहे [पास० २।६];
अमियधरो<अमृतधरः [पास० २।३]; दिट्ठि<दृष्टिः [पास० २।३];
दीसइ<दृश्यते [पास० ३।१८।५]; पेच्छइ<पृच्छति पास० २।३]; गेहु<गृहम् [पास० २।४];
भायर<भ्रातृ [धण्ण० ३।२६।९] आदि।

२. ऐ के स्थानपर अइ, और ए के प्रयोग यथा :—
वइसाह<वैशाख [पास० २।५]; वेयड्ढ<वैताढ्यः [सुक्को० २।६।११] आदि।

३. औ के स्थानपर ओ एवं ऊ के प्रयोग। यथा :—
चोरहु<चौरस्य [पास० ५।५]; पूसहु<पौषस्य [पास० २।५] आदि।

४. श, ष एवं स के स्थानपर स के प्रयोग। यथा :—
सासय<शाश्वत [पास० ५।१]; विसेस<विशेष [पास० ५।१]; सुहु<सुख पास० ३।१८।१] आदि।

५. स ध्वनिके स्थानपर क्वचित् ह तथा त्स एवं प्स के स्थानपर छ का प्रयोग। यथा :—
दह<दस [पास० २।८]; वछलें<वत्सल [पास० ५।२]; अछरा<अप्सरा [पास०—२।६] आदि।

६. रइधूने अपनी अपभ्रंश-भाषामें संस्कृतके वर्णोंको ज्योंके त्यों रूपमें ग्रहण नहीं किया है। उन्होंने अपने ध्वनि-परिवर्त्तनमें वर्णोंके परिवर्त्तित कर देनेपर भी अन्य प्राकृतोंकी तरह मात्राओंकी संख्या प्रायः समान ही रखी है। यद्यपि कहीं-कहीं उसके अपवाद भी मिलते हैं। यथा—

कणवज्जि<कन्नौज [पास० ५।१], णिच्छय<निश्चय [पास० ५।७] सामायउ<सामायिक [पास० ५।७]; वावारू<व्यापार [पास० ५।९]; णिद्दोस<निर्दोष [पास० ५।९] आदि।

७ रइधूकी अपभ्रंश रचनाओंमें कुछ ध्वनियोंका आमूल-चूल परिवर्त्तन प्राप्त होता है तथा उनसे समीकरण एवं विषमीकरणकी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। यथा—

पुहइ<पृथिवी [पास० ५।१५]; इंगाल<अंगार [धण्ण० ३।८।१२]; खउ<क्षय [सुको० ३।१८।९], आदि।

८. रइधूने अपनी अपभ्रंश-रचनाओंमें स्वर और व्यञ्जन इन दोनोंका आदि, मध्य और अन्त्य-स्थानमें आगम भी किया है। यथा :—

सग्ग<स्वर्गः [पास० २।५]; वरसइ<वर्षति [पास० २।५] दुग्गंधु<दुर्गन्ध [पास० ३।१९]; सुमरिवि<स्मृत्वा पास० ४।१]; खग्ग<खड्ग [पास० ३।७।१]; दुग्गइ<दुर्गति [पास० ५।१२।१०]; पुग्गल<पुद्गल [पास० ३।१४।२] आदि।

९. वर्ण-विपर्ययके उदाहरण :—

रहस<हर्ष [धण्ण० २।७९],

१०. रइधूकी शब्द-रूपावली परिनिष्ठित अपभ्रंशके समान ही है। प्रथमा एवं द्वितीयाके एक वचनमें अकारान्त शब्दोंके अन्तिम अ को उ कर दिया गया है। यथा :—

णरेंदु<नरेन्द्रः [पास० ३।२]; किसाणु<कृषकः [धण्ण० ३।३।२]; जमणु<यवनः [पास० ३।२] आदि।

११. तृतीया विभक्तिके एक वचनमें एँ का प्रयोग पाया जाता है और कहीं-कहीं ए एवं एण प्रत्यय भी उपलब्ध होते हैं। यथा :—

परमत्थेँ<परमार्थेन [पास० ३।१८]; तेँ<तेन [पास० ४।२],
तेण<तेन [पास० ४।३;] उवसग्गेँ<उपसर्गेण [पास० ४।१२];
अणुक्कमेण<अनुक्रमेण [पास० ४।१५] आदि।

१२. तृतीया विभक्तिके बहुवचनमें विकल्पसे एकार तथा हिं प्रत्ययका आदेश प्राप्त होता यथा :—

सव्वेहिं<सर्वैः [धण्ण० ३।१४।८]; मणेहिं<मनोभिः [धण्ण० ३।१४।९];

१३. अकारान्त शब्दोंमें पंचमी विभक्तिके एक वचनमें हे और हु प्रत्ययका संयोग पाया जाता है :—

पासहो<पार्श्वात् [पास० ५।१]; आवासहो<आवासात् [पास० २।६];
वीरहो<वीरात् [धण्ण० १।१।१]; संजोयहु<संयोगात् [पास० ४।५।८] आदि।

१४. उकारान्त शब्दमें पंचमीके बहुवचनमें हुं प्रत्ययका प्रयोग किया गया है। यथा :—
गुरुहुं<गुरुभ्यः [पास० २।८] आदि;

१५. अकारान्त शब्दोंसे परमें आने वाले षष्ठीके बहुवचनके रूपोंमें सु और हँ ये दो प्रत्यय पाए जाते है। यथा :—

जोइसिगणाहँ<ज्योतिष-गणानाम् [पास० २।८]; वेंतराहँ<व्यन्तराणाम् [पास० २।६]; सुरवराहँ<सुरवराणाम् [पास० २।६]; कासु<केषाम् [धण्ण० ३।२१।२] आदि।

अवशिष्ट शब्द-रूपावली परिनिष्ठित अपभ्रंशके समान व्यवहृत हुई है।

१६. क्रियारूपोंका प्रयोग प्राकृतके समान उपलब्ध होता है। परन्तु कुछ ऐसे क्रियारूप हैं, जो कि विकसित भारतीय-भाषाओंका प्रतिनिधित्व करते हैं और जिनसे आधुनिक भाषाओं-की कड़ी जोड़ी जा सकती है। यथा :—

कट्टइ = काटता है [धण्ण० २।७।१३]; झडप्पइ = झड़पता है [सुक्को० १।६ ; आदि।

१७. पूर्वकालिक क्रिया या सम्बन्ध-सूचक कृदन्तके लिए संस्कृतमें क्त्वा और ल्यप् प्रत्यय होते हैं। रइधूने उनके स्थान पर इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एविणु और एवि प्रत्ययोंका प्रयोग किया है। यथा :—

√लभ् <लह + इ = लहि [पास० २।६];

√चल <चल + इउ = चलिउ [पास० २।६];

√कोश् <कोस + इउ = कोसिउ [पास० २।६]

√दृश् <पेच्छ + इवि = पेच्छिवि [पास० २।३];

√स्मृ <समार + इवि = समारिवि [पास० २।३];

√गम् <जा + इवि = जाइवि [पास० २।३];

√दृश् <जो + इवि = जोइवि [पास० २।८],

√प्रेक्ष् <पिक्ख + इवि = पिक्खिवि [पास० २।७];

√कृ <कर + एप्पि = करेप्पि [पास० २।१०],

√कृ <कर + एप्पिणु = करेप्पिणु [पास० ७।१०।४ सु० २।१।८; ध० ४।९।१६];

१८. व्याकरण सम्बन्धी उक्त विशेषताओके अतिरिक्त महाकवि रइधूकी भाषामे ऐसी शब्दावली भी पाई जाती है जिसके साथ आधुनिक भारतीय भाषाओंका सम्बन्ध बडी आसानीसे जोड़ा जा सकता है। यहाँ ऐसे ही कुछ शब्दोंको उद्धृत किया जाता है :—

लाड [धण्ण० १।१०] = प्यार, व्रज, बुन्देली भोजपुरी बघेली, मैथिली, अवधी एवं राजस्थानीमें यह शब्द आज भी ज्योंका त्यों पाया जाता है। इसी प्रकार:—

गड्डी [धण्ण २।७] = गाड़ी; लक्कड [धण्ण० २।११] = लकड़ी; खोज्ज [धण्ण० ३।१।९] = सेहरु [धण्ण० ४।६]=सेहरा [मुकुट], झडप्प [सुको० १।६] तडप्प [सुको० १।६] धुक्कु [सुको० ४।१] टलेटलए सुको० ४।४) रसोइ [सुको० ४।५]; पोट्टि [धण० १।१०] = पीटना; छेड [धण्ण० १।११] = छेड़ना; चुक्के [धण्ण० २।२।४] = चूकना, पोटलु [धण्ण० २।६।४] = पोटली; बुक्कड [धण्ण० २।७।५, सुको० ४।१३।१२] = बकरा (बुन्देली); तुरंतु [धण्ण० ३।४।८] = तुरन्त; जीमि [धण्ण० २।१२।५]=जीमना; सुत्तउ [धण्ण० ३।१५।३] = सोना (भोज०, मगही, मैथिली) लग्गा [धण्ण० ३।२०।२] = लगा; कडिसुत्तु [धण्ण० ४।४।७], पटवारि=पटवारी (धण्ण० ४।२०।५); चोजु (सुको० १।६।३; ४।२।१०) = आश्चर्य; वक्कल (सुको० २।५।१२) = वकला (बुन्देली एवं बघेली) = छिलका; आखियउ (सुको० ४।९।४) = (पंजाबी) = कहना; पुथय (धण्ण० ४।१९।१०) = पोथी, पुस्तक; पौडा (पास० ९।१।६) (बुन्देली) = गन्ना; आदि शब्द पाए जाते हैं। इन शब्दोंका व्यवहार आधुनिक भारतीय भाषाओंमें भी उक्त अर्थोमें प्रयुक्त होता है। इनसे स्पष्ट है कि कवि रइधूकी अपभ्रंश-भाषाकी प्रवृत्ति आधुनिक भारतीय भाषाओंके निकट पहुँच रही थी।

रइधू द्वारा प्रयुक्त चतुर्थ भाषा हिन्दी है। अप्रसंगिक होनेसे उसकी चर्चा यहाँ असंगत होगी। ग्रन्थावलीके अगले किसी खण्डमें रइधू कृत हिन्दी-ग्रन्थके साथ उसका अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

शैली

किसी भी कवि या लेखकके व्यक्तित्वकी झलक उसकी रचना-शैली द्वारा उपलब्ध होती है। प्रत्येक कवि या लेखकमें कोई न कोई ऐसी विशेषता अवश्य रहती है, जिससे उसकी कृतियाँ अन्य लेखकोंकी कृतियोंकी अपेक्षा अपना विशिष्ट व्यक्तित्व निर्धारित करती हैं। इस व्यक्तित्व-निर्धारणका दूसरा नाम ही शैली है। संस्कृत-साहित्यमें रसमय अभिव्यञ्जनाके लिए कालिदास, अर्थगौरवके लिए भारवि, त्रिगुण-समन्वयके लिए माघ, ललित-पदके लिए हर्ष एवं विकट श्लिष्ट-बन्धनके लिए महाकवि बाण प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार अपभ्रंशमें मृदु एवं ललित-बन्धनके लिए चतुर्मुख, विकट-बन्धनके लिए स्वयम्भू और श्लिष्ट-बन्धनके लिए महाकवि पुष्पदन्त प्रसिद्ध हैं। महाकवि रइधूको अपभ्रंश-साहित्यकी विस्तृत पटभूमि उपलब्ध हुई है; फलतः उनकी शैलीमें पूर्वोक्त समस्त परम्पराओके सम्मिश्रणके साथ पौराणिक ललित-बन्धात्मक-शैलीका प्रयोग विशेष रूपसे दृष्टिगत होता है। कवि रइधू एक साथ ही पौराणिक प्रबन्ध-काव्यके रचयिता, खण्डकाव्यके निबद्धक, दार्शनिक और आचारात्मक गीतियोंके उद्गाता एवं संसार-निमग्न विषयासक्त मानवको द्वादशानुप्रेक्षाके चिन्तन द्वारा आत्म-सम्बोधक हैं। इनकी काव्य-शैली निम्न रूपोंमें विभक्तकी जा सकती है:—

(१) प्रबन्धात्मक कडवक-पद्धति
(२) प्रबन्ध-शून्य कडवक-पद्धति
(३) गाथा-पद्धति एवं
(४) अपभ्रंशके मात्रा-छन्दोंसे प्रभावित हिन्दीकी सवैया-दोहा-छप्पय-पद्धति।

प्रबन्धात्मक कडवक-पद्धति शैलीमें कविकी उपलब्ध १४ रचनाओंमेंसे तीन रचनाएँ प्रस्तुत ग्रन्थावलीमे सग्रहीत है।

महाकवि रइधूने पौराणिक इतिवृत्तोंको ग्रहण कर महाकाव्यकी शैलीमें कड़वकों द्वारा सन्दर्भांशोंका विभाजन कर प्रबन्धकाव्यका निर्माण किया है। प्रबन्धात्मक कड़वक-पद्धतिमें कड़वकोंका गठन कविने कई प्रकारसे किया है। कुछ स्थानोंपर आठ मात्राओंवाली द्विपदी और घत्ताके मेलसे[१] सोलहमात्रिक पद्धड़िया और घत्ताके मेलसे,[२] कुछ स्थानोंपर चार जगणवाले भुजंगप्रयात और घत्ताके मेलसे[३] कुछ स्थानोंपर सोलह मात्रिक अडिल्ला और घत्ताके मेलसे[४], तो

१. पास०—२।१।१९।
२. रइधू साहित्यमे प्रायः सर्वत्र यही पद्धति मिलती है।
३. पास०—३।५।११।
४. पास०—१।९।१०।

कहीं चार जगणवाले मोतियादाम और घत्ता[1], रड्डा और घत्ता[2], बीस मात्रिक चद्रानन और घत्ता[3], बीस मात्रिक सग्गिणी और घत्ता[4], बीस मात्रिक मयणावयार और घत्ता[5], एवं बारह वर्णवाले संसग्गि और घत्ता[6]के मेलसे कड़वकोंका रूप निर्मित किया है। कविका यह छन्द-रूप-निर्माण विषयानुकूल सम्पन्न हुआ है। जब वह श्रृंगार और विलास-क्रीड़ाओं अथवा वैराग्यका चित्रण करता है, तो पद्धडिया और घत्ताके संयोगसे कड़वकका ग्रथन करता है। यथा :—

सविलासहासाइँ रसविचित्त ·· ·········· सकियत्थी एत्थ धरा ॥

सुक्को० ४।३।१-१४

कविकी कड़वक-शैलीकी दूसरी विशेषता यह है कि उसने ओज और माधुर्य तथा प्रसाद-गुणका सन्निवेश सन्दर्भानुसार ही किया है। आवश्यकतानुसार जिस प्रकारके सन्दर्भको कवि प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार विषयानुकूल कोमल, मधुर और ओजपूर्ण शब्दोंका चयन भी करता जाता है। ससारसे विरक्ति उत्पन्न करनेके हेतु जब कवि द्वादश-भावनाओंका विवेचन करने लगता है, तब उसकी कड़वक-शैली भी स्वय वैराग्यमय हो जाती है। कवि अलकृत एवं चमत्कारपूर्ण पदोंका न्यास न कर सामान्य अर्थ-परिपूर्ण ऐसे शब्दोंका चयन करता है, जिनसे वैराग्यका मूर्त्त-मान् चित्र दृष्टिगोचर होने लगता है। शब्दावलीमें स्वयं ऐसो शक्ति आविर्भूत हो जाती है, जिससे संसार-पंकमें निमग्न प्राणी झटका खाकर स्वय ही तट की ओर अग्रसर हो जाता है। कवि कहता है:—

अण्णु जीउ तणु··········सो संसारइँ ससारए ॥

पास०—३।१८।१-१०

कवि जब केशलुञ्चका चित्रण करता है, तो पदावली भी स्वयं लुञ्चन करती जैसी प्रतीत होती है। प्रसंगमें आयी हुई उपमाएँ भी लुञ्चन कर याथातथ्य रूप प्रस्तुत करती हुईं परिलक्षित होती हैं। यथा—

सिरि चिहुरइँ लुंचिय··········खीरंवुहि खणेण लेवि ॥

पास०—४।२।१-४

उपर्युक्त प्रसगसे शैलीगत निम्न विशेषताएँ दृष्टिगत होती है:—

(१) उपमानोंकी मात्र सार्थकता ही नहीं है, अपितु उपमान विषय-सन्दर्भको इस प्रकार प्रज्ज्वलित करते हैं, जिस प्रकार पवन ज्वलन को।

---

१. पास०—२।२।१५।
२. पास०—२।३।११।
३. पास०—३।८।१०।
४. पास०—४।७।९।
५. पास० ५।९।८।
६. पास०—५।१०।८।

(२) शब्द-गठनमें प्राय: ह्रस्व-शब्दोंका बाहुल्य है। कवि रइधू जहाँ वीतरागताकी कोई भी झाँकी प्रस्तुत करते हैं, वहाँ उनकी शब्दावली लघु हो जाती है। यही कारण है कि उक्त उद्धरणमें प्रथम पंक्तिकी प्राय: सभी मात्राएँ लघु हैं। द्वितीय पक्तिमें जो गुरु-मात्राएँ हैं, वे भी छन्दोऽनुरोधसे लघुत्व रूप ही प्रदान करनेके लिए विवश हैं।

विलाप एवं वियोगके उष्ण-निश्वासोंका चयन सर्वदा ही गुरु-मात्राओंमें किया गया है। कवि-हृदयके उच्छ्वासोंको दीर्घ करनेके लिए दीर्घ-मात्राओंका प्रयोग करता है। भ० पार्श्वनाथ अपने पुरजन एवं परिजनोंको छोड़कर, चीखती बिलखती माँकी ममताको तोड़ एवं वात्सल्य-मूर्त्ति पिताके ममत्वको ठोकर मारकर दीक्षित होनेके लिए गृह-त्याग कर वन-सेवनके लिए जा रहे हैं। पुरवासी दहाड़ मारकर रो रहे हैं। कवि रइधूकी शब्दावली इस चीत्कारको लम्बायमान करती हुई उसे कई गुनी वृद्धिगत करती प्रतीत होती है। यथा—

हाहारउ वट्टिउ पुरवरम्मि.................. काइँ भो मज्झु पुत्तु ॥

पास०—४।५।१-५

जब बिलखते-कलपते अश्वसेन नरेशको उनका मन्त्री आश्वासन देता है, तो कविकी शब्दावली ही आश्वासनको प्राप्त करती हुई सी दिखाई देती है। यथा—

भो देव चयहि ....सिवसिरि राएँ वरए ॥

पास०—४।५।७-१२

कवि जब अपने चरित नायकके बिहार, वैभव एवं तीर्थप्रचारका निरूपण करता है तो उसकी शब्दावली प्रसाद गुणसे परिपूर्ण हो जाती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि तीर्थ-प्रचारकी प्रसन्नताके कारण शब्द स्वयमेव प्रसन्न-प्रसादगुणपूर्ण हो गये हैं। यथा—

तं णिएवि जाणु........................लंघिवि अथाहु ॥

पास०—४।१।७-१२

कवि जिस रसका निरूपण करता है, शब्दावली और शैली भी उसी रसके अनुकूल हो जाती है। शान्त-रसका चित्रण करते समय कविकी शब्दावली शान्त, गम्भीर एवं अनलंकृतरूपमें प्रस्तुत होती है—धन्यकुमारको विविध सांसारिक सुख-भोगके बाद अचानक ही संसारकी असारताका भान होता है और मनमें वैराग्य उत्पन्न होते ही वह वन-गमन करता है। उसका नागरजनोंके बहाने कविने निम्न चित्र खींचा है :—

सलहंति परोप्परु...............खणेण ता उववणेहिँ ॥

महाकवि रइधूने युद्ध-वर्णनमें आतंक एवं भारीपन उपस्थित करनेके लिए बीस मात्रिक चन्द्रानन-छन्दका प्रयोग किया है। पार्श्वकुमार यवननरेन्द्रके साथ युद्ध-क्षेत्रमें युद्धकर रहे हैं। दोनों ओरकी सेनाओंमें तुमुल-युद्ध चल रहा है। उस समयका वर्णन देखिए :—

को वि धावंतु सम्मुहउँ उरि...........अरि सम्मुहो आविउ।

पास० ३।८।४-९

प्रस्तुत ग्रन्थावलीमें उक्त प्रथम पद्धतिके छन्दोंका ही प्रयोग हुआ है। अतः अन्य छन्द-पद्धतियोंकी चर्चा यहाँ अनावश्यक प्रतीत होती है। ग्रन्थावलीके अगले भागोमे प्रसंगानुसार उनपर प्रकाश डाला जायगा।

संस्कृति

साहित्यको समाजका दर्पण माना गया है। अतः साहित्यमें समाजका स्वरूप, उसका रहन-सहन एवं आचार-विचारका प्रतिफलन रहना अत्यावश्यक है। रइधूने विशाल साहित्यका सृजन किया है अतः उनके साहित्यमें राजतन्त्र एवं शाशन-व्यस्था, सामाजिक जीवन, परिवार-गठन, एवं परिवारके घटक, आर्थिक-स्थिति, आचार-व्यवहार एवं सस्कृति आदि तत्त्वोंका समावेश मिलता है।

राजनीति—राजतन्त्र एवं शासन-व्यवस्थाके सम्बन्धमें रइधू-साहित्यमें कुछ तथ्य प्राप्त होते हैं। यद्यपि वे प्रायः पौराणिक सन्दर्भो में निहित हैं, तो भी उनसे तत्कालीन राज्य-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

रइधूने 'राज्य' का 'सप्ताङ्ग' [पास० १।४] विशेषणके साथ उल्लेख किया है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र [२२।६।१] में दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज एवं व्यापार ये सात अंग निर्दिष्ट हैं। अतः रइधूके अनुसार सम्पूर्ण-राज्यमे उक्त सात अंगोंका रहना अत्यावश्यक था। कौटिल्य-अर्थशास्त्र [२२।६] के अनुसार शुल्क, दण्ड, यौतव, नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, शूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, स्वर्णाध्यक्ष एवं शिल्पी आदिसे वसूल किया जाने वाला धन 'दुर्ग' कहलाता था। 'राष्ट्र' में कृषि, व्यापार (जलीय एवं स्थलीय) भूमिकी पैमाइश आदि परिगणित होती थी। 'खनि' से तात्पर्य सोना-चाँदी, लोहा, ताँबा आदि 'खनिज प्राप्त होनेवाली खानोंसे है। इसी प्रकार 'सेतु' 'वन' व्रज एवं 'व्यापार अथवा वणिक पथ' ये सभी 'सप्ताङ्ग राज्य' में परिगणित है।

रइधूने राज्य परिषद्के व्यक्तियोंका निरूपण करते हुए 'पञ्चाङ्ग-मन्त्री'का उल्लेख किया है। मन्त्री तो वही सफल हो सकता है जो राज्यके अभ्युदय एवं सुरक्षाके हेतु समयोचित परामर्श देनेकी क्षमता रखता हो। रइधूने मन्त्रीके गुणों और विशेषताओंकी ओर संकेत करते हुए उसे 'पञ्चाङ्ग' शब्दसे अभिहित किया है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र (१।१०।१४) में मन्त्रके ५ अग निम्न प्रकार वर्णित है :—

> कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसम्पद् देश-काल विभागः।
> विनिपात प्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गमन्त्रः॥

अर्थात् कार्यारम्भ करनेका उपाय, पुरुष तथा द्रव्य-सम्पत्ति, देश-कालका विभाग, विघ्न-प्रतिकार एवं कार्यसिद्धि ये पाँच 'पञ्चाङ्गमन्त्र' कहे जाते है।

रइधूके वर्णनोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि निसृष्टार्थ, परिमितार्थ एवं शासनहर नामक त्रिविध दूतोमेसे शासनहर नामक दूत (पास० ३।१–२) का ही उल्लेख किया है। शासनहर दूत

घोड़े आदि वाहनोंपर आरूढ़ होकर शत्रु-राज्यकी ओर प्रस्थान करता है। उसमें प्रत्युत्पन्नमतित्व-का रहना अत्यावश्यक होता है। वह शत्रु देशके वनरक्षक, सीमारक्षक, नगरवासियों तथा जनपद-वासियोंसे मित्रता रखता है। शत्रुपक्षी राजाके दुर्ग, राज्यसीमा, आय और राष्ट्ररक्षाके उपायोंसे वह सम्यग्रूपेण परिचित रहता है।

राजाके उत्तराधिकारीके निर्वाचनके सम्बन्धमें कोई विशेष सिद्धान्त दिखलाई नहीं पड़ता। राजतन्त्रका निर्देश करनेके कारण राजाका बड़ा पुत्र ही राज्याधिकारी होता था और द्वितीय पुत्र युवराज-पद पाता था। वयस्क पुत्रके अभावमें शिशु अथवा गर्भस्थ बालकको उत्तराधिकारी निर्वाचित कर दिया जाता था तथा उसके योग्य होने तक माता उसकी प्रतिनिधिके रूपमें राज्य करती थी (सुको० ४।७।७)। यद्यपि महाकवि रइधूके समयमें मुस्लिम राजाओंमें उत्तराधिकार-प्राप्ति हेतु झगड़े भी होते थे। बड़े भाईके राजा बननेपर छोटा भाई द्रोह कर उठता था। राजाके अशक्त होनेपर कोई सशक्त कर्मचारी भी राजा बन बैठता था, पर इन सब परिस्थितियोंका निरूपण कवि पौराणिक आवरणके कारण न कर सका।

युद्धप्रणाली एवं शस्त्रास्त्र

राज्य-विस्तार हेतु राजा दिग्विजय-यात्राएँ करता था। उसके यहाँ चतुरंगिणी सेना रहती थी। रइधूने समकालीन राजा डूँगरसिंहके विषयमें लिखा है कि वह छत्तीस प्रकारके आयुध चलाने-मे निपुण था (पास० १।४।१०)। कविने उन आयुधोंके नामोल्लेख तो नहीं किए, किन्तु प्रसंगवश उसने इन शस्त्रास्त्रोंके उल्लेख किए हैं—फरसा [पास० ५।६।६]; तलवार [पास० ५।६।६], कुन्त [पास० ५।६।६], छुरी [पास० ५।६।६], कुदाल [पास० ५।६।६], कुहाड़ी [पास० ५।६।६], फाल [पास० ५।६।६], घन [पास० ९।१०।१५], दंत [सुको० ४।११।३] एवं मुसल [सुको० ४।११।३]। युद्ध विधिमें आमने-सामने आकर लड़नेके साथ-साथ मुष्टियुद्ध [पास० ६।७।१०], लाठीयुद्ध [पास० ६।७।१०] तथा दन्त-मुसलयुद्ध [सुको० ४।११।३] के उल्लेख किए हैं।

सामाजिक स्थिति

महाकवि रइधूने अपनी परम्परानुमोदित पौराणिक सामाजिक मान्यताओंको ग्रहण कर लेनेपर भी समकालीन सामाजिक स्थितियोंका भी प्रसंगानुसार निर्देश किया है। उन्होंने २-४ ऐसी मान्याताएँ भी निर्दिष्टकी हैं, जो १५-१६ वीं सदीकी स्थितिपर प्रकाश डालनेमें पूर्ण सक्षम है। वैदिक वर्णाश्रम-धर्मके सिद्धान्तानुसार ब्राह्मणका कार्य पठन-पाठन और यज्ञ-यागादि कराना था, पर १४ वीं शताब्दिमें विदेशी आक्रमण होने एवं मुसलमानोंके उत्तराधिकार सम्बन्धी पारस्प-रिक कलहके कारण देशकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गई थी। इस स्थितिकी ओर १७वीं सदीके कवि गोस्वामी तुलसीदास एवं हिन्दीके जैन कवि बनारसीदासने भी संकेत किया है। तदनुसार तत्कालीन ब्राह्मण आजीविकाके हेतु खेती भी करने लगे थे। महाकवि रइधूने 'बंभणुकिसाणु' [धण्ण० ३।२।२] लिखकर उसका स्पष्ट निर्देश किया है।

रइधू पर पौराणिक मान्यताओंका इतना गहरा प्रभाव है कि वह खेतमें प्राप्त हुए लावा-रिस धनके प्रति किसान और धन्यकुमार दोनोंसे ही उपेक्षा प्रकट कराता है। [धण्ण० ३।४-५[यद्यपि १५-१६ वीं सदीके राजनैतिक और आर्थिक इतिहासको देखनेसे यह विश्वास नहीं होता कि उस आर्थिक-संकटके समयमें प्राप्यधनके प्रति इतनी उपेक्षा सम्भव हो सकती है क्योंकि उन

द्विमोंमें छीना-झपटी, लुटेरापन एवं धनके प्रति गहरी आसक्ति दिखलाई पड़ती है, पर कविको पौराणिक धन्यकुमारका चरित्र इतना उज्ज्वल दिखलाना है कि वह अपने चरितनायकको उन्नत दिखलानेके लिए ही धनके प्रति उभयपक्षीय निरपेक्षता प्रदर्शित करता है। अतः संक्षेपमें 'बंभणु-किसाणु' से यही निष्कर्ष निकलता है कि कविने १५ वीं सदीकी ब्राह्मण जातिकी स्थितिपर प्रकाश डाला है। आज भी कुछ स्थानोंमें ब्राह्मणोंके लिए खेती करना वर्जित है फिर भी जो ब्राह्मण खेती करते हैं, वे हल जोतनेके लिए किसी दूसरी जातिके व्यक्तियोंके लिए नौकरी पर रखते हैं।

जातियाँ

'धण्णकुमारचरिउ'के बंभणुकिसाणु (धण्ण० ३।३।२) पदमें 'किसाणु'का विशेषण 'बंभणु' है और यह इस बातका द्योतक है कि ब्राह्मणजातिके किसान भी होते थे। यदि यह तथ्य न होता, तो कवि 'किसाणु' शब्दसे ही अपना काम चला लेता। 'बंभणुकिसाणु' का उसने किसी विशेष अभिप्रायसे ही प्रयोग किया है और वह हमारी दृष्टिसे प्रायः यही है कि ब्राह्मण-वर्ग अर्थ प्रतारणके कारण कृषि-कार्य करने लगा था। बिहार-प्रान्तमें जहाँ ब्राह्मणोंके लिए खेती करना वर्जित है और अधिकांश ब्राह्मण कृषिकार्य स्वयं नहीं करते, वहाँ राजस्थान और उत्तरप्रदेशके कुछ स्थानोंमें ब्राह्मण कृषिकार्य स्वयं करते हुए देखे जाते हैं। कवि रइधूने अपने 'सिद्धन्ततत्थसार' नामक एक ग्रन्थमें ब्राह्मणका लक्षण इस प्रकार बतलाया है :—

सोत्तंतिय कडिरंधं तवज्जइ सो जि सोत्तिउ होदि।
बंभं परमं झावइ सो भणिउ बंभणो णाणी॥ सिद्धन्ततत्थ० २।५१

अर्थात् ब्राह्मण वही श्रेष्ठ है जो ब्रह्म अर्थात् आत्माके ध्यानमें लीन रहता है और ज्ञान-ध्यान ही जिसका लक्ष्य रहता है।

कविने ब्राह्मण वर्गके अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रोंकी भी चर्चाकी है। क्षत्रियोंमें तोमर वंश [पास० १।४।१] [धण्ण० १।३।१६] का उल्लेख विशेष रूपसे किया गया है। क्योंकि उस वंशके राजा डूँगरसिंहने कविको गोपाचल-दुर्गमें निवासकर साहित्य-साधना हेतु निमंत्रण दिया था (सम्मइजिणचरिउ—१।३।९)।

तोमर शब्दका प्राचीन रूप तुवर अथवा तँवर मिलता है। उसे यदुकुलकी एक उपशाखा माना गया है। किन्तु क्षत्रिय जातिके श्रेष्ठ वंशज उस वंशको ३६ राजकुलोंमें पृथक स्थान देते हैं।[1] हिन्दीके आद्य कवि चन्दवरदाईने उस वंशकी उत्पत्ति पाण्डवोंसे बताई है।[2] सम्राट विक्रमादित्य भी उसी कुलमें उत्पन्न हुए थे। यह भी जनश्रुति है कि धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा स्थापित इन्द्रप्रस्थ नगर, जो कि आजकल दिल्लीके नामसे प्रसिद्ध है, वह शताब्दियों तक निर्जन और उजाड़ पड़ा रहा। तब वि० सं० ८४८ में तुवर या तोमर वंशी राज अनंगपालने ही उसका पुनरुद्धार कर उसे पुनः बसाया था। इस राजवंशमें उसके पश्चात् लगभग २० राजा हुए। अन्तिम राजाका नाम भी अनंगपाल था। अपुत्र होनेके कारण वह वि० सं० १२२० में राजपूतोंके सैलिक-विधानके विपरीत अपने दौहित्र पृथिवीराज चौहानको राजगद्दी देकर स्वयं राज्यपाट छोड़कर वनमें चला गया।[3]

१–३. टाड कृत राजस्थान भाग १ खण्ड १ पृ० १३४, (जयपुर, १९६३)।

तोमरोंकी ग्वालियर-शाखामें आठ राजा हुए, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं[1]—(१) वीरसिंह देव [१३७५ ई०]; (२) उद्धरणदेव [१४०० ई०] (३) गणपति देव [१४१९ ई०], (४) डूंगरसिंह [१४२५ ई०]; (५) कीरतसिंह या कीर्त्तिसिंह [१४५४ ई०]; (६) कल्याणसिंह [१४७९ ई०], (७) मानसिंह [१४८६ ई०]; एवं (८) विक्रमादित्य [१५१६ ई०]।

उक्त सभी राजाओंने समय-समय पर वीरता एवं पराक्रमके कार्य किए हैं। राजनीतिके अतिरिक्त साहित्य, संस्कृति एवं कलाके क्षेत्रमें इन राजाओंने जो अद्भुत कार्य किए, उनसे इस वंशकी संस्कारगत अभिरुचि, हृदयकी विशालता एवं समाज एवं राष्ट्रके प्रति नैतिक दायित्वके प्रति आस्थाका स्पष्ट परिचय मिलता है। मध्यभारतकी समृद्धि एवं ग्वालियर-दुर्गका कला-वैभव उनकी यशोगाथाका जीता-जागता चित्र है।

कविने 'धण्णकुमारचरिउ'में पटवारी जाति [धण्ण० १।३।४] का भी निर्देश किया है। हमारा यह अनुमान है कि यह कोई ऐसी वैश्य जाति है जो पटवारगिरि—भूमिकी पैमाइशका कार्य करती थी। आज भी ग्वालियर प्रभृति स्थानोंमें पटवारी, जो प्रायः सरकारी कर्मचारी होते हैं और जिनका कार्य खेतोंकी मालगुजारीका लेखा-जोखा एवं बन्दोबस्तीका कार्य करना है, ऐसी सभी जातियोंके व्यक्ति पटवारी कहे जाते हैं। कविने यह पटवारी जाति भी अपने समयकी स्थितिके अनुसार ही निर्दिष्टकी है। अन्य जातियोंमें अग्रवाल, जैसवाल एवं पद्मावती पुरवालके नाम प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त खस [पास० ५।६।५] पुलिंद [धण्ण० ३।२४।९] एवं मातंग जातियों [धण्ण० २।७।१-३], के उल्लेख मिलते हैं। खस, बव्वर एवं पुलिंदके विषयमें तो कविने कहा है कि जहाँ ये तीनों जातियाँ रहती हों, वहाँ स्वप्नमें भी कोई जाने या रहनेका विचार न करे [पास० ५।६।५; धण्ण० ३।२४।९]।

रइधू-साहित्यमें जातियोंका अध्ययन करनेसे स्पष्ट विदित होता है कि रइधूने जातिवाद-की कट्टरताको स्वीकर नहीं किया है। उनकी जाति-व्यवस्था श्रम-विभाजन पर आश्रित है। सामाजिक रहन-सहन और आचार-व्यवहारमें जातिको विशेष कारण नहीं माना है। जिन पेशेवर जातियोंका उल्लेख कविने किया है वे सभी जातियाँ पेशोंके आधार पर ही कल्पित हैं। एक ही प्रकारसे आजीविका करने वाले व्यक्ति एक जातिके निर्दिष्ट किए गए हैं। जैसा कि पूर्वमें दिखाया गया है कि कविको पटवारी-जातिमें कायस्थ, वैश्य, ब्राह्मण आदि सभी जातिके लोग सम्मिलित हैं। जो भी पटवार-गिरि करता था, कविने उसीको पटवारी जातिके अन्तर्गत रख दिया है। यों तो रइधूके समय तक वर्ण और जाति-व्यवस्था बहुत ही शिथिल हो गई थी, फिर भी उसकी जड़ें पाताल तक रहनेके कारण वे अपना अस्तित्व बनाए हुए थीं। ब्राह्मण वर्णाश्रमानुमोदित कार्योंको छोड़कर व्यापार, कृषि आदि कार्योंको भी करने लगे थे। अत. स्पष्ट है कि कविके समयमें वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार जाति-व्यवस्था नहीं थी और न वह कविको मान्य ही थी।

१. Murry's Northern India, Page 305.

परिवार

समाजका घटक परिवार है। प्रत्येक कवि या लेखक अपनी कृतियोमें पारिवारिक सम्बन्धों पर अवश्य ही प्रकाश डालता है। रइधूने जितने काव्य-ग्रंथोंका सृजन किया है, उन सभीमें पारिवारिक सम्बन्धोंका विवेचन किया है। यतः कथानायकका जन्म किसी परिवारमे होता है, उस परिवारमें माता-पिता आदि गुरुजनोंके साथ भाई, भावज, बहन, पुत्र, मित्र दास-दासियाँ आदि विद्यमान रहते है। कवि रइधूकी प्रस्तुत ग्रन्थावलीमें सग्रहीत रचनाओके आधार पर पारिवारिक सम्बन्धोंका संक्षिप्त विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

धण्णकुमारचरिउमें कविने एक ऐसे परिवारका साकार रूप उपस्थित किया है जिसमें आठ भाई, माता-पिता एवं अन्य परिजन निवास करते हैं। बड़े भाइयोंका सबसे छोटे भाईके प्रति हार्दिक प्रेम न होकर ईर्ष्या ही परिदर्शित होती है। यद्यपि उक्त काव्यका कथानक पौराणिक है और धन्यकुमार, जो कि इस कथाका मूलनायक है, मध्यकालीन पौराणिक पात्र है, उसकी पुण्यातिशयता तथा कुशाग्रबुद्धि एवं सबसे लघु होनेके कारण माता-पिताका अमित वात्सल्य प्राप्त होनेसे वह गृहस्थीके कार्यमें अपना मन नहीं लगाता है। उसकी यह प्रवृत्ति अन्य भाइयोंके लिए ईर्ष्याका विषय बन जाती है और अन्य भाई उसे जिस किसी प्रकार घरसे बाहर निकाल देना चाहते हैं। भावजें भी धन्यकुमारको आदरकी दृष्टिसे नही देखती। वे भी व्यंग्यवाण सुनाकर उसे घरसे पृथक कर देना चाहती हैं।

इस पारिवारिक वर्णन-क्रममें हमें १५-१६वीं सदीके परिवारका पूरा चित्र मिल जाता है। मुगल-साम्राज्यने भारतीय परिवारकी संयुक्त और संगठनात्मक नीतिको विघटित कर दिया था। विपुल-सम्पत्ति एवं धनार्जनकी अपूर्व-क्षमता सदासे ही ईर्ष्याकी वस्तु रही है। पर मुगलकालमें राजनैतिक अशान्ति एवं अस्थिरताके कारण परिवार-सस्था भी छिन्न-भिन्न होने लगी थी। यही कारण है कि रइधूका धन्यकुमार घर छोड़कर चला जाता है और दूसरे स्थान पर अभ्युदय संचित करता है। उसके अन्य ७ भाई अकुशलता और वणिक्बुद्धिके अभावमे निर्धन होकर दर-दरके भिखारी बन जाते हैं। घरेलू फूट एक सुन्दर संयुक्त-परिवारको विघटित कर देती हैं। जो परिवार सुख और शान्तिका आगार था वही परिवार जीवनके लिए अभिशाप बन जाता है। यद्यपि यह अवश्य है कि महाकवि रइधूकी रचनाओमें पौराणिकता रहनेके कारण १५-१६वी सदीके परिवारोंके पूर्ण चित्र सम्मुख नही आ सके हैं। यतः राम, कृष्ण, बलभद्र, नेमि, पार्श्व वर्धमान प्रभृति पात्रोंके स्वरूप पौराणिक ही हैं। अतः उनपर युगका प्रभाव न रहनेसे वे पौराणिक परिवार कविके समयका सम्यक् प्रतिनिधित्व नहीं कर पाए है।

सन्तान

परिवारका आकर्षण-केन्द्र सन्तान है। कविने पौराणिक पात्रोंके मुखसे सन्तानकी आवश्यकता और महत्ता पर पूरा प्रकाश डाला है। अयोध्याके राजा कीर्त्तिधर और उनकी पट्टरानी सहदेवी बहुत दिन तक सन्तान न होनेसे चिन्तित थे। राजा कीर्त्तिधर निस्सन्तान रहते हुए भी जब दीक्षा लेनेका विचार करते है, तो मन्त्री उन्हे पुत्र-महिमा बताते हुए कहता हैः—

बिणु पुत्तें कुलभरु को धरइ   इहु मोह पवट्टण को करइ ।
पुत्तहु अम्मणि गिण्हियहु तउ   जिम लोए पवड्ढइ बंस-धउ ।।

सुको० ३।१८।११–१२

रइधूकी उक्त उक्ति वाल्मीकि-रामायण [२।१२।१४२]की निम्न पंक्तिका स्मरण कराती है:—

विनात्मजेन आत्मवतां कुतो रतिः ?

अर्थात् पतिके अभावमें तो पुत्र ही मांके जीवनका आधार था।

सुकौशल जब कीर्त्तिधवल नामक मुनिराजके दर्शनकर दीक्षा धारण करने लगता है, तब उसकी मां उसे अपने अवशिष्ट जीवनका आशा केन्द्र मानती हुई विलाप करने लगती हैं:—

.... मा   मइं मेल्लिवि गच्छहु सुबाहु ।
तुव उप्परि वट्टउ गरुउ मोहु   वासमि तुव आसए पुत्त गेहु ।

सुको० ४।७।८–९

प्राचीन भारतकी यह एक परम्परा है कि सन्तान न होनेसे माता-पिता उद्विग्न हो जाते हैं और परिवारमें विरसता आ जाती है। अतएव माता-पिता सन्तान-लाभके हेतु दीर्घ-तपस्या, ऋषि-मुनियोंके दर्शन एवं अनुष्ठान आदि कार्य सम्पन्न करते हैं। महाकवि रइधूने कीर्त्तिधरकी पट्टरानी द्वारा मुनि-दर्शन कराया है और मुनिके आशीर्वाद द्वारा पुत्रलाभकी कामनाकी है। [सुको० ३।१९-२०]। फलतः सन्तान-लाभ होते ही घरमें बधाइयाँ होने लगती हैं। राजा आनन्दसे भर उठता है एव वर्धापकों एवं प्रजाजनोंको धन-धान्य, सोना-चाँदी आदिके यथेच्छ दान देता है [सुको० ३।२२]।

नारीका चरम विकास माताके रूपमें होता है। नारी-जन्मकी सफलता भी मातृत्व-प्राप्तिमें ही है। सन्तानके लिए पुरुषकी अपेक्षा नारी अधिक लालायित रहती है। पुत्राभावके सन्तापसे बढ़कर नारीके लिए अन्य कोई सन्ताप नही। इक्ष्वाकुवंशी राजा कीर्त्तिधरकी पट्टरानी सहदेवीको जब दीर्घकाल तक कोई सन्तान-प्राप्ति न हुई तब उसकी मनोव्यथा कविके शब्दोमे ही देखिए। निराश एवं उदास रानीसे उसकी सखी पूछती है:—

अहणिसु मणि तप्पंती जूरइ   जोव्वण-दुम-फल आस ण पूरइ ।
तहि मुहारविंदु जोएप्पिणु   पियसहि जंपइ सासु मुएप्पिणु ।
सामिणि अज्जु काइँ विवणम्मण   दीसहि णिह वल्ली इह गयकण ।
वियसहि रमहि ण सहरिसु जंपहि   हियय गुज्झु कि महु ण समप्पहि ।
तं णिसुणिवि सहदेवी भासइ   णियमणि चिंता ताहि णिसासइ ।
हे सहि जा-जा तिय पुरि महु सम   ता-ता सयल पसूव मणोरम ।
हउँ जि एक्कु णंदणहँ विहूणी   तिं कारणि इह अत्थमि दीणी ।

सुको० ३।१९।४–१०

आर्थिक स्थिति

महाकवि रइधूका समाज दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—पौराणिक समाज एवं युग समन्वित समाज। पौराणिक समाजमें असि, मसि, कृषि, शिल्प, सेवा एवं वाणिज्य ही आयके

प्रमुख साधन थे [सुको—२।१।११] षट्कर्मोपजीवी ही पौराणिक समाज है। रइधूने अपने समस्त ग्रन्थोंमें आजीविकाके लिए उक्त छह साधनोंका प्रयोग बतलाया है।

आदान-प्रदानके साधन सिक्के एवं वस्तुएँ दोनों ही प्रचलित थे [धण्ण० २।३।११; ३।८।१-२]। सिक्कोंमें ध० च० में 'दीनार' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

असि, छुरी, फरिस, कुन्त, कुदाल, कुल्हाड़ी, फाल, मधु, लाख, विष, लोहा, सन, मद्य, रस आदि वस्तुएँ व्यापारके साधन थीं [पास० ५।६।६]। चूँकि कवि रइधू अहिंसाका पुजारी था, अतः उसने अपने साहित्यमें उक्त वस्तुओंके व्यापारका निषेध किया है।

पौराणिक पात्रोंकी आर्थिक स्थिति तो समृद्ध है ही, मध्यकालीन ऐतिहासिक पात्रोंकी भी स्थिति समृद्ध है। अतः कवि रइधूने जिन पात्रोंका चयन किया है, वे पात्र प्रायः राजन्य, श्रेष्ठि एवं अन्य सम्भ्रान्त परिवारसे आए हैं, अतः उनकी भी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है। जन-सामान्यका आर्थिक स्तर क्या था, इसका पता रइधू-साहित्यसे नहीं लगता। कविने ग्वालियर [पास० १।२-३] नगरके बाजारोंका जो वर्णन किया है, वह भी सम्भ्रान्त एवं राजघरानोंका ही चित्रण है। यतः कविने हीरे, मोती आदिके ही उल्लेख किए हैं। कोई राजा या सेठ प्रसन्न होकर किसी याचकको स्वर्णमुद्रा या हीरा, मोती या वस्त्राभूषण ही देता है, सामान्य पदार्थ नहीं। एकाध स्थान पर अवश्य ही किसी मजदूरको पारिश्रमिकके रूपमें चने आदिके देनेके उल्लेख हैं। [धण्ण० ३।८।१-२] इसे छोड़कर प्रायः सर्वत्र धनिक वर्गका ही चित्रण है, जिससे कविके ऊपर पौराणिकताकी छाप दृष्टिगोचर होती है। सामान्य-जनताके आर्थिक-जीवनका चित्रण कवि प्रायः नहीं ही कर सका है।

सम्पत्तिको सुरक्षित रखनेके लिए आधुनिक बैंक जैसी कोई व्यवस्था उस समय नहीं थी। अतः लोग उसे या तो जमीनमें गाड़ते थे अथवा पलंगके पायोंमें [धण्ण० २।८] या अन्यत्र गुप्त स्थानोंमें छिपाकर रखते थे। गिरी, पड़ी अथवा खोदी गई जमीनमें प्राप्त सम्पत्तिका अधिकारी राजा ही माना जाता था [धण्ण० २।९]।

आजीविकाके कई साधनोंमेंसे एक विशेष उल्लेख मिलता है—ग्रन्थ-लिपि अथवा प्रतिलिपि कार्य करनेका [धण्ण० ४।१९]। यही कारण है कि 'धन्यकुमारचरित' में आर्थिक सहायता देनेके साधनोंमें ग्रन्थलिपिको भी स्थान दिया गया है। इस विषयमें अधिकाधिक प्रगतिके लिए कविने त्यागदानके अन्तर्गत शास्त्रदानको बड़ा भारी महत्त्व प्रदान किया है [दसलक्खण० ८।४]।

भोजन

कविने खाद्य, पेय, स्वाद्य एवं अवलेह्य इन चार प्रकारके भोज्य पदार्थोंका उल्लेख करते हुए खाद्यमें चना [धण्ण० ३।५।३] एवं चाँवल [धण्ण० १।६।१०] को प्रधानता दी है। कविका सम्पर्क मध्यभारतके साथ विशेष रूपसे रहा है। यही कारण है कि उसने भोजनमें जौ और चनाको भी महत्त्व प्रदान किया है। मध्यभारतका खाद्य-पदार्थ गेहूँ भी रहा है, पर कविने उसका उल्लेख नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि कविका 'शालि' शब्द चाँवल वाचक होने पर भी धान्य-सामान्यका सूचक है। अतएव ज्वार, बाजरा, गेहूँ आदि भी उक्त शालि शब्दसे

ग्रहण किए जा सकते हैं। खीर [धण्ण० ३।९।३] वह पायस अन्न है, जिसका निर्देश हेमचन्द्रने क्षीराढ्येयण [हेम० ६।२।१४२] नामक सूत्रमें 'क्षीरे संस्कृतम् भक्ष्यं क्षैरेयम्' अर्थात् क्षीरमें संस्कृत अन्नको क्षैरेयम् कहा है। उसीका दूसरा नाम पायसान्न है। रइधूने खीर और पायस शब्दका एक ही प्रकारके पदार्थोंके लिए प्रयोग किया है। वस्तुतः प्राचीन भारतमें दो प्रकारके खाद्य थे—संस्कृत एवं संश्लिष्ट। संस्कृतका अर्थ है वह पाकक्रिया, जिससे पदार्थोंमें विशेष प्रकारका स्वाद उत्पन्न हो। इस प्रकारके पदार्थ खीर, दाधिक—दहीसे विशेष रूपसे संस्कृत दही-बड़ा आदि हैं। संस्कृत-पदार्थोंमें विशेष प्रकारके मांस भी आते थे, जो कि भूनने रूप विशेष क्रियासे निष्पन्न होते थे। कवि रइधूने मांसाहारका सर्वथा निषेध किया है। अतः यह निषेध ही प्रकारान्तरसे विधिका सूचक है।

संश्लिष्ट पदार्थोंमें अचार, मुरब्बा, ओदन, दाल आदि आते हैं। विशेष प्रकारके व्यंजनोंका भी उल्लेख रइधू-साहित्यमें मिलता है। आचार्य हेमचन्द्रने व्यंजनकी परिभाषा करते हुए लिखा है—व्यञ्जनं एनान्नं रुचिमापद्यते तद् दधि घृत शाक्सूपादि—[हेम० ३।१।१३२] अर्थात् जिन पदार्थोंके मिलानेसे या साथ खानेसे खाद्य-पदार्थोंमें रुचि उत्पन्न हो, वे दही और शाकादि पदार्थ व्यञ्जन कहलाते हैं। अतः कवि रइधू द्वारा खाद्य-पदार्थोंमें परिगणित किए गए दही, गुड, शक्कर घी, तेल आदि ऐसे पदार्थ हैं, जिनसे भोज्य-पदार्थोंमें स्वादकी वृद्धि होती है।

कविने पेय पदार्थोंमें पय [धण्ण० ४।१६।५] इक्षुरस [सुको०] मयरस अर्थात् शर्बत [पास० ५।६।६] आदिका निर्देश किया है। रइधू साहित्यमें गोरस [धण्ण० १।६।११] का भी प्रयोग मिलता है। जिसका अर्थ दही, दुग्ध आदि व्यापक रूपमें लिया जा सकता है। कविने अपने साहित्यमें कटु, मधु, तिक्त आदि छह प्रकारके रसों [धण्ण० ४।१६।६] का भी निर्देश किया है। रइधू-साहित्यमें गन्नेके रसका प्रयोग विशेष रूपसे मिलता है। इसके लिए कविने 'पौंडा' [पास० ६।१।६] शब्दका प्रयोग किया है। यह एक विशेष प्रकारका गन्ना है। यह गन्ना गुड़ एवं चीनी बनानेके काममें नहीं लिया जाता, बल्कि चूसनेके उपयोगमें लिया जाता है। कविने बने हुए भोजन के लिए 'रसोइ' [सुको० ४।५।१८] शब्दका प्रयोग किया है। सन्ध्याकालीन भोजनको कवि 'अनथउ' [अप्प० २।१५; अणथमिउ० ११] शब्द द्वारा अभिहित करता है। मध्यभारत, बुन्देलखण्ड एवं बघेलखण्ड प्रदेशोंमें यह शब्द आज भी व्यवहृत होता है। भोजनोपरान्त या मुख शुद्धयर्थ ताम्बूल का प्रयोग भी किया जाता था। कविने ताम्बूलका प्रयोग यत्र-तत्र किया है [पास० ६।:।२]।

वस्त्र

वस्त्रोंका व्यवहार आर्थिक-समृद्धि एवं रुचि-परिष्कारका सूचक तो है ही, साथ ही देशकी औद्योगिक-उन्नतिका भी परिचायक है। महाकवि रइधूके साहित्यमें पटंबर [धण्ण० ३।२७।९] कम्बल [सुको० ४।१५।१] देवदूष्य [पास० २।१५] वस्त्रयुगल [सम्मइ० ३।१६] एवं टोपी [जसहर० १।६] के प्रयोग किए गये हैं। पौराणिक रचनाएँ लिखनेके कारण रइधूने प्राचीन भारतीय संस्कृतिके प्रतिनिधि स्वरूप वस्त्रयुगलका निर्देश किया है। यह वस्त्रयुगल अधोवस्त्र और प्रावार (दुशाला, चादर) के लिए अभिहित हुआ होगा। आचार्य हेमचन्द्रने प्रावारकी परिभाषा देते हुए लिखा

है कि—राजाच्छादनाः प्रावाराः [हेम० ३।४।४१] अर्थात् राजा महाराजाओंके ओढ़ने योग्य ऊनी या रेशमी चादरको प्रावार कहा जाता था। कवि रइधूने वस्त्रयुगलका ही सामान्यतया निर्देश किया है। रइधूके उपलब्ध सचित्र ग्रन्थों—पासणाहचरिउ, जसहरचरिउ एवं संतिणाहचरिउके चित्रोंमें अधिकांश रूपसे उक्त वस्त्रयुगलका ही निदर्शन हुआ है।

उक्त पटंवरका प्रयोग रेशमी वस्त्रके लिए हुआ है। कम्बल तो प्राचीनकालसे ही भारतमें लोकप्रिय रहा है। पाणिनिने भी 'पण्यकम्बल' नामसे विशेष कम्बलका उल्लेख किया है। अष्टाध्यायीके कम्बलाच्च संज्ञायाम् [५।१।३] में पाणिनिने कम्बलको तौल-विशेषका वाचक भी माना है। वस्तुतः कम्बल ऊनके द्वारा निर्मित वह चादर है, जो शीतसे रक्षा करती है। संस्कृत-साहित्यमें एक कहावत भी है—कम्बलवन्तं न बाधते शीतम्।

मनोरंजन

मनोरंजनके लिए किए जानेवाले साधनोंमें गोष्ठियों, उत्सव, त्यौहार और क्रीड़ाएँ आती हैं। संगीत, नृत्य भी मनोरंजनार्थ ही प्रस्तुत किए जाते थे। कवि रइधूने नारियोंके मनोरंजनके हेतु दोला-उत्सव [पास० २।१५।१] का सुन्दर चित्रण किया है। पुरुषवर्ग जलक्रीड़ा [धण्ण० ३।२] एवं नौका-विहार [धण्ण० ३।१।११-१४] अपने मनोरंजन हेतु करता था। बालक नाना प्रकारकी क्रीड़ाएँ करते थे [पास० २।१५]। नृत्योंमेंसे कविने रासलीला [पास० ६।१।४] एवं नट वृत्ति [पास० ६।१।४] के उल्लेख किए हैं। वाद्य-यन्त्रोंमें कंसाल [पास० २।१२।९], पटह [पास० २।६; २।१२], ताल [पास० २।१२।९], तूर [धण्ण० १।१०] शंख [पास० २।६], घण्टा [पास० २।६], दुन्दुभि [पास० २।६], आदिके उल्लेख मिलते हैं। उक्त सभी वाद्य आज भी उपलब्ध होते हैं।

कला-कौशल एवं शिक्षा

सभ्यता एवं संस्कृतिके परिचायक कला-कौशल, शिक्षा और साहित्य होते है। रइधू-साहित्यमें भी कलाओं, शिक्षाओं एवं विविध ज्ञान-विज्ञानोंके नाम प्राप्त होते हैं। कलाओंमें चित्र [पास० २।२], संगीत [धण्ण० १।१०] रत्नपरीक्षा [धण्ण० १।१०], स्वर्णपरीक्षा [धण्ण० १।१०], काम-कला [सुको० ४।३], जलमें तैरना [धण्ण० ३।२] हय-गय-वाहन [धण्ण० १।१०] एवं नृत्य [धण्ण० १।१०, १।१२, ३।५] आदि प्रमुख है।

शिक्षाओंमें काव्य, व्याकरण, अक्षर-भेद, संस्कृत, प्राकृत एवं देश्य भाषाएँ, लिंगभेद, सन्धि, समास एवं भाषाशास्त्र, अलंकार, विधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नव पदार्थ, लिपियाँ, आगम, त्रिवर्ग, भैषज्य, पुराण, वेद, गणित, लक्षण, अलंकार, छह-द्रव्य, सप्ततत्त्व, मन्त्र-तन्त्र, गन्धर्व, संगीत तथा हाथी एवं घोड़ेकी सवारीकी शिक्षाओंके उल्लेख प्रमुख रूपसे मिलते हैं।

आभूषण

रइधू साहित्यमें विविध अलंकारोंके नामोल्लेख भी प्राप्त होते हैं, जिनसे हार [पास० २।१४], कुण्डल, [पास० २।१४], करधनी [धण्ण० ४।४।६, पास० २।१४] रत्नमुकुट [पा० २।१४] केयूर [पास० २।१४], कड़ा [पास० २।१४ शृंखला [पास० २।१४] आदि प्रमुख है।

भूगोल

महाकवि रइधूने श्रमणधर्म सम्मत्त पौराणिक मान्यताओंका आधार ग्रहणकर जम्बूद्वीपके भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंका तथा इन तीन क्षेत्रोंमें निविष्ट नगर एवं ग्रामोंका निरूपण किया है। श्रमण पौराणिक मान्यताके अनुसार अनादि निधन-सृष्टिमें स्वयम्भूरमण पर्यन्त द्वीप और समुद्रोंकी स्थिति है। कविने प्रायः पौराणिक भूगोलका ही अनुसरण किया है। उक्त भौगोलिक सामग्रीको निम्न दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है :—

१. प्राकृतिक भूगोल, एवं
२. राजनैतिक भूगोल।

प्रकृतिसे जिन वस्तुओंकी रचना हुई है और जिनके निर्माणमें मनुष्यका कोई हाथ नहीं है, ऐसी भौगोलिक सामग्री प्राकृतिक-भूगोलका वर्ण्य-विषय है। रइधूकी यह सामग्री निम्नलिखित वर्गोंमें विभक्त की जा सकती है :—

(क) द्वीप और क्षेत्र (ख) पर्वत (ग) नदियाँ (घ) अरण्य एवं वृक्ष, एवं (ङ) जीव-जन्तु।

राजनैतिक भूगोलके अन्तर्गत जनपद, एवं नगर, आते हैं। जैसा कि पूर्वमें कहा जा चुका है उक्त दोनों प्रकारके भूगोल प्रायः पौराणिक ही हैं और उनका आधार तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोक-सार प्रभृति ग्रंथ हैं। अतः उन्हें दृष्टिमें रखते हुए तथा स्थानाभावके कारण यहाँ उनपर विशेष विचार नहीं किया जा रहा है।

रइधू साहित्य-प्रकाशनका संक्षिप्त इतिहास एवं कृतज्ञता-ज्ञापन

रइधू ग्रन्थावली प्र० भा० की भूमिका समाप्त करते समय मुझे सन् १९५८ के नवम्बर मासकी उस पवित्र घड़ीका स्मरण आ रहा है जब ऋषितुल्य श्रद्धेय डॉ० हीरालालजीने मुझे रइधू साहित्यपर शोध-कार्य करनेकी आज्ञा प्रदानकी थी। उन दिनों वे राजकीय प्राकृत रिसर्च इंस्टीटयूट वैशालीके डायरेक्टर थे तथा मैं उसका प्रधान ग्रन्थालयाध्यक्ष। उस समय श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमी बम्बईमें अधिक अस्वस्थ थे तथा उस समाचारसे वे अत्यन्त दुखी थे। उस दिन वे (डॉ० सा०) हमारे ग्रन्थालयमें पधारे, काफी देरतक ग्रन्थालयमें ही रहे और प्रेमीजीके महत्त्वपूर्ण योगदानोंकी चर्चा करते-करते शुब्रिंग, याकोबी, भण्डारकर, रायबहादुर हीरालाल, भगवानलाल इन्द्रजी, मुनि पुण्यविजयजी, मुनि जिनविजयजी डॉ० शहीदुल्ला एवं डॉ० ए० एन० उपाध्ये प्रभृति विद्वानोंने साधनाभावोंके रहते हुए भी प्राकृत-अपभ्रंशके क्षेत्रमें जो गौरवशाली साहित्यिक कार्य किये थे, उनका उन्होंने बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा। फिर उन्होंने स्वयं भी अपभ्रंशके हस्तलिखित ग्रंथोंको कहाँ-कहाँसे कैसे प्राप्त किए, जयधवल-महाधवलकी हस्तलिखित प्रतियाँ कैसे प्राप्त की, उन्हें प्राप्त करने तथा प्रकाशित करानेमें क्या-क्या कठिनाइयाँ आईं, इन सभीका इतिवृत्त इतने प्रभावशाली ढंगसे प्रस्तुत किया कि मैं भावविभोर हो उठा तथा अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थोंपर कार्य करनेकी तत्काल ही प्रतिज्ञा कर बैठा। उसी समय पूज्य डॉ० सा० ने मुझे रइधू साहित्यके विषयमें भी जानकारी दी और फिर उनके आदेशसे उक्त विषयक शोध-कार्यकी रूपरेखा तैयारकर, उन्हींके निर्देशनमें बिहार विश्व-विद्यालय मुजफ्फरपुरमें तदर्थ रजिस्टर्ड भी हो गया।

सन् १९५८ के ग्रीष्मावकाशमें रइधू साहित्यकी खोजमें मैंने जयपुर, अजमेर, व्यावर, दिल्ली एवं आराकी साहित्य-यात्राकी और वहाँके शास्त्र-भण्डारोंसे मुझे लगभग १५-१६ ग्रन्थ मिल गए। प्रारम्भमें तो पुरातन-लिपिके पठनका अभ्यास न होनेसे बड़ी कठिनाई आई, किन्तु बादमें अभ्यस्त हो जानेसे कार्यकी गति बढ़ने लगी। रइधूके ग्रन्थोंकी खोज, उनके प्रतिलिपि-कार्य एवं उसके बाद शोधकार्यकी आधारभूमि तैयार करनेमें ही मुझे लगभग ३-३।। वर्ष लग गये। उसके बाद ही मेरा अध्ययन एवं लेखनकार्य प्रारम्भ हो सका। अन्ततः मार्च १९६५ में उक्त शोधकार्य [रइधू साहित्य-का आलोचनात्मक परिशीलन] पर मुझे Ph.D की उपाधि मिल गई।

अप्रैल १९६५में जब श्रद्धेय डॉ० ए० एन० उपाध्येको मैंने अपने उक्त शोधकार्यकी सूचना दी, तब उन्होंने मात्र हर्ष ही व्यक्त नहीं किया बल्कि उन्होंने मुझे अधिकार-पूर्ण आदेश भी दिया कि मैं मध्यकालीन भारतीय-आर्य-भाषाओंके कुशल गायक महाकवि रइधूके सम्पूर्ण साहित्यका सम्पादन एवं अनुवाद-कार्य भी शीघ्र ही प्रारम्भ कर दूँ। इतना ही नही, उसके प्रकाशनके लिए उन्होंने जीवराज ग्रन्थमाला शोलापूरको तैयार भी कर लिया। उक्त ग्रन्थमालाने समग्र रइधू साहित्यको "रइधू ग्रन्थावली" के नामान्तर्गत १६ भागोमें प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया और उसी योजनाका प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम भाग है।

प्राच्य भारतीय साहित्य एवं संस्कृतिके महारथी मनीषियोंमें अग्रगण्य श्रद्धेय डॉ० ए० एन० उपाध्येके विषयमें मैं क्या कहूँ एवं कैसे आभार व्यक्त करूँ, यह समझमें नहीं आ रहा, क्योंकि उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतना विशाल एवं उच्चकोटिका है कि उसे झाँकनेके लिए बुद्धिका सुमेरु चाहिए। उनका जीवन शौरसेनी आगम-साहित्यके उद्धारकी एक कहानी बन गया है और प्राकृत-अपभ्रंश साहित्यके लेखन, सम्पादन एवं प्रचार-प्रसारके इतिहासका एक अविस्मरणीय अध्याय बन गया है। अप्रकाशित साहित्यको प्रकाशित करने करानेका तो मानों उन्होंने दृढ़व्रत ही ले लिया है। इस कलामें उन्होंने जो नए प्रतिमान स्थापित किए है वे अगली पीढ़ियोके लिए आदर्श बन गए हैं। इस क्षेत्रमें वे स्वयं तो अथक एवं अनवरत परिश्रम करते ही आ रहे हैं, साथ ही नवीन पीढ़ीके शोध-कर्त्ताओंकी भी खोजकर उन्हे इस क्षेत्रमें आनेके लिए सतत् प्रेरणा देते रहते हैं। भारतीय प्राच्य विद्याके क्षेत्रमें निस्सन्देह ही वे युगप्रधान यशस्वी महापुरुष है। रइधू साहित्यके लिए वरदान स्वरूप इस व्यक्तित्वकी अपराजेय चिरयुवा स्फूर्ति वर्धनशील रहे, यही हमारी मनोकामना है।

इसी प्रसंगमें मैं एक तथ्यका अंकन और कर देना आवश्यक समझता हूँ। डॉ० उपाध्ये रइधू साहित्यको हिन्दीके आदिकालीन इतिहास, आधुनिक भारतीय-भाषाओंके भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन तथा लोक-साहित्यकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण समझते है। उनका यह पूर्ण विश्वास है कि मध्यकालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक-इतिहासकी दृष्टिसे रइधू-साहित्यकी प्रशस्तियाँ भी अमूल्य हैं। इन्हीं सब कारणोंसे वे रइधू साहित्यके शीघ्र प्रकाशनके लिए अत्यन्त व्यग्र हैं। एक बार उन्होंने ८।८।१९६६के एक पत्रमें मुझे लिखा था :—"........after all we are ripe leaves; and I am very much eager that arrangements for the publication of Raidhu's

works as well as of your Thesis should be made as early as possible in my life time, so that they can see the light of the day........"

डॉ० सा० के उक्त पत्रसे हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थोंके प्रति उनकी आस्था आकांक्षा एवं व्यग्रताकी झलक स्पष्ट रूपसे मिलती है। डॉ०सा० के उक्त पत्रने मुझे बड़ा प्रभावित किया है तथा उसने मेरे लिए रइधू साहित्यको एक बड़ा भारी रसायन ही बना दिया है। उनके प्रति मैं पुनः अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

रइधू साहित्यके संकलन एवं सम्पादन कालमें मुझे सक्रिय अथवा अन्य विविध सहयोग देनेवालोंकी इतनी लम्बी सूची है कि उसके अंकनसे एक विस्तृत अध्याय ही तैयार हो सकता है। यह कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं, क्योंकि महाकवि रइधू एव उनके विशाल-साहित्यका प्रभाव तथा चमत्कार ही ऐसा है कि जिससे मुझ जैसे सामान्य अध्येताको भी प्रायः सभीका अमित स्नेह एवं सहयोग मिल सका है। मैं उन सभीके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

कुछ हितैषीजन एवं गुरुजन, जिनसे कि मुझे प्रारम्भ-कालमें बड़ा ही उत्साह बल एवं प्रेरणा मिली तथा जिन्होंने रइधू साहित्यकी खोजके हेतु महत्त्वपूर्ण भूमिका तैयारकी, वे ही सज्जनोत्तम इस ग्रन्थावलीका प्रकाशन न देख सके, इसका मुझे अत्यन्त गहरा दुख है। ये गुरुजन हैं—सर्वश्री पं० चैनसुखदासजी शास्त्री, जयपुर, पं० पन्नालालजी धर्मालंकार, वैशाली, एवं श्री जुगमन्दिरदासजी जैन कलकत्ता। श्रद्धेय डॉ० हीरालालजी प्रस्तुत ग्रन्थावलीके प्रकाशनका वृत्तान्त सुनकर अत्यन्त प्रमुदित हुये थे। वे उसका पूर्वार्ध देख भी चुके थे, किन्तु दुर्भाग्यसे बादमें एकाएक ही उनकी इहलीला समाप्त हो गई। उपर्युक्त सभी सज्जनोंके सद्गुणों, प्रेरक-वाक्यों एव सहायताओंका स्मरण करते हुए मैं उनके प्रति नतमस्तक हूँ।

श्रद्धेय अगरचन्द्रजी नाहटा, बीकानेर, डॉ० कस्तूरचन्द्रजी काशलीवाल, जयपुर, पं० हीरालालजी शास्त्री, ब्यावर, बाबू पन्नालालजी जैन, अग्रवाल, दिल्ली, पं० परमानन्दजी शास्त्री दिल्ली एवं बाबू जगतप्रसादजी जैन नजीबाबादने रइधूके हस्तलिखित ग्रन्थोंको अत्यन्त कृपापूर्वक भिजवाकर अथवा इच्छित महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रेषितकर मुझे सक्रिय सहयोग प्रदान किए है, अतः इनके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। डॉ० लालबहादुरजी शास्त्री दिल्ली, पं० बाबूलालजी जमादार बड़ौत, कैप्टेन एस० एम० चन्द्रा, फीरोजाबाद, प्रिंसिपल नरेन्द्रप्रकाशजी जैन फीरोजाबाद, डॉ० वाचस्पति गैरौला, इलाहाबाद, डा० विमलप्रकाशजी जैन जबलपुर, श्री एस० पी० देशमुख, आरा, डॉ० गोकुलचन्द्रजी वाराणसी प्रो० दिनेन्द्रचन्द्रजी जैन आरा, डॉ० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' आरा, बाबू सुबोधकुमारजी जैन आरा, बाबूलक्ष्मीचन्द्रजी जैन (भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली), श्री दयालचन्द्रजी जैन आरा, प्रभृति सज्जनोंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपसे मेरे शोध-कार्योंमें समय-समयपर जिज्ञासा दर्शाकर मुझे निरन्तर ही उत्साहित एवं प्रेरित करते रहकर इच्छित सहायताएँ देनेको कृपा की है। अतः उनके प्रति भी मै अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। डॉ० पी० एल वैद्य, पूना, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, डॉ० ए० एन० उपाध्ये मैसूर, डॉ० हीरालाल जैन, जबलपुर, गुरुवर श्रद्धेय पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, डॉ०

दरबारीलालजी कोठिया वाराणसी, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, डॉ॰ प्रभुदयालजी अग्निहोत्री, भोपाल, प्रो॰ देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, डॉ॰ कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंहजी, म॰ वि॰ वि॰ बोधगया, डॉ॰ रामसिंह तोमर, शान्तिनिकेतन, डॉ॰ रामजी उपाध्याय, सागर, प्रभृति विद्वानोंके शोध-कार्यों का अध्ययन-कर उनसे मार्ग-दर्शन मिला, अतः मैं उन विद्वानोंका भी आभारी हूँ।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती जैन M. A. साहित्यरत्नने मूलप्रतियोंसे प्रतिलिपि कार्य तथा शब्दानुक्रमणी तैयार करनेमें जो अथक परिश्रम किया, उसे मैं कभी भी विस्मृत न कर सकूँगा। चि॰ शारदा B A. (Hons) ने बड़े ही धैर्यपूर्वक प्रेसकापी तैयार करनेमें सहायता की। चि॰ राकेश गोयल, विनोद बाझल, बेटी रश्मि, रत्ना एवं चि॰ राजीव एवं राजेशने अपनी-अपनी शक्ति एवं बुद्धिके अनुसार इस ग्रन्थको सजानेमें भरपूर सहायताएँ की हैं। ये सभी मेरे अपने हैं, अतः धन्यवाद तो क्या दूँ, आगे चलकर वे सभी समाजके शृंगार बने, यही कल्याण-कामना करता हूँ।

जीवराज ग्रन्थमालाके मानद-मन्त्री श्री बालचंद देवचद शहाके प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने 'रइधू ग्रन्थावली' के समस्त खण्डोंको प्रकाशित करनेकी योजना स्वीकार की। वर्द्धमान मुद्रणालय वाराणसीके मालिकने बड़े ही मनोयोगपूर्वक इस ग्रन्थावलीके-कलापूर्ण मुद्रणकी व्यवस्था की इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ।

हस्तलिखित ग्रन्थोंपर और विशेषरूपसे ऐसे ग्रन्थोंपर, जिनपर पहले पहल ही कार्य होने-वाला हो, उनपर कार्य करना कितना कष्टसाध्य, धैर्यसाध्य एवं समयसाध्य होता है, इसे भुक्त-भोगी ही समझ सकता है। कल्पनातीत मानवीय एवं दैवी विघ्न-बाधाओंको पार करते-करते प्रस्तुत कार्यमें जाने-अनजाने ही अनेक त्रुटियोंके रह जानेकी सम्भावनाएँ है। अतः उन सबके लिए अपने कृपालु पाठकोंसे क्षमायाचना करता हूँ। वैसे रइधू साहित्यकी विशालता एवं गहनताको मैं देखते हुए तथा अपनी बुद्धि-सीमाको समझते हुए उस पर कार्य करनेमें मुझे बड़ी हिचक हो रही थी किन्तु अपने गुरुजनोंकी प्रेरणा एव डॉन कार्लोजकी निम्नपक्तियोने मुझे बड़ा बल प्रदान किया—*"Nothing would ever be written, if a man waitted till he Could write it so well that no reviewer could find fault with it."* मुझे अपने कृपालु पाठकोंसे यह पूर्ण आशा है कि वे ग्रन्थमें प्राप्त त्रुटियोंको क्षमाकर उनकी ओर मेरा ध्यान अवश्य ही आकर्षित करेंगे तथा उपयोगी सुझाव भेजनेकी कृपा करते रहेंगे, जिससे कि भविष्यमें उनका सदुपयोग किया जा सके।

महाजन टोली नं॰ २, आरा (बिहार)
दीपावली
२५-१०-७३

राजाराम जैन

विषयानुक्रम

[१] पासणाहचरिउ [पृ० १–१६१]

(सन्धि एवं कडवकोंके अनुक्रमसे)

सिरि-रइधु-विरइउ

पासणाहचरिउ

संधि—१

[१-१]

घत्ता

पणविवि सिरिपासहो सिवउरिवासहो विहुणियपासहो गुणभरिउ ।
भवियहँ सुहकारणु दुक्खणिवारणु पुणु आहासमि तहु चरिउ ।। छ ।।

पुणु रिसहणाहु पणविवि जिणिंदु   भवतम-णिण्णासणि जो दिणिंदु ।
सिरिअजिउ वि दोस-कसाय-हारि   संभउ वि जयत्तय-सोक्खकारि ।
अहिणंदणु जिणु पुणु णाण-चक्खु   सिरिसुमइदेउ पोसिय-स-पक्खु ।
पउमप्पहु पउमालिंगिअंगु   सिरिजिणु सुपासु पुणु विगयसंगु ।
चंदप्पहु जिणु चंदंसु-वाणि   सिरिपुप्फयंतु तित्थयरु णाणि ।
सीयलु वि सील-वय-विहि-पवीणु   सेयंसु वि सिवपय णिच्च लीणु ।
वासवेण महिउ जिणु वासुपुज्जु   विमलु वि विमलयरगुणिहि सुज्जु ।
तित्थयरु अणंतु वि अंतचुक्कु   अरि-कोह-माण-भय-सयल-मुक्कु ।
सिरिधम्मु वि धम्मामयणिहाणु   पुणु संतिजिणेसरु जयपहाणु ।
सिरिकुंथु वि णंतचउक्कठाण   अरणाहु वि लोयालोयजाणु ।
सिरिमल्लिणाहु तित्थयरु संतु   मुणिसुव्वउ अइसयसिरिमहंतु ।
तह णमिजिणेसु पावाहि मंतु   पुणु रिट्ठनेमि राइमइ[हे]कंतु ।
सिरिपासणाहु विग्घंतयारि   पुणु वड्ढमाणु दुग्गइ णिवारि ।
तसु तित्थ पवट्टइ भरहखेत्ति   पयडिय [णं] धम्माहम्मजुत्ति ।

घत्ता—ये सयलजिणेसर हुव होसहि धर ते सयल वि पणवेवि धरा ।
पुणु जिणवरवाणी लोयपहाणो[1] णियमणि धारिवि परमपरा ।। १ ।।

[१-२]

पुणो वि गोयमो मुणी   पयासिया जिणज्झुणी ।
पयत्थ जेण भासिया   सुसव्व जीव भासिया ।
अणुक्कमेण तासु जे   जई वि जाय सव्व ते ।

१. क-ख—लोयहाणी ।

श्री-रइधु-विरचित

पार्श्वनाथ-चरित

सन्धि—१

[१-१]

चौबीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति

मैं (उन) पार्श्वप्रभुको प्रणाम करता हूँ जिन्होंने मोक्षमें निवास-स्थान प्राप्त कर लिया है, कर्मजालको नष्ट कर दिया है तथा जो गुणोंसे युक्त हैं, भव्यजनोंके लिए सुख देनेवाले हैं तथा दुखोंका निवारण करनेवाले हैं, उन्हीके चरितका वर्णन करता हूँ ।।छ।।

भवतमको नष्ट करनेके लिए जो दिनकरके समान हैं, उन आदिनाथको तथा कषायरूप दोषोंको नष्ट करनेवाले श्रीअजितनाथ, तीनों लोकोंको सुख देनेवाले सम्भवनाथ, ज्ञाननेत्रोंसे युक्त अभिनन्दनजिन, सत्पक्षका पोषण करनेवाले श्रीसुमतिदेव, केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीसे सुशोभित अंगोंवाले पद्मप्रभु, सभी प्रकारोंकी आसक्तियों और परिग्रहोंसे मुक्त श्रीसुपार्श्वजिन, चन्द्रमाकी सौम्यकिरणोंके समान अमृतमयी वाणीवाले चन्द्रप्रभ, केवलज्ञानके धारी श्रीपुष्पदन्त तीर्थङ्कर, शीलव्रत आदिकी विधियोंमें प्रवीण शीतलनाथ, शिवपदमें निरन्तर लीन रहनेवाले श्री-श्रेयांसनाथ; इन्द्र द्वारा पूजित वासुपूज्यजिन, विमलतर गुणोंसे सुशोभित विमलनाथ, क्रोध, मान-भय रूपी समस्त शत्रुओंसे मुक्त एवं अन्तविहीन तीर्थङ्कर अनन्त, धर्मामृतके निधान श्रीधर्मनाथ, जगमें प्रधान शान्तिजिनेश्वर, अनन्तचतुष्टयके स्थान-स्वरूप श्रीकुन्थुनाथ, लोकालोकके ज्ञाता अरहनाथ, तीर्थङ्कर श्रीमल्लिनाथ, अतिशय रूप महती लक्ष्मीके धारक मुनिसुव्रत, पापरूपी सर्पके लिए मन्त्रके समान नमिजिनेश, राजीमतिके कान्त अरिष्टनेमि, विघ्नोंका अन्त कर देनेवाले श्रीपार्श्वनाथ और दुर्गतियोंका निवारण करनेवाले उन वर्धमानतीर्थङ्करको मै प्रणाम करता हूँ, जिनका तीर्थ भरतक्षेत्रमें प्रवर्तमान है और जो धर्म-अधर्मकी युक्तिको साक्षात् प्रकट करता है ।

घत्ता—उन सभी जिनेश्वरोंको, जो इस पृथिवी-मण्डलपर हो चुके हैं तथा आगे भी होंगे, (उन्हें तथा) उन समस्त भूमियों (क्षेत्रों)को प्रणाम करके पुनः लोकमें प्रधान एवं परमश्रेष्ठ वाणीको हृदयमें धारण करके (नमस्कार करता हूँ) ।।१।।

[१-२]

सरस्वती एवं गौतम-गणधरकी मङ्गल-स्तुति एवं गुरु-स्मरण

पुनः जिनवरोंकी वाणीको प्रकाशित करनेवाले उन गौतममुनिको नमस्कार करता हूँ, जिनके द्वारा पदार्थ प्रतिपादित हैं, जिन्होंने समस्त जीवोंको (तत्त्वरूपी) प्रकाशदान दिया है, जो अनुक्रमसे होनेवाले सम्यग्ज्ञानके धारी हैं, जो भवरूपी समुद्रसे तारनेवाले हैं तथा जो राग एवं

णवीवि णाण-धारया भवण्णबोहितारया ।
मुणिंदु ताहिँ संतई विराय-रोस-संजई ।
जिणेस-सुत्त-भासओ गुणाण भूरिवासओ ।
सुचेयणत्त्थ तम्मओ तवेण सोसिओ वओ ।
सहस्सकित्ति-पट्टि ओ गुणस्सुकित्ति णाम सो ।
सुतासु पट्टि भायरो वि आयमत्थसायरो ।
रिसीसु गच्छणायको जयन्त सिक्खदायको ।
जसक्खुकित्ति सुंदरो अकंपु णायमंदिरो ।
सुसिस्सु तस्स जायओ खमागुणेण राइओ ।
सुखेमचंद पायडो जिओ जिणि गजो भडो ।
रिसीस सव्व मज्झु ए मई विसाल दिंतु ते ।

घत्ता—महिवीढि पहाणउ णं गिरिराणउ सुरहँ वि मणि विंभउ जणिउ ।
कउसीसहिँ मंडिउ णं इहु पंडिउ गोपायलु णामें भणिउ ॥ २ ॥

[१-३]

जहिँ सहहिँ णिरंतर जिण-णिकेय पंडुर सुवण्ण धयवड-समेय ।
सट्टाल सतोरण जत्थ हम्म मण-सुह-संदायण णं सुकम्म ।
चउहट्ट चक्क[2] सट्टाम[3] जत्थ वणिवर ववहरहिँ वि जहिँ पयत्थ ।
मग्ग ण ठाण कोलाहल समत्थ जहिँ जण णिवसहिँ परिपुण्णअत्थ ।
जहिँ आवणम्मि थिय विविहभंड कसवट्टहिँ कसियहिँ भम्मखंड ।
जहिँ वसहिँ महायण सुद्धबोह णिच्चंचिय पूया-दाण-सोह ।
जहिँ वियरहिँ वरचउवण्णलोय पुण्णेण पयासिय दिव्वभोय ।
ववहारपार संपण्ण सव्व जहिँ सत्त-वसण-भय-हीण भव्व ।
सोवण्णचूडमंडियविसेस सिंगार-भारकिय णिरवसेस ।
सोहग्गणिलय जिणधम्मसील जहिँ माणिणि माणमहग्घ[4]लील ।
जहिँ चरड-चाड-कुसुमाल दुट्ठ दुज्जण सखुद्दखलपिसुण धिट्ठ ।
णवि दीसहिँ कहि मिव वुहिय-हीण पेमाणुरत्तु सव्व जि पवीण ।
जहिँ रेहहिँ हय-पय-दलिय-मग्ग तंबोल-रंग-रंगिय-धरग्ग ।
जहिँ सच्छ अणुच्च णई विहाइ दुग्गहु अवहंडइ एह णाइ ।
सोवण्णरेह णं उवहि जाय णं तोमरणिव पुण्णेण आय ।
ताइ वि सोहिउ गोपायलक्खु णं भज्ज समाणउँ णाहु दक्खु ।

घत्ता—सुहलच्छिजसायरु णं रयणायरु बुहयणजुउ[5] णं इंदउरु ।
सत्थत्थहिँ सोहिउ जणमणु मोहिउ णं वरणयरहँ एहु गुरु ॥ ३ ॥

---

१. क-ख—वर । २. क-ख—चव्व । ३. क-ख—सद्दाम । ४. क—महग्घ । ५. क-ख—°हु ।

रोषके विजेता हैं, ऐसे मुनीन्द्रों (तथा उन)की समस्त सन्ततिको भी प्रणाम करता हूँ। तदनन्तर जिनेश्वरके सूत्रोंके प्रकाशक अनन्त सद्गुणोंके निवासस्थान, चेतन आदि नौ पदार्थों (के ध्यान)में तल्लीन , तपस्या द्वारा समस्त आयुको सुखा देनेवाले (भट्टारक) सहस्रकीर्त्ति, उनके पट्टधर श्रीगुणकीर्त्ति नामधारी (भट्टारक)के पट्टमें होनेवाले (संसारपक्षके) भ्राता एवं आगमरूपी अर्थके सागर, ऋषीश्वरोंके गच्छनायक, तीनों लोकोंको शिक्षा देनेवाले, सौन्दर्यवान्, निर्भीक एवं न्याय (-शास्त्र)के मन्दिरस्वरूप (भट्टारक) यशःकीर्त्तिको तथा क्षमागुणसे सुशोभित एवं इन्द्रियरूपी गजेन्द्रको जीतनेवाले महान् योद्धा और भ० यशःकीर्त्तिके अन्यतम शिष्य श्रीखेमचन्द्रको भी मैं प्रणाम करता हूँ। ये समस्त ऋषीश्वर मुझे विशाल बुद्धि प्रदान करें।

घत्ता—पृथिवी-मण्डलमें प्रधान, गिरिराज (सुमेरु)के समान (विशाल), देवताओंके मनमें भी विस्मय उत्पन्न करनेवाला, भवन-शिखरोंसे मण्डित तथा पृथिवी-मण्डलके पण्डितके समान गोपाचल नामक (एक) नगर है ॥२॥

[१-३]

रचनास्थल—गोपाचल-नगरका वर्णन

जहाँ पाण्डुर एवं सुवर्ण वर्णवाली अनेकों पताकाओंसे युक्त जिन-मन्दिर निरन्तर शोभमान रहते हैं, जहाँके तोरणों एवं अट्टालिकाओंसे सुशोभित हर्म्य मनको ऐसे सुख प्रदान करते हैं, जैसे (व्यक्तिके) सत्कर्म। जहाँ चारों ओर बाजार, चौक एवं सुन्दर-सुन्दर स्थल हैं, जहाँ वणिक्-श्रेष्ठ पदार्थोंका व्यापार करते हैं, जहाँ रास्तोंमें (चलनेके लिए) स्थान नहीं मिलता, सर्वत्र कोलाहल व्याप्त रहता है, जहाँ लोग सभी प्रकारके अर्थोंसे परिपूर्ण होकर निवास करते हैं, जहाँ दूकानोंमें विविध प्रकारकी सामग्रियाँ भरी पड़ी रहती हैं, कसौटियोंपर (जहाँ) भौम्य-खण्डों (स्वर्ण, रजतादि खनिजों)को कसा जाता है, जहाँपर निरन्तर अर्चना, पूजा एवं दानसे सुशोभित, निर्मल बुद्धिसम्पन्न महाजन निवास करते हैं, जहाँ उत्तम चतुर्वर्णके लोग पुण्यसे प्रकाशित (प्राप्त) दिव्य भोगोंको भोगते हुए विचरण करते हैं, जो व्यापारमें पारंगत हैं तथा सभी जन सम्पन्न हैं, जहाँके सभी भव्यजन सप्तव्यसनों तथा भयसे विहीन हैं। सोनेके कड़ोंसे विशेष रूपसे मण्डित, सभी प्रकारके शृंगारोंको किये हुए, सौभाग्यकी निधान, जैनधर्म एवं शीलगुणसे युक्त जहाँकी मानिनी नारियाँ मानपूर्वक श्रेष्ठ लीलाएँ किया करती है। जहाँ लुटेरे, कपटी, चोर, दुष्ट, दुर्जन, क्षुद्र, खल, पिशुन, धृष्ट, दुखी एवं अनाथजन दिखलाई नहीं पड़ते। सभी जन प्रेमासक्त एवं निपुण हैं, जहाँ घोड़ोंके खुरोंसे दलित हुए मार्ग सुशोभित रहते हैं और जहाँका धरातल पानके रंगमें रंगा हुआ रहता है, जहाँपर स्वच्छ एवं गहरी स्वर्णरेखा नामकी नदी शोभमान रहती है, जो अगाध है तथा जो ऐसी प्रतीत होती है मानों धराका आलिंगन कर रही हो। वह स्वर्णरेखा नदी समुद्रकी ओर जाती हुई ऐसी प्रतीत होती है, मानों सुवर्णकी रेखा ही हो और मानों वह तोमर राजाके पुण्यसे ही वहाँ आई हो। उस नदीसे वह गोपाचल उसीप्रकार सुशोभित होता है जिस प्रकार भार्यासे सुशोभित कोई दक्ष पति।

घत्ता—सुख, समृद्धि एवं यशके लिए वह (गोपाचल) रत्नाकरके समान आकर था, बुधजनोंके समूहोंसे युक्त वह नगर मानों इन्द्रपुरी ही था। शास्त्रार्थोंसे सुशोभित तथा जनमनको आकर्षित करनेवाले सर्वश्रेष्ठ नगरोंका मानों यह गुरु ही था ॥ ३ ॥

[१-४]

तहिँ तोमर-कुल-सिरि-रायहंसु गुण-गण-रयणायरु लद्धसंसु ।
अण्णाय-णाय-सासण-पवीणु पंचंगमंतसत्थहँ पवीणु ।
अरिराय-उरत्थलि दिण्णदाहु समरंगणि पत्तउ विजयलाहु ।
खग्गग्गि-डहिय जेँ मिच्छवंसु जसऊरिय-ऊरिय जेँ दिसंतु ।
णिवपट्टालंकिय विउलभालु अतुलियबल-खल-कुल-पलय-कालु ।
सिरिणिवगणेस-णंदणु पयंडु णं गोरक्खणविहि णउव संडु ।
सत्तंग-रज्ज-भर-दिण्णखंधु सम्माणदाणतोसिय-सबंधु ।
करवालपट्टिविप्फुरियजीहु पव्वंतणिवइगयदलणसीहु ।
अइविसमसाहसुद्दामथामु सायरहु तीर संपत्तु णामु ।
छत्तीसाउहपयडणपसिद्ध साहणसायरु जसरिद्धिरिद्धु ।

घत्ता—परबलसंतासणु णिवपयसासणु णं सुरवरु बहुधणधणिउँ ।
णवजलहरवस्सरु पहु पहुईधरु डोंगरिंदु णामें भणिउँ ॥ ४ ॥

[१-५]

तहु पट्ट-महाएवी पसिद्ध चंदादे णामा पणयरिद्ध ।
सयलंतेउरमज्झहँ पहाण णियपइ-मण-पोसण-सावहाण ।
तहु णंदणु णिरुवमगुणणिहाणु तेयग्गलु णं पच्चक्खु भाणु ।
णं णवउ जसंकुरु पुहमि जाउ णं जयसिरीए पयडियउ भाउ ।
सिरिकित्तिसिंधु णामें गरिट्ठु णं चंदु कलायरु जयमणिट्ठु ।
सिरिडूंगरसीह णरिंदरज्जि वणिवरु णिवसइ पुणु बहुहु सज्जि ।
दुक्खियजणपोसणु गुणणिहाणु जो अयरवाल-कुल-कमल-भाणु ।
मिच्छत्त-वसण-वासणविरत्तु जिणसत्थणिगंथहँ पायभत्तु ।
सिरिसाहु पहुणु जि पहसियासु तहु णंदणु णिरुवम-गुण-णिवासु ।
सिरिखेमसीह णामेण साहु जिणधम्मोवरि जेँ बद्धगाहु ।
जिणचरणोदएण वि जो पवित्तु आयम-रस-रत्तउ जासु चित्तु ।
उद्धरिउ चउव्विहसंघभारु आयरिउ वि सावयचरिउ-चारु ।
रिसि दाणवंतु णं गंधहत्थि वियरेइ णिच्च जो धम्मपंथि ।
सम्मत्तरयणलंकियसरीरु कणयायलु व्व णिक्कंपु धीरु ।
सुहि-परियण-कइरव-वण-हिमंसु उद्धरिउ पुण्णपालहु जि वंसु ।
धण-कण-कंचण-संपुण्णु संतु पंडियहँ वि पंडिउ गुणमहंतु ।
घत्ता—दुहियणदुहणासणु बुहकुलसासणु जिणसासणु रइधुरधरणु ।
विज्जालच्छीघरु रूवेँ णं सुरु अहणिसु किय बहु[1] उद्धरणु ॥ ५ ॥

---

१. क—विह ।

[१–४]

गोपाचल-नरेश तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह का परिचय

उस गोपाचलमें तोमर-कुल-रूपी-श्री के लिये राजहंसके समान, गुण-गण-रूपी-रत्नोंके लिये सागरके समान, प्रशंसा प्राप्त, अन्याय और न्यायके शासनमें प्रवीण, पंचांगमंत्रके (नीति-) शास्त्रमें प्रवीण, शत्रुराजाओंके हृदयमें दाह-सन्ताप उत्पन्न करने वाला, रणक्षेत्रमें विजयलाभ प्राप्त करने वाला, तलवारके अग्रभागसे म्लेच्छवंश को दहा देनेवाला, अपने यशसे दिग-दिगान्तोंको पूर देने वाला, 'नृपके' पट्टसे अलंकृत, विशाल माथा वाला, अतुलित बलवाला, खलकुलके लिये प्रलय-कालके समान, श्रीनृप गणेशका नन्दन, प्रचण्ड, गोरक्षणकी विधिके लिये नवीन वृषभके समान, सप्तांग-राज्यके भारवहन करनेके लिये अपने कन्धे समर्पित कर देने वाला, सम्मान एवं दानसे अपने बन्धु-बान्धवोंको सन्तुष्ट करने वाला, तलवार की पट्टीके रूपमें विस्फारित जिह्वावाला, पर्वतान्तके शत्रुनृपतिरूपी गजोंके दलन करनेके लिये सिंहके समान, अनुपम साहसवाला, प्रचण्ड-बल वाला, समुद्री किनारों तक विख्यात, छत्तीस प्रकारके आयुधोंके चलानेमें प्रसिद्ध, साधन-सम्पत्ति के सागरके समान तथा यश एवं ऋद्धियों से समृद्ध—

घत्ता—शत्रुकी सेनाओंको सन्त्रस्त करने वाला, 'नृप' पदका शासक, नवीन जलधरके समान वर्षा करने वाला, समर्थ, पृथिवीको धारण करने वाला, कुबेरके समान प्रचुर धनका धनी तथा 'डोंगरेन्द्र' नामसे सुप्रसिद्ध (एक) राजा हुआ॥ ४॥

[१–५]

डूंगरसिंहकी वंश-परम्परा तथा रइधूके आश्रयदाता साहू खेमसिंह अग्रवालका परिचय

उस डोंगरेन्द्रकी अत्यन्त प्रणयशील 'चन्दादे' नामकी पट्टरानी थी, जो समस्त अन्तःपुरमें प्रधान तथा अपने पतिके मनके पोषण करनेमें सावधान थी। उसका अनुपम गुणोंका निधान एक पुत्र था, जो तेजस्वितामें मानों प्रत्यक्ष सूर्य था, (अथवा) मानों पृथिवी पर यशका नवीन अंकुर ही उत्पन्न हुआ था या मानों जयश्रीने अपना भाई ही प्रकट कर दिया हो। वह श्री कीर्त्तिसिंहके महान् नामसे प्रसिद्ध और कलाओंके आकर चन्द्रमाके समान लोगोंके मनको प्रिय था। श्री डोंगरसिंह नरेन्द्रके राज्यमें एक वणिक् श्रेष्ठ बड़े ही ठाट-बाटसे निवास करते थे, जो दुखीजनोंका पालन-पोषण करने वाले, गुण निधान, अग्रवाल कुल रूपी कमलके लिये भानुके समान, मिथ्यात्व, व्यसन एवं वासनाओंसे विरक्त, जिन (देव) शास्त्र एवं निर्ग्रन्थ (गुरुओंके) चरणोंके भक्त, प्रसन्नवदन श्री प्रद्युम्न साहु हुए, जिन्हें खेमसिंह साहु नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो निरुपम गुणोंका निवास स्थान, जैनधर्म पर दृढ़ निश्चय रखने वाला, जिन भगवानके चरणोदकसे पवित्र, आगमरसमें अनुरक्तचित्त, चतुर्विध संघके भारका उद्धारक, उत्तम श्रावक-चरितका आचरण करने वाला, निरन्तर धर्मपन्थमें विचरण करने वाला, ऋषियोंको दान देनेमें मानों दान (मदजल) से युक्त गन्धहस्तिके समान, सम्यक्त्वरूपी रत्नसे अलंकृत शरीरवाला, कनकाचलके समान निष्कम्प एवं धैर्यवान्, सुहृज्जनों एवं परिजनोंरूपी कमलिनी-वन (को विकसित करने) के लिए चन्द्रमाके समान, पुण्यपालके वंशका उद्धारक, धन, धान्य और सुवर्णसे समृद्ध, पण्डितोंमें महान् पण्डित और गुणोंमें श्रेष्ठ था।

[१-६]

तहु पणयणि पणय-णिबद्धदेह णामेण धणोवइ सीलगेह ।
सुरसिंधुरगइ पायडियलील परिवारहु पोसण सुद्धसील ।
णररयणहँ णं उप्पत्तिखाणि गय हंसणीव कलयंठि-वाणि ।
सोहग्गरूवचेल्लणि व्व दिट्ठु सिरिरामहु जिहँ पुणु सीय सिट्ठु ।
तहिँ उवरि उवण्णा रयणचारि णं णंत चउक्क सरूवधारि ।
तहँ मज्झि पढमु वियसिय सुवत्तु लक्खण-लक्खंकिउ वसणचत्तु ।
अउलिय-साहस सहसेक्क-गेहु सिरिसहसराजु णामें मुणेहु ।
विण्णाणकुसलु बीयउ सुपुत्तु जो मुणइ जिणेसभणिउ सुसुत्तु ।
सुपवीण-राय-वावार-कज्जि गंभीरजसायरु बहुगुणज्जि ।
पहराजु पहायरु पुहमिणाइँ जो णिवमणु रंजइ विविहभाइँ ।
अण्णु वि तीयउ रिसि-देवभत्तु गिह-भार-धुरंधरु कमलवत्तु ।
सिरिदेवसीहु देवावयारु जो करइ णिच्च उवयारु सारु ।
चउथउ णंदणु पुणु कुलपयासु अवगमिणिहिलविज्जाविलासु ।
जिण-समयामय-रस-तित्त-चित्तु सिरिहोलिवम्मु णामें पवित्तु ।

घत्ता—एमहिँ चहुँ सहियउ गुणगण अहियउ खेउँसाहु जसायरु ।
णाणासुह विलसइ जइयण पोसइ णिय-कुल-कमल-दिवायरु ॥ ६ ॥

[१-७]

अण्णहिं दिणि आयमसत्थदत्थु सम्मत्तरयणलंकियसमत्थु ।
गउ जिणहरि खेउँसाहु-साहु भावें वंदिउ तहिं णेमिणाहु ।
पुणु पाल्हबभु पणवियउ तेण सिद्धत्थ-भाव-भावियमणेण ।
पुणु तहिँ दिट्ठउ सरसइ-णिकेउ रइधूपंडिय पयडियविवेउ ।
तेण वि संभासणु कियउ तासु जो गोट्ठि पयासइ बहुसुयासु ।
ता जिण-अच्चण-पसरिय-भुवेण जंपिउ हरसिंघ-संघवी-सुवेण ।
भो अयरवाल-कुल-कमल-सूर पंडियजणाण मणआसपूर ।
जिणधम्मधुरंधर गुण-णिकेय जस-पसर-दिसंतर-किय-सुसेय ।
सिरिपजुण्णसाहुणंदण सुणेहि कलिकालु पयडु णियमणि मुणेहि ।
दुज्जण अवियड्ढ वि दोसगाहि वट्टंति पउर पुणु पुहइमाहि ।
मइं सुकइत्तणि पुणु बद्धु गाहु पणविवि अणुराएं पासणाहु ।

घत्ता—जो दुखीजनोंके दुखोंका नाश करनेवाला, बुधजनोंके कुलका शासन करनेवाला, जिनशासनमें रुचि रखनेवाला एवं उसकी धुरीको धारण करनेवाला, विद्या और लक्ष्मीका निवास-स्थल, रूप-सौन्दर्यमें देवोपम तथा जो अहर्निश अनेक उद्धारक-कार्योंमें संलग्न रहता था ॥ ५ ॥

[१–६]

आश्रयदाता-वंश-परिचय

उस खेमसिंह की, प्रेमसे निबद्ध देह वाली तथा शीलकी आगारस्वरूपा, देवगंगाकी गतिके समान प्रकटित लीलाओं वाली, परिवारकी पोषक, शुद्ध-शीलयुक्त, नवरत्नोंकी उत्पत्तिके लिए मानों खानस्वरूप, गतिमें हंसिणीके समान, वाणीमें कोयलके समान, सौभाग्य एवं रूप-सौन्दर्यमें चेलनाके समान अथवा रामके साथ श्रेष्ठ सीताके समान धनवती नामकी प्रणयिनी थी। उसके उदरसे चार पुत्र रत्न उत्पन्न हुए, मानों अनन्त चतुष्टय ही (साक्षात्) शरीर धारणकर (वहाँ) आ गये हों। उनमें से सर्वप्रथम प्रसन्नवदन, लक्षावधि लक्षणोंसे युक्त, व्यसनहीन, अतुलित साहसी, सहस्रोंको अकेला ही जीत लेनेवाला, 'सहसराज' इस नामसे प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न हुआ। विज्ञानमें कुशल, जिनेन्द्र द्वारा भाषित सूत्रोंको जानने वाला, राज्य-कार्य एवं व्यापार-कार्यमें कुशल, गम्भीर, यशस्वी, बहुगुणज्ञ एवं प्रभावान् 'प्रभुराज' नामक द्वितीय पुत्र उत्पन्न हुआ, जो पृथिवीके समान विविध प्रकारसे राजाका मनोरंजन किया करता था। अन्य तृतीय पुत्र का नाम 'देवसिंह' था जो ऋषि एवं देवभक्त, गृहस्थी का भारवहन करनेमें धुरन्धर, कमलके समान (सौम्य) मुखवाला, देवोपम, तथा जो सभीका नित्य श्रेष्ठ उपकार किया करता था। चौथा पुत्र, 'होलिवम्म' इस पवित्र नामसे प्रसिद्ध हुआ जो अपने कुलका नाम प्रकाशित करनेवाला था, जिसने निखिल विद्या-विलासको प्राप्तकर लिया था और जिसका चित्त जिन-सिद्धान्तरूपी अमृत-रससे तृप्त था।

घत्ता—इस प्रकार अपने चारों पुत्रोंके साथ प्रचुर गुणोंका धारक, यशका निधान, निजकुल रूपी कमलके लिए दिवाकरके समान वह खेऊ साहू नाना प्रकारके सुख-विलास करता हुआ यति-जनोंका पोषण करता था ॥ ६ ॥

[१–७]

आश्रयदाता एवं ग्रन्थकार रइधूका 'पासणाहचरिउ'के प्रणयन विषयक विचार-विमर्श

दूसरे दिन आगमशास्त्रमें दक्ष, सम्यक्त्वरूपी रत्नसे अलंकृत एवं समर्थ वह सज्जन खेउ साहु जिनमन्दिर गया और वहाँ भावपूर्वक नेमिनाथकी वन्दना की। फिर उसने पाल्हब्रह्मको मनोरथ-सिद्धिकी भावनासे भावितमन होकर प्रणाम किया। तदनन्तर उसने वहाँ सरस्वतीके निकेत तथा विवेकवान् पण्डित रइधूके दर्शन किये। उन्होंने (रइधू ने) भी, जो बहुश्रुतोंकी गोष्ठीको प्रकाशित किया करते थे, उसके (खेऊ साहूके) साथ सम्भाषण किया। उसके बाद जिन-भगवानकी अर्चनाके लिए प्रसारित भुजाओं वाले हरिसिंह संघवीके पुत्र (रइधू) ने कहा—"हे अग्रवाल-कुलरूपी कमलके लिए सूर्यके समान, पण्डितजनोंके मनको आशाको पूर्ण करने वाले, जैनधर्ममें धुरन्धर, गुणोंके आगार तथा यशके प्रसारसे दिशा-दिशान्तरोंको धवल बनानेवाले, प्रद्युम्न साहुके सुपुत्र, तुम मेरी बात सुनो, अपने मनमें यह विचार करो कि (अब) कलिकाल प्रकट

तुहु सत्थकुसलु लेलेहि भारु   सिरिपासचरित्तहु जणमतारु ।

घत्ता—तहु वयण सुणेप्पिणु मणि पुलएप्पिणु जंपइ खेउ तासु पुणु ।
भो रइधूपंडिय सीलअखंडिय तुहुं वि एक्कु महु वयणु सुणु ॥ ७ ॥

[१-८]

णियगेहि उवण्णउ कप्पतरुक्खु   तहु फलु को णउ वंछइ ससुक्खु ।
पुण्णेण पत्तु जइ कामधेणु   को णिस्सारइ पुणु वि गयरेणु ।
तह पइँ पुणु महु किउ सइँ पसाउ   महु जम्मु सहलु भो अज्ज जाउ ।
तुहुँ धण्णु जासु एरिसउ चित्तु   कइयण-गुणु दुल्लहु जेण पत्तु ।
बहुजोणि अणंताणंतकालु   भवि भमइ जीउ मोहेण बालु ।
कहमवि पावइ णउ मणुव-जम्मु   अह पावइ तो पयडइ कुकम्मु ।
बालत्तणि असइँ अभक्खु भक्खु   रंगइ महि सहइ अणंतदुक्खु ।
कहमवि पावइ तारुण्णभाउ   वम्महवसेण सेवेइ पाउ ।
ण वियाणइ जुत्ताजुत्तभेउ   णउ सत्थु ण सरु अरहंतदेउ ।
धावइ दहविहि दविण त्ति खिण्णु   णउ भावइ चेयणु परहु भिण्णु ।
लोहेँ बद्धउ अलियउ रसंतु   परधणु परजुवई मणि सरंतु ।
मिच्छत्त-विसम-रसपाणतत्तु   णउ कहमवि जिणवरधम्मु पत्तु ।
अहवा वि पत्तु णउ मुणइँ तत्तु   विहलउ हारइ पुणु ता णरत्तु ।
रयणु व्व दुलहु सावयहु जम्मु   महपुण्णेँ मइँ लद्धउ सुकम्मु ।
भो पंडिय सिरिपासहु चरित्तु   पभणहिँ हउँ सुणमि सु-एयचित्तु ।
ते सवण जि सुणहिँ जिणिंदवाणि   संदेहु किं पि मा चित्ति ठाणि ।

घत्ता—इय साहुहु वयणेँ वियसियवयणेँ पंडिएण हरिसेप्पिणु ।
तेँ कव्वरसायणु सुहसयदायणु पारद्धउ मणु देप्पिणु ॥ ८ ॥

[१-९]

आयण्णहु थिरु मणु धारेप्पिणु   संकप्पु वियप्पु [वि] छंडेप्पिणु ।
जिह सेणियहु गणेसेँ भासिउ   मण-संदेह-सल्लु णिण्णासिउ ।

हो गया है, दुर्जन एवं मूर्ख लोग, जो दोषोंका ग्रहण करनेवाले हैं, पृथिवीमण्डलपर प्रचुरतासे विद्यमान हैं और इधर मैंने अनुरागपूर्वक पार्श्वनाथ प्रभुको प्रणामकर सुन्दर काव्यरचनामें अपना आग्रह बांधा है। तुम शास्त्रकुशल हो, अतः जन्म-मरणसे तार देनेवाले श्री पार्श्वनाथ चरितके भारको धारण करो।"

घत्ता—उसके (रइधू के) वचन सुनकर, मनमें पुलकित होकर खेऊ साहूने पुनः उससे कहा—"अखण्डित शीलसे युक्त हे रइध पण्डित, तुमभी मेरा एक वचन सुनो" ॥ ७ ॥

[१-८]

ग्रन्थकार द्वारा 'पासणाहचरिउ' का प्रणयन-प्रारम्भ

"अपने घरमें उत्पन्न कल्पवृक्षके सुखद फलको कौन नहीं चाहता ? यदि पुण्यकर्मसे कामधेनु प्राप्त हो जाय तो अपने घरमें मात्र धूलि उड़ाने वाले हाथी को कौन आश्रय देगा ? उसी प्रकार तुमने मेरे प्रति स्वयं ही कृपा की है। हे (कविवर), आज मेरा जीवन सफल हो गया। तुम धन्य हो, जिसका चित्त इस प्रकारका (उदार) है (तथा) जिसने दुर्लभ कविगुणको प्राप्त किया है। यह अज्ञानी जीव मोहवश अनन्तकाल तक संसारकी विविध योनियोंमें भटकता रहता है। किसी भी प्रकार (वह) मनुष्य-जन्म प्राप्त नहीं कर पाता। यदि प्राप्त भी कर लिया, तो कुकर्मको प्रकट करता है। बालपनमें (वह) अभक्ष्यका सेवन करता है, अनेक बार पृथिवी पर रेंगता है और अनन्त दुखोंको सहता है। जिस किसी प्रकार जब वह तारुण्यको प्राप्त करता है तो कामदेवके वशीभूत होकर पापकर्मका सेवन करता है, उचित-अनुचित का भी भेद नहीं जानता। न तो शास्त्रका और न अरहन्तदेवका ही स्मरण करता है। "धन-धन" ऐसा करके खिन्न होता हुआ दशों दिशाओंमें भटकता-फिरता है। परसे भिन्न चेतनका कभी भी ध्यान नहीं करता। लोभमें बँधकर असत्य भाषण करता हुआ परधन एवं परस्त्रियोंका मनमें स्मरण करता हुआ, मिथ्यात्व रूपी विषम-रसके पानमें तृप्त होता हुआ (वह) किसी भी प्रकार जिनधर्मको प्राप्त नहीं करता। अथवा यदि उसे प्राप्त भी कर लिया तो फिर तत्त्व नहीं जानता। (मोहके कारण) विफल होकर मनुष्यताको पुनः हार जाता है। श्रावक-कुल समुद्रमें गिरे हुए रत्न-प्राप्तिके समान ही दुर्लभ है, किन्तु महान् पुण्यकर्मसे मुझे सत्कर्म प्राप्त हुआ है। हे पण्डित, तुम पार्श्वनाथ-चरित कहो, मैं उसे पूर्ण एकाग्रचित्त होकर सुनूंगा। (क्योंकि) श्रवण वे ही हैं जो जिनवरकी वाणी सुनते हैं। इस विषयमें अपने हृदयमें कोई सन्देह मत करो।"

घत्ता—साहूके इस प्रकार वचन सुनकर रइधूने प्रसन्नमुख तथा हर्षित होकर सैकड़ों प्रकार के सुखोंको देने वाले अपने काव्यरूपी रसायनको मन देकर (भावपूर्वक) आरम्भ किया (और कहा) ॥ ८ ॥

[१-९]

काव्य-रचना प्रारम्भ—काशीदेश-वर्णन

"(हे खेऊ साहू) अपने मनके समस्त संकल्प-विकल्प छोड़कर तथा मनको स्थिरकरके सुनो। जिस प्रकार गणधरने मनके सन्देहरूपी शल्यको दूर करने वाला यह चरित श्रेणिकको सुनाया

तह पुणु हउँ अक्खमि णियसत्तिए दुरियविणासणत्थि बहुभत्तिए ।
इह जंबूदीवइ सुरभूहरि दाहिणभरहवासि लच्छीहरि ।
कासी णाम देसु तहिँ सुहयरु णं महि जुवइहिँ सुहपोसणवरु ।
जहिँ गोउलधवलंग चरहिँ कणु कोइ ण लुणइँ ताहँ कज्जें तणु ।
जहिँ गहवइ-सुय सुय-गणु वारइ सो जि ताहँ पडिसद्द[1] जि धारइ ।
पंथिय पंथखेउ णउ जाणहिँ मणइंछिय णाणासुह माणहिँ ।
जहिँ गोवालिय दहिउ ण मंथहि देसियाहँ पोणहिँ थिय पंथहि ।
किं वण्णमि सुरहँ वि मणि वल्लहु सोलहमत्तपमाणु अडिल्लहु ।

घत्ता—तहिँ जणमणहारी सुरहँ पियारी वाणारसि-णयरी वसए ।
रयणेहिँ पमंडिय वइरि-अखंडिय गेहहिँ णं सग्गउ हसए ॥ ९ ॥

[१-१०]

अस्ससेणु णामें तहिँ णरवरु णियकुलकमलायरु णं णेसरु ।
लायण्णें गंभीरें सायरु णिहिल-कलायरु णाइँ णिसायरु ।
परिपुण्णावयमंडियविग्गहु अरिवराहँ रणि जिं किउ णिग्गहु ।
णं महिवीढि धम्मु अवयरिउ णं जयलच्छिए णव वरु धरियउ ।
किं वण्णमि जो तिहुवणणाहहो जणणु हवेसइ केवलबोहहो ।
तहु तिय वम्मएवि सुवल्लह रयणणिही विव सव्वहँ दुल्लह ।
पाणि-पाय-तल-रत्त-सुहंकर रणरणंति णेउर णं किंकर ।
णिवमंति व गुंफहि गुंफत्तणु जंघजुवलु णं खलमित्तत्तणु ।
पिहुल णियंबु वि कडियलु झीणउ णं सिहिणहु भरेण हुउ खीणउ ।
भुयजुयमाणं मालसमाणउँ णं जिणवर-पय-अंचणठाणउँ ।
मुहमंडलु ससिमंडल-तुल्लउ जणु जोवइ पुणु-पुणु मणि भुल्लउ ।
सीस-चिहुर कुसुमहँ भरसोहिय गंधलुद्धछप्पयसंमोहिय ।

---

१. क ख—पडिसद्दु ।

था, उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्तिके अनुसार तथा अतिशय भक्तिसे (ओतप्रोत होकर अब) इस पापनाशक पार्श्वनाथ चरितको कहता हूँ।"

इसी जम्बुद्वीपमें सुमेरु-पर्वतके दक्षिणमें लक्ष्मीके घरके समान भारतवर्षमें काशी नामक सुखकर देश है, जो मानों, पृथिवी रूपी युवतीका सुखपूर्वक पोषण करने वाला वर ही हो। जहाँ शुभ्र वर्ण वाले गोसमूह धान्यकण चरा करते हैं। वहाँ कोई भी उनके लिये (गायोंके लिये) तृणनहीं काटता। जहाँ कोई कृषक-कन्या (तो) शुक-समूहको भगाती है, (किन्तु) वह शुक-समूह अपने कलरवमें ही मानों उसीकी प्रतिध्वनिको धारण करता है। पथिक-जन मार्गकी थकावट नहीं जानते। वे मनोवाञ्छित नाना प्रकारके सुखोंका अनुभव करते हैं। जहाँ गोपवधुएँ दधिमन्थन नहीं किया करतीं अपितु मार्गमें खड़ी रहकर दूरदेशके पथिकोंको (अपनी रूप-राशिसे) प्रसन्न किया करती हैं। मैं (और अधिक) क्या वर्णन करूँ? वह काशीदेश देवताओंका भी मनोवल्लभ है। यह (वर्णन) सोलह मात्रा प्रमाण अडिल्ल-छन्द (में किया गया) है।

घत्ता—उस काशी देशमें जनमनोहारी तथा देवोंके लिये प्रिय वाराणसी नामकी नगरी स्थित है, जो रत्नोंसे अलंकृत है, बैरियों द्वारा अखण्डित है, (और जो) अपने भवनोंकी शोभासे मानों स्वर्गका उपहास करती है ॥ ९ ॥

[१-१०]

वाराणसी नगरीका वर्णन

उस वाराणसी नगरीमें अश्वसेन नामक एक राजा (राज्य करता) था, जो अपने कुलरूपी कमलोंके लिये नेसर (दिनकर) के समान, तथा लावण्य और गम्भीरतामें समुद्रके समान था। निशाकरके समान जो समस्त कलाओंका आकर था, जो परिपूर्ण आवर्त्त (शारीरिक चेष्टा विशेष) से मण्डित शरीर वाला था, जिसने रणक्षेत्रमें पराक्रमी शत्रुजनोंका निग्रह किया था और जो ऐसा था, मानों पृथिवी पर धर्म ही अवतीर्ण हो गया हो अथवा मानों जयलक्ष्मीने नवीन वर ही धारण कर लिया हो (उस) अश्वसेन राजाका मै (और अधिक) क्या वर्णन करूँ? वह केवलज्ञानरूपी भुजाके धारी एवं तीनों लोकोंके स्वामी-पुत्रका पिता होगा। उसकी रत्ननिधिके समान सभीको दुर्लभ एवं अत्यन्त प्रिय वामादेवी नामकी पट्टरानी थी, जिसकी हथेलियाँ और चरणतल रक्तवर्णवाले एवं सुखकारी थे। (उसके द्वारा चरणोंमें धारण किये हुए) नुपूर इस प्रकार रणझण किया करते थे, मानों (वे उसके) आज्ञापालक किंकर ही हों। उसकी गुल्फोंकी गूढ़ता नृपके मंत्रीके समान गूढ़ थीं, उसकी दोनों जांघें खलकी मैत्रीके समान सम्पृक्त थीं, नितम्ब विशाल एवं कटिभाग क्षीण था, मानों जिनवरके चरणोंकी पूजाके स्थान ही हों। उसका मुख-मण्डल चन्द्रमण्डलके समान था जिसे लोग बार-बार इस प्रकार देखते थे मानों भूली हुई (किसी) मणिको खोज रहे हों। कुसुमोंके भारसे शोभित उसका केशपाश गन्धके लोभी भौंरोंको मोहित कर रहा था।

घत्ता—तहिँ वि णरवालिहिँ तणु कुसुमालिंहि को वण्णइ इह रूउ गुणु ।
णियणाहसमाणी लोय-पहाणी रज्जु भोउ विलसेइ पुणु ॥ १० ॥

इय सिरिपासणाह चरियमइत्थवस्स अप्पिउसुणिहाणे सिरिपंडियरयधूविरइए सिरिमहाभव्व-खेऊसाहुणामंकिए णामणिद्देसवण्णणो णाम पढमो संधि-परिच्छेओ समत्तो । संधी—१

य: सिद्धान्तरसायनैकरसिको भक्तो मुनीनां सदा
दानेनैव चतुर्विधेन विधिना संघस्य संयोजकः ।
जानात्येव विशुद्धनिर्मलमतिर्देहात्मनोरन्तरम्
स: श्रीनन्दतु नन्दनैः सममहो क्षेमाख्यसाधुः क्षितौ ॥

●

घत्ता—अश्वसेन नरपालकी फूलोंके समान सुकोमल शरीरवाली उस वामादेवीके रूप-सौन्दर्यका वर्णन कौन कर सकता है ? लोकमें प्रधान वह रानी अपने प्रियतमके साथ राज्य-भोगोंको भोगने लगी ॥ १० ॥

इस प्रकार श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित श्रीमहाभव्य खेऊ साहूके नामसे अंकित, आगमके अर्थको समझनेके लिए नेत्रके समान श्रीपार्श्वनाथ पुराणके अन्तर्गत 'नामनिर्देशवर्णन' नामक प्रथम सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ । सन्धि—१ ।

सिद्धान्तरूपी रसायनमें एकमात्र रसिक, मुनियोंका निरन्तर भक्त, विधिपूर्वक चतुर्विध-दानसे संघका संयोजक, विशुद्ध एवं निर्मल बुद्धिसे देह एवं आत्माके अन्तरका जानकार वह खेऊ साहू अपने सुपुत्रोंके साथ पृथिवी-मण्डल पर सुखी रहे ॥ १ ॥

●

संधि—२

[२-१]

घत्ता

ता सग्गि सुरेसहो खणि रिद्धीसहो जाउ आसणाकंपु तहो।
तें अवहिए जाणिवि अच्छ पमाणिवि जंपिउ गंपि णिहीसरहो ।। छ ।।

भो धणय जक्ख अवहारि-दक्ख।
इह भरहवासि कासीणिवासि।
वाणारसीहिं जण-मण-हरीहिं।
अससेणगेहि णं सरय-मेहि।
सिरिपासणाहु होहीइ वाहु।
तहिं जाहि सिग्घ सोहामहग्घ।
करि अप्पसत्ति जिणणाहभत्ति।
अरु मणिणिहाउ वरसहि सराउ।
तहु सुणिवि वाय पणवेवि पाय।
तहिं धणउ आउ पयडियसहाउ।
किय णयरसोह जण-मण-णिरोह।
पुणु वरसुवण्णु वरसेइ धण्णु।
सुहिसयणविंद पूरिय अणिंद।
णउ दव्वहीण तहँ के वि हीण।
णउ रोय-दुक्खु णउ पुणु दुभिक्खु।
धणकंचणड्ढु सव्व जि वियड्ढु।
इह अट्ठमत्त दुवई पउत्त।

घत्ता—पुणु इंदाएसें आयविसेसें सिरि-हिरि-दिहि-कित्तिपमुहा।
जहिँ जिणवरजणणी चंदावयणी णिवसइ गिह-सिहरहिँ समुहा ।। ११ ।।

[२-२]

णवेप्पिणु ता हि पइरहिँ थोत्तु सुधण्णउ देवि तुहारउ गोत्तु।
जएहिं जयत्तयसामिय माय सुरासुरणियरहँ वंदियपाय।
कुलग्गिहदीवसिहेव पयास णिहाण महावसुहग्गविलास।
तियाहँ वि सव्वहँ तुम्ह पहाण ण कोइ वि महियलि होइ समाण।
थुवेवि पुणू-पुणु णवियसिरेण तहिँ पुणु णिवसहिँ भत्तिभरेण।

सन्धि—२

[२-१]

पार्श्वप्रभुका गर्भकल्याणक एवं कुबेरका वाराणसी आगमन

तब स्वर्गमें ऋद्धिधारी सुरेश्वरका तत्क्षण ही आसन कम्पायमान हुआ। उसने अपने सुमेरु पर्वत प्रमाण अवधिज्ञानके बलसे (भगवान पार्श्वको पृथिवी-मण्डल पर आया हुआ) प्रत्यक्ष जानकर (शीघ्र ही) कुबेरसे जाकर कहा :—

"परित्याग करनेमें दक्ष हे कुबेर यक्ष, इसी भरतक्षेत्रके काशी देशमें लोगोंके मनको हरण करने वाली वाराणसी नगरी स्थित है, जो ऐसी लगती है मानों शरत्कालीन मेघके समान (धवल) हो। वहाँ राजा अश्वसेनके घरमें दीर्घबाहु पार्श्व प्रभु जन्म लेंगे। तुम उस स्थान पर शीघ्र ही जाओ और महान् शोभा करो। वहाँ आत्मशक्ति भर जिननाथकी भक्ति करो और अनुराग पूर्वक रत्ननिधिका वर्षण करो।" सुरेश्वरकी आज्ञा सुनकर (तथा) उसके चरणोंमें प्रणाम कर कुबेर वाराणसी आया और अपना स्वभाव प्रकट करते हुए लोगोंके मनको आकृष्ट करने वाली नगरकी शोभा की। फिर उसने श्रेष्ठ स्वर्ण और धनकी वर्षा की। सुहृद और सज्जनगण सुखी होकर आनन्दसे भर गये। (वहाँ) कोई भी द्रव्यहीन (दरिद्र) नही रहा और न कोई अनाथ ही। न रोग रहा और न दुख और न किसी प्रकारका दुर्भिक्ष ही। सभी पण्डितजन धन-काञ्चनसे समृद्ध हो गये। यह (वर्णन) आठ मात्राओंसे युक्त द्विपदी-छन्द (में) कहा गया है।

घत्ता—पुनः इन्द्रके विशेष आदेशसे श्री, ह्री, धृति, कीर्त्ति प्रमुख देवियाँ वहाँ आईं, जहाँ जिनवरकी चन्द्रवदनी जननी, गृहशिखरमें सुखपूर्वक निवास करती थीं॥ ११ ॥

[२-२]

इन्द्राणी द्वारा वामादेवीकी विविध सेवाएँ

इन्द्राणीने वहाँ पहुँचकर तथा नमस्कार कर स्तुति की और कहा—"हे देवि, तुम्हारी कोख सुधन्य है, जो तीनों लोकोंके विजेता स्वामीकी माता बननेवाली है, (जो) सुरों एवं असुरोंके समूहसे वन्दित चरणकमलवाला, कुलगृहके लिये दीपकी शिखाके समान प्रकाशवाला (एवं) महान् वसुधाके श्रेष्ठ विलासोंके निधान स्वरूप है। सभी महिलाओंमें (मात्र) तुम्हीं प्रधान हो, इस पृथिवीतलपर कोई भी (तुम्हारे) समान नहीं है।" (इस प्रकार माता वामादेवी की) नतसिर होकर बार-बार स्तुति करके (वे शचियाँ) भक्तिभावसे युक्त होकर वहीं (वामादेवीकी)

उवट्टहिँ के वि सुवट्टवहिँ ताहि सु-खीरसमुद्दहिँ केइ वि जाहि।
ण्हवावहिँ आणिवि तोउ विसुद्ध घणागमु वरिसइ णाइँ सबुद्ध।
समप्पइ का वि सुणिम्मलवत्थ सुकेइ वि आहरणाइँ पसत्थ।
कुरेहरवालिय मालइमाल सँवारहि सीसि पएसि रसाल।
कवोलि लिहेइ सु कावि विचित्तु सुगीयहिँ मोहइ ताहे विचित्तु।
करेण वि दावइ दप्पणु का वि लिवेइ सुचामर पासिहि थावि।
पयच्छहिँ अमयरसायणु भोज्जु पयासहिँ केइ वि णिच्चि जि चोज्जु।
णिरंतर दिंति जहिच्छयभोय जि दुल्लह वुच्चहि एत्थ जि लोइ।
गया छहमास जि एण विहीए पुणोणहिँ वासरि जाय विहीए।
जगण चउक्क सुमोत्तियदामु पयासिउ लोयहँ चित्तहँ रामु।

घत्ता—कुल-गिह-सर-हंसिणि कुरिय-विहंसिणि वरपल्लंकि पसुत्तिय।
सुरजुवइहिँ सेविय वम्मादेविय णिब्भरणिद्दए भुत्तिय॥ १२॥

[२-३]

ता पच्छिमरयणिहिँ सुहफलिया पेच्छइ सा पुणु सुइणावलिया।
दिट्ठउ गइंदु वासियसवणो ससिणिहु चउदंतु पयंड[द]सणो।
ढिक्कारु मुयंतउ धुरधरणो विसहु वि दिट्ठउ सुहसयकरणो।
दिट्ठउ उग्गामियकरणहरो गुंजारुणच्छि मयपाणहरो।
जयवल्लहलच्छी पुणु णियए वरकुसुमदामछप्पयहियए।
परिपुण्णु कलायरु अमियधरो भायरु वि विणासिय तिमिरभरो।
तिमिजुयलु वि कीलंतउ वहहे पल्लवसोहियघडजुम्मु णहे।
अण्णु वि कमलायरु जलविमलु रयणायरु जलयरउल-चवलु।
पंचाणणपीढु वि रयणमओ सक्कहु विमाणु पुणु लद्ध हुओ।
णायालउ बहुसोहाइ जुवं पुणु रयणपुंजु अच्छरियभुवं।
णिद्धूम अवंक वि सिहिहि रइडा णामा पद्धडिय इहा।

घत्ता—इह पेच्छि विबुद्धा उट्ठिय मुद्धा जिणु जयकारिवि सीलधरा।
पुणु सोह समारिवि तणु सिंगारिवि गय हयसेणहु पासि परा॥ १३॥

सेवामें निवास करने लगीं। उनमेंसे कोई तो उसका सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंसे उबटन करती थीं, कोई-कोई- शचि क्षीरसागर जाती थीं और वहाँसे विशुद्ध जल लाकर उसे स्नान कराती थीं। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानों वर्षाकाल दुग्धकी वर्षाकर रहा हो। कोई सुन्दर-सुन्दर निर्मल वस्त्र प्रदान करती थी, तो कोई प्रशस्त आभरण पहनाती थी। कोई सिरके केशपाशोंको द्विरेफ या भ्रमरकी आवाज सहित मालती-पुष्पकी मालासे रसाल मस्तक प्रदेशको सँवारती थी। कोई-कोई कपोलोंपर सुन्दर चित्र लिखती थी तो कोई सुन्दर गीतोंसे उसका चित्त मोहित करती थी। कोई (अपने) हाथसे दर्पण दिखाती थी (तो) कोई पार्श्वमें स्थित होकर सुन्दर चँवर ढुराती थी। कोई अमृत-रसायनसे युक्त भोजन समर्पित करती थी (तो) कोई नित्य नये आश्चर्य प्रकट करती थी। वे उसे निरन्तर ऐसे भोग (सुख-साधन) प्रदान करती थीं जिन्हें इस लोकमें दुर्लभ कहा जाता है। इस विधिसे छह मास व्यतीत हो गये और पुनः उसने अत्यन्त धैर्यपूर्वक अवशिष्ट दिवस भी व्यतीत कर दिये। यह चार जगणवाला सुमौक्तिकदाम (छन्द) कहा गया है, जो लोगोंके चित्तको आनन्ददायक है।

घत्ता—कुलगृहरूपी सरोवरके लिये हंसिनीके समान तथा पापोंका विध्वंस करने-वाली, देवांगनाओं द्वारा सेवित तथा उत्तम पलंगपर लेटी हुई वह वामादेवी प्रगाढ निद्राके वशीभूत हुई ॥१२॥

[२-३]

वामादेवी द्वारा सोलह स्वप्नदर्शन एवं पति अश्वसेनसे उनकी चर्चा

तदनन्तर उसने पश्चिम रात्रिमें सुखद फल प्रदान करने वाली स्वप्नावली देखी। सर्वप्रथम (उसने) सुगन्धित कर्णोंसे युक्त, चन्द्र किरणोंके समान स्वच्छ चार धवल दाँतों वाले एवं प्रचण्ड गर्जन करने वाले गजेन्द्रको देखा। (फिर) ढिक्कार छोड़ते हुए, विशाल कांधौरवाले तथा सैकड़ों प्रकारके सुख देनेवाले वृषभको देखा। (पुनः) अपने नाखून वाले पंजोंको ऊपर उठाए हुए, घुंमचीके समान अरुण नेत्र वाले, एवं मृगोंके प्राणोंका हरण करने वाले एक मृगेन्द्रको देखा। (तत्पश्चात्) जगवल्लभा लक्ष्मीको अपने समीप देखा तथा भ्रमरोंसे युक्त श्रेष्ठ पुष्पमालाको देखा। (तदनन्तर) अमृतको धारण करने वाला परिपूर्ण कलाकर, तिमिरके भारका नाशक भास्कर, सरोवरमें क्रीड़ा करते हुए मीन युगल तथा आकाशमें पल्लव शोभित घटयुगलको देखा। और भी, विमल जलसे युक्त कमलाकर, जलचर समूहोंसे चपल रत्नाकर, रत्नमय सिंहासन एवं आता हुआ शक्र-विमान (देखा)। बहुशोभासम्पन्न नागालय, आश्चर्य चकित करने वाला रत्नपुञ्ज, निर्धूम एवं सीधी शिखा वाली अग्नि देखी। यह 'रड्डा' नामक पद्धड़ी छन्द है (जिसमें सोलह स्वप्नोंका वर्णन किया गया है)।

घत्ता—ये स्वप्न देखकर प्रबुद्ध (चित्त) होकर शीलवती वह मुग्धावामा जिन भगवानकी जय-जयकार करके उठी और अपनी शोभा सँवारकर तथा शरीरका शृंगार कर अश्वसेनके पास गई॥ १३॥

[२-४]

पणवेवि सिद्धु जं रयणि दिट्ठु पुणु तहु फलु अक्खइ गुणवरिट्ठु ।
सुंदरि तुव होसइ पुत्तु संतु जो भव-भुवंग-विस-गरुड-मंतु ।
करिणा वि गुरहँ गुरु णाण-गेहु वसहेँ अतुलियबलसत्तिगेहु ।
सीहेँ णिव्वाहइ सीलभारु जो अण्णहु सहु संसारतारु ।
सिरिदंसणि समसरणंतवासि दामहु जुवलें वरजसपयासि ।
चंदेण कलायरु कंतरासि भायरेण वि लोयालोयभासि ।
तिमिजुवलेँ कीलइ तवविलासु घडजुम्में णवणिहि-सिरिणिवासु ।
कमलायरेण सिवसुक्खठाणु रयणायरेण सव्वहँ पहाणु ।
कणयासणेण तिल्लोयधीसु इंदहु विमाणि सेवइ सुरेसु ।
णायालेण णं इंदु वि णमेइ रयणहु पुंजेँ सिवसिरि रमेइ ।
जलणहु सिहाइ कम्मेंधणाइँ णिद्दहइ णाहु णिरु अइघणाइँ ।
अण्णु वि पिए जं हुय रयणविट्ठि सा पुणु तुव पुत्तहो पुण्णसिद्धि ।

घत्ता—इय णाहहु भासिउ सवणसुहासिउ हरिसिउ वम्माएवि मणि ।
अण्णहिँ दिणि णाहेँ समउ अबाहेँ रयणि पसुत्तिय मणिसयणि ।। १४ ।।

[२-५]

जा णाहसमाणी वम्मदेवि वरसुहु विलसइ सुरजुवइ सेवि ।
तावहिँ संसारविणासणाइँ भावेप्पिणु सोलहभावणाइँ ।
तित्थयरगोत्तु बंधेवि आसि हुउ वइजयंति-सुरु तेयरासि ।
बत्तीसंबुहि भुंजेवि आउ वम्मादेविहि सो गब्भि जाउ ।
वइसाह-किण्ह-बीयम्मि णाहु अवयरिउ णिरंजणु विगयबाहु ।
जिम जलहु मज्झि संचरइ चंदु गब्भहम्मि तेम सुर-खयर-वंदु ।
सग्गहु आवेप्पिणु गब्भपुज्ज सुरवरेहिँ विणिम्मिय जयमणोज्ज ।
पणविवि देविहि गय सग्गवासि जक्खेस वि वरिसइ रयणरासि ।
णवमासि हूव पुण्णु गब्भि तासु मुहु पंडुरु णं तहु जसपयासु ।
उवरहु णीसरइ जिणेसु केम जलहरपडलाउ दिणेसु तेम ।
पूसहु एयारसि किण्ह-पक्खि जिणणामु जाउ सुहणामरिक्खि ।

[२-४]

अश्वसेन द्वारा स्वप्नदर्शन-फलका वर्णन

(वामाने राजाको) प्रणाम करके रात्रिमें जो देखा था उसे यथावत् कहा। गुणश्रेष्ठ उस (अश्वसेन) ने भी (वामाको) उन (स्वप्नों) के फलोंको इस प्रकार बताया—"हे सुन्दरि, तुम्हारा पुत्र सन्त होगा; जो भवरूपी भुजंगके विषके लिये गारुडिक मन्त्रके समान होगा। [1]हाथीके स्वप्नदर्शन (का यह फल है कि उस) से वह गुरुओंका गुरु एवं ज्ञानका सागर होगा। [2]वृषभके देखनेका फल यह है कि वह अतुलितबल एवं शक्तिका घर होगा। [3]सिंहके दर्शनके फलस्वरूप वह (यौवन) कालमें भी शीलके भारका निर्वाहक एवं दूसरोंके साथ संसारको पार उतारने वाला होगा। [4]लक्ष्मीके दर्शनसे वह समवशरणमें निवास करेगा, [5]युगल पुष्पमालाके दर्शनसे वह श्रेष्ठ यशरूपी प्रकाशसे युक्त होगा। [6]चन्द्रदर्शनसे वह समस्त कलाओंका स्वामी होगा। [7]भास्कर दर्शनसे वह लोकालोकको प्रकाशित करेगा। [8]मीनयुगलके दर्शनसे वह तप-विलासमें क्रीड़ा करेगा। [9]घटयुगलके दर्शनसे वह नवनिधि रूपी लक्ष्मीका निवास स्थल बनेगा। [10]कमलाकरके दर्शनसे वह शिवसुखका स्थान होगा। [11]रत्नाकरदर्शनसे वह सर्वप्रधान होगा। [12]स्वर्णासनके दर्शनसे वह त्रैलोक्यका स्वामी बनेगा। [13]इन्द्रविमानके दर्शनसे वह इन्द्र द्वारा सेवित होगा। [14]नागालयके दर्शनके फलस्वरूप (वह ऐसा महान् होगा कि) इन्द्र भी उसे प्रणाम करेगा। [15]रत्नपुञ्जके दर्शनसे वह मोह लक्ष्मीसे रमण करेगा। [16]अग्निशिखाके दर्शनसे वह नाथ अत्यन्त घने कर्मरूपी ईंधनोंको विशेष रूपसे जलायगा। अन्य भी, हे प्रिये, जो रत्नवृष्टि हुई है वह तुम्हारे पुत्रकी पुण्यसृष्टि ही है।"

घत्ता—इस प्रकार (अपने) नाथके द्वारा कहे गये श्रवण-सुखद स्वप्नफलसे वामादेवी अपने मनमें हर्षित हुई। अन्य दूसरे दिन वह अपने नाथके साथ रात्रिमें मणिनिर्मित शैया पर अबाध रूपसे सोई॥ १४॥

[२-५]

वामादेवीकी कोखसे तीर्थङ्कर-पुत्रका जन्म

देवाङ्गनाओं द्वारा सेवित वह वामादेवी (उस रात्रिमें) अपने स्वामीके साथ श्रेष्ठ सुखोंका भोग करने लगी। भव-भ्रमणका विनाश करने वाली सोलह-भावनाएँ भाकर, तीर्थङ्कर-गोत्रको बाँधकर एवं वैजयन्त-स्वर्गमें तेजोराशि वाला जो देव हुआ था, वही बत्तीस सागरकी आयु भोगकर वामादेवीके गर्भमें आया। वैशाख कृष्ण द्वितीयाके दिन निरञ्जन एवं बाधारहित होकर पार्श्वप्रभु (गर्भमें) अवतरित हुए। जिस प्रकार जलके मध्यमें भी चन्द्रमा (निःसङ्ग रूपसे) सञ्चार करता है, उसी प्रकार गर्भमें भी सुरों एवं खेचरोंसे वन्दित वह गर्भमें रहता था। सुरवरोंने स्वर्ग से आकर संसारके लिये सर्वलोकप्रिय गर्भकी पूजाका आयोजन किया। फिर वे वामादेवीको प्रणाम कर अपने निवास स्थान स्वर्ग चले गये। यक्षेन्द्रने भी रत्नराशिकी वर्षा की। (इस प्रकार) जब गर्भ नौ मासका पूर्ण हो गया तब उस (वामादेवी) का मुख इस प्रकार पीतवर्णका हो गया मानों वह उस गर्भके यशका प्रकाश ही हो। माँ के उदरसे जिनेश्वर किस प्रकार निकले ? ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार मेघपटलसे दिनकर। पौषमासके कृष्णपक्षकी एकादशीके दिन शुभ नक्षत्रमें

चिंतामणि णं उप्पण्णु लोइ णं जसहु पुंजु थिउ पयडु होइ ।
णं सहसकिरणु सुरवरबिसाइँ णं ससहरु पुणु चंदिणि णिसाइँ ।
णं सुरतरुअंकुरु कुरुमहीए तिम जिणवरु जायउ सुहमहीए ।

घत्ता—जिणणाहहु जाएँ पयडियराएँ सयलु लोउ आणंदियउ ।
दिवसेसहु दंसणि तिमिरविहंसणि णं कमलायरु णंदियउ ॥१५॥

[२-६]

सुरवराहँ कंपिय सिंघासण कप्पि-कप्पि जाया घंटासण ।
जोइसियाहँ सिंघ पुणु गज्जिय वेंतराहँ गिहि पडह वियज्जिय ।
संख-सद्द भावणहँ वि जायउ जिणजम्मुच्छउ सव्वहिँ णायउ ।
सुरवइणा णाणेँ पुणु मुणियउ सत्तपाइ जाइवि जिणु थुणियउ ।
पुणु आसणि णिविट्ठु सुरवरपहु अइरावउ गउ तेँ चिंतिउ लहु ।
ताम पत्तु मंदरसंकासउ धवलिमाइ णं अमयणिवासउ ।
गुमुगुमंत अलिविंदरवालउ गिज्जावलि बहुघंटमुहालउ ।
सउसहस्स जोयण तणु मालउ कंदरणिह सउमुहहिं पहाणउ ।
दंत-मुसल मुहि-मुहि अइसोहिय दंति-दंति सइ-सरवरि बोहिय ।
पंचवीस पुडइणि पुणु पडिसरु सउसवाइ एक्केक्कहि सिरिघरु ।
कमलि-कमलि वरकंति सइत्तइँ अट्ठोत्तरु सउ भासिय पत्तइँ ।
पत्ति-पत्ति अच्छरगणु णच्चइ तहि आरुहिवि सुरेसरु वच्चइ ।

घत्ता—जा चल्लिउ कोसिउ मणसंतोसिउ तासु [सुरा] खणि धाइयउ ।
णिय-णिय आवासहो सुहसइवासहो णहयलि कहिमि ण माइयउ ॥१६॥

[२-७]

चउविहसुरेहिँ णहमग्ग गुच्छण्णु थुव्वंति जाहिँ जिणणाह-पुण्णु ।
धण्णउ परमेसरु णरवरो वि सु चलणइँ वंदइ सुरवरो वि ।
बहु-भत्ति-भार-पेरिय-अगव्व गच्छंति सुरासुर णहेण सव्व ।
णिय-णियवाहण आरूढ देव पयडंति जिणेसहु भूरि सेव ।
ते गच्छमाण अणमिस सुवत्त वाणारसिपुरि खणि आइ पत्त ।
वर-रयण-माललंकियदुवार परियंचिवि णयरि तिण्णि बार ।

(पार्श्व) जिनेन्द्रका जन्म हुआ मानों संसारमें चिन्तामणि (नामक रत्न) ही उत्पन्न हुआ हो अथवा मानों यशका पुञ्ज ही प्रकट होकर स्थित हुआ हो या मानों पूर्व दिशामें सूर्य ही उदित हुआ हो अथवा चाँदनी रात्रिमें चन्द्रमा उदित हुआ हो अथवा मानों कुरुभूमिमें कल्पवृक्षका अङ्कुर ही उत्पन्न हुआ हो। उसी प्रकार उस शुभमति वामाके गर्भसे जिन भगवान् उत्पन्न हुए।

घत्ता—जिननाथके उत्पन्न होने पर समस्त लोक भक्ति भावसे भरकर आनन्दित हो उठा मानों तिमिरनाशक सूर्यके दर्शनसे कमलाकर ही खिल उठा हो ॥ १५ ॥

[२-६]

देवों द्वारा तीर्थङ्करका जन्मोत्सव प्रारम्भ

सुरवरोंका सिंहासन कम्पित हो उठा। कल्प-कल्पमें घण्टोंकी ध्वनि होने लगी और ज्योतिषी देवोंके यहाँ सिंहगर्जना होने लगी। व्यन्तर देवोंके घरोंमें पटह बज उठे। भवनवासी देवोंके यहाँ शङ्खोंके शब्द होने लगे। (इस प्रकार) जिन भगवान्‌का जन्मोत्सव सभीको ज्ञात हो गया। सुरपतिने अपने (अवधि) ज्ञानसे इसे (भगवान्‌के जन्मोत्सवको) जान लिया (और) सात पैर आगे बढ़कर जिन-स्तुति की। फिर अपने आसन पर बैठे हुए देवेन्द्रने शीघ्र ही अपने ऐरावत हाथीका स्मरण किया और फिर वह मन्दर-पर्वतके समीप पहुँचा, जो अपनी धवलिमामें चन्द्रमाके समान था, अलिवृन्दोंके गुञ्जनसे भरा था और गृद्धपङ्क्तिरूपी अनेक घण्टोंसे मुखर था। वह पर्वत सौ सहस्र योजन प्रमाण तथा कन्दरारूपी सौ मुखोंसे युक्त था। प्रत्येक मुखमें सुशोभित दन्त-मुसल था। प्रत्येक दाँत पर एक-एक सरोवर था और प्रत्येक सरोवरमें नौकाएँ चल रही थीं। पुनः प्रत्येक सरोवरमें पच्चीस-पच्चीस पुरैन (कमल) थे। एक-एक पुरैन पर सवा-सवा सौ श्रीगृह थे। श्रेष्ठ कान्तिपूर्ण एवं विकसित एक-एक कमलमें १०८-१०८ पत्ते थे। पत्ते-पत्ते पर अप्सरागण नृत्य कर रही थीं। उनपर चढ़कर इन्द्र भी गमन कर रहा था।

घत्ता—जब मनसे सन्तुष्ट वह (इन्द्र) एक कोस (आगे) चला उसी क्षण (देवगण) सकड़ों सुखोंके वास स्वरूप अपने-अपने आवाससे (इतनी अधिक संख्यामें) दौड़ पड़े (कि) वे आकाशमें नहीं समाये ॥ १६ ॥

[२-७]

वामादेवीके पास मायामयी बालक रखकर शचिद्वारा शिशु-तीर्थङ्करका अपहरण

पुनः चतुर्विध देवोंसे आकाश मार्ग व्याप्त हो गया। वहाँ पहुँचकर वे जिननाथके पुण्यकी (इस प्रकार) स्तुति करने लगे;—"हे नरश्रेष्ठ, हे परमेश्वर, तुम धन्य हो, इन्द्र भी तुम्हारे चरणोंकी वन्दना करता है।" अत्यन्त भक्तिभारसे प्रेरित एवं निरभिमान होकर सभी सुर एवं असुर आकाश-मार्गसे चले जा रहे थे। अपने-अपने वाहनों पर सवार हुए देवगण जिनेश्वरकी नाना प्रकारकी सेवाको प्रकट किया करते थे। चलते हुए निर्निमेष दृष्टि वाले वे सुन्दर देवगण क्षणभरमें वाराणसी नगरी आ पहुँचे। उत्तम रत्नमालासे अलंकृत द्वार वाली (उस) नगरीकी तीन बार अर्चना (प्रदक्षिणा) करके वे सब अश्वसेनके प्रासादमें आये। इन्द्रके आदेशसे शचि भगवान्

संपाइय हयसेणहु णिवासि इंदाएसें सइ जिणहु पासि ।
पत्तिय ता दिट्ठउ बालु ताइँ गिहमज्झि समुग्गउ सूरु णाइँ ।
पिक्खवि सहुँ जणणिए णविउ णाहु णियमणि मण्णेवि अउव्वु लाहु ।
मायहि मायामउ बालु देवि परमेसरु गिण्हिवि चलिय देवि ।
जिणवरदंसणि विहसिय मुहासु ताइ वि लइ अप्पिउ पिययमासु ।
तेणावि णविवि गिण्हिउ सुवत्तु लक्खण-अणंत-लक्खियउ गत्तु ।
भुयजुयलि अंकिसण्णिहिउ जाम ईसाणसुरेंदें छत्तु ताम ।
संणिहिउ सीसि हरिसियमणेण ता चल्लिउ सुरवरु णहि खणेण ।
पुणु सणंकुमारु माहेंद इंद ढालंति चमर णं किरणचंद ।
अण्णवि णियसत्तिए चउणिकाय ते विउण पयासहिँ जणिय राय ।

घत्ता—जिणरूउ णियंतउ तित्ति ण पत्तउ सहसचक्खु सुरवइ हुवउ ।
जं णाहु णिहालिउ तं मलु खालिउ सहलु जम्मु इहु महु भयउ ॥१७॥

[२-८]

चित्ताधराउ गउ गयणि जाम सत्तसइणउव जोयणाइ ताम ।
तारामंडलु दिट्ठउ फुरंतु णं जिणवर णहपह अणुहरंतु ।
तहु उवरि सुरेसरु जाइ जाम दहजोयण सूरहु खित्तु ताम ।
जोइवि पुणु गच्छइ उवरि सक्कु जोयण असियहँ ससिचक्कु थक्कु ।
संपेच्छिवि जा चल्लेइ इंदु चहु जोयणि ता णक्खत्तबिंदु ।
तहु उवरे जोयण चारि बुद्धु अइकमिउ तेण आयासु सुद्धु ।
सुक्कु वि तइ जोयण उवरि तासु तासुप्परि तेत्तिय गुरुहुँ वासु ।
ता जोयण तिण्णि धरत्ति पुत्तु मुणिणाहें सणि तित्तउ पउत्तु ।
सउ दहउत्तर पुणु जोयणाहं संचारखेत्तु जोइसगणाह ।
अवलोइवि चल्लिउ तियसराउ जिणरूउ णियंतउ सुद्धभाउ ।
णाहहु तणु जोएण णहिकमंतु ता मंदरु दिट्ठउ कणयकंतु ।
खणि तिण्णि तासु बहु रयणवित्त जसु कंदें चित्ताभूमिभित्त ।
जोयणसहस्सु पुणु तहु पमाणु णवणवइ सहास विउड्ढ जाणु ।
तहु उवरि चूलिया हरियवण्ण चालीस जि जोयण मणि रवण्ण ।

घत्ता—बारह अट्ठ चारि वि मणि अवहारिवि आइमज्झिअंतिहि कहिया ।
पिंडत्तु ताइँ इहु तें दिट्ठउ लहु जोयण आयमि णउर हिया ॥१८॥

जिनेन्द्रके पास आई और उसने घरके बीचमें सद्यः उदित सूर्यके समान बालकको देखा। बालकको देखकर माता सहित भगवानको शचिने प्रणाम किया तथा अपने मनमें अपूर्व लाभ समझा। शचि माँ (जननी) के लिये एक मायामयी बालक देकर तथा परमेश्वरको वहाँसे उठाकर चल पड़ी। उस बालकको शचिने जिनवरके दर्शनसे विकसित मुखवाले अपने प्रियतमको अर्पित कर दिया। इन्द्रने भी नमस्कार कर अनन्त सुलक्षणोंसे लक्षित शरीर वाले उस सुन्दर मुखवाले बालकको ले लिया। दोनों भुजाओंसे जब (इन्द्रने उसे) गोदमें उठाया (तब) ईशान सुरेन्द्रने उन पर छत्र तान दिया। मस्तक पर विराजमान कर हर्षित मनसे वह इन्द्र उसी क्षण नभ मार्गसे चला। सनत्कुमार एवं माहेन्द्र स्वर्गके इन्द्र भगवानके ऊपर चन्द्रकिरणोंके समान धवल चँवर ढुराने लगे। अन्य चतुर्निकायके देव भी भक्ति पूर्वक यथाशक्ति अपने (हार्दिक) रागको प्रकाशित कर रहे थे।

घत्ता—जिन भगवान्‌के रूपको देखकर भी इन्द्र जब तृप्त नहीं हुआ तब उसने सहस्रनेत्र धारण कर लिये और उन नेत्रोंसे जब उसने नाथको निहारा तब उसका (कर्म-) मल प्रक्षालित हो गया और उसने सोचा कि 'आज मेरा यह जन्म सफल हो गया' ॥ १७ ॥

[२-८]

तीर्थंकर—शिशुको लेकर इन्द्र आकाश मार्गसे चला

(वह इन्द्र) चित्रा नामक पृथिवीसे ७९० योजन प्रमाण वाले ऊँचे आकाशमें गया। वहाँ (उसने) स्फुरायमान तारामण्डलको देखा मानों वह जिन भगवान्‌के नखोंकी प्रभाका अनुकरण कर रहा हो। सुरेश्वर जब उनके (और) ऊपर गया तब वहाँसे सूर्यक्षेत्र दस-योजन प्रमाण रह गया। उसे देखकर शक्र पुनः उसके भी और ऊपर गया। वहाँ से अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमण्डल स्थित था। उसे देखकर जब वह चला तब (उसने आगे) उसके चार योजन ऊपर नक्षत्र-समूह देखा। उसके (और) चार योजन ऊपर बुध ग्रह था। फिर उसने शुद्ध आकाशका और अतिक्रमण किया तो उसके तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र-ग्रह देखा और उसके इतने ही (अर्थात् तीन योजन) ऊपर गुरु-नक्षत्रका वास था। तत्पश्चात् तीन योजन ऊपर मंगल-ग्रह और फिर मुनियोंके नाथ—जिनेन्द्रने शनि-नक्षत्रको इतने ही ऊपर बतलाया है। इस प्रकार जो ज्योतिषी देवोंका संचार क्षेत्र ११० योजन प्रमाण है उसे देखकर इन्द्र शुद्ध भावसे जिनेन्द्रके रूपको निहारता हुआ (आगे) चला। पार्श्वनाथके तनके साथ आकाश-मार्गमें चलते हुए इन्द्रने स्वर्णमय मन्दर (पर्वत) को देखा, जिसमें नाना रत्नोंसे देदीप्यमान तीन खानें हैं, जिनकी किरणोंसे भूमि और भित्तियाँ चित्रित सी हो जाती हैं। यह एक सहस्र योजन प्रमाण है तथा उसकी ऊँचाई निन्यानवे योजन प्रमाण है। उसके चालीस योजन ऊपर अनेक मणियोंसे रमणीक हरितवर्णकी चूलिकाएँ हैं।

घत्ता—उसके आदि मध्य एवं अन्तमें भक्तिसे नम्र हृदयवाले इन्द्रने चूलिकाओंके (क्रमशः) बारह-बारह, आठ-आठ एवं चार-चार पिण्ड-समूहोंको देखा जो मनको हरण करने वाले हैं तथा लघु योजन विस्तार वाले हैं ॥ १८ ॥

[२-९]

जोयणाइँ पुणु धरिउ धराधरु धरणिहिँ दससहास णिरु वित्थरु ।
चउद्दिस भद्दसालु वणु सुंदरु जोयण पंचसयइँ पुणु मंदरु ।
जाइवि पढमी मेहलि संठिउ णंदणवणु बीयउ तहिँ सिट्ठउ ।
तासु उवरि जोयण पुणु कहियउ बासठिसहस-पंचसय-अहियउ ।
तहि सोमणसु मणहँ सोहिल्लउ वणु णामेँ दिट्ठउ तं भल्लउ ।
पुणु छत्तीससहासेँ उवरेँ पंडुववणु दिट्ठउ सुरणियरेँ ।
जोयणसहसु वज्जमउ सिट्ठउ मेरुहु वण्णु जिणेंदेँ दिट्ठउ ।
पुणु इकसट्ठिसहासइ मणिमउ तह अडतीससहस कणयंगउ ।
भद्दसालवणहु जि आयामउ पुव्वावरदिसाहिँ मणरामउ ।
बावीसहिँ सहसहिँ वित्थिण्णउ जोयणाइँ सुरमणहरवण्णउ ।
पंचसयाइँ चउद्दिसजोयण मुणि भणंति वरआयमलोयण ।
एहु वि तिहु वणाहँ[1] आयामउ पंचसयइँ णंदणहु वि रामउ ।
तेत्तिय जोयण सउमणसहु मुणि पंडुहु ताइमि तित्तिय-मिय गणि ।
चउद्दुमि दिसिहिँ चारि जे ठिय वण एक्केक्कहिँ दिसाहिँ मणबोहण ।
घत्ता—वरकंचणघडियइँ रयणहिँ जडियइँ चेईहरइँ अकिट्टिमइँ ।
तहिँ पडिम जिणेसहँ णमिय सुरेसहँ धणुहँ ताहँ तणु पंचसयइँ ॥१९॥

[२-१०]

चेईहरिअंतरि कूटवरा पुणु ताहँ उवरि मणिबद्धघरा ।
तहिँ वसहिँ लोयपालक्खसुरा ससि-जम-वरुणक्ख-कुबेर-परा ।
जलभरिय कमलभरछण्णियउ वावियउ वि अंतरि वण्णियउ ।
दिक्कुमरिउ णिवसहिँ सुहसहिया जिण-जणणि जाहिँ णिरु संमुहिया ।
पुणु गिरिवरसिरि चहुकोणि ठिया सिल चारि सच्छ तेँ तत्थ णिया ।
ईसाणदिसासियपंडुसिला पढमी चामीयरवण्ण किला ।
हविदिसि पंडुक्कंबल भणिया रुप्पयवण्णी मुणियण भणिया ।
नेरत्ति रत्तकंबल वि थिया वर-कणय-वण्ण खग-सुर-णमिया ।
रत्ताविरत्त पवणहुँ दिसए एयहिँ पमाणु पुणु मुणि दिसए ।
चारि वि चंदद्धइँ अणुहरिया पंचास वि जोयण विस्थरिया ।
चउहुँ मि जोयणसउ दीह मुणी अट्ठट्ठ उच्चउ जोयणइँ गणी ।
घत्ता—एक्केक्कहि पीढहि मणिगणछूढइ तिण्णि-तिण्णि णिरु भासियइँ ।
सय-पंच-पमाणइँ धणुहरठाणइँ ते आयमेण पयासियइँ ॥ २० ॥

---

१. क-ख खणाहँ ।

[२-९]

आकाशमार्गमें इन्द्र द्वारा देववन एवं अकृत्रिम-चैत्यालय-दर्शन

पुनः पृथिवीतलके ऊपर दस सहस्र योजन विस्तार वाला पर्वत है। उसके चारों ओर सुन्दर भद्रशाल-वन है और पुनः ५०० योजन प्रमाण मन्दराचल है। जहाँ प्रथम मेखला स्थित है, वहाँ दूसरा नन्दन-वन कहा गया है। उसके ६२५०० योजनसे कुछ अधिक ऊपर देखनेमें मनको सुन्दर लगनेवाला सौमनस नामक वन देखा। फिर उस देवसमूहने (उससे और) छत्तीस सहस्र योजन ऊपर पाण्डुव-वनको देखा। जिन भगवानके कथनानुसार मेरु पर्वतका वह भाग, जो कि पृथिवीके भीतर है, एक सहस्रयोजन प्रमाण है और वह वज्रमय है। उसके ऊपर इकसठ सहस्र योजन मणिमय है तथा उसके ऊपर अड़तीस सहस्र योजन स्वर्णमय है। देवोंके लिये मनोरम भद्रशाल वनका आयाम आगमनेत्र वाले मुनिवरोंने पूर्व और पश्चिम दिशामें बाईस-बाईस सहस्र योजन प्रमाण और उत्तर-दक्षिणमें ५०० (अढ़ाई-अढ़ाई सौ) योजन प्रमाण बताया है। इस प्रकार तीनों वनोंका विस्तार इस प्रकार है (कि) सुन्दर नन्दनवनकी लम्बाई ५०० योजन है तथा पाण्डुव-वनका प्रमाण भी इतना ही गिनिए। चारों दिशाओंमें जो चार वन स्थित हैं वे एक-एक दिशाके लिये मनको बोधित करनेवाले हैं।

घत्ता—वहाँ श्रेष्ठ स्वर्णसे घटित एवं रत्नोंसे जटित अकृत्रिम चैत्यालय हैं जिनमें सुरेन्द्रों द्वारा नमस्कृत पाँच-पाँच सौ धनुष प्रमाण जिनेश्वरोंकी प्रतिमाएँ हैं॥ १९॥

[२-१०]

विविध पाण्डुकशिलाओंका वर्णन

चैत्यगृहोंके भीतर उत्तमकूट हैं और उनके ऊपर मणियोंके निर्मित भवन हैं। उनमें चन्द्र, यम, वरुण और कुबेर नामक श्रेष्ठ लोकपालदेव निवास करते हैं। उनके भीतर जलसे भरी हुई एवं कमल समूहसे आच्छादित वापिकाएँ कही गई हैं। उन वापिकाओंमें सुखपूर्वक वे दिक्कुमारियाँ निवास करती हैं, जिन्होंने जाकर जिनेन्द्र भगवानकी माताको सम्मोहित किया था। पुनः सुन्दर पर्वतके शिखरपर चारों कोनोंमें स्थित जो चार स्वच्छ शिलाएँ हैं उनको देखा। ईशान दिशामें स्थित जो प्रथम पाण्डुक-शिला है वह स्वर्णके वर्णकी है। आग्नेय दिशामें पाण्डुकम्बल शिला कही गई है, उसे मुनिजनोंने रजतवर्णवाली मानी है। नैऋत्य दिशामें रक्तकम्बल-शिला स्थित है वह उत्तम कनकवर्णकी है तथा विद्याधरों एवं देवों द्वारा बन्दित है। वायव्य-दिशामें (स्थित पाण्डुक शिला) रक्त-विरक्त वर्णकी है। मुनिजन इनका प्रमाण इस प्रकार कहते हैं। चारों पाण्डुक-शिलाएँ अर्धचन्द्रके आकारकी हैं जिनका विस्तार पचास योजन प्रमाण है। उनकी कुल लम्बाई सौ योजन है और चारोंकी अलग-अलग चौड़ाई आठ-आठ एवं चार-चार योजन गिनना चाहिए।

घत्ता—एक-एक शिलापर तीन-तीन पीठासन शोभायमान हैं, जिनपर मणियाँ जड़ी हुई हैं। उनका आयाम ५०० धनुष प्रमाण है, ऐसा आगमसे स्पष्ट है॥२०॥

[२-११]

पुणु एक्केक्कपीढि सिंघासणु अइणिम्मलु अणग्घु णं मुणिमणु ।
पीढपमाणि ताहँ उच्चत्तणु सुहदायणु णं सासयपत्तणु ।
चउणिकायदेवहिँ संजुत्तउ तं पएसि सुरवरु संपत्तउ ।
वज्जमाणदुंदुहिवरणद्दहिँ गीयमाणु अच्छरगणसद्दहिँ ।
मणिजडियहिँ मज्झिमसिंघासणि थप्पिउ तहिँ जिणेस चिंतामणि ।
दाहिणविट्ठरि सइँ पुणु थक्कउ वामासणि ईसाणु य थक्कउँ ।
जमु खेत्तहो कमेण जा सिलवर ण्हाविज्जहि तहिँ-तहिँ जि जिणेसर ।
ताम सुरेसेँ जयहु वियंभिय जिण-अहिसेयहु विहि पारंभिय ।

घत्ता—दिप्पाल सुरेसेँ मुणिय-विसेसेँ आवाहिवि दिसि-दिसि थविया ।
देप्पिणु पूयावलि संणिहियावलि सावहाणु हुव सुरभविया ॥ २१ ॥

[२-१२]

सुरवरहँ पयाणहिँ[२] पंति ताम खीरोवहिँ सायरकूडु जाम ।
सविउव्वण तहिँ सुर एक्कमेक्क अप्पंति परुप्परु गयणि थक्क ।
वरकणयकुंभ णं जलणिवाण ते उवरिहिँ वसुजोयणपमाण ।
जोयणइँ एक्कु मुणि कंठु तारु सोवण्णसुत्तिसोहिउ सुफारु ।
खीरोवहि-पयपूरेण पूर णं परिभमंति णहि चंद-सूर ।
हत्थाउ-हत्थ गिण्हंति कुंभ सक्कहु करि दिंति वि मलणिसुंभ ।
सो पुणु ढालइ मंतेँ पवित्त जिणणाहसीसि वररयणदित्त ।
वसुअहिय-सहसलक्खणहिँ जुत्तु तेत्तियहिँ वि कलसहिँ सो वि सित्तु ।
दुंदुहि-कंसाल वि पडहताल वज्जंतहँ णाणाविह रसाल ।
संमज्जिउ पुणु इंदेण णाहु सइयइँ उव्वत्तिउ दोहबाहु ।
पुणु ण्हाविवि सुद्धोवएण तासु गंधोउ वि वंदिउ जिणवरासु ।
उच्छाडिउ वरवासहिँ सरीरु अण्णासणि थप्पिउ मेरुधीरु ।

घत्ता—पुणु सुरवरसारेँ मणिभिंगारेँ तोयहु जिणपयपुरउ धरा ।
धारातय देप्पिणु णियडि थिएप्पिणु पूयहि विहि पारद्ध वरा ॥ २२ ॥

[२-१३]

जस्स गंधरायलुद्धछप्पयालि रुंजए सगि जाउ सव्वइट्ठपित्तदाह भंगए ।

---

१. क ख अवक्कउ २. क. ख. कयाणहिँ ।

[२-११]

पाण्डुकशिलापर जिनाभिषेककी तैयारी

पुनः एक-एक पीठपर एक-एक महार्घ्य सिंहासन था, जो मुनिमनके समान अत्यन्त निर्मल था। पीठ-प्रमाण ही उनकी ऊँचाई थी और वे शाश्वत पत्तन अर्थात् मोक्षके समान सुखदायक थे। चारों निकायके देवोंसे युक्त इन्द्र उस प्रदेशमें आया। (उसने) बजती हुई श्रेष्ठ दुन्दुभियोंके निनादके साथ गाती हुई अप्सराओंके मधुर संगीतपूर्वक मणिजटित मध्यवर्त्ती सिंहासनपर जिनेश्वर-रूपी चिन्तामणिको स्थापित किया और फिर दाहिने सिंहासनपर वह स्वयं बैठ गया। बाएँ आसन पर ईशानेन्द्रको बैठाया। जिस क्षेत्र क्रमानुसार जो श्रेष्ठ शिला थी, वहीं-वहीं जिनेश्वरका अभिषेक किया जाने लगा। सुरेश्वरने जय-जयकार किया और तभी जिनाभिषेककी विधि प्रारम्भ हुई।

घत्ता—सुरेश्वरने विशेषरूपसे जानकर समस्त दिक्पालोंका आवाहन करके उन्हें प्रत्येक दिशामें स्थित किया। पूजावली देकर सभी भव्य देवगण पंक्तिबद्ध होकर सावधान हो गये ॥२१॥

[२-१२]

पूजाकार्य प्रारम्भ

सुरगणोंकी पंक्तियोंने क्षीरोदधिके सागरकूटकी ओर प्रयाण किया। वहाँ विक्रियाऋद्धि करके देवगण आकाशमार्गमें स्थित होकर अभिषेक घटोंको एक-दूसरेको अर्पित करने लगे। वे उत्तम स्वर्णकलश उदरभागमें आठ योजन प्रमाणवाले थे और जलकुण्डोंके सदृश थे। जिनके एक योजन प्रमाण विस्तृत मुख थे और जो सुन्दर स्वर्णसूत्रोंसे शोभायमान थे तथा जो क्षीरोदधिके दुग्धसे भरे हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानों आकाशमें चन्द्र और सूर्य ही परिभ्रमण कर रहे हों। देवगण मलको नष्ट करनेवाले उन घड़ोंको हाथों-हाथ लेकर इन्द्रके हाथोंमें दे रहे थे और इन्द्र पुनः मन्त्रसे पवित्र उत्तमरत्नोंके समान दैदीप्यमान उन कुम्भोंको जिननाथके शीर्षपर ढाल रहा था। इस प्रकार १००८ लक्षणोंसे युक्त उन शिशु भगवानका उतने ही कलशोंसे अभिषेक किया गया। दुन्दुभि, कंसाल एवं पटहताल एवं नानाप्रकारके मधुर वाद्य बज रहे थे। पुनः इन्द्रने (उस) दीर्घबाहुनाथका मर्दन किया और इन्द्राणीने उबटन। पुनः शुद्धोदकसे जिनवरको स्नान कराकर (उन लोगोंने) गन्धोदकको बन्दना की। श्रेष्ठ वस्त्रसे शरीर पोंछा एवं मेरुके समान धीर (भगवानको) दूसरे आसनपर स्थापित किया।

घत्ता—पुनः सुरेन्द्रने मणिनिर्मित झारीमें जल (लेकर उसे) जिनवरके चरणोंके सम्मुख रखा। फिर उनपर (जलकी) तीन धाराएँ देकर और भगवानके निकट स्थित होकर पूजाकी उत्तम विधि प्रारम्भ की ॥२२॥

[२-१३]

इन्द्र द्वारा अष्टद्रव्य पूजा

जिसकी गन्धके रागसे लुब्ध होकर भ्रमरावली गुंजन कर रही थी, जिस (गन्ध)के प्रभावसे स्वर्ग में समस्त अभिलषित वस्तुएँ पूर्ण हो गईं और पित्तदाह आदि (व्याधियाँ) भंग हो गईं।

चंदणेण णाह-पाय सक्कराउ चच्चए　　णं भविस्स तिव्वु ताउ बद्धराउ वंचए ।
पम्मवावणम्मि जाय रायचंपमालइ　　गिण्हिऊण भव्वपुप्फमाल गंठए सइ ।
इंदु लेवि वीयरायपायमूलि थप्पए　　णं अणंगसायकस्स सामि-पाय चच्चए ।
सालिवीयपुंजराइ णिम्मला विणिम्मिया　　णं सुरिक्ख णिच्चला णहम्मि थक्क धम्मिया ।
सज्जपक्कवाण इट्ठवासवासिया　　कंचणस्स भायणत्थ लेक्ख तें णिवेसिया ।
सूरकंतिवत्ति दित्तु कंचणस्स भायणो　　दीउ सुद्धु णट्ठधूमु चित्तसुक्खदायणो ।
तुंबुहीरवेण इंदु साणुराउ णच्चए　　णं भुयासहस्सएहिँ सो वि तस्स अंचए ।
धूपवत्तिणिंतु धूमु अंबरम्मि राइओ　　मोक्खपंथु णाइ तेण जीवलोइ दाविओ ।
पावपुंजु णं जिणाउ णट्ठओ भयाउरो　　खित्तु तेण धूउ दिव्वु भूरिगंधभासुरो ।
कप्प-विक्ख-साह-पक्क णेत्त-चित्त-रंजया　　णालिएर-आइ इट्ठ-मिट्ठ ते फला सया ।
सामियस्स पाय-पीठि तें णिउंजिया वरा　　भव्वयाहँ जे पर ति णिच्चसुक्ख-संधरा ।
वारि-गंध-पुप्फ-अक्ख-भक्ख-दीव-धूवया　　पुप्फयंजलीफलट्ठ-दुक्ख-लक्ख-णासया ।
वीयरायपायमूलि वंजिणा वि मुक्किया　　अक्खरा दहाणि पंचकाणि मे वण्णणो[1] क्किया ।

घत्ता—इय अंचिवि जिणवरु चउगइभवहरु पुणु बहु थुइहिँ थुणेप्पिणु ।
पविसुइएँ कण्णइँ मरगयवण्णइँ ता सक्कें विधेप्पिणु ॥ २३ ॥

[२-१४]

कुंडलजुवलें मंडियउ तं पि　　णं रवि-ससि सरण पइट्ठ गंपि ।
वररयण-मउड देवंग-वत्थ　　केऊर-कडय मणिमय पसत्थ ।
कडिसुत्त-मेखला-कंठहार　　सिरि छत्त तिण्णि उद्धरिय तार ।
सव्वहिँ आहरणहिँ भूसिऊण　　बहुभत्तिए णाहु पसंसिऊण ।
सिरिपासणाहु थप्पेवि णामु　　पुणु पणविवि गिण्हिउ तेयधामु ।
वाणारसि-सम्मुहु चलिउ सक्कु　　दुंदुहिसरपूरिउ दिसहिँ चक्कु ।
पुरवरि संपायउ सक्कु जाम　　पउलोमी जिणु करि लेवि ताम ।
वम्माएविहिँ अप्पियउ पुत्तु　　पुणु ताइ भणिउ पणविवि पउत्तु ।
भो वम्ममाय सुव-हरण-दुक्खु　　मा करहि किं पि कयसुयण-सोक्खु[3] ।
णीसेस जिणेसहँ कमु जि एहु　　ण्हाविवि आणिज्जइ जणणिगेहु ।
सिरिपासणाहु णामेण देउ　　एव्वहिँ लिज्जउ सुर-असुर-सेउ ।
इय जंपिवि पणविवि जिणहु माय　　पउलोमी सक्कहु पासि आय ।

---

१. ख. भक्ख ।　　२. क, ख. पक्को ।　　३, क. ख. हुय ।

शक्रराजने भक्तिभावपूर्वक (जिन)नाथकी चन्दनसे चर्चा (पूजा) की, मानों भविष्यमें होनेवाले तीव्रतापसे अपनेको दूर कर रहा हो। प्रमदावनमें जाकर रायचम्पा और मालती (पुष्प) लाकर शचीने भव्यमाला ग्रथित की। इन्द्रने (उस पुष्पमालाको) लेकर वीतराग भगवानके पादमूलमें स्थापित कर दिया, मानों कामदेवके बाणसे ही भगवानके चरणोंकी पूजा की हो। निर्मल-शालि-बीजोंकी छोटी-छोटी ढेरियाँ लगा दी गईं, मानों आकाशमें सुन्दर धार्मिक नक्षत्र ही स्थिर हो गए हों। प्रियवाससे सुवासित, ताजे, लक्ष-लक्ष पक्वान्न स्वर्णनिर्मित स्वच्छपात्रोंमें सजाकर रखे गये। सूर्यकान्तिके समान दीप्त स्वर्णभाजनमें चित्तको सुख देनेवाला, धूम्ररहित शुद्धदीपक सजाकर इन्द्र दुन्दुभिरवके साथ अनुरागपूर्वक नृत्य करने लगा, मानों वह भी सहस्र भुजाओंसे उन भगवानकी पूजा कर रहा हो। धूपवत्तीसे निकलनेवाला धूम आकाशमें ऐसा सुशोभित हुआ जैसे मानों वह जीवलोकके लिये मोक्षका मार्ग दिखा रहा हो। (उसने) प्रचुरगन्धसे युक्त दिव्य धूप खेई, वह ऐसी शोभायमान हुई जैसे मानों भयातुर होकर जिन भगवानसे पापराशि भाग रही हो। कल्पवृक्षकी शाखामें पके हुए नेत्रों एवं चित्तको प्रमुदित करनेवाले, इष्टकर एवं सुस्वादु नारियल आदि सैकड़ों फल स्वामीकी पादपीठके समीप चढ़ा दिये, जो भव्यजनोंके लिये श्रेष्ठ एवं नित्य सुख प्रदान करनेवाले थे। [१]जल, [२]गन्ध, [३]पुष्प, [४]अक्षत, [५]भक्ष्य (नैवेद्य) [६]दीप, [७]धूप तथा [८]फल इन आठ द्रव्योंसे युक्त पुष्पाञ्जलि एवं अन्य व्यञ्जन भी, जो लाखों दुखोंको नष्ट करनेवाले थे, भगवानके पादमूलमें चढाये गये, जिसका वर्णन मैंने पन्द्रह-पन्द्रह अक्षरवाले (इस) छन्दमें किया है।

घत्ता—इस प्रकारसे जिन-भगवानकी चारों गतियोंकी नाश करनेवाली पूजा करके पुन: अनेक स्तुतियोंसे स्तुति करके उस इन्द्रने वज्रकी बनी हुई सुईसे मरकत मणिके समान प्रभुके कानोंका छेदन-संस्कार सम्पन्न करके (उन्हें कुण्डल-युगलसे मण्डित किया) ॥२३॥

[२-१४]

तीर्थङ्कर शिशुका 'पार्श्व' यह नामकरण तथा पितृगृहमें वापिसी

इन्द्रने जिनेन्द्रको कुण्डल-युगलसे मण्डित किया मानों सूर्य एवं चन्द्रमा ही वहाँ जाकर शरणमें बैठ गये हों। बहुमूल्य रत्नमुकुट एवं देवदूष्य तथा प्रशस्त स्वर्णनिर्मित तथा मणिजटित केयूर और कड़े, कटिसूत्र, शृंखला, कण्ठमें हार एवं सिरपर तीन विशालछत्र धारण किये। सभी प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित करके, बहुभक्तिपूर्वक प्रशंसा करके और (भगवानका) 'श्री पार्श्वनाथ' यह नाम स्थापित कर पुन: प्रणाम करके देवेन्द्रने उन तेजोनिधि पार्श्वको उठाया और दुन्दुभिके स्वरसे समस्त दिशाचक्रको प्रपूरित करता हुआ वह वाराणसी नगरीकी ओर चला। जब वह इन्द्र नगरमें पहुँचा, तब इन्द्राणीने जिनेन्द्रको हाथोंमें ले लिया और वामादेवीको उसका वह पुत्र समर्पित कर दिया तथा प्रणाम करके कहना प्रारम्भ किया—"हे वामा माता, सज्जनोंको सुख देनेवाले पुत्रके अपहरणका किसी भी प्रकारका दु:ख मत मानिए, सम्पूर्ण जिनेश्वरोंके लिये यही रीति है कि उन्हें स्नान कराके माताके गृहमें लाया जाता है। सुरों एवं असुरोंके द्वारा सेवित 'श्री पार्श्वनाथ' नामक इन भगवानको अब आप लीजिए।" इस प्रकार कहकर एवं जिन भगवानकी

हयसेणहु इंदें रयणवित्त   वत्थाहरणइँ देविणु पवित्तु ।
आएसु लहिवि गउ सग्गि इंदु   जणणहु गिहि णिवसइँ जिणवरिंदु ।

घत्ता—जिणअंगरक्खसुर अर अच्छरवर लालहिँ सामियहु ।
बहुगंधहिँ भव्वहिँ परिमल-दव्वहिँ सुरवहु मणु रंजंति तहु ॥ २४ ॥

[२-१५]

हिंदोलयम्मि वड्ढइ देउ   दहलक्खणधम्महो णाइँ भेउ ।
सहजुप्पणावहतिसयजुत्तु   णाणत्तयलंकिउ तणु पवित्तु ।
मरगयवण्णउ लक्खणहु थत्ति   पायडु हुव कमेण अणंतसत्ति ।
णवजोव्वणि दिणि-दिणि चडइ देउ   भुवणत्तयजीवहँ सुक्खहेउ ।
पवणहु उच्छंगे खिवेइ पाय   वरुणंकि सीसु वरकमलछाय ।
धरणेंदहु करि लग्गउ भमेइ   रविवाहण-हयवर पुणु दमेइ ।
समवयसुरेहिँ सहुँ करइ कील   झिंदुव-गेंदी-पमुहाइँ लील ।
बहु पायडंतु संसारसारु   संपायउ जोव्वणि जिणु कुमारु ।
जं जं सुहु वंछइ वीयराउ   तं तं संपाडइ जक्खुराउ ।
संवच्छर-तीस-पमाणु जाउ   णव-हत्थ कमिण पुणु हुवउ काउ ।

घत्ता—अण्णहि दिणि जिणवरु सुहसंपयघरु सहहि णिसण्णउ णीइवरु ।
सुरणरवर सहियउ भुवणहिँ महियउ णं महि थिउ तियसेसरु ॥ २५ ॥

इय सिरिपासणाहपुराणे आयमअत्थस्स अच्छिसुणिहाणे सिरिपंडियरयधूविरइए सिरि-महाभव्व-खेऊसाहुणामंकिए सिरिपासणाहगब्भकल्लाणवण्णणो णाम बीओ संधि-परिच्छेओ समत्तो । छ । संधी—२

वरतरगुणलक्षैर्लक्षिताङ्गः सुकीर्तिर्न्निखिलबुधकुलानां कल्पदानैकवृक्षः ।
जिनचरणनताङ्गः क्षेमसीनामसाधोः पजन-कुल-दिनेशो नन्दस्त्वत्र लोके ॥
॥ २ ॥ छ ॥

●

माताको प्रणामकर वह इन्द्राणी इन्द्रके पास आ गई। अश्वसेनके लिये भी इन्द्रने देदीप्यमान रत्नाभूषण एवं पवित्र वस्त्र प्रदान किये। (पुनः) आदेश पाकर वह इन्द्र स्वर्ग चला गया और जिनेन्द्र भी अपने पितृगृहमें निवास करने लगे।

घत्ता—पार्श्वजिनके अङ्गरक्षकदेव तथा उत्तम अप्सराएँ उनका लालन-पोषण करने लगीं। देववधुएँ विविध भीने-भीने भव्य एवं सुगन्धित द्रव्योंसे अनेक प्रकारसे उनका मनोरञ्जन करने लगीं ॥२४॥

[२-१५]

बालक पार्श्वकी विविध क्रीड़ाएँ

दशलक्षणधर्मके भेदोंके समान भगवान हिन्दोलेमें बढ़ने लगे। उनका पवित्र शरीर सहजोत्पन्न दश अतिशयोंसे युक्त एवं तीन प्रकारके ज्ञानोंसे अलंकृत था। उनके मरकत वर्णवाले शरीरमें, जो अनेक सल्लक्षणोंका निधान था, क्रमशः अनन्तशक्ति प्रकट होने लगी। तीनों लोकोंके जीवोंके लिये सुखके हेतु जिन भगवान प्रतिदिन नवयौवनमें आरूढ़ होने लगे। वे पवनकी गोदमें पैर उछालते थे और उत्तम कमलके समान कान्तिमान् अपने सिरको वरुणकी गोदमें रखते थे तथा धरणेन्द्रका हाथ पकड़कर भ्रमण किया करते थे। (गतिमें) वे सूर्यके रथके घोड़ोंको भी परास्त करते थे। समवयस्क देवोंके साथ गेंद, गम्मत आदि प्रमुख क्रीड़ाएँ करते थे। ससारके सारको विविध प्रकारसे प्रकट करते हुए वे जिन-भगवान यौवनको प्राप्त हुए। वीतराग जो-जो सुख चाहते थे, यक्षराज उन्हें-उन्हें पूर्ण करता रहा। (इस प्रकार क्रमशः) उनकी आयु तीस वर्ष प्रमाण और काया नौ हाथ प्रमाण हो गई।

घत्ता—अन्य किसी दिन नीतिज्ञ, सुख-सम्पतियोंके गृहस्वरूप एवं तीनों लोकोंमें पूजित वे जिनवर उत्तम देवों एवं मनुष्योंके साथ सभाके मध्यमें विराजमान थे, उन्हें देखकर प्रतीत होता कल्याणकों था, मानों त्रिदशेश्वर ही (वहाँ) स्थित हो ॥२५॥

इस प्रकार श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित श्रीमहाभव्य खेऊ साहूके लिये नामाङ्कित आगमके अर्थको समझनेके लिये नेत्रके समान इस श्रीपार्श्वनाथपुराणके अन्तर्गत गर्भ एवं जन्मका वर्णन करनेवाला दूसरा सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ।

लाखों श्रेष्ठ गुणोंसे विभूषित, सुविख्यात, समस्त विद्वन्मण्डलीको यथेच्छदान देनेमें कल्पवृक्ष जिन-चरणोंमें नतमस्तक पजण (प्रद्युम्न) साहूके कुलके लिये दिनकरके समान, वे साहू खेऊ (क्षेमसिंह) इस संसारमें आनन्दित रहें ॥२॥

●

संधि–३

[३-१]

घत्ता—तहिँ अस्ससेणु पहु णिवसइ सहमंडवि णिसण्णउ।
ता कत्थाउ को वि मंतीसरु वाणारसि पवण्णउ॥ छ॥

जो बहु-सत्थ-अत्थ-रयणायरु बहुकल-पुण्णउ णाइँ कलायरु।
मइविसालु कुल-जाइ-विसुद्धउ जाणिय परहँ चित्तु सुपसिद्धउ।
णियपहुकज्जारंभि कयायरु णिय-कुल-कमलहँ णाइँ दिवायरु।
पडिहारेँ खणि रावलि पेसिउ हयसेणु वि तेँ सिरेण णमंसिउ।
पहुणा तहु देवाविउ आसणु पुणु वि विसेसेँ किउ संभासणु।
सो राएँ पुच्छिउ ता अक्खइ णिय पहु देसु कज्जु तहु लक्खइ।
णयरु कुसत्थलु णामेँ सुहयरु सक्कवम्मु राणउँ रूवेँ सरु।
जा तहिँ रज्जु करइ पयपालइ ता णक्खत्तु पडंतु णिहालइ।
तक्खणि वइराएँ तउ लइयउ विसमपरीसहगणु तेँ सहियउ।
अक्ककित्ति तहु पुत्तु महायउ जणणहु पयपालइ सुसहायउ।
णियपरियणयणु णेहेँ पोसइ सो तुव णामु णिच्च णिव घोसइ।
तेँ हउँ तुम्हहँ पासि णिवेसिउ कारणु सुणहि देव जं देसिउ।

घत्ता—णिववर सक्कवम्मु दिक्खिउ मुणि जमणणरेँद वइरिणा।
पेसिउ दूउ ताम संपायउ तक्खणि वहिय वेरिणा॥ २६॥

[३-२]

णियसिरि बाहुदंड थप्पेप्पिणु दूएँ वुत्तउ ता पणवेप्पिणु।
जमुणासरितडम्मि जो णिवसइ जमणणरेँदु सयणमणु हरिसइ।
तहु णियपुत्ति देहि सुहि णिवसहि मा णियमंडलु णयरु विणासहि।
केर करहि तहु सेव पयासहि महुरक्खर तहु सम्मुहु भासहि।
अहवा तहु सम्मुहु रणि लग्गहि तहु करवालु दट्ठु मा भग्गहि।
दूवहु वयणेँ रविपहु कोविउ उब्भड भूभंगेँ तं जोविउ।
रे अणिट्ठ पाविय दुब्बोल्लिय कँ जंपहि रे कालेँ पेल्लिय।
कवणु जमणु किं तासु परक्कमु कवणु थाइ पुणु रणमहि महु समु।

सन्धि—३

[३-१]

कुशस्थल-नरेश अर्ककीर्त्ति द्वारा अश्वसेनके पास दूत-प्रेषण

घत्ता—जब राजा अश्वसेन सभामण्डपमें विराजमान थे, तभी कहींसे कोई मन्त्रीश्वर वाराणसी आया। छ।

वह मन्त्रीश्वर विविध प्रकारके शास्त्र एवं अर्थोंका रत्नाकर, कलाकारके समान विविध कलाओंमें परिपूर्ण, मतिसे विशाल, कुल एवं जातिमें विशुद्ध, दूसरोंके हृदयोंके विचारोंको जाननेवाला, सुप्रसिद्ध, अपने स्वामीके कार्यारम्भमें सम्मान प्राप्त तथा अपने कुलरूपी कमलोंके लिये दिवाकरके समान था। प्रतिहारीने शीघ्र ही उसे राजकुलमें प्रेषित किया। उसने राजा अश्वसेनको सिर झुकाकर नमस्कार किया। स्वामीने तब उसे आसन दिलवाया और फिर उसके साथ विशेष सम्भाषण किया। राजा अश्वसेनके पूछनेपर उस (मन्त्रीश्वर)ने अपने प्रभुके उद्देश्य एवं उसके कार्यको कहा—"कुशस्थल नामका सुखकारी नगर है (जहाँ) कामदेवके समान सुन्दर शक्रवर्मा नामक राजा (निवास करता) था। वह जब वहाँ राज्य करता हुआ एवं प्रजाका पालन करता हुआ रह रहा था तभी (किसी समय) उसने एक नक्षत्रको टूटते हुए देखा। तत्क्षण उसने वैराग्यपूर्वक तप धारण कर लिया और विषम परीषहोंको सहन किया। उसका अर्ककीर्त्ति नामका एक महान् यशस्वी पुत्र है जो सुसहायकोंके साथ अपने पिताकी प्रजाका पालन कर रहा है। वह अपने परिजनोंका स्नेहपूर्वक पालन-पोषण करता है और हे नृप, वह आपका नाम निरन्तर घोषित किया करता है। उसीने मुझे आपके पास भेजा है। हे देव, उन्होंने मुझे जिस प्रयोजनसे भेजा है उसे सुनिए—

घत्ता—नरश्रेष्ठ शक्रवर्माको दीक्षित जानकर उनके शत्रु यवननरेन्द्रने अपने उन शत्रुका वध करके तत्क्षण अपना एक दूत भेजा, जो (राजा अर्ककीर्त्तिके पास) वहाँ आया" ॥२६॥

[३-२]

राजदूत द्वारा अपने ससुर शक्रवर्माका निधन समाचार सुनकर अश्वसेनका शोक-संतप्त होना

"अपने सिरपर बाहुदण्ड रखकर और प्रणामकर उस दूतने कहा—'यमुना नदीके तीरपर स्वजनोंको हर्षित करनेवाला जो यवननरेन्द्र निवास करता है उसको अपनी पुत्री देकर (तुम) सुखपूर्वक रहो। अपने मण्डल (राज्य) एवं नगरका विनाश मत कराओ। साक्षात् उसकी सेवा-भक्ति करो और उसके सम्मुख जाकर मधुर स्वरमें वार्त्तालाप करो अथवा उसके सम्मुख रण-क्षेत्रमें उतरो। उसकी तलवार देखकर भागना मत।' दूतके इन वचनोंसे राजा अर्ककीर्त्ति क्रोधित हो उठा। उसने भौंहें चढ़ाकर उस (दूत)की ओर देखा (और कहा)—'रे अनिष्ट, पापी, दुर्वचन, तू किससे बोल रहा है? क्या कालसे प्रेरित हुआ है? कौन है यह यवनरेन्द्र?

जाहि-जाहि णियपाण लएविणु भिडउ सत्ति जइ रणमहि एविणु ।
इय भणेवि णिस्सारिउ दूवउ जमणणरेंदपासि पुणु सो गउ ।
सुणि विसंतु जमणु णिउ चल्लिउ भूयलु सयलु खणेण विहल्लिउ ।
तं णिसुणिवि रविकित्ते राणउ अरिसम्मुहु पुणु दिण्णु पयाणउ ।
हउँ पेसिउ तुव पासि णरेसर जं जाणहि तं करि परमेसर ।
हयसेणें तहु वयण सुणेप्पिणु णियमणि गरुउ विसाउ करेप्पिणु ।

घत्ता—पहु सोयइँ पुणु-पुणु णेहाउरमणु सक्कवम्म सयालहु[?] गुणु ।
सुमरेप्पिणु, तप्पइ खणि-खणि जंपइ हा कहँ किउ पइँ महिहि रणु ।। २७ ।।

[३-३]

ता भणइ मंति भो राइराय सोएँ णासइ तणु-कंति-छाय ।
सोएँ सुय-मइ-धीरत्तु जाइ सोएँ गिहि केवलु दुक्खु ठाइ ।
सोएज्जइ सो जो कुपहि लग्गु अहवा जो महपावेण भग्गु ।
जो जाणि विभवचलु मुइवि संगु णियमि वि मणु दंडिवि खलु अणंगु ।
णियपुत्तहो देप्पिणु रज्जभारु जो वय-भरु गिण्हइ लोयसारु ।
जो मुत्तिविलासिणि-रायरत्तु जो रयणत्तय वररयण पत्तु ।
तहु सोउ ण किज्जइ भो णरिंद अरिगयघड विब्भाडण मइंद ।
तहु सलहणु किज्जइ अहिउ लोइ जो तवभरु गिण्हइ एत्थु कोइ ।
सो धण्णउ जो किंचि वि करेइ णिय तणुसत्तिए तउ-वउ धरेइ ।
ते वयणें सोयविमुक्कु जाउ पुणु णियमणि चिंतइ विमलभाउ ।

घत्ता—ता कोहाइद्धें भणिउ वि रुद्दें[३] कवणु जमणु किं सत्ति तहु ।
आहणहु तूर सय सज्जहु हय-गय किं बहु भणिएँ चलहु लहु ।। २८ ।।

[३-४]

पहुवयणें सण्णज्झिय भड-थड कण्णारिय पुणु गयइँ महाघड ।
हयवरम्मि बहुआसण सज्जिय घणमाला इव तूरइँ वज्जिय ।
रयणाहरणविहूसिय णरसर पुलइयतणु पहरणलंकियकर ।

१. क. ख. सालयहु । २. क. काविछ । ३. क. ख. विरुद्धें ।

कैसा है उसका पराक्रम ? रणमें मेरे सम्मुख कौन ठहर सकता है ? जा-जा, अपने प्राण लेकर यहाँसे भाग जा। यदि शक्ति हो तो (वह) रणमें आकर भिड़ देखे।' ऐसा कहकर उस (अर्ककीर्ति)ने दूतको निकाल बाहर किया। वह भी यवननरेन्द्रके पास वापस चला गया। (अपने दूतके द्वारा) यह वृत्तान्त सुनकर यवननृप (युद्ध हेतु) चल पड़ा, जिससे समस्त भूतल क्षणभरमें हिल उठा। यह (यवननृपका आगमन) सुनकर अर्ककीर्त्ति राजाने भी शत्रुकी ओर प्रयाण किया। हे नरेश्वर, उसी (अर्ककीर्त्ति)ने मुझे आपके पास भेजा है। हे परमेश्वर, अब आप जो उचित समझें सो करें।" अश्वसेनने उस दूतके वचन सुनकर अपने मनमें महान् विषाद किया।

घत्ता—तब प्रभु अश्वसेन शोकाभिभूत होकर स्नेहातुर मनसे अपने श्वसुर[?] शक्रवर्माके गुणोंका स्मरण करके, सन्ताप करते हुए बार-बार कहने लगे—"आह, तुमने इस पृथिवीमण्डलपर कैसे-कैसे युद्ध किये थे ?" ॥२७॥

[३-३]

शक्रवर्माके पुत्र अर्ककीर्त्तिके लिये यवननरेन्द्र द्वारा दी गई धमकीका वृत्तान्त सुनकर अश्वसेनका क्रोधित होकर युद्धकी तैयारी करना

(अश्वसेनको शोकसन्तप्त देखकर) मन्त्रीने कहा—"हे राजराजेश्वर, शोकसे शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाती है। शोक करनेसे श्रुत, मति एवं धीरत्व नष्ट हो जाता है। शोकसे घरमें केवल दुःख ही व्याप्त रहता है। (फिर) शोक उसके लिये किया जाता है जो कुमार्गमें लगा हो अथवा जो महान् पापसे पतित हुआ हो। (किन्तु) जिसने संसारको चंचल जानकर, समस्त परिग्रहको छोड़कर, अपने मनको संयमित करके, दुष्ट कामदेवका दमन करके एवं अपने पुत्रको राज्य-भार देकर लोकोंमें सारभूत व्रतोंके भारको ग्रहण किया है और जो मुक्तिवधूमें अनुरक्त है तथा जिसने रत्नत्रयरूपी श्रेष्ठ रत्नोंको प्राप्त कर लिया है, उसके लिये, शत्रुरूपी गजेन्द्रोंको नष्ट करनेके लिये मृगेन्द्रके समान हे नरेन्द्र, शोक नहीं किया जाता। इस लोकमें जो कोई तपके भारको ग्रहण करता है, उसीकी अधिक सराहनाकी जाती है। वह धन्य है, जो कुछ भी (साधना) करता है और अपने शरीरकी शक्तिके अनुसार तपव्रत धारण करता है।" उस मन्त्रीश्वरके वचन सुनकर राजा अश्वसेन शोकविमुक्त हो गये। वे पुनः अपने मनमें निर्मल भावसे विचार करने लगे।

घत्ता—तदनन्तर क्रोधसे जलते हुए, रौद्ररूप धारणकर (अश्वसेनने मन्त्रीश्वरसे) पूछा—"कौन है यह यवन ? क्या है उसकी शक्ति ? नगाड़ोंको पीटो, हाथी और घोड़े सजाओ और अधिक कहनेसे क्या ? तत्काल ही (यहाँसे) कूच करो।" ॥२८॥

[३-४]

पिता अश्वसेनके स्थानपर पार्श्व द्वारा स्वयं युद्धमें जानेका आग्रह

प्रभुका आदेश सुनकर भटसमूह तैयार हो गया। हाथियोंकी महान् सेना पंक्तिबद्धकी गई। श्रेष्ठ घोड़ोंपर जीनें कसी जानें लगीं। मेघमालाकी गर्जनाके समान तुरही बजने लगी। रत्नाभरणोंसे विभूषित नरश्रेष्ठोंने पुलकित शरीर होकर हाथमें शस्त्र धारण किये। जिसने अनेक

जेण वियारिउ अरियणमंडलु णियकरि गिण्हिवि सो वरमंडलु।
रणसिरि रामालिंगण लुद्धउ जा चल्लइ कासीपहु कुद्धउ।
ता जिणेण कासु वि तं सुणियउ समरविरुद्दु जणणु तें मुणियउ।
सुर-णर-वरसेवियउ णिरंजणु मुत्तिविलासिणि-मणु-अणुरंजणु।
अंगरक्ख-सुरवर-संजुत्तउ अस्ससेण-णिव-पासिहिँ पत्तउ।
अत्थपसत्थु विरुद्दें चत्तउ जणणहु ताम जिणेंदें वुत्तउ।
ताया भणमि महु गिहि होंतें तुहु किं गच्छहि पविहिय संतें।
कालजमणु रणमुहि उस्सारमि जयसिरि-अणुराएँ करि धारमि।
महु सुवेण अच्छंतें भो णिव समरि गमणु तुम्हहँ जुज्जइ किव।

घत्ता—तित्थयरालाउ सुणेवि लहु अणुराईय भणेइ पहु।
अच्छरिउ काइँ जं तमहु भरु दिणयर-पुरउ पलाइ लहु॥ २९॥

[३-५]

तया पुत्त जुत्तं पउत्तं पवित्तं पणासंति विग्घं तुमं णाम मित्तं।
परं कारणं अज्ज बालत्तभावो सईणाह चित्तस्स संदिण्ण रावो।
ण विट्ठो सि संगाम-रंगो भयंगो कयंतु व्व पावयारु दूसियंगो।
ण पेसेमि तें कारणेणं तुमं भो पमाणेहि इत्थच्छउ भोयलंभो।
सुणेऊण रायस्स वाया जिणेंदो पयंपेइ संसारवल्लीगइंदो।
अहो ताय बालाणलो किं ण रण्णं डहेऊण संकीरए भप्फवण्णं।
मइंदस्स डिंभो गइंदाहँ बिंदं ण किं भंजए रण्णि पत्तं मइंधं।
तहाहं पि गंतूण पेच्छेमि जुद्धं विभंजेमि सत्तु[1] जसासाहि लुद्धं।
पभणेवि सो राउ पुत्तस्स उत्तं तिणा तं पयंपेइ संभिण्ण-गत्तं।
रवेकित्तिमामस्स[2] अक्खंडरज्जं करेऊण आवेहु भो पुत्त सज्जं[3]।
जिणेऊण कालज्जओ माणसत्तो भुयंगप्पयावो ठवेवीह मत्तो।
घत्ता—णियतायहु भासिउ सुणिवि जिणु सुरहँ समाणउ चल्लियउ।
णं जयसिरि सिवसिरि करगहणे वरु णवल्लु मोक्कल्लियउ॥ ३०॥

[३-६]

तक्खणि विविहइँ सेणइँ मिलियइँ मत्तगयंदरूढ भड चलियइँ।
वरसुवण्ण कवयहिँ कयसोहहँ मग्गामग्गु ण मुणियउ जोहहँ।
हयवर-पय-खुरग्ग-धर भग्गइँ आयड्ढिय तेयड्ढिइँ खग्गइँ।

---

१. क. ख सत्तं। २. क. ख. °भायस्स। ३. ख. कज्जं।

शत्रुओंको विदीर्ण किया था, उस तलवारको हाथमें लेकर और क्रुद्ध होकर रणश्री रूपी रामाके आलिङ्गनका लोभी होकर जैसे ही वह काशीनरेश चलने लगा वैसे ही पार्श्वजिनने किसीसे यह सुना और जाना कि पिता (अश्वसेन)ने किसी संग्रामके विरुद्ध तैयारी की है। तब उत्तम देवों एवं मनुष्यों-से सेवित, निरञ्जन, मुक्ति-विलासिनीका मनोरञ्जन करनेवाले तथा अपने अङ्गरक्षक श्रेष्ठ देवोंसे युक्त वे (पार्श्व प्रभु) अश्वसेन नृपके पास गये। बिना किसी ऊपरी विरुदावलीके पार्श्व जिनेन्द्रने अपने पितासे प्रशस्त अर्थसे युक्त (यह) बात कही—"हे तात्, आप ही कहें कि मुझ जैसे वज्र-हृदयवाले पुत्रके घरमें रहते हुए भी आप (युद्धमें) क्यों जा रहे हैं ? (मैं अकेला ही) कालयवनको रणभूमिसे उखाड़ फेकूँगा और जयश्रीको अनुरागपूर्वक अपने हाथोंमें ग्रहण करूँगा। मुझ जैसे पुत्रके रहते हुए हे राजन्, आपका युद्धमें जाना क्या योग्य है ?"

घत्ता—(भावी) तीर्थङ्करका कथन सुनकर राजाने उन्हें अनुरागपूर्वक कहा—"यदि सूर्यके सम्मुख तमका भार तत्काल ही हट जाय तो इसमें आश्चर्य (की बात) हो क्या—?"॥२९॥

[३-५]

पिता अश्वसेनकी आज्ञा पाकर पार्श्वका युद्ध हेतु प्रयाण

"हे पुत्र, तुम्हारी पवित्र प्रवृत्तियाँ उचित ही हैं। तुम्हारा नाम मात्र ही विघ्नोंको नष्ट कर देता है। हे आर्य, दूसरोंके लिये तुम (अभी) सरल स्वभाववाले बालक ही हो। देवेन्द्रके चित्तके लिये आनन्ददायक (मात्र) हो। तुमने यमराजके समान पापकारी एवं दूषित संग्रामके भयानक रंगको (अभी) नहीं देखा है। हे पुत्र, इसी कारणसे तुम्हें (युद्धमें) नहीं भेजूँगा। यथेच्छ भोगोंको भोगते हुए तुम यहीं रहो। राजाकी बात सुनकर संसाररूपी बेलके लिये गजेन्द्रके समान जिनेन्द्रने कहा—"हे तात, क्या अग्निकी एक चिनगारी समस्त वनको जलाकर भस्म नहीं कर देती ? क्या मृगेन्द्र-शावक, जङ्गलमें मदान्ध गजेन्द्र समूहको पाकर उसे नहीं मार डालता ? उसी प्रकार मैं भी जाकर युद्धमें देखता हूँ और यश-आशाके लोभी शत्रुको नष्ट कर डालता हूँ।" पुलकित-गात्रवाले अपने पुत्रके वचन सुनकर राजाने कहा—"हे पुत्र, तुम अपने मामा अर्ककीर्तिके राज्यको अखण्ड बनाकर अभिमानी शत्रु कालयवनको जीतकर शीघ्र (ही) लौटो।" यह (प्रसङ्ग) बीस मात्राओंवाला भुजङ्गप्रयात छन्द (में वर्णित) है।

घत्ता—अपने पिताका कथन सुनकर पार्श्वजिन देवोंके साथ वहाँ चले, मानों जयश्री और शिवश्रीके करग्रहण हेतु नवीन वर भेजा गया हो ॥३०॥

[३-६]

कालयवन नरेन्द्र एवं राजा अर्ककीर्तिका युद्ध

तत्काल ही विविध सेनाएँ एक साथ मिल गईं। मदोन्मत्त हाथियों पर सवार होकर योद्धागण चल पड़े। उत्तम स्वर्ण-कवचों से सुशोभित उन योद्धाओंने मार्ग-कुमार्ग कुछ भी न देखा-समझा। उत्तम घोड़ोंके (गमन करनेके कारण) पैरोंके खुर पृथिवीको भग्न करने लगे। चमकते

अरियणाहँ दरिसिय जमपंथइ　　मल्हंति वि चल्लिय गय सत्थइँ ।
भूरि-भार-भारिउ धरणीधरु　　छत्तावलिहिँ वि छण्णउ अंबरु ।
बहल-धूलि-धूसरिय-सरीरइँ　　पहि गच्छंति जाम गिरि धीरइँ ।
खयरामरमणणयणाणंदणु　　देवघोस वाहिय वरसंदणु ।
तिल्लोयहु सामिउ हयमणरुहु　　जा गच्छइ हयसेणहु तणुरुहु ।

घत्ता—ता कालज्जउ रविकित्ति तहिँ कोहाइद्धइँ दुक्करणि ।
विण्णि वि णरिंद दप्पुब्भडइँ लग्गइँ जयसिरिकारणि ॥ ३१ ॥

[३-७]

आयड्डियाइँ खग्गइँ सुतिक्ख　　णं जमेण जीह दंसिय पयक्ख ।
वरपहरणु लेइ ण कोवि धीरु　　मण्णेप्पिणु गरुवउ मारु वीरु ।
[1]चंडासिहिँ खंडिय गयहँ जूह　　खंडंति परोप्परु सबल-जूह ।
कासु वि गउ कासु वि तुरउ भिण्णु　　केणावि कासु तहु सीसु छिण्णु ।
केहि मि पाडिय मयमत्तदंति　　अंजण-महिहरसम जाह कंति ।
केण वि सहु सुहडें वरतुरंगु　　खंडिउ णं चल-सायर-तरंगु ।
[2]ससिणह खंडिय वरपुंडरीय　　णं रणमहि फुल्लिय पुंडरीय ।
केयावलि खंडिय फरहंरति　　असईव वसा भूमिहि सहंति ।
पक्कल पाइक्क मुयंति हक्क　　विण्णि वि बल जोह मुयंति थक्क ।
जुज्झंतहँ विण्णि वि साहणाइँ　　दलु चलिउ ताम तहि अरियणाहँ ।

घत्ता—णियबलु भज्जमाण पेक्खेप्पिणु कालजमणु जि विरुद्धउ ।
रहवर चडिवि गहिवि धणुहरु करि धाविउ पुणु वि कुद्धउ ॥ ३२ ॥

[३-८]

भज्जमाणा स-जोहा वि तें धीरिया　　सेणपूरेण पच्छाउ पुणु मारिया ।
ते वि लग्गा रणे लज्जभरभारिया　　कोहपूरेण हयजोह तहिँ दारिया ।
को वि केणावि णामेण पच्चारिउ　　तत्थ केणावि जिण-वयणु उच्चारिउ ।
को वि धावंतु संमुहउ उरि-विद्धउ　　णाइँ सामिस्स दाणस्स फलु सिद्धउ ।
सत्ति-घाएण भडु को पुणु छिण्णउ　　णाइँ णियजीउ धारेइ तणु भिण्णउ ।

---

१. ख. चंडामहि ।　　२. क. सिसिणह ।

हुए कृपाण खींच लिये गये। अरिजनोंको मृत्युका मार्ग दिखाते हुए तथा उनका सम्मर्दन करते हुए गज-समूह चल पड़े। सुमेरु पर्वतपर अत्यधिक बोझ आ पड़ा। छत्रावलियोंसे अम्बर छा गया। प्रचुर धूलिसे धूसरित शरीरवाले वे धीर पुरुष मार्गमें (ऐसे) जा रहे थे, मानों पर्वत ही हों। विद्याधरों एवं देवोंके मन एवं नेत्रोंको आनन्दित करनेवाले 'देवघोष' नामक रथपर सवार होकर कामदेवको जीतनेवाला तथा तीनों लोकोंका स्वामी, हयसेनका वह पुत्र पार्श्व जब युद्धमें जा रहा था—

घत्ता—तबतक उधर कालयवन एवं राजा रविकीर्ति क्रोधावेशमें आकर रणमें प्रविष्ट हो गये और दर्पसे उद्‌भट वे दोनों ही राजा जयश्रीके हेतु परस्परमें भिड़ गये ॥ ३१ ॥

[३-७]

दोनों राजाओंका तुमुल-युद्ध

अत्यन्त तीक्ष्ण तलवारें खींच ली गईं, मानों यमराज प्रत्यक्ष ही जीभ दिखा रहा हो। वीर पार्श्व जिनेन्द्रको भयानक कालके समान मानकर कोई भी योद्धा शस्त्र धारण नहीं कर पा रहा था। प्रचण्ड घोड़ोंके द्वारा गजयूथ खण्डित कर दिये गये। (दोनों ओरके) बलशाली योद्धा परस्परमें एक दूसरेको खण्डित करने लगे। किसीका हाथी, तो किसीका घोड़ा विदीर्ण हो गया। किसीके द्वारा किसीका शीर्ष ही छिन्न-भिन्न हो गया। किन्हींने अञ्जन पर्वतके समान कान्तिवाले मदोन्मत्त हाथीको मार गिराया तो किसीने सागरकी चञ्चल तरङ्गके समान घोड़ेको सुभट सहित मार गिराया। चन्द्रनख (नामक शस्त्र)के द्वारा उत्तम धवल वर्णके छत्र काट दिये गये। उससे ऐसा लगने लगा, मानों रणभूमिमें कमल ही खिल उठे हों। फहराती हुई ध्वजाएँ काट दी गईं। उससे ऐसा प्रतीत होता था (मानों) पृथिवीपर असतियोंके वस्त्र ही पड़े हों। समर्थ पदातिगण आह्वान करते थे (और) दोनों ओरकी सेनाओंके योद्धागण थककर मरते थे। दोनों ओरकी सेनाओंके युद्ध करते-करते शत्रुओंका दल भाग उठा।

घत्ता—अपनी सेनाको भागते हुए देखकर कालयवन बहुत क्रुद्ध हुआ और रथपर सवार होकर (तथा) हाथमें धनुषबाण लेकर (वह) क्रोधावेशमें आकर दौड़ा ॥ ३२ ॥

[३-८]

दोनोंके भयंकर युद्धके समय ही पार्श्वका ससैन्य वहाँ पहुँचना

—और भागते हुए अपने योद्धाओंको रोका तथा सैन्यके पूरसे उसे पीछेसे मारा। वे भी लज्जासे भरकर पुनः युद्धमें लग गये और क्रोधके पूरसे वहाँ हाथी एवं घोड़ोंको विदीर्ण करने लगे। कोई किसीके द्वारा नाम लेकर ललकारा गया (तो) कोई जिनवचनका उच्चारण करने लगा। दौड़ते हुए किसी (भट)को छातीमें बींध दिया गया, मानों स्वामीके दानका फल ही सफल हो गया हो। 'शक्ति' नामक अस्त्रके प्रहारसे कोई-कोई भट (ऐसा) काट दिया गया मानों भग्न-शरीरसे ही वह अपना जीवन धारण कर रहा हो। विदीर्ण एवं मरे हुए योद्धाओंसे

दारिया मारिया जोह-रुंधा धरा संमुहं तो वि धावंति रणि किंकरा।
तेण रविकित्तिरायस्स बलु तट्ठउ णाइँ सर-भिण्णु बंभज्जई भट्ठउ।
पेच्छिऊण वि तं भग्गमाणं बलं जाम रविकित्तिणा धीरिउ णियबलं।
मारु-मारं भणंतो वि पुणु धाविउ ताम कालक्खु अरि-संमुहो आविउ।
ते वि कुद्धा णिवा णाइँ पंचाणणं मत्तवीसेहिँ तं वुत्तु चंदाणणं।

घत्ता—ते बिण्णि णरेसर धणुहकरा जा तज्जंति परुप्परु।
तावहिँ सिरिपासु जिणेसु तहिँ आयउ सुरणरपवरु॥ ३३॥

[३-९]

जासु पहावेँ णहयलु कंपइ जसु बलु सग्गि सुरेसरु जंपइ।
कालहु कालत्तणु दरिसावइ तइलोउ वि लीलइँ उच्चावइ।
मयण-मडप्फहु जो रणि भंजइ कोह-लोह-माया-मउ गंजइ।
पासहु देहि परक्कमु जित्तउ इंद-फणिंदहँ कासु ण तेत्तउ।
जाम तत्थ लीलइँ संपत्तउ णर-सुर-सेविउ वियसियवत्तउ।
तहु पयाव-भय-भीयउ तट्ठउ कालजमणु कालाणणु णट्ठउ।
कुमुणि व विसय-भुवंगेँ वट्ठउ णं रवितेएँ तमभरु भट्ठउ।
णं सद्दंसणेण कुग्गहुँ दुहु तव-पहाइँ णं भग्गउ मणरुहु।
णं अप्पादंसणि कम्महँ गणु तिं सो दुट्ठु णट्ठु छँडिवि रणु।

घत्ता—ता सुर-णरवर-णियरेँ गयणयलेँ जय-जय-सद्द पघुट्ठियउ।
तं सयलु मुणिवि विंभियमणिणा रविकित्तेँ जिणु दिट्ठउ॥ ३४॥

[३-१०]

तित्थयरपयाउ मुणिवि तेण जिण-संमुहु सो धायउ खणेण।
उयारिवि [स] गइंदहु ण किउ खेउ तेँ पणविउ पासजिणेँदु देउ।
कुसलत्तु पपुच्छिउ रहभरेण आलत्तु पुणु वि वियसिय-गिरेण।
भो देव जयत्तय-सोक्खकारि चउगइ-दावाणल-समण-वारि।
तुव णामेँ णासहि दुक्खलक्ख अरियण पुणु कहँ थक्कहिँ पयक्ख।
इय जंपिवि बहुविणएँ भरेण णियणयरि णीउ जय-जय-सरेण।
आणंदु कुसत्थलु जाउ ताम घरि-घरि णच्चहिं तहिँ जुवइ साम।
णायरियहिँ ता किय हट्ट-सोह सुरहँ वि मणि जाइ संजणइ खोह।

पृथिवी रुँध गई तो भी योद्धागण उनके सम्मुख आकर दौड़ते थे। तब उससे राजा अर्ककीर्त्ति की सेना उसी प्रकार त्रस्त हो गई जिस प्रकार वेदगानमें स्वरभग्न होनेसे कोई ब्राह्मण यति भृष्ट हो जाता है। अपने सैन्यको भागते हुए देखकर जब तक रविकीर्त्तिने उसे धैर्य बंधाया और 'मारो-मारो' करते हुए दौड़ा तभी उसका शत्रु कालयवन उसके सम्मुख आया। वे दोनों नृप सिंहके समान क्रुद्ध हो गये। (यह प्रसंग) बीस मात्राओंवाले चन्द्रानन-छन्दमें वर्णित है।

घत्ता—वे दोनों नरेश्वर धनुषवाण हाथमें लेकर परस्परमें तर्जना कर रहे थे, तभी देवों एवं मनुष्योंमें श्रेष्ठ पार्श्वजिनेश भी वहाँ आ पहुँचे ।।३३।।

[३-९]

पार्श्वके प्रभावसे अर्ककीर्त्तिकी विजय

जिसके प्रभावसे नभस्तल काँपता है, स्वर्गमें सुरेश्वर भी जिसके बलकी चर्चा करता है, कालके लिये भी जो यमका मार्ग दिखा देता है, तीनों लोकोंको भी जो लीलामात्रमें ही उछाल सकता है, जो मदन के अहङ्कार को रणमें भग्न कर देता है, जो क्रोध, लोभ, माया एवं मद (मान)का मर्दन कर देता है, ऐसे पार्श्वके शरीरमें जितना पराक्रम था (उतना) इन्द्र एवं फणीन्द्रमें भी न था। जब मनुष्यों एवं देवों द्वारा सेवित विकसित मुखवाले पार्श्व (जैसे ही) लीलापूर्वक वहाँ पहुँचे, वैसे ही उनके (पार्श्वके) प्रतापसे भयभीत होकर साक्षात् काला मुखवाला कालयवन भी भाग उठा। जिस प्रकार विषयरूपी भुजङ्गसे दष्ट होकर कुमुनि पतित हो जाता है और जैसे रविके तेजसे तमका भार नष्ट हो जाता है अथवा जिस प्रकार सम्यग्दर्शनसे दुर्गतिरूप दुख अथवा तपके प्रभावसे कामदेव भग्न हो जाता है और जिस प्रकार आत्मदर्शनसे कर्म समूह ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह दुष्ट (कालयवन) भी युद्धभूमि छोड़कर भाग गया—

घत्ता—तब सुरों एवं मनुष्योंने गगनतलमें जय-जयकार शब्दका घोष किया। यह सब जानकर आश्चर्यचकित मनसे अर्ककीर्त्तिने जिनवर पार्श्वको देखा ।। ३४ ।।

[३-१०]

अर्ककीर्त्ति द्वारा पार्श्वको अपने घरमें लाना

(भावी) तीर्थङ्कर (पार्श्व)के प्रतापको जानकर वह अर्ककीर्त्ति तत्काल ही जिन भगवान्‌के सम्मुख दौड़ा। अपने गजेन्द्रसे उतरकर क्षणभर भी कालक्षेप किये बिना उसने पार्श्व-जिनेशको प्रणाम किया। रविकीर्त्तिने उत्सुकतापूर्वक कुशल वृत्तान्त पूछकर उनसे प्रसन्नतासे खिली हुई वाणीमें कहा—"हे देव, तुम तीनों लोकोंको सुख देनेवाले हो, चतुर्गति रूप दावानल-को शान्त करनेके लिये जल हो। (जब) तुम्हारे नाममात्रसे ही लाखों दुख शान्त हो जाते हैं (तब) फिर शत्रुजन तुम्हारे सम्मुख ठहर ही कैसे सकते हैं?" ऐसा कहकर वह बड़ी ही विनय-से भरकर उन (पार्श्व)की जय-जयकार करता हुआ, उन्हें अपने नगरमें ले आया। कुशस्थलमें आनन्द छा गया। वहाँ घरों-घरोंमें श्यामा युवतियोंने नृत्य किया। नागरिकोंने बाजारोंमें ऐसी

बहि-दब्भंकुर-चंदण-पवित्त आरत्तिय किय बहुरयणदित्त ।
वज्जंतहिँ तूरहिँ बहुविहेहिँ पेसियउ कुमरु पुणु णिय-पगेहि ।

घत्ता—रविकित्ते ँ ता सिरिपासु जिणु वत्थाहरणे ँ पुज्जियउ ।
भुंजाविवि भोयणु बहु-रसउ विणएँ पुण्णु समज्जियउ ।। ३५ ।।

[३–११]

अण्णहिँ दिणि रविपहु भणइ वयण परिणहि महु पुत्तिय हरिणणयण ।
णामेण पहावइ चंदवयण लडहंगी जा रंजइ सयण ।
तं णिसुणिवि जंपइ पासु तहु जं चविउ तुम्ह तं होउ लहु ।
अणुमण्णिवि जा णिवसेइ जिणु गय-रयणि पऊसिहिँ उइउ इणु ।
ता गच्छमाणु णायरियजणु जिणु पेच्छिवि पुंछइ माम भणु ।
तं सुणिवि कुसत्थलसामि पुणु आहासइ तह तावसहँ गणु ।
वणि णिवसइ तवइ जि तिव्वु तउ पंचग्गि जाहँ ताविय उ वउ ।
फल-कंद-मूल भक्खंति णिरु परिचत्त सपुत्त-कलत्त-घरु ।
तहु वंदणत्थि इहु जाइ जणु वरवत्थालंकिउ एय-मणु ।
तं णिसुणिवि मामहु वयणगइ ता णियमणि वियसिउ सुद्धमइ ।

घत्ता—अण्णहिँ दिणि ता कोऊहलेण मत्तमहागयरूढु जिणु ।
सहु मामे ँ कयवय-सेवएण परिभमंतु गउ तं जि वणु ।। ३६ ।।

[३–१२]

तहिँ रमइ जाम सुरणर मणिट्ठु ता तवसि एक्कु पुणु तेण दिट्ठु ।
पंचग्गि-ताव-ताविय उ गत्तु गउरी-पिययमि अणुरत्तचित्तु ।
तरु एक्कु सुक्कु जे ँ डहिउ पासि गउ पासु जिणेसरु तहु सयासि ।
अण्णाण-जणहिँ पणविज्जमाणु पेक्खेप्पिणु जंपइ तासु णाणु ।
किं मिच्छाइट्ठिहु करइ भत्ति जो णवि फेडइ संसार-अत्ति ।
तं सुणि कोविउ कमठक्खु दुट्ठु भो णरवर किं जंपहि अणिट्ठु ।
किं अण्णाणत्तणु अम्ह जाउ किं परु णिंदहि तुहुँ गरुउ राउ ।
तं सुणि तिलोयवइणा पउत्तु तुव गुरु मरेवि कहि कत्थ पत्तु ।

शोभा की, जो देवोंके मनमें भी क्षोभ उत्पन्न करने लगी। दही, दर्भाङ्कुर एवं चन्दनसे पवित्र एवं विविध रत्नोंसे दीप्त आरती उतारी गई। बहुत प्रकारके बजते हुए तूरोंके निनादके साथ उस अर्ककीर्त्तिने कुमार पार्श्वको पुनः अपने घर भेज दिया।

घत्ता—अर्ककीर्त्तिने पार्श्वजिनकी वस्त्राभूषणोंसे पूजा की और त्रिविध रसयुक्त भोजन कराकर विनयपूर्वक सेवा की॥ ३५॥

[३-११]

अर्ककीर्त्ति द्वारा अपनी कन्या प्रभावतीके साथ विवाह हेतु पार्श्वसे प्रार्थना तथा पार्श्व द्वारा स्वीकृति प्रदान

अन्य दूसरे दिन अर्ककीर्त्तिने कहा—"मेरी मृगनयनी, चन्द्रवदनी, सौन्दर्यवती एवं स्वजनों का मनोरञ्जन करने वाली प्रभावती नामकी पुत्रीके साथ विवाह करो।" यह सुनकर पार्श्व-जिनने कहा—"आप जो कहते हैं, वह शीघ्र ही हो।" (फिर) अनुमति देकर पार्श्वजिन जब वहाँ रह रहे थे (तभी) रात्रि व्यतीत होनेपर उषःकालमें सूर्योदय हुआ। पार्श्वजिनने जाते हुए नागरिकजनोंको देखकर अपने मामा (अर्ककीर्त्ति)से (उनके जानेका कारण) पूछा। उसे सुनकर कुशस्थल नरेशने कहा—"ये लोग वहाँ जा रहे हैं, जहाँ तापसोंका एक संघ वनमें रहता है, वह तीव्र तप करता है। वे तापस पञ्चाग्नि-तपके व्रती हैं। वे केवल फल, कन्द एवं मूलका भक्षण करते हैं। उन्होंने अपने पुत्र, कलत्र एवं घरबारको छोड़ दिया है। उन्हींकी वन्दनाके हेतु ये लोग उत्तम वस्त्रोंसे सज्जित हो-होकर एकाग्रमनसे जा रहे हैं।" मामाके ये वचन सुनकर विशुद्ध मतिवाले पार्श्वजिन अपने मनमें प्रसन्न हुए।

घत्ता—तब अन्य दूसरे दिन कुतूहलपूर्वक मतवाले महागजेन्द्रपर आरूढ़ होकर पार्श्वजिन (अपने) मामाको साथमें लेकर कतिपय सेवकोंके साथ घूमते हुए उसी वनमें गये॥ ३६॥

[३-१२]

अर्ककीर्त्तिके साथ पार्श्वका वन-गमन एवं पञ्चाग्नितप हेतु प्रज्ज्वलित वृक्षकोटरसे अर्धदग्ध नाग-नागिनीका उद्धार

सुरनरप्रिय पार्श्व जब वहाँ रमण कर रहे थे तो उन्होंने (वहाँ) एक तापसको देखा, जिसका गात्र पञ्चाग्नितापसे तप्त था और चित्त शङ्करमें अनुरक्त था और जो एक सूखे वृक्षको अपने पासमें जला रहा था। पार्श्वजिनेश्वर उसके समीप गये। अज्ञानी जनों द्वारा नमस्कृत उस तापसको देखकर सम्यग्ज्ञानी पार्श्वजिन बोले—"जो स्वयं ही संसारके दुःखको नष्ट नहीं कर सकता, उस मिथ्यादृष्टिकी भक्ति क्यों करते हो?" यह सुनकर कमठ नामक दुष्ट तापस क्रुद्ध हो उठा (और बोला)—"हे नरश्रेष्ठ, अप्रिय क्यों बोलते हैं? हमारी क्या अज्ञानता हो गई? बड़े मात्सर्यपूर्वक आप परनिन्दा क्यों कर रहे हैं?" कमठकी बात सुनकर त्रिलोकपतिने

तं वयणु सुणिवि आरत्त-चक्खु पडिजंपइ को जाणइ पयक्खु ।
अह पुणु दीसहि णाणेण दक्खु जइ जाणहि ता तुहु एत्थ अक्खु ।
ता णाहु भणइ इहु हुउ सदप्पु तरु-कोट्टरि तुव गुरु मरिवि सप्पु ।
किं डज्झमाणु णउ णियहि मुक्ख तरु फाडिवि जोवहि भो पयक्ख ।
तं णिसुणिवि ता आरुट्ठु धिट्ठु जो हुंतउ महु गुरु गुणगरिट्ठु ।
किह उरउ जाउ तणु तवेण खीणु पंचग्गिसहणि जो णिरु पवीणु ।

घत्ता—ता तिक्खकुठारें कोहिएण कट्ठु वियारिउ तेण णिरु ।
अद्धद्धु तहँ उरयजुउ दिट्ठउ तत्थ धुणंतु सिरु ॥ ३७ ॥

[३-१३]

उवहसिउ ताम तावसु जणेहिँ होइवि विलक्खु कोविउ मणेहिँ ।
एत्थंतरि पासजिणेसरेण उयरि गयाउ भावियदएण ।
उरयहँ सवणंति पवित्तु मंतु दिण्णउ दुग्गइ-णासणकयंतु ।
ते तं गिण्हिवि तणु चइवि पत्त हुव भवणवासि जिणणाह-भत्त ।
कालाहि जाउ धरणेंदु जत्थ इयर वि पोमावइ जाय तत्थ ।
तावसु वि कोहु धारिवि मणेण मरिऊण हुवउ सुरु तक्खणेण ।
संवरु णामें जोइस-णिवासि तहिँ णिवसइ सो वरतेयरासि ।
उरयहँ पिच्छिवि णिम्मुक्कपाण जिणु चिंतइ जीवहँ णत्थि ताण ।

घत्ता—इंदु वि धरणेंदु वि चंदु-रवि विंतरेंद-खेयर वि तहिँ ।
हलहर-हरि-पडिहरि-चक्कधरा आउक्खइँ गय एव जहिँ ॥ ३८ ॥

[३-१४]

वइराउ जिणेंदहु जाउ खणि थिउ अरु हुअ धुउ चेत्तंतु मणि ।
पुग्गलसहाउ पूरइ गलए अंजलिजलु व्व आउसु ढलए ।
महवाधणु व्व धणु सुहु अथिरु जूवाधणु व्व क्खणि होइ परु ।
संझाघणरंगु व रायरुइ इंदियसुहु परु जहिँ असइमइ ।
कंतारइ तारायण तरला जलहरउ णाइँ जहिँ विहि चवला ।
णवजोव्वणु णइपूरु व वरसइ लावण्णु वण्णु दिणि-दिणि तहसइ ।
इंदिय-सुहु तडि-तरलत्तणउ अवसाणि सरीरु ण अप्पणउ ।

पूछा—"बताओ, तुम्हारा गुरु मरकर कहाँ उत्पन्न हुआ है ?" पार्श्वके वचन सुनकर (तथा) आरक्त नेत्र होकर वह कमठ प्रत्युत्तरमें बोला—"इस बातको प्रत्यक्ष कौन जान सकता है ? तुम ज्ञानमें बड़े दक्ष दिखाई दे रहे हो। यदि तुम जानते हो तो इस बातको बताओ।" यह सुनकर पार्श्वनाथ बोले—"तुम्हारा यह गुरु मरकर वृक्षकी कोटरमें दर्पीला सर्प हुआ है। अरे मूर्ख, क्या जलते हुएको नहीं देख रहा है? वृक्ष फाड़कर तू उसे प्रत्यक्ष ही देखले।" इस वचनको सुनकर वह धृष्ट (कमठ) चिल्लाया—"मेरे जो महान् गुरु थे तथा जो तपस्याके कारण क्षीण-देह थे और जो पञ्चाग्निके ताप-सहन करनेमें अत्यन्त प्रवीण थे, वे सर्प कैसे हो सकते हैं ?"

घत्ता—तभी उस क्रोधित कमठने तीक्ष्ण कुठारसे उस काष्ठ (वृक्ष-कोटर)को बीचोंबीच से फाड़ दिया और उसमें उसने अर्धदग्ध सर्पयुगलको अपना सिर धुनते हुए देखा ॥ ३७ ॥

[३-१३]

पार्श्वके मनमें वैराग्योदय एवं अनुप्रेक्षानुस्मरण

तब लोगोंने तापसकी हँसी उड़ाई। वह लज्जित होकर मनमें क्रुद्ध हो गया। उरगयुगलके प्रति दयार्द्रचित्त होकर उसके कानोंमें दुर्गतिका नाश करनेके लिये कृतान्तके समान पवित्र मन्त्र दिया। उसे सुनकर वह (सर्पयुगल) अपना शरीर त्यागकर भवनवासी देव हो गया और जिन-नाथका भक्त हुआ। उस युगलमेंसे काला साँप तो धरणेन्द्र हुआ और दूसरा साँप वहीं पद्मावती देवी हुई। तापस भी मनमें क्रोध धारण करके तत्क्षण मरकर श्रेष्ठ तेज पुञ्जयुक्त और ज्योतिषी देवोंमें निवास करनेवाला संवर नामक श्रेष्ठ देव बना और वहीं निवास करने लगा। (उधर) सर्पयुगलको प्राणरहित देखकर पार्श्वजिन विचार करने लगे—"संसारमें जीवोंके लिये मृत्युसे त्राण नहीं है।

घत्ता—इन्द्र, धरणेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, व्यन्तरेन्द्र, विद्याधर, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्त्ती आदि सभी आयुके क्षयके बाद मृत्युको प्राप्त होते ही हैं" ॥ ३८ ॥

[३-१४]

अनित्यानुप्रेक्षा

जिनेन्द्रको तत्क्षण वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे स्थिर एवं ध्रुव चित्त हो मनमें विचार करने लगे—"पुद्गलका स्वभाव है कि वह बढ़ता और घटता रहता है। आयु अञ्जलीके जलके समान ढलती जाती है। धन एवं सुख इन्द्रधनुषके समान अस्थिर हैं (अथवा वे) जुएके धनके समान क्षणभरमें दूसरेके हो जाते हैं। सन्ध्याकालीन बादलोंके रंगके समान राग एवं रुचियाँ (अथवा राज्यशोभा) भी क्षणिक हैं जहाँ कि इन्द्रिय सुख व्यभिचारिणियों (असतिमति)के समान दूसरेका हो जाता है। स्त्री भोग (जहाँ) तारागणके समान तरल है और जहाँ भाग्य जलधरके समान चपल है। नवयौवन (बरसाती-)नदीके पूरके समान क्षीण हो जानेवाला है। सौन्दर्य और वर्ण प्रतिदिन हीयमान हैं। इन्द्रिय-सुख बिजलीके समान चंचल है। अवसानके समय

भारुवहय-जरपत्तुव-सरिसु तह रज्जु-भोउ सासउ ण कसु ।[1]

घत्ता—इउ अणिच्चु मण्णिवि सयलु णिच्चु णिरंजणु सुद्धु जिउ ।
भावंतु वि णियमणि पासु जिणु पुणु असरणु चित्तंतु थिउ ॥ ३९ ॥

[३-१५]

मायरि-गब्भि अहव जम्मण-खणि अहवा डिंभ-भावि णवजोव्वणि ।
अह सरीर वियलइ बुड्ढत्तणि थलि जलि णहयलि वच्छय-सिरि वणि ।
सरि-दरि-विवरि तहव रयणायरि कुल-गिरि-सिहरि अहव पविपंजरि ।
जइ वि जीउ पइसइ पायालइ इंदभवणि मणिगण-सोहालइ ।
जीउ तहँ वि कालेँ कवलिज्जइ हरिणहु डिंभु व सीहेँ णिज्जइ ।
करि-हरि-भडारहँ वूह समत्थइँ आउसंति ते सयल णिरत्थइँ ।
भायर-पुत्त-कलत्त वि सुहयर रक्खंति ण कुइ कासु वि इह धर ।
सक्कहु पुणु असरणु जह दिट्ठउ किं तह इयरु वि णरु णिक्किट्ठउ ।

घत्ता—जीवहु ण सहेज्जउ एँत्थु इह धम्मु मुएप्पिणु वयपउरु ।
चउगइ-संसारहँ संसरणु पुणु चिंतेइ जिणेसरु ॥ ४० ॥

[३-१६]

भमइ जीउ चउगइ-संसारइ सहइ दुक्ख तह विविह-पयारइ ।
णाणावण्ण-सरीरु धरंतउ[1] आउ समक्खइ ताइ मुअंतउ ।
सुर-णर-तिरिय-जोणि उप्पज्जइ बहुपावेँ पुणु णरइ णिमज्जइ ।
सामि-भिच्चु भिच्चु वि दासत्तणि जणणु-पुत्तु पुणु सो बप्पत्तणि ।
उप्पज्जंतु मरंतउ पुणु-पुणु चउरासिहिँ जोणिहिँ धम्मेँ विणु ।
भमइ जीउ णवि कोवि सहायउ भुजइ चिरकियकम्मु वरायउ ।
सो ण थाणु जहिँ णउ उप्पण्णउ णत्थि गइ वि सो जहिँ ण पवण्णउ ।
सो ण भवंतरु जहिँ णउ पत्तउ भमइ जाउ रयणत्तउ चत्तउ[2] ।

घत्ता—इय संसारि सरंतएण दुल्लहु णरभउ पाविवि ।
एयाणुविक्ख अणुसरइ पुणु णियमणि एक्कु वियारिवि ॥ ४१ ॥

---

१. ख. परंतउ । २. ख. पत्तउ ।

शरीर भी अपना नहीं रहता। राज्यभोग भी भारोपहत जीर्णपत्रके समान किसीके लिये शाश्वत नहीं होता। ॥

घत्ता—इस प्रकार समस्त जगतको अनित्य मानकर अपने मनमें नित्य, निरञ्जन और शुद्ध जीवकी भावना करते हुए पार्श्वजिन पुनः अपने मनमें अशरण भावनाका चिन्तन करने लगे ॥ ३९॥

[३-१५]

अशरणानुप्रेक्षा

माताके गर्भमें, जन्मके समय अथवा बालपनमें या नवयौवनमें और तदनन्तर वृद्धत्वमें यह शरीर विगलित होता रहता है। यह जीव थलचर, जलचर, नभचर, (योनिमें तथा) वृक्ष शोभा सम्पन्न वनमें सरिता, कन्दरा-विवर या समुद्रमें अथवा कुलाचल-शिखर या वज्रपञ्जरमें, अथवा पातालमें ही अथवा मणियोंसे सुशोभित इन्द्र भवनमें ही क्यों न प्रविष्ट हो जाय, वह यमराजके द्वारा उसी प्रकार कवलित कर लिया जाता है जिस प्रकार मृगशावक सिंहके द्वारा ले जाया जाता है। हाथी, सिंह एवं योद्धाओंके समर्थ समूह ये सभी आयुष्यके अन्तमें निरर्थक हो जाते हैं। सुखदायक भाई, पुत्र एवं कलत्र कोई भी इस पृथिवी-मण्डलपर कहीं भी किसीकी रक्षा नहीं कर सकते। जहाँ शक्रको भी निराश्रित देखा जाता है, वहाँ दूसरे इतर निकृष्ट व्यक्तिकी तो बात ही क्या?

घत्ता—दयाप्रधान धर्म छोड़कर प्राणीके लिये इस संसारमें कोई अन्य सहायक नहीं। फिर जिनेश्वर संसारमें चतुर्गति रूप संसरणका विचार करने लगे ॥ ४० ॥

[३-१६]

संसारानुप्रेक्षा

संसारमें यह जीव चारों गतियोंमें भटकता फिरता है और विविध प्रकारके दुखोंको सहता रहता है। नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करता और आयुके क्षय होनेपर उनका त्याग करता रहता है। देव, मनुष्य एवं तिर्यञ्च-योनिमें वह जन्म लेता है और बहुत पापोंके कारण वह पुनः नरकगतिमें जा डूबता है। स्वामी भृत्य और भृत्य दास बन जाता है। पिता पुत्र और फिर वही पुत्र बापरूपसे बार-बार उत्पन्न होता हुआ और मरता हुआ धर्मके बिना चौरासी योनियोंमें भटकता रहता है। उसका कोई भी सहायक नहीं होता और इस प्रकार वह बेचारा चिरसञ्चित कर्मोंके फलको भोगता रहता है। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ यह जीव उत्पन्न न हुआ हो, ऐसी कोई भी गति नहीं जिसे इस जीवने प्राप्त न किया हो, ऐसा कोई भवान्तर नहीं, जहाँ यह जीव न पहुँचा हो और वह रत्नत्रयके बिना भ्रमण करता ही रहता है।

घत्ता—संसारमें भटकते हुए दुर्लभ मनुष्यभव को प्राप्त करके पार्श्व फिर अकेलेपनका विचार करते हुए एकत्वानुप्रेक्षाका अनुसरण करने लगे ॥ ४१ ॥

[३–१७]

एक्कु वि इंदु होइ उप्पज्जइ　एक्कु वि रउरव-णरइ णिमज्जइ ।
एक्कु वि तिरियजोणि दुहतत्तउ　एक्कु वि मणुउ होइ मयमत्तउ ।
एक्कु जि णहयरु जलयरु थलयरु　एक्कु जि सीहु सरहु वणि अजयरु ।
एक्कु जि राउ-रंकु सुह-दुहघरु　बंभणु सुद्दु एक्कु वणिवरु वरु ।
एक्कु वि कम्मु सुहासुहु भुंजइ　एक्कु वि भवि अप्पाणउ रंजइ ।
एक्कु वि कत्ता-भुत्ता उत्तउ　एक्कु वि हिंडइ मोहासत्तउ ।
असहायउ एक्कल्लउ अप्पउ　कोइ ण तहु सहेज्जु हयदप्पउ ।

घत्ता—एक्कल्लु णिरंजणु णाणमउ　कम्म-विमुक्कउ सुद्ध-जिउ ।
अण्णु ण कुइ बीयउ तासु इह अण्णत्तु वि चिंतंतु थिउ ॥ ४२ ॥

[३-१८]

अण्णु जीउ तणु अण्णु णिरुत्तउ　पंचेंदिय सुहु अण्णु पउत्तउ ।
अण्णु जणणु माया-पिय अण्णइ　जाणंतु वि इय[1] मे-मे भण्णइ ।
अण्णु जि पुत्त-मित्त सुहि-सयणइँ　अण्ण अचेयण मणिमय-भवणइँ ।
अण्णु दुरय-रह-तुरय[2] वि अण्णइँ　मोहेँ बद्धउ मे-मे भण्णइ ।
कहु ण को वि दीसइ परमत्थेँ　अण्णु सयलु णउ गच्छइ सत्थेँ ।
बोक्कडु जह सूणारहो मंदिरि　अट्ठि-वसा-अयसिग असुंदरि ।
मे-मे-मे भणंतु खय गच्छइ　अण्णु जीउ णउ कहम णियच्छइ ।
अच्छइ धण-सयणहिँ मोहिल्लउ　जाइ मरिवि णरयहिँ एक्कल्लउ ।

घत्ता—इय अण्णत्तणु मुणिवि मणि दुद्धरु[3] तउ णउ जो करए ।
बहुदुक्खलक्खजोणिहिँ पउरे[4] सो संसारइ संसरए ॥ ४३ ॥

[३-१९]

असुइ देहु असुइहिँ उप्पण्णउँ　सोय-रोय-बहुदुक्खहिँ छण्णउँ ।
अइ-दुग्गंधु सेय-मल-थिप्पिरु　सत्तधाउघरु अट्ठिहि पंजरु ।
चम्मेँ छण्णउँ अंतहो पोट्टलु　जममुहि खित्तु असारउ विट्टलु ।

---

१. क. पय ।　२. क. उरय ।　३. ख. बुद्धरु ।　४ क. उपरे ।

[३-१७]

एकत्वानुप्रेक्षा

यह जीव अकेला ही इन्द्र बनकर जन्म लेता है और अकेला ही रौरव नरकमें जा पड़ता है। अकेला ही दुःखोंसे तप्त तिर्यञ्च गतिमें जन्म लेता है और अकेला ही मदमत्त मनुष्य होता है। अकेला ही वह नभचर, जलचर या थलचर बनता है और अकेला ही वनमें सिंह और शरभ होता है। वह अकेला ही सुखी अथवा दुखी, राजा या रङ्क, अकेला ही ब्राह्मण, शूद्र अथवा वणिक्-श्रेष्ठ बनता है। अकेला ही शुभाशुभ कर्मोंको भोगता है, तो अकेला ही संसारमें अपनेको अनुरञ्जित करता है। यह जीव स्वयं ही कर्मोंका कर्त्ता एवं उनका भोक्ता कहा गया है। मोहासक्त होकर अकेला ही घूमता-भटकता रहता है। दर्परहित आत्मा बिल्कुल असहाय और अकेला होता है, कोई भी उसका सहायक नहीं होता।

घत्ता—शुद्ध जीव अकेला ही निरञ्जन, ज्ञानमय एवं कर्मविमुक्त होता है। यहाँ संसारमें उस जीवका अन्य कोई नहीं। तदनन्तर जिनेश्वर अन्यत्वानुप्रेक्षाका चिन्तन करने लगे॥ ४२॥

[३-१८]

अन्यत्वानुप्रेक्षा

जीवात्माको अन्य कहा गया है और शरीरको अन्य। पञ्चेन्द्रिय सुख भी अन्य ही कहा गया है। पिता अन्य है और माता, प्रिय तथा प्रिया (पति-पत्नी) अन्य। यह जानते हुए भी जीव "यह मेरा है—यह मेरा है" ऐसा कहा करता है। पुत्र, मित्र, सुहृद एवं स्वजन (सभी) अन्य हैं। मणिमय भवनादि अचेतन भी अन्य ही हैं। हाथी अन्य है और रथ एवं घोड़े भी अन्य। वह (जीव) मोहाबद्ध होकर उन्हें "मेरा-मेरा" कहता है। परमार्थतः कोई किसीका दिखाई नहीं देता। सभी वस्तुएँ भिन्न हैं। साथमें कोई भी वस्तु नहीं जाती। जिस प्रकार बकरा, अस्थि, वसा, अजश्रृङ्ग आदि बीभत्स पदार्थोंसे भयानक सूणार (कसाई)के घरमें "मैं-मैं-मैं" चिल्लाता हुआ मृत्युको प्राप्त हो जाता है। (उसी प्रकार यह जीव भी। फिर भी) वह किसी भी प्रकार यह नहीं देखता कि 'जीव' अन्य सब वस्तुओंसे भिन्न है तथा धन और स्वजनोंमें मोहित होकर रहता है तथा मरकर अकेला ही नरकोंमें चला जाता है।

घत्ता—इस प्रकार अपने मनमें अन्यत्त्वको जान कर भी जो दुर्धर तप नहीं करता वह अनेकों दुःखों और लाखों योनियोंसे प्रचुर संसारोंमें भटकता रहता है॥ ४३॥

[३-१९]

अशुच्यानुप्रेक्षा

यह अशुचिदेह अशुचि पदार्थोंमें से उत्पन्न हुई है (जो) शोक, रोग तथा अनेकों दुःखोंसे आच्छादित रहती है, अत्यन्त दुर्गन्धिपूर्ण है और जिसमेंसे पसीना एवं मैल विगलित होते रहते हैं। वह सप्त धातुओंका घर, अस्थियोंका पञ्जर, चर्माच्छादित, अन्तड़ियोंकी पोटली, और यमराजके

घोसवंतु जइ सासउ होंतउ सा मे-मे भणंतु सो हंतउ ।
पित्ते कलियउ खीणइ तप्पइ बायं घुलियउ वंकइ कंपइ ।
सिंभो-पूरउ पयडइ अहणिसु महियलि घुलइ पुणु वि मग्गिवि मिसु ।
[× × × × × × × × × × × × ×।]
धोयं वरसिरिखंडकपूरइँ जा पवित्त सा तासु जि दूरइँ ।
जइ धोवहि खीरंबुहिपाणिए तह ण पवित्तु वि सुरवर माणिए ।

घत्ता—मुणि तासु सरीरहु सारु इहु जं तव-वय-संजम-धरणु ।
विणु तेसें मायामयपउरु जीवहु कम्मासउ करणु ॥ ४४ ॥

[३-२०]

मिच्छाविरतिहिँ जोय-कसायहिँ कम्मासउ उत्तउ बहुभावहिँ ।
पंचेंदिय-रस-पसर-वियारहिँ णोकसाय-अण्णाण-पयारहिँ ।
पंचमहव्वय-भर असहायहिँ पंचसमिय विणु पयडियरायहिँ ।
एयहिँ कम्मासउ संपज्जइ कम्मे बद्धउ भववलि दिज्जइ ।
मण-वय-काय-असुहसंचारें असुहु कम्मु आसवइ असारें ।
तेण जीउ भुंजइ बहुदुक्खइँ चउरासीति जोणि पुणु लक्खइँ ।
सुहकम्मासउ सुहजोयँ जिय तें जीवहु लब्भइ वंछिय सिय ।
जह सरवरि जलु णालिहिँ धावइ जीवपएसहिँ तिह मलु आवइ ।

घत्ता—आवंतहो तहो कम्मासवहो जो संवरें ण वि धारइ ।
सो भिण्ण णाव आरुहिवि सठु अप्पउ भवसरि तारइ ॥ ४५ ॥

[३-२१]

जयवर-विवहिँ संवरु किज्जइ आसव-दारहँ झंपणु दिज्जइ ।
मिच्छत्तहु सम्मत्तु पउत्तउ जोयहु गुत्तिसउ पुणु गुत्तउ ।
खम-परिणामें कोहु णिहप्पइ माणु वि मद्दवभावें जिप्पइ ।
माया अज्जवेण वारिज्जइ संतोसें लोहु वि दारिज्जइ ।
एयहि कम्मासउ रुंभिज्जइ कायोसग्गें तणु मंडिज्जइ ।
लेससण्णगारव-संचाएँ संवरु वड्ढइ सुद्धें भाएँ ।

---

१. ख. भायहिँ ।

मुखमें पड़कर असार एवं विकृत हो जाती है। यदि यह दोषयुक्त शरीर शाश्वत होता तो[१]........... ....(?)...तो भी "मैं-मैं" कहता हुआ वह मार डाला जाता है। पित्तसे युक्त होकर उछलकूद किया करता है और तपता है। वायुसे घुलने लगता है और टेढ़ा-मेढ़ा होकर कांपता रहता है। (वह) अहर्निश कफका पूर बहाता रहता है और (यद्यपि) पृथिवीतलपर घुलता रहता है, (फिर भी) वह पृथिवी-मण्डलपर जीवित रहनेका उपाय खोजता रहता है। उत्तम जातिके श्रीखण्ड, कर्पूर आदिसे धोनेपर भी पवित्रता उससे दूर ही बनी रहती है। वह शरीर यदि देवोंके द्वारा मान्य क्षीर समुद्रके पानीसे भी धोया जाय, तो भी (कभी) पवित्र नहीं होता।

घत्ता—तप, व्रत एवं संयमका जो धारण है, वही इस संसारमें शरीरका सार जानिए। उन्हें धारण किये बिना जीवके लिये माया एवं मद-प्रचुर यह शरीर केवल कर्माश्रवका ही कारण बना रहता है ॥ ४४ ॥

[३-२०]

आश्रवानुप्रेक्षा

मिथ्यात्व, अविरति, योग और कषाय तथा पञ्चेन्द्रियोंके रसास्वादनसे उत्पन्न विकार, नोकषाय और अज्ञानके विविध प्रकार आदि अनेक भावोंके द्वारा कर्माश्रव कहा गया है। पञ्च-महाव्रतोंके भार सहन न करनेसे, पञ्च समितियोंका पालन न करनेसे तथा प्रकट रागासक्तियोंसे कर्माश्रव होता है, कर्मसे आबद्ध होता है (और जिसके कारण) भवावली प्राप्त करता है। मन, वचन एवं कायके अशुभ एवं सारहीन सञ्चारसे अशुभ कर्माश्रव होता है। उसके कारण जीव बहुतसे दुःखोंको भोगता है और चौरासी लाख योनियोंमें (भटकता रहता है)। शुभ योगसे शुभ कर्माश्रव होता है, जिसके कारण जीव वांछित लक्ष्मी प्राप्त करता है। जिस प्रकार सरोवरमें जल नालियोंके द्वारा आता है, उसी प्रकार जीव-प्रदेशोंमें (इन्द्रियरूपी आश्रव-द्वारोंके द्वारा) कर्ममल आता है।

घत्ता—आते हुए उस कर्माश्रवको, जो संवरके द्वारा नहीं रोकता, वह शठ टूटी हुई नावमें चढ़कर अपनेको भवरूपी सरोवरमें उतार देता है ॥ ४५ ॥

[३-२१]

संवरानुप्रेक्षा

यतिवरोंके द्वारा संवर किया जाता है, आश्रवद्वारोंको रोक दिया जाता है। मिथ्यात्वके निरोधके लिये सम्यक्त्व कहा गया है। योगोंके निरोधके लिये तीन गुप्तियाँ कही गई हैं। क्षमा-भावसे क्रोधका दमन किया जाता है। मार्दव भावसे मानकषायको जीता जाता है। आर्जवभावसे मायाका निवारण किया जाता है एवं सन्तोषसे लोभको विदीर्ण किया जाता है। इस प्रकार इनसे कर्माश्रवको अवरुद्ध कर दिया जाता है तथा कायोत्सर्गसे अपने शरीरको मण्डित किया जाता है। अशुभ लेश्या, संज्ञा और अशुभ गौरवके त्यागसे तथा शुद्ध भावनासे संवर बढ़ता है।

१. प्रतीत होता है कि प्रतिलिपिकके प्रमाद अथवा असावधानीसे यहाँ एक पंक्ति लिखे जानेसे रह गई।

जिह जलु णावइ वरणें बद्धें सरवरम्मि वरपालिणिबद्धें।
[× × × × × × × × × × ×]
संवर सासयमग्गहु सहयरु संवरु चउगइ-तावहँ भयहरु।

घत्ता—इय जाणिवि संवरु गुणपउरु जो कोइ वि इहभवि धरए।
सो चिरभवि अज्जिउ दुहपउरु कम्मु सुहासुहु णिज्जरए॥ ४६॥

[३-२२]

झिणु चिंतइ दुविह वि मणि णिज्जर सविपाकाविपाक-भेएँ वर।
जह तरुफल पच्चहिँ सइ डालें अह उवाय-विहिणउ णियकालें।
तह वि कम्मघण मोहें घडियइ जीव-पएसहिँ णिवडइ जडियइ।
सव्वहँ जीवहँ सुह-दुह भेएँ कम्मु फलइँ कालें अकिलेवें।
रिसिवरहँ वि अक्कालें णिज्जर वयतवेण कयणियमणसंवर।
जह गिम्हें सुक्कइ वरसरवरु तह तवेण कम्मइँ पुणु अइवरु।
संवर पुव्व वि णिज्जर विरलहँ आसवपुव्व सा वि पुणु सयलहँ।
णिज्जराइ वरणाणु पयासइ णाणें लोयालोउ विभासइ।

घत्ता—पुणु धम्मु जि सारउ वयपउरो णियमणि जिणवरु सुच्चइ।
जो करइ ण मणवइ धरिवि थिरु सो अप्पाणउ वंचइ॥ ४७॥

[३-२३]

वहअंगहिँ पुणु धम्मु पउत्तउ धम्मु पउरु रयणत्तयजुत्तउ।
धम्मु वि बारहविह तवचरणें तेरहविह-चारित्ताचरणें।
धम्मु जि दुक्खलक्ख-विणिवारउ धम्मु भवण्णव-दुत्तर-तारउ।
धम्में तेउ-रूउ-बलु-विक्कमु धम्में दीहाउसु वि परक्कमु।
धम्में इंद-फणिंद-णरेंद वि धम्में चारण रवि-दिवि-चंद त्रि।
धम्में संसारावलि छिज्जइ धम्में सिवलच्छी पाविज्जइ।
धम्मु सुहिउ धम्मु वि पर-सज्जणु धम्में कोइ ण दीसइ दुज्जणु।
धम्में कें-कें एत्थु ण लब्भइ धम्में कामधेणु गिहि दुब्भइ।

---

१. क. गेभें। ख. गंभें।

जिस प्रकार भलीभाँति बाँधी हुई पंक्तिबद्ध सुदृढ़ मेढ़से युक्त सरोवरमें जल नहीं आता (उसी प्रकार संवरणसे युक्त होनेसे आत्मामें कर्ममल प्रविष्ट नहीं होता[१])। मोक्षमार्गके लिये संवर (ही) सहचर है। वह चतुर्गतिके तापोंके भयका हरण करनेवाला है।

घत्ता—इस प्रकार संवरको अत्यन्त गुणकारी जानकर इस संसारमें जो कोई भी भव्य उसे धारण करता है, वह चिरकालसे अर्जित दुःख प्रचुर शुभाशुभ कर्मोंको निर्जरा करता है ॥४६॥

[३-२२]

निर्जरानुप्रेक्षा

जिनवर अपने मनमें सविपाक और अविपाकके भेदसे दो प्रकारकी उत्तम निर्जराका विचार करने लगे। जिस प्रकारसे वृक्षोंके फल अपने समयसे बिना किसी उपायके स्वयं डालोंपर पकते हैं, उसी प्रकार मोहसे घटित कर्मरूपी बादल, जो जीव-प्रदेशोंमें निविडरूपसे जड़े हुए रहते हैं, वे सभी जीवोंके लिये सुख-दुखके भेदसे कालानुसार क्लेदरहितरूपसे फलते हैं। ऋषिगण व्रत, तपके द्वारा अपने मनका संवरण करके अकालमें ही कर्मोंकी निर्जरा कर देते हैं। जिस प्रकार ग्रीष्मसे गहरा सरोवर भी सूख जाता है, उसी प्रकार यतिवर अपने तपसे कर्मोंको सुखा देता है। संवरपूर्वक निर्जरा बिरलोंके लिये ही होती है। किन्तु आश्रवपूर्वक वह निर्जरा सभीके लिये सम्भव है। निर्जरा आदिसे सम्यग्ज्ञान प्रकाशित होता है और ज्ञानसे लोकालोक भासित होते हैं।

घत्ता—पुनः "दयाप्रवर धर्म ही सारभूत है, जो उसे धारणकर अपने मनको स्थिर नहीं करता, वह स्वयं अपनेको ठगता है" इस प्रकार जिनवरने अपने मनमें विचार किया ॥४७॥

[३-२३]

धर्मानुप्रेक्षा

पुनः दस अङ्गोंसे युक्त धर्म कहा गया है। रत्नत्रयसे युक्त धर्म ही श्रेष्ठ (होता) है। बारहविध तपका धारण एवं तेरहविध चारित्रका आचरण ही धर्म (कहा गया) है। धर्म ही लाखों दुखोंका निवारण करनेवाला है। धर्म ही दुस्तर भवसमुद्रसे पार उतारनेवाला है। धर्मसे ही तेज, रूप, बल एवं विक्रम प्राप्त होते हैं। धर्मसे ही दीर्घायुष्य एवं पराक्रम प्राप्त होता है। धर्मसे इन्द्र, फणीन्द्र एवं नरेन्द्रकी गति मिलती है और धर्मसे ही आकाशमें (गमन करनेवाला) रवि एवं चन्द्र होता है। धर्मसे ही संसार-परम्पराका नाश होता है, धर्मसे ही मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। धर्म ही कल्याणमित्र है, धर्म ही परमस्वजन है। धर्मसे कोई भी व्यक्ति दुर्जन नहीं दिखाई देता। धर्मसे इस संसारमें क्या-क्या प्राप्त नहीं होता? धर्मसे ही कामधेनु घरमें दुही जाती है अर्थात् धर्म कामधेनुके समान है।

---

१. प्रतीत होता है कि इस आशयकी एक पंक्ति प्रतिलिपिकके प्रमाद अथवा असावधानीसे लुप्त हो गई।

घत्ता—धम्मेँ विणु विहलउ णरहु भउ इम जाणिवि तं किज्जइ ।
जिं कलिमलतरु छेँवेवि लहु परमप्पउ पाविज्जइ ॥ ४८ ॥

[३-२४]

तिल्लोउ वि तिहिँ पवणहिँ धरियउ छहदव्वहिँ णेरंतरु भरियउ ।
वेत्तासणि-झल्लरि-पडह णिहु चउदह रज्जू उत्तुंगु पिहु ।
तिण्णिसयइँ तेयालइँ जि पुणु णउ हरिउ ण धरिउ ण केण पुणु ।
थावरहिँ सव्वहिँ परिपुण्णउँ कत्थइँ तस-जीवहिँ अभिछण्णउँ ।
कय-बहु-पाव अहोगइ बच्चहिँ तहिँ णाणाविह दुक्खहिँ पच्चहिँ ।
परधण-परतिय-रमणासत्तइँ सत्तवसण-मयपाणेँ मत्तइँ ।
णरय-आव भुंजिवि पुणु आवहिँ तिरिय-जोणि पुणु पावेँ पावहिँ ।
के वि मणुव होइवि उप्पज्जहिँ के वि सग्गु बहु रिद्धिहिँ रज्जहिँ ।

घत्ता—सो णत्थि पवेसु वि एत्थु जए जहिँ ण जाउ मुउ जीउ चिरु ।
तेँ कारणि दुल्लहबोहि मणि चिंतइ जिणु विहुणंतु सिरु ॥ ४९ ॥

[३-२५]

सव्वहँ गइहिँ दुल्लहु मणुयत्तणु तहिं वि दुल्लहु उत्तमहँ कुलत्तणु ।
दीहाउसु इंदिय-पुण्णत्तणु कह ण होइ पुणु णीरोयत्तणु ।
जोव्वणु लच्छि कंति जइ पावइ ता धम्मु वि णउ चित्तेँ भावइ ।
सो वि लहइ जइ कहमवि कट्ठेँ णउ गुरुवयणु सुणइ परमट्ठेँ ।
अह जइ कहमवि अक्खर सुम्मइ कहमवि तं णउ धारइ कुम्मइ ।
रहइ कुसत्थहँ अणुदिणु रत्तउ पुणु माणिक्कु जाइ करपत्तउ ।
कहमवि एहु सयलु जइ पावइ ण वि रयणत्तउ णियमणि भावइ ।
अइदुल्लहु जइ कहमवि पत्तउ एव्वहिँ होमि ण हउँ अवचित्तउ ।

घत्ता—खणि दिट्ठु णट्ठु तणु-धणु-सयणु सरयअब्भ-संकासउ ।
वणि जाइवि दुक्करु तउ करमि पेच्छमि सिवसिरिवासउ ॥ ५० ॥

घत्ता—धर्मके बिना यह मनुष्यभव विफल है। यह समझकर वैसा उपाय करो जिससे पाप-रूपी वृक्षको काटकर शीघ्र ही परमात्मपदको प्राप्त किया जा सके ॥४८॥

[३-२४]

लोकानुप्रेक्षा

तीनों लोक तीन वातवलयोंपर आधारित हैं और छह द्रव्योंसे निरन्तर भरे हुए हैं। यह लोक (क्रमशः अधः, मध्य एवं ऊर्ध्व भागमें) वेत्रासन, झल्लरि (मृदङ्ग) एवं पटहके समान है और चौदह राजू ऊँचा तथा पृथुल है। लोकका सम्पूर्ण क्षेत्रफल ३४३ राजू है, जो किसीके द्वारा न हरण किया जा सकता है और न किसीके द्वारा धारण ही किया जा सकता है। सभी स्थावरों से वह परिपूर्ण है और कहीं-कहीं त्रस जीवोंसे आच्छादित है। बहुत पाप करके जीव अधोगतिको प्राप्त होते हैं और वहाँ नाना प्रकारके दुखोंमें पचते हैं। परधन तथा परस्त्रीहरणमें आसक्त रहकर, सप्त व्यसन एवं मदिरापानमें मत्त होकर वे नरकगतिका भोग करके पुनः नरकगतिमें आते हैं। फिर पापकर्मोंके फलस्वरूप तिर्यञ्चगति प्राप्त करते हैं। कभी कोई (पुण्योदयसे) मनुष्य होकर उत्पन्न होते हैं तो कोई स्वर्गमें कई ऋद्धियोंसे समृद्ध होकर राज्य करते हैं।

घत्ता—इस संसारमें ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जहाँ चिरकाल तक यह जीव जीवन-मरण प्राप्त न करता हो। इस कारण पार्श्वजिन सिर धुनते हुए अपने मनमें बोधिदुर्लभभावनाका चिन्तन करने लगे ॥४९॥

[३-२५]

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

समस्त गतियोंमें मनुष्यत्त्व (मनुष्यगति) ही दुर्लभ है और उसमें भी अत्यन्त दुर्लभ है उत्तम कुलका प्राप्त होना। दीर्घायुष्य एवं इन्द्रियोंकी पूर्णाङ्गता प्राप्त होनेपर भी कभी निरोगता की प्राप्ति नहीं होती। यदि जीव यौवन, लक्ष्मी एवं कान्ति प्राप्त करता भी है, तो चित्तसे धर्म नहीं भाता। यदि उस धर्मको किसी प्रकार कष्टसे प्राप्त कर भी ले, तब परमार्थसे गुरुवचनोंको नहीं सुनता। यदि किसी प्रकार (धर्मयुक्त-)अक्षरोंको सुन भी लेता है तो कुमतिवाला वह जीव किसी प्रकार उसे धारण नहीं करता। वह दिन-रात कुशास्त्रोंमें रत रहता है और हाथमें प्राप्त हुआ मनुष्य जन्म रूपी माणिक्य (व्यर्थमें ही) नष्ट हो जाता है। यदि यह सब किसी प्रकार प्राप्त भी कर लिया तब रत्नत्रयकी भावना मनमें नहीं भाता। यदि वही अतिदुर्लभ रत्नत्रय मुझे किसी प्रकार प्राप्त हो गया है तो अब मैं उसमें किसी प्रकार असावधान नहीं होऊँगा।

घत्ता—तन, धन और स्वजन सभी शरदकालीन मेघके समान क्षणभरमें दिखाई देकर नष्ट हो जाते हैं। (अतः अब मैं) वनमें जाकर दुष्कर तप करता हूँ और शिवलक्ष्मीके आवासको देखता हूँ ॥५०॥

[३-२६]

जिणेसरु चिंतइ जा णियचित्ति पगिण्हमि वयभरु केडिवि अत्ति ।
सुरेसर पंचमसग्गणिवासि सुआइय ता तहिं देवहु पासि ।
पयंपहि तिण्णि पयक्खण देवि खिवेवि पसूणहँ अंजलि ते वि ।
जयत्तय-सामिव लोयपयास सुभल्लउ चिंतिउ णाणपयास ।
चराचर वच्छुसरूवहँ जाणु पयासहि महियलि केवलणाणु ।
तुमं सइँ बुद्ध जिणेसर पास पपूरहि एव्वहिँ भव्वहँ आस ।
भणेवि गया इय ते णिय ठाणि अइंदिय-सुक्ख-णिरंतर-खाणि ।
सुरेसरु देवसमूह समाणु तहिँ पुणु आयउ सो सविमाणु ।

घत्ता—कलिमलवुहणासणु पासजिणु सक्कें गुरुभत्तिए णविउ ।
पुणु ण्हाविवि तित्थवारिजलहिँ वच्छाहरणहिँ लंकिउ ।। ५१ ।।

इय सिरिपासणाहपुराणे आयमअत्थस्स अच्छिसुणिहाणे सिरिपंडियरइधू-विरइए सिरिमहा-भव्व-खेऊसाहुणामंकिए जिणणिव्वेयवण्णणो णाम तीउ संधी-परिच्छेउ समत्तो ।। ३ ।। छ

यो धर्मामृतपाननिर्मलमना मान्यः सतां संततौ
श्री श्रेयान्नृपदानतीर्थपदवीसंपादनेऽलं हि य ।
यो ह्यग्रोतकवंशपंकजरविः क्षेमाख्य साधुश्चिरम्
सोऽसौ नन्दतु भूतलेऽत्र निपुणो चातुर्यविद्यालयः ।। ३ ।।

●

[३-२६]

पार्श्वकी वैराग्य भावना ज्ञातकर इन्द्रका आगमन

जब जिनेश्वर अपने चित्तमें यह सोच रहे थे कि समस्त संसारके दुखोंको छोड़कर मैं व्रतभारको ग्रहण करता हूँ, तभी पञ्चम स्वर्गमें निवास करनेवाले देवेन्द्र वहाँ जिनदेवके पास आये और तीन प्रदक्षिणाएँ देकर और अञ्जुली भर पुष्प चढ़ाकर बोले—"ज्ञानके प्रकाशसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाले हे स्वामिन्, आपने बहुत ठीक सोचा है। आप चराचर वस्तुस्वरूपके ज्ञाता हैं, महीतलमें केवलज्ञानको प्रकाशित करते हैं। हे पार्श्व, आप स्वयम्बुद्ध जिनेश्वर हैं। आपने (वैराग्य लेकर) इस समय भव्यजनोंकी आशाको पूर्ण किया है।" इस प्रकार कहकर वे देवेन्द्र अतीन्द्रिय सुखोंके निरन्तर निधान अपने स्थानोंको चले गये और पुनः देवेन्द्र देवसमूह एवं विमान सहित वहाँ आया।

घत्ता—कलिकालके दुखका नाश करनेवाले पार्श्वजिनको उस देवेन्द्रने अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और फिर उन्हें वहीं तीर्थोंके जलसे अभिषेक कराकर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत किया ॥५१॥

इस प्रकार श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित श्री महाभव्य खेऊ साहूके लिये नामाङ्कित आगमके अर्थको समझनेके लिये नेत्रके समान श्री पार्श्वनाथ पुराणके अन्तर्गत 'जिननिर्वेद वर्णन' नामक तीसरा सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

जो निर्मलचित्तसे धर्मामृतका पान करता है, सज्जनोंकी परम्परामें सम्मान्य है, जो राजा श्रेयांसके समान ही दानवीर है, जिसका हृदय निरन्तर तीर्थ (-भक्त)की पदवीके प्राप्त करनेमें लगा रहता है, जो अग्रोतक वंशरूपी कमलके लिये सूर्यके समान है और जो निपुण है, चातुर्य और विद्याका आलय है, ऐसा वह विख्यात क्षेमसाहू इस पृथिवीमण्डलपर चिरकाल तक आनन्दके साथ निवास करे ॥ ३ ॥

संधि—४

[४-१]

घत्ता—ता मणिगण-जडियउ कंचणघडियउ[1]सक्कें जाणु वि णिम्मियउ।
पुणु कर जोडेप्पिणु पयए णवेप्पिणु णाहहु अग्गइ सो थियउ ॥ छ ॥

तं णिएवि जाणु	रह तेय भाणु।
तहिँ चडिउ णाहु	आजाणुबाहु।
हय-सूरलक्ख	कंपिय विवक्ख।
वरणरवरेहिँ	पणमिय सुरेहिँ।
णिउ जाणु तेहिँ	पुणु सुरवरेहिँ।
गंगापवाहु	लंघिवि अथाहु।
अहिछत्तणयरु	रंवणछाइयवरु।
णिउवर वणंति	जय-जय भणंति।
भवजलहि-सेउ	देवाहिदेउ।
जा वणहिँ पत्तु	वियसिय सुवत्तु।
उयरिउ सिग्घु	जाणहु अणग्घु।
पविमलसिलाहि	थिउ णिम्मलाहि।
दुंदुहिसरेण	पूरिय-णहेण।
देवेण ताम	जणमणाहिराम।
आहरण सव्व	परिहरिय भव्व।
महि पडिय भंति	णं तहु कहंति।
अम्हेहि मुक्कु	घरु गुणहँ चक्कु।
परमेट्ठि सिद्ध	सुमरिवि पसिद्ध।

घत्ता—ता पासजिणेसें णमियसुरेसें पज्जंकासणि तणु धरिउ।
णियकरेण तेण पुणु वरसिररुहगणु पंचमुट्ठिलोचुच्चरिउ ॥ ५२ ॥

[४-२]

सिरि चिहुरइँ लुंचिय जा जिणेण   खणि कुसुमपयरु वुट्ठउ णहेण।
सुरवरेण पडिच्छिय जिणहु केस   मणिभायण णं कम्म वि असेस।
[× × × × × × × × × × ×]।

---

१. ८-९वीं पंक्तियाँ ख. प्रतिमें नहीं हैं। २. क. षण। ३. ख. °गणहँ।

सन्धि—४

[४-१]

पार्श्वका वैराग्य-धारण एवं केशलुञ्चन

घत्ता—तदनन्तर शक्रने मणियोंसे जटित एवं स्वर्णनिर्मित एक यान निर्मित किया और फिर हाथ जोड़कर चरणोंमें प्रणाम करके उनके सम्मुख खड़ा हो गया ॥ छ ॥

तेजस्वी भानुके रथके समान उस (इन्द्रके द्वारा) लाये हुए यानको देखकर दीर्घबाहु नाथ उसपर चढ़े। लाखों तूर बज उठे, विपक्षी काँप उठे। उत्तम मनुष्यों एवं देवोंने उन्हें प्रणाम किया और फिर उन देवोंके द्वारा वह यान अथाह गङ्गाप्रवाहको लांघकर उत्सवसे व्याप्त अहिच्छत्रानगर ले जाया गया। नृपवरोंने (नाथके गुणोंका) गान किया, और जय-जयकार करने लगे। भवसमुद्रके लिये सेतुस्वरूप, विकसित मुखवाले देवाधिदेव (पार्श्व) वनमें पहुँचकर बहु-मूल्य यानसे शीघ्र ही उतर पड़े। वे वहाँ एक स्वच्छ एवं निर्मल विशालपट्टपर स्थित हो गये। जब दुन्दुभिके स्वरसे आकाश व्याप्त हो रहा था, तभी जिनेन्द्रने जनमनाभिराम समस्त भव्य आभूषण त्याग दिये। वे आभूषण पृथिवीपर पड़े हुए ऐसे शोभायमान हुए मानों उनको कह रहे हों कि हम लोगोंने भी प्रसिद्ध सिद्ध-परमेष्ठीका स्मरण करके गुणहीन घरका त्याग कर दिया है।

घत्ता—सुरेश द्वारा नमस्कृत पार्श्वजिनेश पर्यङ्कासनपर बैठ गये। उन्होंने अपने हाथसे उत्तम केशोंका पञ्चमुष्टि लोंच किया ॥ ५२ ॥

[४-२]

पार्श्वका अभिनिष्क्रमण

जब जिनेन्द्रने माथेके केशोंका लुञ्चन किया तभी आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा हुई। इन्द्रने जिन भगवानके केश मणिपात्रमें ग्रहण किये और वे ऐसे लगे मानों (भगवान्‌के) अशेष कर्म ही हों। "ये केश जो मेरे स्वामीके मस्तकपर स्थित थे, उन्हें, हे जलराशि, मैं तुम्हारे भीतर डालता हूँ।" ऐसा मानकर ही मानों शक्रने उन केशोंको लेकर क्षणभरमें क्षीर समुद्रमें प्रवाहित कर दिया।

महु सामिहु सीसि जि थक्क आसि तें तुम्हहँ घल्लमि तोयरासि ।
णं इय भणिवि सक्केण ते वि घल्लिय खीरंबुहि खणेण लेवि ।
तत्थ वि णउ बुड्डिय भणहिँ एम भो सुरवइ अम्हहँ कुविउ केम ।
अम्हहँ जिणसीसि ण दोसबुद्धि चिरु थक्कइ पयडिय सोहसिद्धि ।
तें कारणि णवि मज्जंति एत्थु पेच्छहि पयक्खु हरि कहहि तेत्थु ।
अण्णु वि जो जिणपयपोमयाहँ आसवइ भव्वु [1]सुहसयकयाहँ ।
सो तरइ भवंबुहि सुद्धचित्तु अम्ह वि तरंति इहु काइँ चित्तु ।
तं[2] ताहँ वयणु सुणि सक्कु आउ जिणु पुज्जिवि पणविवि सग्गि जाउ ।

घत्ता—हिमपडलपयासहिँ पूसहिँ मासहिँ दहमिहिँ गुण-गण-सेणि-धरु ।
सिरि पासकुमारें विणिहियमारें धारिउ तें णिक्खमण-भरु ॥ ५३ ॥

[४-३]

सय-तिण्णि णरेसर तेण सहु हुव मुणिवर णिहणिवि कामगहु ।
अट्ठोववासि जिणु पासु पुणु पुरि चरियहँ चल्लिउ णाण-घणु ।
हत्थिणाउरि वरदत्तहु जि गिहि पत्तउ जिणवरु जणि-जणिय दिहि ।
ठा-ठाहु भणिवि हरिसिय-मणेण पडिगाहिउ सो तें वणिवरेण ।
चरणइँ धुवेवि अंचियउ पहु णवविहु पुण्णज्जणु कियउ बहु ।
वरभोयणु सुहसंजोयणउ दिण्णउ भत्तिए मणमोयणउ ।
जा अक्खयदाणु समुच्चरिउ ताव हि णहाउ मणिगणु पडिउ ।
दुंदुहिसरु साहुँक्कारु[3] पुणु गंधोयविट्ठि तह कुसुमगणु ।
एयइँ अच्छरियइँ सुंदरए जायइँ वरदत्तहु मंदिरए ।
गउ पासणाहु गिरिवरगहणि थिउ झाणें कम्मास [व] हो रणि ।

घत्ता—रविकित्ति णरेसरु सुमरिवि गुणभरु सोयइ पुणु-पुणु मणि वियलु ।
हयसेण-णरेसरहो गयदुहलेसहो किह दावेसमि मुहकमलु ॥ ५४ ॥

[४-४]

सिरिपासकुमारहो गुण सरंति महि पडिय पहावइ थरहरंति ।
चेइवि पुणु जंपइ सा गुणाल णियहत्थपोम संठइवि भाल ।
हा णाह-णाह णवि तुम्ह दोसु पुव्वक्किय कम्महो करमि रोसु ।
जा सामिहु गइ सा महु वि जुत्त इम पइज्ज करि थक्की सुवत्त ।

---

१. क. सुय । २. क. ख. णं । ३. क. ख. साहुंक्कारु ।

वहाँ भी न डूबकर वे मानों इस प्रकार बोले—"हे शक्र, हमपर क्यों कुपित हुए हो ? जिनेशके शीर्षमें हमारी दोषबुद्धि नहीं है, बल्कि हम तो चिरकाल तक शोभासिद्धिको प्रकट करते हुए वहाँ स्थित रहे हैं, इसी कारणसे हम यहाँ डूबते नहीं हैं। हे हरि, इसे प्रत्यक्ष ही देख लो। इतना ही नहीं, अन्य जो कोई भी भव्यजीव जिनभगवान्‌के अनेक सुख प्रदान करनेवाले चरणकमलोंमें आश्रय लेता है, वह शुद्धचित्त इस संसार-सागरसे तर जाता है। फिर यदि हम भी तैर रहे हैं तो इसमें वैचित्र्य ही क्या है ?" उनके इस वचनको सुनकर शक्र वहाँ आया और वह जिनेश्वरकी पूजाकर प्रणाम करके स्वर्ग चला गया।

घत्ता—हिमपटलके प्रकाशक अर्थात् प्रचुर हिमवर्षाके समय पौषमासकी दशमीके दिन अनेक गुणगणोंके धारक उन श्री पार्श्वकुमारने कामदेवको नष्टकर प्रव्रज्याका भार धारण किया ॥ ५३ ॥

[४-३]

वणिक्श्रेष्ठ वरदत्त द्वारा सर्वप्रथम आहारदान

तीन सौ नरेश्वर पार्श्वके साथ अपनी कामाशक्तिका नाशकर उत्तम मुनि बन गये। आठ उपवास करके ज्ञानके धनी पार्श्वप्रभु चर्याहेतु नगरकी ओर चले। लोगोंमें सुख उत्पन्न करते हुए वे जिनेश्वर हस्तिनापुरमें वरदत्तके भवनमें पहुँचे। उस वणिक्श्रेष्ठ (वरदत्त)ने हर्षित मनसे 'तिष्ठ-तिष्ठ' कहकर उन्हें पड़गाहा। चरणोंको प्रक्षालितकर (उसने) प्रभुकी नवधा-पूजाकर प्रचुर पुण्यार्जन किया और भगवान्‌को भक्तिपूर्वक भोजन दिया, जो सुखदायक एवं मनको प्रसन्न करनेवाला था। जब 'अक्षयदान'का उच्चारण हुआ तभी आकाशसे मणियोंकी वृष्टि होने लगी। पुन: साधु-साधुकी ध्वनि एवं दुन्दुभिके मधुर स्वर होने लगे और फिर गन्धोदक तथा पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। इस प्रकार वरदत्तके सुन्दर भवनमें ये 'आश्चर्य' हुए। (तत्पश्चात्) पार्श्व गहनवनमें चले गये और फिर कर्माश्रवोंसे युद्ध हेतु ध्यानमें स्थिर हो गये।

घत्ता—रविकीर्त्ति नरेश्वर गुणवान् (पार्श्व)का स्मरण करके मनमें व्याकुल होकर पुनः-पुन: सोचने लगा कि लेशमात्र भी दुखसे रहित हयसेन नरेश्वरको अब मैं किस प्रकार अपना मुख दिखाऊँगा ? ॥ ५४ ॥

[४-४]

पार्श्वके वैराग्यसे प्रभावतीका शोक-विह्वल होना एवं अर्ककीर्त्ति द्वारा अश्वसेनको सन्देश देना

श्री पार्श्वकुमारके गुणोंका स्मरण कर प्रभावती थरथरा कर पृथिवीपर गिर पड़ी, फिर चेतना प्राप्त कर वह गुणवती अपने हस्तकमल भालपर रख कर बोली—"हाय नाथ, तुम्हारा कोई दोष नहीं, पूर्वकृत कर्मोंपर ही मुझे रोष आ रहा है। जो स्वामी की गति है, वही मेरे लिये

णिउ अक्ककित्ति गउ गुण सरंतु बाणारसीहि मोहेँ तुरंतु ।
हयसेणु दिट्ठु तेँ धरणिणाहु वम्मापिय लंकिउ दीहबाहु ।
पय पणविवि वइसिवि भणिउ तेण सिरु चालंतेँ गग्गिरमणेण ।
सोयंसु विडोलिलय लोयणेण अइदीहसास-मलिणाणणेण ।
जह जिणिउ सत्तु जह गेहि पत्तु जह कयवयविण थिउ कमलवत्तु ।
जह विण्ण कण्ण मण्णिय वि तेण जह अण्णहि विणि वणि गउ खणेण ।
जह दिट्ठु तवसि जह भणिउ वुट्ठु जह वाउ करिवि फाडियउ कट्ठु ।
अहिजम्मु पेक्खि जह लइय दिक्ख सय-तिण्णि णरेंवहँ सहु पयक्ख ।

घत्ता—वयणइँ रविकित्तिहु पयडिय भत्तिहु णिसुणिवि राउ सभज्जु तहु ।
सोयामणिघाएँ वियलियकाएँ णं गिरिवरडाहडिउ लहु ॥ ५५ ॥

[४-५]

हा-हा-रउ वट्टिउ पुरवरम्मि सोउ वि णउ मायउ जणमणम्मि ।
चमराणिलेण उमुच्छु राउ णिव्विट्ठु महीयलि विगयराउ ।
हा पइँ विणु पुत्त मणोरहाइँ को महु पूरेसइ सुहयराइँ ।
हा महु कराउ कहँ रयणु भट्ठु हा किह मइँ पेसिउ गुणवरिट्ठु ।
हा वज्जपाणि पइँ किउ अजुत्तु वणि णियउ काइँ भो मज्झु पुत्तु ।
अइसोएँ मोहिउ राउ जाम णिम्मलमइ मंती भणइ ताम ।
भो देव चयहि णंदणहु सोउ बहु दुक्खहँ कारणु जणिय रोउ ।
संजोयहु[1] णियमेँ मुणि विओउ एउ मण्णिवि विउस चयंति सोउ ।
तुह णंदणु पुणु तित्थयरु देउ तेवीसमु जिणु तिल्लोय-जेउ[2] ।
जिं बुज्झिउ रयणत्तउ पवित्तु सो किह अच्छइ पुणु विसयरत्तु ।

घत्ता—जो लोयपियामहो सुरखेयरमहो सो विसयहँ किं रइ करए ।
तहु सोउ ण किज्जइ गुणु सुमरिज्जइ जो सिवसिरि राएँ वरए ॥ ५६ ॥

[४-६]

एत्थंतरि दुस्सहु तवयरणु जिणणाहु करइ पुणु भवतरणु ।
तस-थावर जीवहँ रक्खपरु इंदियभुवंग-विसवप्पहरु ।

---

१. ख. संमोयहु ।   २. क. ख. झेउ ।

भी योग्य है।" इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वह सुमुखी व्रत लेकर स्थित हो गई। गुणोंका स्मरण करता हुआ राजा अर्ककीर्त्ति भी मोहवश तुरन्त ही वाराणसी गया। वहाँ उसने वामादेवीसे अलंकृत, दीर्घबाहु, पृथ्वीनाथ अश्वसेनके दर्शन किये, उसके चरणोंमें प्रणाम करके बैठा, फिर गद्गद् हृदयसे सिर धुनते हुए अतिशय शोकपूर्वक डबडबाये नेत्रोंसे तथा अत्यन्त दीर्घ श्वास लेते हुए म्लानमुख होकर उसने बताया। जिस प्रकार उसने (पार्श्वने) शत्रुको जीता, और फिर वह घर आया और जिस प्रकार कुछ दिनों तक उस कमलमुखने घरमें निवास किया और (परिणय हेतु) दी हुई कन्या को उसने स्वीकार किया। जिस प्रकार दूसरे दिन वह शीघ्र ही वनको गया और वहाँ कमठ नामक तपस्वीको देखा, जिस प्रकार उस दुष्टसे बोला और उससे विवाद करके काष्ठ को फड़वाया तथा जिस प्रकार सर्पके जन्मको देखकर उसने तीन सौ राजाओंके साथ प्रत्यक्ष ही दीक्षा ले ली (इस प्रकार पार्श्वका समस्त इतिवृत्त सुनाया)।

घत्ता—रविकीर्त्तिके भक्तिपूर्ण वचन सुनकर राजा अश्वसेन अपनी पत्नी सहित इस प्रकार विगलित शरीर हो गया, जिस प्रकार विद्युतके आघातसे विशाल पर्वत तत्क्षण ढहा दिया जाता है ॥ ५५ ॥

[४-५]

पुत्र-वैराग्य सुनकर अश्वसेनका शोक विह्वल होना

नगरमे हाहाकार मच गया और तज्जन्य शोक लोगोंके हृदयोंमें समाया नहीं। चमरकी वायुसे राजाकी मूर्च्छा दूर हुई। वह छविविहीन होकर महीतलपर बैठ रहा (—और इस प्रकार विलाप करने लगा कि)—"हाय पुत्र, तेरे बिना (अब) मेरे सुखद मनोरथ कौन पूरे करेगा? हाय, मेरे हाथोंका रत्न कहाँ गिर गया? हाय, उस गुणवरिष्ठको मैंने क्यों (युद्धमें) भेजा? हाय बज्रपाणि, तुमने बड़ा अयुक्त किया। हे अर्ककीर्त्ति, तुम मेरे पुत्रको वनमें क्यों ले गये थे?" इस प्रकार जब राजा (अश्वसेन) अतिशोकसे मोहित हो गया, तब निर्मलमति नामक मन्त्रीने कहा—"हे देव, पुत्रका शोक छोड़ें, क्योंकि वह दुःखोंका कारण एवं रोगोत्पादक है। संयोगके नियमसे ही वियोग होता है, ऐसा जानिए। इस प्रकार समझ कर विद्वज्जन शोक छोड़ देते हैं और फिर आपका पुत्र तो त्रिलोकजयी तेईसवाँ तीर्थङ्कर है। जिसने पवित्र रत्नत्रयको जान लिया, वह विषयोंमें आसक्त होकर कैसे रह सकता है?

घत्ता—जो तीनों लोकोंका पितामह है तथा जो सुरखेचरोंके लिए अत्यन्त पूज्य है, वह विषय-भोगोंमें आसक्ति क्योंकर करेगा? जिसने रागपूर्वक मुक्तिवधूका वरण किया है, उसके लिये शोक नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसके गुणोंका स्मरण करना चाहिए" ॥ ५६ ॥

[४-६]

पार्श्वका घोर तपश्चरण तथा संवरदेवके आकाशगामी विमानका स्थगन

इसी बीच जिननाथ संसारसे पार उतारनेवाले, त्रस एवं स्थावर जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर तथा इन्द्रियरूपी भुजङ्गके विषदर्पका हरण करनेवाले दुस्सह तपको करने लगे। तेरह

तेरहविहचरिएँ पुण्णत्तणु अहणिसु वासिय जें गहणवणु ।
पणरहपमायणिम्मुक्कु जिणु झाणासिउ णिवसइ रयणि दिणु ।
सोलहकसायसंखीणु पुणु पत्तउ विहरंतउ केलिवणु ।
लंबियकरु तहिँ थिउ झाणि पहु णं सासयणयरहो सुद्धपहु ।
णासग्गि णिहिय लोयणजुवलु अप्पउ भावंतउ विगयमलु ।
पज्जंकासणि सिरिपासु जिणु जा णिवसइ सोसिय-कम्मरिणु ।

घत्ता—ता संवरु देउ वि भज्जसमेउ वि जाणारूढु भमंतु णहि ।
कीलंतु सइच्छइ जा सो गच्छइ ता विमाणु लहु खलिउ तहि ॥ ५७ ॥

[४-७]

पेच्छिऊणं विमाणं णहे थंभियं संवरेणं मणे ताम संचें भयं ।
केण संसुत्तु सिंहो वणे बोहिओ केण सुज्जो णहे जंतओ खोहिओ ।
केण अंबोणिही लंघिओ थामिणा चिंतिऊणं मणे जोइओ तक्खणा ।
ताम संदिट्ठु कम्मट्ठ-णिण्णासणो पासणाहो जिणो पाससंफेडणो ।
इंदं-णाएंद-दाणवेहि जो वंदिओ[1] धम्मसुक्केण झाणेण संनंदिओ ।
तस्स पेच्छेवि सो रुट्ठु जा कुज्झिओ तक्खणेणं पि णाणेण तं बुज्झिओ ।
हो तुहउ आसि कम्मठ्ठ जो बंभणो एण दुट्ठेण णिद्धाडिओ तं पुणो ।
एहु दोसो महो जाइ किं दिट्ठुओ णेमि उ तस्स गेहम्मि झाणट्ठिओ ।
मत्तमायंग-लीलागयग्गामणी बीसमत्तेहि छंदो वि सो सग्गिणी ।

घत्ता—इय चिंतिवि सुरवरु जंपिवि खरसरु पुणु उवसग्गु वियंभियउ ।
वेउव्विवि णहि घणु णं दुज्जणु मणु केण वि णउ जलु थंभियउ ॥ ५८ ॥

[४-८]

तडयडइ तडक्कइ असणिचंड गज्जइ घडहडइ चलेइ भंड ।
भूहरकुलाइ किय खंड-खंड गयगज्जिय भज्जिय रडियसंड ।
अलिकज्जल-ताल-तमालवण्णु दुप्पुत्तु व मेहें गयणु छण्णु ।
मयउल-भय-तट्ठ-पणट्ठ-खिण्ण जलधारहिँ पक्खिहिँ पक्ख छिण्ण ।
सरि-सरु-दरि-महियलु थलु असेसु पूरिउ जलेण वणु णिरवसेसु ।
तहि मग्गामग्गु ण मुणइ कोइ णउ चलइ मणाउ जिणिंदु जोइ ।

---

१. ख. इंदणाएंदणा जो वि संवंदिउ ।

प्रकारके चारित्रसे मण्डित शरीर वे जिनेन्द्र अहर्निश गहनवनमें रहते हुए तथा पन्द्रह प्रकारके प्रमादसे मुक्त होकर निरन्तर ध्यानाश्रित रहने लगे। फिर सोलह कषायोंको क्षीण करके बिहार करते हुए वे केलिवनमें पहुँचे और वहाँ हाथोंको लटका कर ध्यान करने लगे, मानों, वहीं शाश्वत नगर अर्थात् मोक्षका निवास हो। जब श्री पार्श्वजिन अपने लोचनयुगल नासाग्र पर स्थित करके शुद्धात्मका ध्यान करते हुए पर्यङ्कासनपर बैठकर कर्मऋणका शोषण कर रहे थे तभी—

घत्ता—संवर नामक देव अपनी भार्या सहित यानपर आरूढ़ होकर आकाशमें विचरण करता हुआ तथा अपनी इच्छासे क्रीड़ाएँ करता हुआ जा रहा था कि उसका विमान वहाँ स्खलित हो गया ॥ ५७ ॥

[४–७]

संवरदेवको पूर्वभवका स्मरण एवं पार्श्वको पूर्वभवका शत्रु समझकर मार डालनेका निश्चय

आकाशमें अपने विमानको रुका हुआ देखकर (उस) संवरदेवके मनमें आश्चर्य उत्पन्न हुआ (और बोला)—"वनमें सोते हुए सिंहको किसने जगा दिया है ? किसने आकाशमें जाते हुए सूर्यको क्षुब्ध कर दिया है ? किस बलवानने अलंघ्य जलनिधिको लांघा है।" इस प्रकार मनमें सोचकर जब तत्क्षण ही देखा तो उसने आठ कर्मोंके नाशक एवं (भव-)पाशके विध्वंसक इन्द्र, नागेन्द्र एवं दानवेन्द्र द्वारा वन्दित, धर्म एवं शुक्ल ध्यानके द्वारा आनन्दित जिनेश्वर पार्श्वको पाया। उनको देखकर वह दुष्ट (संवरदेव) क्रुद्ध हुआ और उसने तत्क्षण ही अपने (अवधि-) ज्ञानसे उन्हें पहचान लिया (और अपनेआप बोला)—"तुम (पूर्वभवमें) कमठ नामके जो ब्राह्मण थे, उसे इसी दुष्ट (पार्श्वके पूर्वभवके जीव—मरुभूति)ने (घरसे) निकाल दिया था। यही (वह) महादोषी है। मै इसे ध्यानावस्थामें ही यमराजके घर भेज देता हूँ।" यह मदोन्मत्त हाथीकी लीलागतिके समान गमन करनेवाला बीस मात्राओंसे युक्त स्रग्गिणी नामका छन्द है।

घत्ता—इस प्रकार सोचकर उस देवने कठोर ध्वनि करके फिर उपसर्ग प्रारम्भ किया। (उसने) आकाशमें दुर्जनके मनके समान तत्क्षण ही विक्रिया-ऋद्धिसे मेघोंका निर्माणकर ऐसा जल बरसाना प्रारम्भ किया कि कोई भी उसे रोकनेमें समर्थ न हो सका ॥ ५८ ॥

[४-८]

भयंकर जलवर्षामें भी पार्श्वकी निश्चलता

आकाशमें प्रचण्डवज्र तड़तड़ाने, गरजने, घड़घड़ाने और दर्पपूर्वक चलने लगा। तड़क-धड़क करते हुए उसने सभी पर्वत-समूहोंको खण्ड-खण्ड कर डाला। हाथियोंकी गुर्राहटसे मदोन्मत्त सांड़ चीत्कार कर भागने लगे। आकाश भ्रमर, काजल, ताल और तमालवर्णके मेघोंसे उसी प्रकार आच्छादित हो गया, जिस प्रकार कुपुत्र अपने अपयशसे। मृगकुल भयसे त्रस्त होकर भाग पड़े और दुखी हो गये, जलधाराओंसे पक्षियोंके पंख छिन्न-भिन्न हो गये। नदी, सरोवर, गुफाएँ, पृथिवी-मण्डल एवं वनप्रान्त सभी जलसे प्रपूरित हो गये। वहाँ मार्ग एवं कुमार्गका किसीको भी ज्ञान

दुज्जणकलहु व कत्थ वि ण माउ णाणा-उवसग्गु करेइ पाउ ।
विउरुव्विवि णियसत्तिए अणिट्ठु दरिसिय बहुविह-रूवइँ किलिट्ठु ।
णिक्कंपु जिणेसरु णं गिरिंदु झाणामयलीणउ थिउ रसिंदु ।
भवतम-णिण्णासणि जो दिणिंदु चेयणभावेँ तम्मउ अणिंदु ।

घत्ता—कम्मट्ठु अणिट्ठु वि चिंतइ दुट्ठु वि इहु णउ मरइ ण चलइ थिरु ।
इहु सुक्खुणिवारणु वइरहु कारणु किं [1]मारमि चिंतेइ चिरु ॥ ५९ ॥

[४-९]

इय चिंतिवि पुणु जलहरु वुट्ठउ पलयकाल घणसद्दु समुट्ठिउ ।
गिरि खडहडिय डरिय कायरणर वित्थिण्णिहिँ धारहिँ खंडिय धर ।
कल्लोलहिँ महियलु रेलंतउ जिणहु सरीरि-पासि संपत्तउ ।
खय-पवणाहय-धारहिँ रंजिउ तह वि ण णाहहु जोउ विभंजिउ ।
अइदुस्सहु जलु सम्मुहु धायउ कंठपएसि जिणिंदहु जायउ ।
ता असुरेसहो आसणु कंपिउ अवहि णिजुंजिवि तियसहुँ जंपिउ ।
जसु पसाइँ पिए सुरपउ पाविउ जेण आसि परमक्खरु दाविउ ।
तहु सिरि पासजिणहुँ बहु दुहयरु महिवट्टइ उवसग्गु महायरु ।

घत्ता—सुहमण इय जंपिवि चल्लिय बिण्णि वि आया तहिँ जहिँ णाहु थिउ ।
तिपयाहिँण देप्पिणु कर मउलेप्पिणु तहु पयजुए पणिवाउ किउ ॥६०॥

[४-१०]

पुणो जिणणाहहु थोत्तु पवित्तु सभज्जु पयासइ वण्णविचित्तु ।
तुमं कमदंसणि पावविमुक्कु अहं जिण जाउ गुणेहिँ गुरुक्कु ।
जएहि जयत्तयलोयपयासु पपूरिय भव्वहँ सव्वहँ आसु ।
जि थावर-जंगमसुहुमपएसु सुरक्खिय जीवणिकाय असेसु ।
णिरीह-णिसीह-णिणंद-णिदंभु णिरंजण-णिच्च जि संकर-बंभु ।
णिलोह-णिमोह-णिकोह-णिदोसु णिमाण-सणाण-भवंबुहिसोसु ।
ससील-सकील-सरूवहिँ लीणु जयत्तयबंधव कलिमलखीणु ।
जिणेस तुमं गुण अत्थि अणंतु ण वण्णणि सक्कमि एत्थु महंतु ।

---

१. क. ख. सारमि ।

न रहा (किन्तु) योगी जिनेन्द्र (इस उपसर्गसे) रञ्चमात्र भी विचलित नहीं हुए। दुर्जनोंकी कलहके समान उस (संवरदेव)ने कहीं भी मर्यादा नहीं रखी और वह पापी भगवान पर नाना उपसर्ग करने लगा। विक्रियाऋद्धि धारणकर अपनी शक्तिभर उसने अनेकविध क्लिष्ट एवं भयानक रूप निर्माण करके दिखलाए। भवतमको नाश करनेके लिये अनिन्द्य दिनकरके समान वे जिनेन्द्र चेतनभावसे ध्यानामृतमें तन्मय होकर इस प्रकार निष्कम्प भावसे स्थिर रहे, जिस प्रकार रसराज गिरीन्द्र।

घत्ता—"अनिष्टकारी एवं दुष्ट (उस) कमठने विचार किया कि यह (पार्श्व) न तो मृत्युको प्राप्त होता है और न अपने ध्यानसे ही डिगता है। (मेरे) सुखको नष्ट करनेवाले एवं बैरके कारणभूत इसे मैं कैसे मारूँ ?" वह कमठ चिरकाल तक यही सोचता रहा ॥ ५९ ॥

[४-९]

असुरेश्वरका आसन कम्पित होना और उपसर्ग-स्थलपर आना

यह विचारकर (उसने) पुनः जलधरको बरसाया। प्रलयकालीनमेघका गर्जन होने लगा, पर्वत खडहडा उठे। कायरव्यक्ति डर गये, विस्तीर्ण जलधाराओंसे पृथिवी खण्डित हो गई। जल-कल्लोलें पृथिवीको रेलती-पेलती हुईं जिनभगवानके शरीरके पास तक पहुँच गईं (किन्तु) प्रलयकालीन पवनसे आहत धाराओंसे व्याप्त होनेपर भी पार्श्वप्रभुकी योगमुद्राका भङ्ग नहीं हुआ। अत्यन्त दुस्सह जल (वेगपूर्वक) सम्मुख दौड़ पड़ा और जिनेन्द्रके कण्ठ प्रदेश तक पहुँच गया। तभी असुरेश्वरका आसन कम्पायमान हुआ। अवधिज्ञानका प्रयोग करके वह अपनी प्रियासे बोला—"हे प्रिये, जिसकी कृपासे सुरपद प्राप्त हुआ, जिसने वह परमाक्षर मन्त्र दिया था, उसी श्री पार्श्वप्रभुके ऊपर पृथिवीतलपर अत्यन्त दुखकारी घोर उपसर्ग हो रहा है।"

घत्ता—वे दोनों पवित्र मनवाले देव एवं देवी इसप्रकार कहकर चल पड़े और वहाँ आये, जहाँ पार्श्वप्रभु स्थित थे। तीन प्रदक्षिणाएँ देकर, दोनों हाथ जोड़कर, उन्होंने उनके चरणयुगलमें प्रणिपात (प्रणाम) किया ॥ ६० ॥

[४-१०]

सुरेश्वर द्वारा एक सिंहासनका निर्माण और पार्श्वको उसपर विराजमान करना

और फिर अपनी भार्याके साथ वह जिननाथका विचित्र सुन्दर-वर्णोंसे युक्त (निम्न) पवित्र स्तोत्र पढ़ने लगा—"हे जिनवर, आपके चरणोंके दर्शनसे मैं पापसे मुक्त हुआ हूँ और महान गुणोंसे युक्त (देव) हुआ हूँ। तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाले हे देव, आपने लोकोंमें समस्त भव्य-जनोंकी आशाओंको परिपूर्ण किया है, स्थावर, जङ्गम एवं सूक्ष्म प्रदेशवाले समस्त जीवनिकायोंको सुरक्षित किया है तथा (आप) निरीह, नृसिंह, निर्द्वन्द्व, दम्भरहित, निरञ्जन, नित्य, शङ्कर एवं ब्रह्मा है। निर्लोभ, निर्मोह, निष्क्रोध, निर्दोष, निरभिमानी, ज्ञानी, भवाम्बुधिके शोषक, शीलयुक्त, तपरूपी क्रीड़ासे युक्त, आत्मस्वरूपमें लीन, तीनों लोकोंके लिये बन्धुस्वरूप एवं पापरूपी मलसे रहित हैं। हे जिनेश्वर, आपके गुण अनन्त हैं। उनका वर्णन कर सकनेमें समर्थ नहीं हूँ।"

घत्ता—इय थुणिवि जिणेसहो णविय-सुरेसहो पुणु उवसग्गु-विणासयरु।
कमलासणु णिम्मिवि णियमणि मण्णिवि णिहिउ तत्थ दुहणासयरु ॥६१॥

[४-११]

तहिँ आसणि णाहु णिवेसियउ पुणु-पुणु बहु विणउ पयासियउ।
णियकायहु उवरि चडावियउ बइरिहु जि मडप्फडु वारियउ।
फणमणिउज्जोएँ दलिउ तमु णं पुण्णहु केरउ तं जि कमु।
ललललियवलिय मुहिँ रसणगणु अइचंचलु णाइँ कुसीसमणु।
फणिसत्त जि छत्तायार किया जिणसीसोवरि मंडलि वि थिया।
रक्खंतु फणीसरु पासतणु थिउ पोमावइ पियरत्तमणु।
तं पेच्छिवि संवरु सुरु कुविउ पुणु दुण्णु तिउणु उवसग्गु किउ।
पाहणपुंजहिँ पुणु वरसियउ बहुधूलि-बालु-कणु दंसियउ।

घत्ता—जिहँ-जिहँ कम्मट्ठेँ दुट्ठेँ उवसग्गाइँ पउँजियइँ।
तिहँ-तिहँ णाएसेँ उट्ठिय-सीसेँ खणि णिरत्थ सयलइँ कियइँ ॥६२॥

[४-१२]

फणिमंडल-वारिय उवसग्गे थिउ जिणिंदु णिच्चलु णासग्गे।
ता णंताणचक्कु तेँ घायउ जेण भुवणं दुग्गइ-पहि लायउ।
तह दंसणमोहणियहु तिण्णि वि आउ तिण्णि पुणु घल्लिय छिण्णिवि।
तहँ अउव्वगुणठाणि जिणेसरु आरूढउ पयणमिय-सुरेसरु।
अंतमुहुत्त तत्थ थाविवि जिणु तहँ अणिवित्तिकरणि चडियउ पुणु।
पढमंसेँ तहि णामहु पयडिउ तेरह खविय जाहि जगु विणडिउ।
पयइ तिण्णि तत्थ जि णासहु गय णिद्दा-पयल-थाणगिद्धि तय।
बीयंसेँ कसाय मज्झिमवसु खवियइँ तेण झाइ चेयणरसु।
तीयंसेँ नपुंसवेयहु खउ अंसचउत्थेँ थीवेदु जि गउ।
पंचमंसि हासाइँ कसायहँ छह पणट्ठ चउगइँ दुहदायहँ।

घत्ता—इन्द्रके द्वारा नमस्कृत जिनेश्वरकी इसप्रकार स्तुति करके और सुरेश्वरने अपने मनमें सोचकर उपसर्गको दूर करनेवाले कमलासनका निर्माण किया और दुखोंका नाश करनेवाले उस आसनको वहाँ रखा ॥ ६१ ॥

[४-११]

फणीश्वर एवं देवी पद्मावती द्वारा पार्श्वका उपसर्ग निवारण

(तदनन्तर) उस आसनपर नाथको विराजमान किया। पुनः-पुनः उसने अत्यधिक विनय प्रकट की। अपने शरीरके ऊपर उसे चढ़ाया और बैरीका गर्व चूर किया। फणस्थित मणिके प्रकाशसे अन्धकारको विदीर्ण किया, मानों पुण्यका वैसा ही क्रम हो। मुखमें लपलपाती हुई जिह्वा-समूह कुशिष्यके मनके समान अत्यन्त चञ्चल हो रही थी। (उसने) सातफणोंको छत्राकार बनाया और जिन भगवानके शीर्षपर उसे मण्डलाकार स्थित कर दिया। इस प्रकार फणीश्वर जब पार्श्वके शरीरकी रक्षा कर रहा था, उस समय पद्मावती अपने प्रियमें आसक्तमन होकर वहीं स्थिर थी। उसे देखकर संवरदेव कुपित हो गया और (उसने पुनः) दुगुना-तिगुना उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। उसने पुनः पत्थरोंके ढेरके ढेर बरसाये और बहुत धूलि और बालुकण प्रकट किये।

घत्ता—जैसे-जैसे उस पापी एवं दुष्ट कमठने उपसर्ग किए, वैसे-वैसे नागेशने अपने उठाए हुए फणसे उन सभीको क्षणमात्रमें ही निरस्त कर दिया ॥ ६२ ॥

[४-१२]

पार्श्व गुणस्थानोंका क्रमिक विकास करते हुए ध्यानस्थ रहे

फणिमण्डलके द्वारा उपसर्गके निवारित होनेपर जिनेन्द्र निश्चल एवं नासाग्रदृष्टिसे स्थिर हो गये। तब उन्होंने उन अनन्तानुबन्धी कषायोंके चक्रका घात किया, जिससे संसार दुर्गति-पथमें पड़ता है। दर्शन-मोहनीय कर्मकी तीन प्रकृतियोंका घात किया, फिर आयुकर्मकी तीन प्रकृतियोंको काट डाला। उसके बाद इन्द्र द्वारा प्रणम्यचरण जिनेश्वर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानपर आरूढ़ हो गये और एक अन्तर्मुहूर्त तक उस स्थितिमें रहकर जिनेश्वर पुनः अनिवृत्ति-करण नामक नौवें गुणस्थानपर चढ़ गये।

(उक्त नौवें गुणस्थानके) प्रथम अंशमें जिनेश्वरने नाम कर्मकी उन तेरह प्रकृतियोंका क्षय किया, जिनके द्वारा सारा जग व्याकुल रहता है। अनन्तर दर्शनावरणकी तीन कर्म-प्रकृतियों—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला एवं स्त्यानगृद्धिका नाश हुआ।

(नौवे गुणस्थानके ही) द्वितीय अंशमें उन्होंने आठ प्रकारकी (अप्रत्याख्यान एवं प्रत्या-ख्यानरूप) मध्यम कषायोंका क्षय किया और उसके कारण चैतन्यरसका ध्यान किया।

(उसीके) तृतीय अंशमें नपुंसकवेदका क्षय किया और चतुर्थ अंशमें स्त्रीवेद भी चला गया। पुनः पञ्चमअंशमें चतुर्गतियोंमें दुखदायक हास्यादि छह (नो-)कषाएं नष्ट हो गईं। छठवें

छट्ठमंसि पुंवेदु विणासिउ सत्तमंसि संजलणु वि णासिउ ।
अट्ठमंसि संजलणमाणखउ णवमंसें माया-कोहहु जउ ।

घत्ता—छत्तीस पयडिगणु वासियभववणु णवअंसिहि अणियट्टिगुणि ।
ए खविवि जिणेसरु भवतमणेसरु दहमठाणि आरूढ मुणि ॥६३॥

[४-१३]

सुहुमकसायठाणि जा णिवसइ ता संजलणलोहु तहि णासइ ।
पुणु खीणकसायहि लहु ढुक्कउ सोलह पयडिचक्कु तें मुक्कउ ।
छह दंसणआवरणहु भंसिय णाणावरणहु पंच विणासिय ।
अंतराय पंच वि मणि माणहु सोलह पयडी भव्व ए जाणहु ।
दह-छत्तीस-एक्क उसारिय सोलह कम्मपयडि विणिवारिय ।
ए तेसट्ठि पयडिगणु भिण्णउ पासहु केवलणाणुप्पण्णउ ।
एक्क खंभ तिल्लोउ गरिट्ठउ तह अलोउ णाणेण वि दिट्ठउ ।
सुहुम-थूल-जीवहिं जो भरियउ तासु मज्झि सयलु जि विप्फुरिउ ।

घत्ता—ससरूवहु सहगुणु जो सासयतणु अमणु अणिंदु अलक्खु वरु ।
इंदियसुहवज्जिउ कम्म-अगंजिउ संजायउ आणंदु परु ॥६४॥

[४-१४]

तिलोय-महंतु विवित्तु पवित्तु ठिउ परमप्पयलीणु अचित्तु ।
वियप्पविहीणु समाहि-सुलीणु तिसट्ठिहिं कम्महँ पयडिहिं खीणु ।
सजोइ जिणिंदु वि एक्कहँ लीणु जिणेसरु केवलणाणपवीणु ।
चइत्त-पविसइ किण्हहँ पक्खि चउत्थिहि जायउ सोभण-रिक्खि ।
सुलोयणु लोउ-अलोउ वि दिट्ठु णहंगणि एक्कु उडु व्व पविट्ठु ।
खणंतरि सग्गि पडोल्लिय देव णियासणु णाणु मुणेवि सएव ।
पयासहि थोत्तु सएहि सवाय तिसुद्धि थुणंत णमंसहि पाय ।
धणेसहु ताम सुरेसरु वुत्तु सहंगणु पासहु णिम्मि जहुत्तु ।

अंशमें पुंवेद को भी दूर कर दिया तथा सप्तम अंशमें संज्वलन (स्थूल क्रोध)को भी कृश कर दिया। आठवें अंशमें संज्वलनमानका क्षय किया और नौवें अंशमें संज्वलन माया एवं लोभका जय किया।

घत्ता—संसाररूपी अन्धकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान जिनेश्वर (पार्श्व) भववनमें निवास करानेवाले (उक्त) छत्तीस प्रकृतियोंके समूहको, अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके (उक्त) नौ अंशोंमें नाशकर दसवें गुणस्थानपर आरूढ़ हुए ॥ ६३ ॥

[४-१३]

त्रेसठ कर्मप्रकृतियोंका उच्छेद

जब पार्श्व सूक्ष्मकषाय नामक गुणस्थानमें आये तो वहाँ संज्वलन-लोभका नाश हुआ फिर शीघ्र ही क्षीणकषाय गुण-स्थानमें ढूंके (आरूढ़ हुए) और उसमें सोलह प्रकृतियोंके चक्रसे मुक्त हो दर्शनावरण कर्मकी (शेष) छह प्रकृतियोंको ध्वस्त कर दिया और ज्ञानावरणीकी पाँच प्रकृतियोंका नाश कर दिया। पुनः अन्तरायकी पाँच प्रकृतियाँ मानिए। इस प्रकार हे भव्यजनो, ये सोलह प्रकृतियाँ जानिए। प्रथमतः उन्होंने (जिनेन्द्रने) सैंतालीस कर्मप्रकृतियोंका उत्सारण किया और फिर सोलह कर्मप्रकृतियोंका निवारण किया (इस प्रकार इन कुल) त्रेसठ प्रकृतियोंके समूहको भग्न करनेपर पार्श्वको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। एक खम्भेके समान महान् त्रिलोक तथा अलोकको भी ज्ञानसे प्रत्यक्ष देख लिया। जो त्रिलोक सूक्ष्म एवं स्थूल जीवोंसे भरा हुआ है उस (पार्श्वके) केवलज्ञानमें वह समस्त विस्फुरायमान हो उठा।

घत्ता—आत्माके स्वरूपका सहभावी, शाश्वत एवं मनरहित, अनिन्द्य, अलक्ष्य, श्रेष्ठ, इन्द्रियसुखरहित एवं कर्मसे अपराभूत परम आनन्द उत्पन्न हुआ ॥ ६४ ॥

[४-१४]

पार्श्व द्वारा कैवल्य प्राप्ति तथा धनेश द्वारा समवसरणकी तैयारी

(वे पार्श्व) तीनों लोकोंमें महान्, विचित्र, पवित्र एवं अचिन्त्य परमात्म-पदमें लीन होकर स्थित हो गये। विकल्परहित समाधिमें लीन, कर्मोंकी त्रेसठ प्रकृतियोंसे रहित सयोगी जिनेन्द्र एक शुद्धात्ममें लीन हो गये। चैत्रके पवित्र कृष्णपक्षमें चतुर्थीके दिन शोभन नक्षत्रमें जिनेन्द्रने केवलज्ञान प्राप्त किया। सुलोचनने ज्ञानरूपी नेत्रसे लोक और अलोकको भी देख लिया। आकाशमें प्रविष्ट एक नक्षत्रके समान समस्त लोक और अलोक उनके ज्ञानमें स्पष्ट दिखाई देने लगा। क्षणभरमें स्वर्गमें अपने आसनको डोलता हुआ जानकर ज्ञानी देव स्वयं ही (जिनेन्द्रके केवलज्ञानकी उत्पत्तिको जानकर वहाँ आया और[2]) उसने मनवचन एवं कायरूप त्रिशुद्धिपूर्वक स्तुति कर स्तोत्रपाठ किया एवं उनके चरणोंमें नमस्कार किया। तब सुरेश्वरने धनेश (कुबेर)को आदेश दिया कि (प्रभु-) 'पार्श्वके लिये एक यथोक्त (शास्त्रोक्त) सभाङ्गण तैयार करो।' यह

१. मूल प्रतिमें 'कोहउ' (क्रोध) पाठ है किन्तु सिद्धान्ततः यह 'लोहउ' होना चाहिए।

२. प्रतीत होता है कि यहाँ एक पंक्ति नष्ट गई।

सुणेवि वणेसु अयेत्ति सवाय   णवेवि सुभत्तिए सक्कहु पाय ।
पसाय भणेवि गउ जिण जत्थ   जलेण धरायलु पूरिउ तत्थ ।
णिएविणु जक्खु वियंभिउ चित्ति   कमठु वि णट्ठउ कंपि दवत्ति ।
सुवट्टुलु चंदविमाणु समाणु   सहंगणु णिम्मिउ णिरुवमठाणु ।

घत्ता—चउविसु मणिवेइहिँ उवरि सकेइहिँ माणथंभ मणथंभण ।
णर-अमरहं रंजण दुण्णयभंजण मिच्छामइहिँ णिसुंभण ।।६५।।

[४-१५]

तण्णियडि सर सजलसररुहहिँ संछण्ण   जलजायजीवाण णिम्मुक्क धरघण्ण ।
तहिँ धूलि पायारु मणिचुण्णवण्णड्ढु   ससि-सूर परिवेस सारिच्छु किरणड्ढु ।
पडिबिंबउ परिह-णीरेहि सोहेइ   वरकुसुमवल्लीहिँ जणचित्तु मोहेइ ।
जहिँ मज्झि बहुसंघसाला गरिट्ठाइँ   भव्वयणकयगोट्ठि दीसहिँ बइट्ठाइँ ।
पुणु णीलमणिबद्ध धरउवरि पायारु   चउगोउरालंकिउ सहइ जगसारु ।
तत्थेव भिंगार तालाइँ उवयरण   वरधूव घडधूम धावंति छच्चरण ।
तहिँ णडहिँ णडसाल अच्छरिय कयकरण   पडुपडहसद्देण लंकरियलंकरण ।
जहिँ ठाण-ठाणम्मि मणिरयणथूहाइँ   फेडंति तमणियरु णिम्मलमऊहाइँ ।
जहिँ चेइतरुवालि जिणपडिममंडियइँ   कीरंति पुज्जाउ सुरवर अखंडियइँ ।
पुणु अवरु सोवाणपंतीहिँ लंकरिउ   वरवेइसंजुत्तु पायारु विप्फुरिउ ।
जहिँ केउपंतीउ चउदिसिहिँ णहि ठंति   किंकिणिहिँ सद्देण णं णाहु थुव्वंति ।
सो बीउ वरसालु सोवण्ण गोउरिउ   पुव्वुत्त उवयरण णडसाल मणिभरिउ ।
जहिँ कप्पतरुवरहँ उववणु सु-सच्छाउ   णं अमरवणु मेरु चइऊण तहिँ आउ ।
जहिँ ठामि ठामम्मि मणिसिलवइट्ठाइँ   पयडंति मुणिधम्म भव्वहँ मणिट्ठाइँ ।
पुणु तीउ पायारु वरफलिहमणिघडिउ   वरवेइ उवरिल्लु रयणोहघडजडिउ ।
माला मिइंदाइचिण्हंक धयपंति   छायाहिँ अद्दरम्म सोहंति हयभंति ।

सुनकर 'जय हो' इस वचनपूर्वक तथा भक्तिपूर्वक शक्रके चरणोंमें प्रणाम कर तथा 'आपकी कृपा बनी रहे' इस प्रकार कहकर वह वहाँ गया, जहाँ जिनभगवान (विराजमान) थे और वहाँ जाकर जलसे धरातलको पाट दिया। यह देखकर वह यक्ष चित्तमें आश्चर्यचकित हुआ। कमठ भी कम्पित होकर तत्काल ही वहाँसे भाग गया। उसने चन्द्रविमानके समान सुवर्त्तुलाकार सभा-प्रांगणका निर्माण किया जो—

घत्ता—चारों दिशाओंमें ध्वजा-पताकाओंसे युक्त, मणिवेदियों तथा मनको स्तम्भित करनेवाले मानस्तम्भसे युक्त और जो मनुष्य एवं देवोंको मनोरञ्जनकारी, दुर्नयका भञ्जक एवं मिथ्यात्व आदिकका नष्ट करनेवाला निरुपम स्थान था ॥ ६५ ॥

[४-१६]

समवशरणकी रचना

उस (सभाङ्गण)के समीप जलसे परिपूर्ण एवं कमलोंसे आच्छन्न सरोवर थे, जो जलचर जीवोंसे विमुक्त थे एवं पृथिवीतल पर धन्य थे। वहाँकी धूलि एवं प्राकार (का वर्ण) मणिचूर्णके वर्णके थे, जिनकी किरणें शशि एवं सूर्यके मण्डलके समान (दिखाई देती) थीं। परिखाके जलमें प्रतिबिम्बित होकर वह शोभित हो रहा था और उत्तम कुसुमलताओंसे लोगोंके चित्तको मोहित कर रहा था। जहाँ मध्यमें अनेक विशाल सङ्गशालाएँ थीं (जहाँ) भव्यजनोंकी गोष्ठियाँ एवं बैठकें दिखाई दे रही थीं।

पुनः नीलमणियोंसे जटित चार गोपुरोंसे अलंकृत एवं जगके लिये सारभूत प्राकार पृथिवीतलपर सुशोभित था। वहाँ झारी एवं ताल आदि उपकरण तथा उत्तम धूपके घटोंसे निसृत धूम पर भौरे झपट रहे थे। वहाँ अलङ्करणोंसे अलंकृत नट पटु-पटहके शब्दके अनुसार आश्चर्यकारक नृत्य कर रहे थे। जहाँ स्थान-स्थानपर निर्मल मयूखोंसे युक्त मणिरत्नोंसे निर्मित स्तूप तमपुञ्जको विदीर्ण कर रहे थे, जहाँ चैत्यवृक्ष जिन-प्रतिमासे मण्डित थे और सुरवर अखण्डपूजन आदि कर रहे थे।

दूसरा प्राकार सोपान पंक्तियोंसे अलंकृत तथा श्रेष्ठ वेदिकाओंसे युक्त होकर स्फुरायमान था। जहाँ केतुपंक्तियाँ चारों दिशाओंमें आकाशमें फहरा रही थी, मानों वे अपनी किङ्किणियोंके शब्दोंसे नाथकी स्तुति ही कर रही हों। वह (दूसरा प्राकार) श्रेष्ठ शाला, एवं सुवर्ण खचित गोपुरोंसे युक्त था। वह नटशाला पूर्वोक्त उपकरण तथा मणियोंसे युक्त थी। जहाँ श्रेष्ठ कल्पवृक्षोंके सघन छायादार उपवन थे, मानों सुमेरु पर्वतको छोड़कर अमरवन ही वहाँ उपस्थित हो गया हो। जहाँ स्थान-स्थानपर मणिशिलाओंपर बैठे हुए मुनिजन भव्यजनोंके लिये मनोहर इष्ट धर्मको प्रकट कर रहे थे।

तृतीय प्राकार स्फटिक मणियोंसे घटित था, जिसके ऊपर रत्नसमूहके घड़ोंसे जटित उत्तम वेदिका थी, जिनपर मृगेन्द्र आदिसे चिन्हाङ्कित ध्वजपंक्तियोंकी मालाएँ अपनी छायासे अत्यन्त रमणीक रूपसे शोभायमान थीं और भ्रान्तिका नाश कर रही थीं।

तत्थेव चउरा सगोउराइँ पुव्वुत्त उवयरण परिपुण्ण णडसाल संजुत्त ।
चउसुरणिकायंत पडिहार थिय जत्थ अणुकमेण सदंड वारंति अरिसत्थ ।
तहु मज्झि ससिकंतमणिरंग सु-णिबद्ध घर सहइ अइविमल थंभेहिँ सुणिरुद्ध ।
सिरिमंडवच्छलच्छायाहिँ सुरवण्णु मणिदीवकिरणोह हयतिमिरु जगधण्णु ।
मेहलयारूढ जत्थेव वरवेइ मज्झम्मि गंधउडि सोहेइ जगवेइ ।
तहुँ उवरि पीढत्तयासीणु जगसामि पोमासणासंठिउ गयणपहगामि ।
वसुपाडिहेरंकु सोहेइ भणु केम उवयद्दिसिहरम्मि दिणणाहु थिउ जेम ।

घत्ता—तणु तेण पहायरु गुणरयणायरु छत्तत्तयहिँ अतुल्लउ ।
णर-अमर णमंसिउ तिजगि पसंसिउ बारह-सह-सोहिल्लउ ॥६६॥

[४-१६]

पढमकोट्ठि संठिय मुणि-गणहर बीयइँ कप्पवासि-अच्छरवर ।
कंतियगणु तीयइ वयधारउ चउथइ जोइसवेवहँ णारिउ ।
वितरतिय पंचमि मणचंचल णायणारि छट्ठमि थिय णिच्चल ।
सत्तमि भवणवासिसुर णयसिर अट्ठमि कोट्ठिहिँ किंणर सुहगिर ।
चंद-सूर णवमइँ जोइसगण कप्पामर दहमइँ ठिय सुहमण
णरणरेस एद्दहमइँ संठिय बारहमइँ तिरिक्ख सुहविट्ठिय ।
पंचसहस धर होंतउ दंडइ उच्चउ णहलग्गउ जगु मंडइ ।
जक्खें णिम्मिउ इंदाएसें अण्णु वि तें णियभत्तिविसेसें ।

घत्ता—गाउव चउसय माणउ बहुसुहठाणउ अह सुभिक्खु पवट्टए ।
जीवहँ वि अहिंसउ फेडियसंसउ आयासहिँ जिणु वट्टइ ॥६७॥

[४-१७]

आहारोसग्गहिँ चुउ जिणिंदु णह विहुरविद्धिरहियउ अणिंदु ।
चउमुहुं जिण लोयणफंदहीणु अच्छाउ सव्वविज्जापवीणु ।

गोपुर आदिसे युक्त चौथा प्राकार भी पूर्वोक्त प्रकारके उपकरणोंसे परिपूर्ण नटशालाओंसे युक्त था। चारों निकायोंके देव जहाँ प्रतिहारीके रूपमें स्थित थे, जो अनुक्रमसे दण्ड सहित थे और शत्रुसमूहका निवारण कर रहे थे। उसके मध्यमें चन्द्रकान्त मणियोंके रंगके सुन्दररूपसे निबद्ध अत्यन्त स्वच्छ स्तम्भोंसे निरुद्ध हुई धरा सुशोभित थी। वहाँ श्रीमण्डप छत्रकी छायासे दिव्य वर्णका हो रहा था और वह मणिदीपोंके किरणसमूहसे अन्धकारका नाश करता हुआ लोकको धन्य बना रहा था। जहाँ मेघलतासे आच्छादित उत्तमवेदिकाके मध्यमें गन्धकुटी शोभायमान थी, जो सारे जगके लिये पूज्यवेदीके समान थी। उसके ऊपर पीठत्रयपर आसीन, गगनपथमें गमन करनेवाले लोकनाथ पद्मासनसे विराजमान थे। अष्ट प्रातिहार्योंसे अङ्कित वे भगवान कहिए, किस प्रकार शोभायमान थे ? (उसी प्रकार) जैसे, मानों उदयाचलके शिखरपर स्थित (सूर्य ही शोभायमान हो)।

घत्ता—तेज एवं प्रभावान् शरीरके धारक, गुणोंके निधान, तीन छत्रोंके अलंकृत होनेसे अतुलनीय, मनुष्यों एवं देवों द्वारा नमस्कृत एवं तीनों लोकोंमें प्रशंसित (वे पार्श्व) बारह सभाओंसे सुशोभित थे ॥ ६६ ॥

[४-१६]

समवशरणका व्यवस्थाक्रम

प्रथम कोठेमें मुनि एवं गणधर स्थित थे और दूसरेमें कल्पवासी देवोंकी सुन्दर अप्सराएँ। तीसरे कोठेमें व्रतधारी महिलाएँ थीं और चौथे (कोठे)में ज्योतिषी-देवोंकी नारियाँ। पाँचवें कोठेमें व्यन्तर देवोंकी चञ्चल मनवाली (नारियाँ) थीं और निश्चल मनवाली नागनारियाँ छठवें कोठेमें। सातवेंमें मस्तक झुकाए हुए भवनवासी देव स्थित थे तथा आठवें कोठेमें मधुर वाणीसे युक्त किन्नरगण। नवमें कोठेमें चन्द्र एवं सूर्य नामक ज्योतिषीगण एवं दसवें कोठेमें शुभ मनवाले कल्पवासी देव स्थित थे। नृपसमूह ग्यारहवेंमें स्थित थे एवं बारहवेंमें शुभ दृष्टिसे युक्त तिर्यञ्च। भगवानकी यह पन्द्रह सहस्र दण्ड प्रमाण समवशरण भूमि, जो कुबेरयक्षने इन्द्रके आदेशसे और अपनी भक्ति विशेषसे निर्मित की थी, वह अपनी ऊँचाईमें गगनचुम्बी होकर पृथिवीको शोभायमान कर रही थी। इसी प्रकार अन्य और भी—

घत्ता—समवशरणके चारों ओर ४०० गव्यूति प्रमाण क्षेत्रमें समस्त सुखोंसे पूर्ण सुभिक्षका प्रवर्तन किया। जीवोंके अहिंसक एवं संशयनाशक जिनभगवान् आकाशमें स्थित हो गये ॥६७॥

[४-१७]

समवशरणमें इन्द्र द्वारा निर्मित सिंहासन पर पार्श्व प्रभुका विराजमान होना

अनिन्द्य जिनेन्द्र आहार एवं उपसर्गकी वेदनासे परे तथा नख एवं केशोंकी वृद्धिसे रहित थे। (वे) जिन-भगवान चारों दिशाओंमें स्पन्दहीन नेत्रोंसे युक्त थे, छायारहित एवं सर्वविद्याप्रवीण

वह अइसय हुवए घायकम्म घाएण जिणेसहु विगयछम्म ।
सव्वत्थ मगहवाणिहुँ पयासु जणमित्तिकरणु परिपुण्ण आसु ।
छह रिउ वणवलकुसुमहिँ सउण्ण महि हरियवण्ण दीसइ सुछण्ण ।
दप्पणसमाण-तणकंटहीण जोयणपमाण पयडहि पवीण ।
जणु परमाणंदेँ तुट्ठु सव्वु भवणामर वियरहिँ भुवणु भव्वु ।
अइसुरहु मंदु गंधोउ सारु वरसेइ सुअंधु वि घणकुमारु ।
णहु अइणिम्मलु दस दिस रउण्ण पूरंति मणोहर धण सउण्ण ।
पयकमलहिँ तलि वरकमलणासु दासत्तु करइ लोयणसहासु ।
देवहँ कय चउदह अइसयहु जिणु सोहइ केवल गुणणिवहु ।

घत्ता—छत्तत्तय सिरिहरु पहमंडलधरु कंकेल्लीतरुकुसुमभरु ।
चउसट्ठिचमरभरु सुरदुंदुहिसरु हरिविट्ठरु पुणु वाणिवरु ॥६८॥

[४-१८]

जो वसुपाडिहेरसंजुत्तउ सुह-वीरिय-बल-णाण अणंतउ ।
छायालीसगुणहिँ रयणायरु अरुहु जाउ रविकोडिपहायरु ।
हुउ जाणिवि सोहम्म सुराहिउ चउणिकाइदेवहिँ सहुँ आयउ ।
णहयलाउ उत्तिण्णु संपुण्णउ तहु दंसणि आणंदुप्पण्णउ ।
जय-जय-जय भणंतु णहगामिउ तिण्णि वार अंचिवि जगसामिउ ।
पुणु कर मउलिवि थोत्तु उग्गिण्णउ जय-जय णाह जणमत्तरुछिण्णउ ।
जय जिणेस भवभयवणखंडण जय पंचक्ख-विवक्ख-विहंडण ।
जय तिल्लोयभवण-तम-णिरसण जय उद्धरियभव्वजीवहँ गण ।

घत्ता—इय थुणिवि जिणेसहो जयसरणेसहो पुणु णियकोट्ठि सुरिंदु ठिउ ।
ता संभु वि राणउ सेण्णसमाणउ तत्थायउ जिणभत्तिणिउ ॥६९॥

[४-१९]

तिपयाहिण देप्पिणु जिणहुँ तेण पुणु थोत्तुच्चारिउ सुहमणेण ।
जय-जय अणग्घ आणंदपुंज जय लोयपयासणतेयकुंज ।
जय अखलियसासण णाणपिंड जय संत-णिरंजण-गुण-अखंड ।
जय परमबंभवय-णिव्वियार जय णंत पवित्त तिलोयसार ।

थे। चार घातिया कर्मोंके घातके कारण छद्मरहित जिनभगवान्‌के दस अतिशय प्रकट हुए। सर्वत्र जीवोंमें प्रेम उत्पन्नकरनेवाली एवं आशाको पूर्ण करनेवाली (अर्ध-) मागधीवाणी प्रकाशित हुई। (उप-) वन पत्रों एवं पुष्पोंसे पूर्ण होनेके कारण पृथिवी हरित् वर्णसे आच्छादित दिखाई देने लगी। योजनप्रमाण क्षेत्रमें पृथिवी तृण एवं काँटोंसे रहित (होकर) दर्पणके समान स्वच्छ दिखाई देने लगी। योजन प्रमाण क्षेत्र में पृथिवी तृण एवं काँटों से रहित (होकर) दर्पण के समान स्वच्छ दिखाई देने लगी। परम आनन्दसे सभी जन सन्तुष्ट थे। भवनवासी देव भव्य-भवनमें विचरण कर रहे थे। मेघकुमार देव अत्यन्त सुरभित श्रेष्ठ गन्धोदक एवं मन्द सुगन्धकी वर्षा करने लगा। आकाश अत्यन्त निर्मल हो गया, दसों दिशाएँ रमणीक हो गईं और पृथिवी सर्वत्र मनोहर धन-सम्पत्तिसे परिपूर्ण हो गई। जिसके चरणकमलोंके नीचे कमल बिछे हुए थे, ऐसा सहस्रनेत्र (इन्द्र) उनकी सेवा करने लगा। देवोंके द्वारा किये गये चौदह अतिशयों तथा केवलज्ञानादिगु णोंके समूहवाले और—

घत्ता—छत्रत्रयरूपी लक्ष्मीके गृहस्वरूप, दिव्य प्रभामण्डलके धारी, अशोक वृक्ष तथा पुष्पोंकी महान् वर्षा प्राप्त, चौंसठ चमरोंकी शोभा (सम्पन्न), दिव्य दुन्दुभिके स्वर, दिव्य सिंहासन एवं दिव्य वाणीसे युक्त (वे) जिनभगवान् शोभायमान होने लगे ॥६८॥

[४-१८]

समवशरणमें राजा स्वयम्भूका आगमन

उपर्युक्त आठ प्रतिहार्योंसे युक्त एवं अनन्त सुख, वीर्य, बल एवं ज्ञानके धारक, छयालीस गुणोंके रत्नाकर उन (पार्श्व) को करोड़ों सूर्योंकी प्रभाके समान अरहन्त हुआ जानकर सौधर्मेन्द्र चार निकायके देवों सहित (वहाँ) आया। वह पुण्यात्मा नभस्तलसे उतरा। उसके दर्शनसे बड़ा आनन्द उत्पन्न हुआ। वह आकाशगामी इन्द्र जय-जय-जय कहते हुए तथा उन लोकनाथ की तीन बार अर्चना करके पुनः हाथ जोड़कर स्तुति करने लगा—"जयनाथ आप जन्मतरुका नाश करते हैं। भयानक संसार-वनका नाश करनेवाले हे जिनेश, तुम्हारी जय हो। पञ्चेन्द्रियरूपी शत्रुओंका मर्दन करनेवाले हे देव, तुम्हारी जय हो। तीन लोकरूपी भवनोंके अन्धकारका निरसन करनेवाले हे देव, तुम्हारी जय हो। भव्य जीवोंके उद्धारक हे देव, तुम्हारी जय हो।"

घत्ता—जगतको शरण देनेवाले स्वामी जिनेश्वरको इस प्रकार स्तुति करके (वह) सुरेन्द्र अपने कोठेमें बैठ गया। तभी जिन भक्तिसे प्रेरित होकर वह स्वयम्भू राजा भी सेना सहित वहाँ आया ॥ ६९ ॥

[४-१९]

स्वयम्भू द्वारा पार्श्व-स्तुति

उस (राजा स्वयम्भू) ने जिनेन्द्रकी तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और पवित्र मनसे स्तोत्र पढ़ा—"हे अनर्घ्य, आनन्दके पुञ्ज, तुम्हारी जय हो-जय हो। लोकके प्रकाशनके लिये तेज कुञ्ज (सूर्य) के समान, (हे देव) तुम्हारी जय हो। अस्खलित शासन एवं ज्ञानपिण्ड—हे देव, तुम्हारी जय हो। शान्त, निरञ्जन एवं अखण्ड गुणवाले (हे देव,) तुम्हारी जय हो। परम

जय णिम्मल-णिक्कल-समयसार जय भव्वहँ जणमपयोहितार ।
जय विसयसप्पविस-परममंत जय समवसरणलच्छीहि कंत ।
जय चेयण-सिद्ध-पसिद्ध-बुद्ध जय अडवहदोसविमुक्क-सुद्ध ।
जय इंद-णरेंद-फणिंद-वंद जय सासयसुहवल्लीसुकंद ।

घत्ता—जय णंतगुणायर भवतमभायर पासजिणेस पणट्ठभया ।
अम्हहँ वइ जिणवर पणवियसुरणर बोहिलाहु भवि-भवि जि सया ।।७०।।

[४-२०]

इय थुणिवि णविवि ता संभु णिउ णरथाणि सराउ वि ताम थिउ ।
अइसंवेएँ पुणु तवहु भरु तें गिण्हिउ जायउ णाणधरु ।
सो गणहरु पढमु जि तासु हुउ सुर-खेयरेहिँ सव्वेहिँ थुउ ।
सिरिपासजिणेसहो गिरि-धरणु भव्वहँ मण-संसय-सय-हरणु ।
जा भणिय पहावइ कण्णवरा सा [वि] अज्जा हुइ तत्थ परा ।
सव्वहँ अज्जियसंघय गरुया सिरिसीलणिकेयहु सिहरिधया ।
सक्कहु भएण पुणु कमठु सुरु जिणसरणि पइट्ठउ णवियसिरु ।
भो णिच्च णिरंजण पास जिण महु रक्खि-रक्खि सव्वहियमण ।

घत्ता—भो णाणदिवायर गुणरयणायर मइँ पावें जं विहिउ चिरु ।
तं तुम्ह पसाएँ सविणयभावें मिच्छा होउ सुघणु तिमिरु ।।७१।।

इय सिरिपासणाहपुराणे आयमअत्थस्स अचिछसुणिहाणे सिरिपंडियरयधू-विरइए सिरिमहा-भव्व-खेऊसाहुणामंकिए पासजिणणाणुप्पत्तिवण्णणो णाम चउत्थो संधी-परिच्छेओ समत्तो ।। ४ ।। छ

प्रशमविनयकीर्त्तिसद्दानजीवानुकम्पा-
वरतरशुभपुण्यश्रीप्रभासद्गुणानाम् ।
विबुधजनमुनीनां योऽधिवासोऽत्र लोके
जयतु पजनसूनुर्नाम क्षेमाख्यसाधुः ।।४।।

ब्रह्मचर्यव्रतके धारी एवं निर्विकार हे देव, तुम्हारी जय हो। अनन्त, पवित्र एवं त्रिलोकके सारभूत हे देव, तुम्हारी जय हो। श्रेष्ठ सिद्धान्तके प्रवर्तक, निर्मल एवं निष्कलङ्क हे देव, तुम्हारी जय हो। भव्यजनोंके लिये जन्मरूपी समुद्रसे तार देनेवाले हे देव, तुम्हारी जय हो। विषयों रूपी सर्पके विषके लिये परममन्त्र हे देव, तुम्हारी जय हो। समवशरणरूपी लक्ष्मीके स्वामी हे देव, तुम्हारी जय हो। (शुद्ध) चेतन, सिद्ध, प्रसिद्ध एवं बुद्ध स्वरूप हे देव, तुम्हारी जय हो। अठारह दोषोंसे विमुक्त एवं शुद्धात्म—हे देव, तुम्हारी जय हो। इन्द्र, नरेन्द्र एवं फणीन्द्र द्वारा वन्दनीय—हे देव, तुम्हारी जय हो। शाश्वत सुखरूपी लताके लिये सुन्दर अङ्कुरके समान हे देव, तुम्हारी जय हो।

घत्ता—अनन्त गुणोंके आकर, भवरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये भास्करके समान तथा समस्त भयोंसे रहित हे पार्श्व जिनेश, तुम्हारी जय हो। देवों एवं मनुष्यों द्वारा नमस्कृत हे जिनेश्वर, हमारे लिए भव-भवान्तरमें सदैव बोधिलाभ दीजिए।" ॥७०॥

[४-२०]

संवरदेव द्वारा पार्श्वसे क्षमा-याचना

इस प्रकार स्तुति कर तथा नमस्कार कर राजा स्वयम्भू भक्तिपूर्वक मनुष्यके कोठेमें स्थित हो गया। फिर अत्यन्त संवेगके कारण उसने तपभार ग्रहण किया और ज्ञानका धारक हो गया। सभी सुरों एवं खेचरों द्वारा संस्तुत वह मुनि स्वयम्भू पार्श्व जिनेन्द्र की, भव्यजनोंके मनको शतावधि संशयोंका हरण करनेवाली, वाणीका धारक प्रथम गणधर हुआ।

प्रभावती नामकी जो श्रेष्ठ कन्या कही गई है वह वहाँ श्रेष्ठ आर्यिका बनी। शील लक्ष्मीके निवासकी शिखरध्वजाके समान वह कन्या समस्त आर्यिका-सङ्घ की प्रधान बनी। शक्रके भयसे कमठ नामका वह देव अपना सिर झुका कर जिनेन्द्रदेव की शरणमें आया (और बोला)—"नित्य, निरञ्जन तथा सभी जीवोंका हित करनेवाले हे पार्श्वजिन, मेरी रक्षा कीजिए-मेरी रक्षा कीजिए।

घत्ता—ज्ञान दिवाकर, गुणोंके रत्नाकर हे देव, मुझ पापीने चिरकालसे जो कुछ किया है, वह अत्यन्त घना अज्ञानान्धकार मेरे विनतभावसे और आपके प्रसादसे मिथ्या होवे।" ॥७१॥

इस प्रकार श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित श्री महाभव्य खेऊ साहूके लिये नामाङ्कित आगमके अर्थको समझनेके लिये नेत्रके समान श्री पार्श्वनाथ पुराणके अन्तर्गत केवलज्ञानोत्पत्तिका वर्णन करनेवाला चौथा सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ॥ छ॥ सन्धि ४

प्रशम, विनय, कीर्ति, दान, जीवानुकम्पा, उत्कृष्ट-पुण्य, लक्ष्मी, कान्ति आदि अनेक सद्गुणों तथा ज्ञानीजनों और मुनियोंके लिये इस लोकमें निवासभूत पजन साहूका पुत्र श्री क्षेमसिंह साहू जयवन्त रहे॥ ४॥

●

संधि—५

[५-१]

घत्ता—केवललच्छीसहो णमियअहीसहो समवसरणु सिरिपासहो।
महिमंडलि विहरइ मणतमु पहरइ तासइ कुणयपयासहो ॥छ॥

संसारसमुद्दुत्तरणसेउ फणि-इंद-णरिंदहँ विहियसेउ।
चउतीस वि अइसयपुण्णगत्तु परमाणंदामय परम पत्तु।
भव्वहँ उब्भोसिउ धम्मु इट्ठु विहरंतु संतु जिणगुणवरिट्ठु।
बोहंतु भव्वगण भत्तिजुत्त णियपहि लावंतु जि विसयभुत्त।
वरणयर-गाम मेलंतु संतु कणवज्जिणयरि जिणणाहु पत्तु।
णहयलु पूरिउ दुंदुहिरवेण सुर-खयरहँ पयडिय उच्छवेण।
वणवालें आगमु जिणवरासु जाणेप्पिणु अक्खिउ णिववरासु।
भो अक्ककित्ति णायरणरेस महु वयणु णिसुणि सासयविसेस।
जसु चलण णवइ मर्मारिवंविदु जसु भामंडल सोहइ अमंदु।
जसु सत्थें दुंदुहिसर उमालु जसु सोसि हि छत्तत्तउ विसालु।
जसु वाणीकम संदेहमुक्क जसु आसणि सिंह वि सरणि ढुक्क।
जसु पायहेट्ठि कंजइ घुलंति जसु उवरि असोयंकुर ललंति।
चमराइँ जासु टालंति जक्ख सो पासणाहु जिणु आउ वक्ख।

घत्ता—तुव वरणंदण वणि तरुवल्लीघणि आवासिउ तहिँ देउ जिणु।
तहु वयणु सुणेप्पिणु लाहु [3]मुणेप्पिणु पुलइउ रायहु तणउँ मणु ॥७२॥

[५-२]

कणयासणु मेल्लिवि अक्ककित्ति तद्दिसइँ सत्त पय जाय झत्ति।
कर जोडिवि पणविवि पुणु णिसण्णु वणवालहु पउरपसाउ दिण्णु।
पुणु उट्ठिवि णियपरियणसमेउ गउ सिग्घें जहिँ सिरिपासुदेउ।
भामरि तिय देप्पिणु थुइ करेवि पणविवि णियकोट्ठिहिँ पइसरेवि।
पुणु पुच्छिउ सावयधम्मु तेण ता जिणवाणो णिग्गय खणेण।
गणहरेण धरिय सा णियमणेण सो रायहु अक्खइ णिम्मलेण।
भो सुणि णरेस सायारधम्मु इच्छियसुहभायणु णट्ठछम्मु।

---

१. क. ख. उज्जा०। २-३. ख. बत्थइ देप्पिणु।

सन्धि—९

[९-१]

पार्श्व-विहार—कन्नौज-आगमन

घत्ता—केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीके स्वामी, धरणेन्द्र द्वारा नमस्कृत तथा कुसिद्धान्तों (के प्रवर्त्तकों) को त्रस्त करनेवाले श्रीपार्श्वका समवशरण हृदयोंके अन्धकारको दूर करता हुआ पृथिवीमण्डल पर विचरण करने लगा। छ।

संसाररूपी समुद्रसे पार उतरनेके लिये सेतुके समान, फणीन्द्र एवं नरेन्द्रों द्वारा सेवित, चौंतीस अतिशयोंसे पूर्ण शरीर, परमानन्दरूपी परम अमृतको प्राप्त एवं गुणमें श्रेष्ठ पार्श्व जिन विहार करते हुए भव्य जीवोंके लिये इष्ट धर्म प्रकाशित करने लगे। भक्ति भावसे युक्त भव्यगणोंको बोधित करते हुए एवं विषय भोगियोंको सुपथपर लाते हुए उत्तम नगरों एवं ग्रामोंको पार करते हुए वे जिननाथ कन्नौज नगरीमें पहुँचे।

दुन्दुभिके शब्दसे तथा सुरखेचरों द्वारा प्रकट किये गए उत्सवसे आकाश भर उठा। वनपालने जिनवरके आगमनको जानकर (तत्काल जाकर) राजाको सूचित किया—"अखण्ड प्रदेशके स्वामी हे नागरनरेश अर्ककीर्त्ति, मेरे वचन सुनिए। जिसके चरणोंमें देवगण प्रणाम करते हैं, जिसका भामण्डल अतिशय तेजस्वितासे सुशोभित है, जिसका समवशरण दिव्यदुन्दुभिके स्वरसे व्याप्त है, जिसके सिरपर विशाल छत्रत्रय है, जिसकी वाणी-परम्परा, संशयसे मुक्त है, जिसके आसनमें सिंह भी आकर शरण पाते हैं, जिसके चरणोंके नीचे कमल पुष्प लहराते हैं, जिसके ऊपर अशोकके अङ्कुर डोलते हैं और जिसके ऊपर चतुर यक्ष चमर डुलाते हैं, ऐसे पार्श्वजिनेन्द्र पधारे हुए हैं।

घत्ता—वे जिनदेव वृक्ष एवं लताओंसे सघन तुम्हारे नन्दन वनमें निवासकर रहे हैं।" उसके वचन सुनकर और इसे अपना लाभ मानकर राजाका मन पुलकित हो उठा ॥७२॥

[९-२]

समवशरणमें राजा अर्ककीर्त्तिके लिये सागार-धर्मका उपदेश

अपना स्वर्णमय सिंहासन छोड़कर अर्ककीर्त्ति शीघ्र ही उस दिशामें सात पग जाकर हाथ जोड़कर प्रणाम करके पुनः सिंहासनपर बैठ गया। (उसने) वनपालके लिये प्रचुर प्रसाद (पुरस्कार) दिया और फिर उठकर अपने परिजनों सहित शीघ्र ही श्रीपार्श्व प्रभुके पास गया। तीन भाँवरें (परिक्रमाएं) देकर स्तुतिकर तथा प्रणाम करके अपने कोठेमें बैठ गया। फिर उसने श्रावकधर्म पूछा। क्षण भरमें जिनवाणी निर्गत होने लगी। गणधरने अपने निर्मल मनसे उसे धारण किया और राजासे कहा—"भो नरेश, मनोवाञ्छित सुखोंको प्रदान करनेवाले तथा अज्ञानरूपी छद्मको नष्ट करनेवाले सागार धर्मका श्रवण करो। मिथ्यात्व-भावनाका त्यागकर

मिच्छामयभावण [1]परिहरेवि सम्मद्दंसणु पढमउ धरेवि ।
वसुगुणसुद्धउ भावेहु चित्ति जिम सुह पावेहु जि इह-परत्ति ।
णिस्संका-णिक्खंका कुणेहु णिव्विदिगिच्छा तइयउ मुणेहु ।
तुरियउ अमूढदिट्ठी गरिट्ठु उवगूहणु तहँ पंचमउँ दिट्ठु ।
ठिदियरणु पुणु वि वच्छल्लु भल्लु[2] अट्ठमउ पहावणु सुहवसिल्लु ।

घत्ता—संवेउ वि णिव्वेउ णिंदा-गरुहा उवसमु वि ।
जिणसासणि बहुभत्ति वच्छल्लें अणुकंप वि ।।७३।।

[५-३]

एयहिँ गुणेहिँ सम्मत्तु होइ अरहंतु देउ णउ अण्णु कोइ ।
अडवहदोसहिँ मुक्कउ णिरीहु जो इंदियगयघडदलण सीहु ।
केवललोयणु पणवेहि देउ जें मुणियउ लोयालोयभेउ ।
अण्णु वि णिग्गंथु अगंथु साहु जें समिउ अणंगहु तिव्वदाहु ।
सज्झायज्झाणें अहणिसु पवीण मासेक्क-पक्खपारणहिँ खीण ।
परिहरिय मोह-माया-पमाय पणविज्जहि भावें ताहँ पाय ।
अणुराउ करिज्जइ दयहु धम्मि णिण्णासइ चिरकिय पावकम्मि ।
णिग्गंथपंथु मोक्खहु ण अण्णु दहलक्खणु धम्मु कुणेहु धण्णु ।
सम्मत्तहु लक्खणु एहु वुत्तु भव्वहँ भावेव्वउ मणि णिरुत्तु ।
सम्मत्तें सुर-णर-संपयाइँ भुंजिवि गच्छइ पुणु सिवपयाइँ ।

घत्ता—तें विणु भवसायरि बहुदुक्खायरि णिवडइ जीउ ण भंति कवि ।
तें सहुँ णारउ पुणु णरु होइवि सुणु सिवपउ लहइ ण भमइ भवि ।। ७४ ।।

[५-४]

इउ जाणिवि तें सहुँ परमधम्मु जो करइ तासु णिव सहलु जम्मु ।
पढमउँ जीवहँ पुणु विहिय मित्ति णउ खुंसइ जाणिवि णाणसत्ति ।
वयसहिउ वि वउ-तउ करउ थोउ सो इहभवि परभवि जणइ मोउ ।
जें पाणिहिँ पाणक्खउ हवेइ कासु वि तं णउ उद्दंसु देइ ।
जो दाण-पूय णिवउ करेइ सो अण्णण्णइँ जम्मइँ सरेइ ।
विसमीसिउ पउ जो पियइ बप्प किं मरइ ण सो पुणु करि वियप्प ।
इय जाणिवि छंडिवि हिंसभाउ आहिंसु धम्मु करि साणुराउ ।
महु-मज्ज-मंसु वज्जियइ दूरि जिम दय वड्ढइ भासंति सूरि ।

---

१. क. थरिहरेवि । २. क-ख. भव्वु ।

अष्टाङ्गोंसे विशुद्ध सम्यग्दर्शनको सर्वप्रथम धारणकर उसका मनमें ध्यान करो, जिससे कि इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्तकर सको। निःशङ्का एवं निःकाङ्क्षा (नामक) अङ्गोंको (धारण) करो। निर्विचिकित्सा नामक तीसरे अङ्गको जानो। चौथा अमूढ़दृष्टि अङ्ग महान् है। पाँचवाँ उपगूहन अङ्ग कहा गया है। छठवाँ स्थितिकरण एवं सातवाँ वात्सल्य अङ्ग भला है तथा आठवाँ प्रभावना अङ्ग सुखका निवास है।

घत्ता—जिन-शासनमें संवेग एवं निर्वेद, निन्दा तथा आत्मगर्हा उपशम तथा बहुभक्ति, वात्सल्यता एवं अनुकम्पा—॥ ७३ ॥

[५-३]

सम्यक्त्व-प्रवचन

इन गुणोंसे सम्यक्त्व होता है। अरहन्त ही देव हैं अन्य कोई नहीं। वह अठारह दोषोंसे मुक्त, निष्काम और इन्द्रियरूपी गज समूहका दलन करनेके लिये सिंहके समान है। उस केवल ज्ञान-लोचन देवको प्रणाम करो, जिन्होंने लोकालोकके भेदको जान लिया है। और अन्य भी, जो परिग्रहरहित निर्ग्रन्थ साधु हैं, जिन्होंने कामके तीव्रदाहको शान्तकर दिया है, स्वाध्याय एवं ध्यानमें अहर्निश प्रवीण हैं, मास अथवा पक्षमें पारणा लेनेके कारण क्षीणकाय हो गये हैं, मोह, माया एवं प्रमादको छोड़ दिया है, उनके (निर्ग्रन्थ-साधुके) चरणोंमें भी भावपूर्वक प्रणाम करो। दया-धर्मके प्रति अनुराग करो, जो चिरकृत पाप-कर्मका नाशक है मोक्ष प्राप्तिके लिये निर्ग्रन्थ मार्गको छोड़ अन्य मार्ग नहीं। धन्य दशलक्षण धर्मका पालन करो। सम्यक्त्वके ये लक्षण कहे गये हैं, भव्यजनोंको इनकी (अपने) मनमें दृढ़ भावना करना चाहिए। सम्यक्त्वसे सुरनर सम्पदादि का सुख भोग करके फिर शिवपद प्राप्त करते हैं।

घत्ता—सम्यक्त्वके बिना जीव अनेक दुखोंके आकर भवसागर में गिरता है, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं। और भी सुनो कि, सम्यक्त्वसे युक्त नारकीय जीव भी मनुष्य होकर शिवपद प्राप्त करता है और संसारमें परिभ्रमण नहीं करता ॥७४॥

[५-४]

अहिंसाणुव्रत

ऐसा जानकर जो व्यक्ति सम्यक्त्व के साथ परम धर्मको करता है, हे राजन्, उसका जन्म सफल है। सर्वप्रथम जीवोंके लिये मैत्रीका विधान किया गया है। अपनी ज्ञान शक्तिके अनुसार (जीवको) जानकर उसे ध्वस्त न करे। जो दया सहित कुछ भी व्रत-तप करता है, वह इस भव एवं परभवमें (अपने लिये) हर्ष उत्पन्न करता है। जिससे प्राणियों के प्राणों का क्षय होता हो, वैसा उपदेश किसीको भी न दे। जो दान एवं पूजाकी निन्दा करता है, वह अन्यान्य जन्मोंमें गमन करता रहता है। जो बेचारा विषमिश्रित दूध पीता है, तो क्या वह सन्ताप करके मरता नहीं? यह सब जानकर हिंसाका भाव छोड़कर अनुराग पूर्वक अहिंसा धर्म करो। मधु, मद्य और मांसका दूरसे ही त्यागकर देना चाहिए, जिससे दयाका भाव बढ़े और जिसके द्वारा सूर्यके प्रकाशमान रहने तक दया (-भाव) विद्यमान रहे।

घत्ता—पंचुंबरभक्खणु कीरइ रक्खणु कंदमूल तहँ वज्जणु वि।
णउ चक्खइ सइँ पुणु वासिय भक्खणु उवएसेइ ण सज्जणु वि ॥७५॥

[५-५]

संभवइ मणाउ ण पाउ जेम बोलिज्जइ वयणु बुहेण तेम।
भासइ उवएसइ भणइ तच्चु णउ दूसइ जिणवर भणिउँ तच्चु।
सच्चेँ सुरणर पणमंति पाय सच्चेँ लब्भइ तित्थयरवाय।
अदत्तु ण गिण्हइ परहु वव्वु पहि पडिउ धरिउ णउ लेइ भव्वु।
णउ अण्णहो देइ ण छुवइ हत्थि णउ हिंडइ चोरहु तणइ सत्थि।
णउ ताहँ समउ वावारु णेहु णउ वच्चइ लोहेँ तासु गेहु।
मणवयकाएँ थेणु वि चएहु जिम एत्थु अण्णभवि सुहु लहेहु।
परणारि णिहालिवि रूवसार णियदिट्ठि णिवारइ दुण्णिवार।
जा-जा अण्णहु जुवई सुजाण मण्णइ जणणि-बहिणी-समाण।
भव्वु जि णिय परिणिउ वारु इट्ठु पव्विहिँ-पव्विहिँ वज्जइ मणिट्ठ।
वासो-वेसहिँ जो रत्तु लोइ तहु णियमेँ वउ णउ एक्कु होइ।
इय जाणिवि किज्जइ स-तियराउ इयर विविज्जइ जाणेवि पाउ।
धण-कण-कंचण-गिहि-दासि-दास तंबोल-विलेवण पवर वास।
किज्जइ पमाणु चइ लोहभाउ भाविज्जइ णिय चेयण-सहाउ।

घत्ता—ए पंचाणुव्वय भासिय बुहयय भावहि चित्त णरेंदवरा।
गुणवयतिण्णि वि पुणु सिक्खावय सुणु चारिवि सासय सुक्खयरा ॥७६॥

[५-६]

दिसि-विदिसिहिँ पच्चक्खाणु करणु पसरंतहु मणुहुँ णिरोहकरणु।
दिणि-दिणि पच्चूसिहि णियमगहणु तं पढमु गुणव्वउ पावहरणु।

घत्ता—पाँच उदुम्बरोंके भक्षणसे अपनी रक्षा करो तथा कन्दमूलका त्याग करो। संसार-रूपी वनमें वास करानेवाली उक्त वस्तुओंको सज्जन व्यक्ति न तो स्वयं चखे और न उनके सेवनका दूसरोंको उपदेश ही दे ॥७५॥

[५-५]

सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह-परिमाणुव्रत

विवेकशील व्यक्तिको ऐसा वचन बोलना चाहिए, जिसमें पापकी अल्प भी सम्भावना न हो। (वह) तत्त्वको प्रकट करे, तत्त्वका ही उपदेश दे और तत्त्व ही बोले। जिनवर द्वारा भाषित तत्त्वको दूषित न करे। सत्यसे देव एवं मनुष्य (भी) चरणोंमें प्रणाम करते हैं। (यहाँ तक कि) सत्यसे तीर्थङ्करकी वाणी भी प्राप्त होती है।

भव्यजन स्वयं अथवा अन्य व्यक्तियोंके द्वारा दिये गये परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता और न ही मार्गमें पड़े हुए अथवा रखे हुए परद्रव्यको लेता है। न उसे (उठाकर) दूसरेको देता है और न स्वयं अपने हाथोंसे (उसे) छूता ही है और न चोरोंके समूहमें भ्रमण करता है। न उनके साथ व्यापार करता है, न स्नेह करता है और न लोभसे उसके घर जाता है। मन, वचन एवं कायसे चोर (के कार्य) को छोड़ दो, जिससे इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्तकर सको।

रूपसार (अत्यन्त सुन्दरी) परनारीको देखकर अपनी दुर्निवार दृष्टिको रोके। जो-जो भी परयुवतियाँ हों, उन्हें सुजान व्यक्ति, माँ एवं बहनके समान मानता है। भव्यजीव भी अपनी इष्ट, मनोज्ञ एवं परिणीता पत्नीका भी पर्वों-पर्वोंमें संयम रखता है। जो व्यक्ति इस लोकमें दासी एवं वेश्याओंमें आसक्त होता है, उसको नियमसे (निश्चयसे) एक भी व्रत नहीं होता। यह जानकर अपनी पत्नीमें ही राग किया जाय तथा इतर सबका, पाप जानकर, उनका त्याग किया जाय।

धन-धान्य, स्वर्ण, गृह, दासी-दास, ताम्बूल, विलेपन एवं उत्तम सुवास इनके प्रति लोभ-की भावनाका त्यागकर उनका प्रमाणकर लेना चाहिए और निज चेतन स्वभावका चिन्तन करना चाहिए।

घत्ता—दुःखोंका क्षय करनेवाले ये पञ्चाणुव्रत कहे गये। हे नरेन्द्र श्रेष्ठ, अपने चित्त-में इनका ध्यान करो। पुनः तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत सुनो, जो कि शाश्वत सुख प्रदान करानेवाले हैं ॥७६॥

[५-६]

तीन प्रकारके गुणव्रत

दिशाओं-विदिशाओं (निश्चित सीमाओंके बाहर जानेका) प्रत्याख्यान करना, बढ़ते हुए मनका निरोध करना एवं दिन-प्रतिदिन प्रभातकालमें नियम ग्रहण करना ही पापका हरण करने-वाला प्रथम गुणव्रत है।

जिण भासिउ धम्मु ण वहइ जहिँ णउ जाइ भव्वु पुणु जम्मि तहिँ ।
खस-बब्बर-भिल्ल-पुलिंदगणु जहिँ णिवसइ पावासत्तमणु ।
भुवणंतरि तहिँ ण वि मणु करए सो बीयउ गुणवउ पुणु धरए ।
असि-छुरिय-फरिस-कुंताउहाइँ णउ लेइ ण विक्कइ कियवहाइँ ।
कुद्दालु-कुहाडी-फालु लउ णियकासु ण दिज्जइ कयमलउ ।
महुवाइँ-लक्ख-विस लोह सणु णउ विक्किज्जइँ तें पाउ घणु ।
मज्जार-सुणह-णउलइ-वयहँ जीवाहारियजीवहँ सयहँ ।
दासी-दासहँ मंसासियहँ णउ रक्खइ पालइ पावियहँ ।
एयहँ किज्जइ मज्झत्थमणु तं णत्थदंडु तीयउ सगुणु ।
जो णत्थदंडु परिहरइ णरु पावइ भवि-भवि इच्छियउ वरु ।

घत्ता—भोयहँ उवभोयहँ संखाएयहँ किज्जइ णियमणु धारिवि थिरु ।
जें संवरु वड्ढइ भवतरु डज्झइ पाविज्जइ पुणु पउ सुथिरु ॥७७॥

[५-७]

जीवहु सव्वहु णियमें खमामि ते मज्झु खमंतु वि चित्तरामि ।
इउ भणिवि चइवि सावज्ज-कम्म जिण सम्मुहु थाइवि मुइवि छम्म ।
पज्जंकासणि मणु थिरु करेवि पुणु रयणत्तउ सुहयरु सरेवि ।
णियसत्तिए सामायउ करेइ संकप्प वियप्प जि परिहरेइ ।
पुणु सिद्धु बुद्धु चेयणु पवित्तु अम्मुत्तु णिरंजणु दोसचत्तु ।
अप्पा भावइ भावेण णाणि तं सामायउ णिच्छइ वियाणि ।
अट्ठमि-चउदसि पव्व जि दिणम्मि संवरु किज्जइ आरंभकम्मि ।
सत्तमि णवमिहिँ पुणु एयभत्तु भव्वहँ किज्जइ सो गिद्धिचत्तु ।
मणवयसुद्धिहि पंचमि उवासु जिणु पणविवि गिण्हइ छिण्णआसु ।
तद्दिणि सावज्जइँ चयइ कम्म अच्छइ अहणिसु सुहझाण धम्म ।
पत्तहो भुंजाविवि लेइ गासु सो वुच्चइ णिव पोसहु उवासु ।
घरदारिपत्तपत्तहो णरेण पडिगाहिज्जइ सो गुणभरेण ।
णियसत्तिए दिज्जइ तासु दाणु बहुगउरवेण सक्करिवि माणु ।
सो अतिहिणामु वउ धरहु भव्व मणवंछिय सुह जें लहहु सव्व ।

घत्ता—जहिँ पसरइ तमभरु दिट्ठि वि सहयरु खयर वि जत्थ ण संचरहिँ ।
तहिँ दोसपहायरि एत्थ विहावरि किं सावय भोयणु करहि ॥७८॥

जिन भाषित धर्मका जहाँ पालन न किया जा सके, वहाँ भव्यजन आजन्म न जाय। पापासक मनवाले खस, बब्बर, भोल, पुलिन्द आदि जहाँ निवास करते हों, मनको भी स्वप्नमें वहाँ न जाने दे। यही द्वितीय गुणव्रत है, इसे धारण करना चाहिए।

असि, छुरिका, फरसा, कुन्त आदि वध करनेवाले आयुध न तो लेवे और न बेचे। अपनी कुदाल, कुल्हाड़ी एवं फावड़ा किसीको भी काममें लाने हेतु न दे। अनेक पापके कारणभूत महुआ आदि एवं लाख, विष, लोहा तथा सन आदि वस्तुएँ न बेचे।

मार्जार, कुत्ता, नकुल, गिद्ध आदि सैकड़ों जीवोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले (खानेवाले) तथा मांसाहारी पापी दासी एवं दासोंको न रखे और न पाले। इनके प्रति मध्यस्थ भाव धारण करे। यह तीसरा अनर्थदण्ड व्रत नामक गुणव्रत है। जो व्यक्ति अनर्थदण्डका परिहार करता है, वह भव-भवमें इच्छितवर प्राप्त करता है।

घत्ता—अपने मनको स्थिर करके भोगों एवं उपभोगोंकी संख्या सीमित करना चाहिए, जिनसे संवर बढ़ता है, भवरूपी वृक्ष जल जाता है और सुस्थिर (शाश्वत) पद प्राप्त होता है ॥ ७७ ॥

[५-७]

चार प्रकारके शिक्षाव्रत

'सभी जीवोंको मैं नियमसे क्षमा करता हूँ, वे भी मुझे प्रसन्न होकर क्षमा करें।' ऐसा विचारकर (साधक) सभी सावद्य-कर्मों का त्याग करे तथा जिन भगवानके सम्मुख बैठकर निष्कपट भाव से पर्यङ्कासन मारकर मन को स्थिर करके और सुखकारी रत्नत्रय का स्मरण करके अपनी शक्तिपूर्ण संकल्प-विकल्प छोड़कर सामायिक करे। ज्ञानी-व्यक्ति सिद्ध, बुद्ध, चेतन, पवित्र, अमूर्त्त, निरञ्जन एवं निर्दोष आत्माका भावना पूर्वक ध्यान करे। निश्चय से इसे सामायिक शिक्षाव्रत समझो।

अष्टमी, चतुर्दशी एवं पर्वके दिनोंमें आरम्भ कार्योंमें संवर करे। सप्तमी एवं नवमीको भव्यजन लालसा छोड़कर एक बार भोजन करे। आशा छोड़कर तथा जिन भगवानको प्रणाम कर मन एवं वचनकी शुद्धिपूर्वक पञ्चमीका उपवास ग्रहण करे। उस दिन सावद्यकर्मोंका त्याग करे और अहर्निश शुभ धर्मध्यानमें रत रहे। (तदनन्तर) सत्पात्रको भोजन कराकर ग्रास ले। हे राजन्, यही प्रोषधोपवास व्रत कहा जाता है।

गुणवान् व्यक्तिको घरके दरवाजे पर आये हुए सत्पात्रको पडगाहना चाहिए। अपनी शक्ति पूर्वक उसे बड़े ही गौरवके साथ मान (कषाय) को छोड़कर दान देना चाहिए। हे भव्य, (इस प्रकार कथित) उस अतिथिसंविभागव्रतको धारण करो, जिससे सभी मनोवाञ्छित सुख प्राप्त कर सको।

घत्ता—जहाँ अन्धकारका प्रसार हो, देखना भी कठिन हो (यहाँ तक कि) जब पक्षी भी संचार न करते हों, उस दोष उत्पन्न करवाली रात्रिमें श्रावक भोजन कैसे कर सकता है? ॥ ७८ ॥

[५-८]

दिवसहिँ असणु णरहिँ भुंजिज्जइ रयणिहिँ मणि सो णउ वंछिज्जइ ।
जहिँ णिसियर किलकिलहिँ छुहाउर जहिँ तक्कर भमंति आसाउर ।
जहिँ परतियलंपडु गलगज्जइ जहिँ रवि पच्छिमउवहि णिमज्जइ ।
लूया-दंसमसय-मक्खियगणु णउ दीसंति भरिय गयणंगणु ।
जहिँ अविसिट्ठकम्म जणु जुंजइ तहिँ रयणिहिँ णिव बुहु णउ भुंजइ ।
अणगालिउ जलु कासु ण दिज्जइ अप्पुणु सो कहँ भवि णउ पिज्जइ ।
बे घडियहँ संमुच्छइ पाणिउँ पासजिणेंदेँ णाणेँ जाणिउँ ।
अण्णु वि वसणचाउ णिसुणिज्जइ सावयवयहु मूलु भासिज्जइ ।

घत्ता—जूवा-मंसासणु-सुर-वेसा पुणु पारद्धिय परदविणमइ ।
परदारा सेवणु वासिय भववणु सत्तवसण वज्जइ सुमइ ॥७९॥

[५-९]

जूवंधु णरु धिट्ठट्ठु पाविट्ठु दप्पिट्ठु जम्मे वि णउ सरइ सो कम्मु सुविसिट्ठु ।
गिहदव्वु चोरेवि लइ जाइ गुणणट्ठु तं सयलु हारेवि पुणु भमइ भयतट्ठु ।
जाया-सुवा-बहिणि ण कुणंति विस्सासु जणु सयलु पेच्छेवि तहु करइ उवहासु ।
णउ घरु ण घरिणी वि तिस भुक्ख णउ णिद्द जोवंतु अच्छेइ पुणु जणहु गिह छिद्द ।
पिट्टियइ लोट्टियइ रोहियइ जूवारु इम मुणिवि सचयहु जूवस्स वावारु ।
जीवाहँ घाएण उप्पत्ति मंसस्स बस-रुहिर-मच्छुक्क-अट्ठिमिस्सस्स ।
तिरियंच णिद्दोस वहिऊण जो पाउ पुणु पलु वि भक्खेइ संवहिवि मणि राउ ।
सो णरहु रूवेण पच्चक्खु जमु सिट्ठु इम मुणिवि संचयहु ठिदि सुणिवि णिक्किट्ठ ।
[मयणावयारो छंदो]

घत्ता—मंसासीमाणुस रसणिवियवस णिट्ठुर-णिद्दय-पावपरा ।
सुरपाणु पउंजइ णियमणि रंजइ हँसइ मरइ रुलुघुलइ धरा ॥८०॥

[५-८]

रात्रिभोजन त्याग एवं जलगालन

मनुष्योंको दिनमें ही भोजन कर लेना चाहिए। रात्रिमें उसकी मनमें भी वाञ्छा नहीं करना चाहिए। जिस रात्रिमें क्षुधातुर निशाचर किलकिलाते रहते हैं, जिस समय तस्कर लोग आशातुर होकर घूमते हैं, परस्त्री लम्पट गलगर्जना (गाल बजाना या मुँहको सीटी बजानेका कार्य) करते रहते हैं, रवि पश्चिम-समुद्र में निमग्न होता है, मकड़ी, दंशमशक एवं मक्खियोंसे भरा हुआ आकाश दिखाई भी नहीं देता, जिस समय लोग अवशिष्ट कर्म (कामभोगादि) किया करते हैं, हे नृप, उस रात्रिमें बुद्धिमान व्यक्ति भोजन न करे।

अवछना जल किसीको भी नहीं देना चाहिए। भव्यजनको स्वयं तो कभी पीना ही नहीं चाहिए। दो घड़ीवाले जलमें सम्मूर्च्छन प्राणी (उत्पन्न हो जाते हैं ऐसा) पार्श्व प्रभुने अपने ज्ञानसे जाता है।

और भी, अब व्यसनों त्यागका सुना जाता है जिसको श्रावकव्रतका मूल कहा गया है

घत्ता—जुआ, मांसाहार, सुरा, वेश्या, शिकार, परद्रव्यमें बुद्धि (चोरी) एवं परदारगमन ये सप्तव्यसन भववनमें निवास करानेवाले हैं, इन्हें सुबुद्धि जीव छोड़ देता है ॥ ७९ ॥

[५-९]

सप्तव्यसनत्याग—जुआ एवं मांसाहार त्याग

धृष्ट, पापिष्ठ एवं दर्पिष्ठ द्यूतान्ध मनुष्य जन्म भर भी विशिष्ट कर्मों (पुण्य) का अनुसरण नहीं करता। वह गुणहीन जुआरी व्यक्ति घरका द्रव्य चुराकर ले जाता है और उस सबको हारकर, भयत्रस्त होकर भटकता रहता है। पत्नी, पुत्री और बहिन उसका विश्वास नहीं करती, सभीलोग उसे देखकर उसका उपहास करते हैं। उसके लिये न घर होता है और न गृहिणी, न भूख, न प्यास और न निद्रा और वह लोगोंके घरोंके छिद्र जोहता रहता है। जुआरी व्यक्ति पीटा जाता है, लूट लिया जाता है और (कारागारमें) बन्द कर दिया जाता है। यह (सब) सोचकर जुएका व्यापार छोड़ दो।

जीवोंको मारनेसे वसा, रुधिर, मेदा एवं अस्थिमिश्रित माँसकी उत्पत्ति होती है। जो पापी (शिकारी) व्यक्ति निर्दोष तिर्यञ्चका वधकर मनमें रागपूर्वक उसके माँसका भक्षण करता है वह (मनुष्यके रूपमें प्रत्यक्ष यम कहा जाता है। ऐसा जानकर तथा उसकी निकृष्ट स्थिति सुनकर उस (माँस भक्षण) को छोड़ देना चाहिए।

घत्ता—मांसाहारी, रसनेन्द्रियके वशीभूत, निष्ठुर निर्दय एवं पापकारो मनुष्य सुरापान में प्रवृत्त होते हैं। (वे) सुरापान कर अपने मनमें हर्षित होते हैं, हँसते हैं, मरते हैं और इस प्रकार पृथिवीतल पर रुलते-घुलते रहते हैं ॥ ८० ॥

[५-१०]

मज्जपाणेण मत्तो भमंतो णरो   लज्जणिम्मुक्कु कोरइ अकज्जंतरो ।
णारिगल बाहँ घल्लेवि बोल्लावए   माय बहिणी ति जंपेइ जं भावए ।
भज्ज पेच्छेवि वंदेइ माए त्ति सा   घुम्ममाणो चलंतो वलंतो रसा ।
मग्ग मज्झम्मि लोट्टेइ उत्ताणउ   को वि ढुक्केइ आसण्णु णो माणउ ।
मुत्तए साणु वत्तम्मि रंधे तुरं   मण्णए तं पि सोवण्णरस णिब्भरं ।
देहि–देही ति जंपेइ मज्जं इमं   मित्त कल्लाणपीऊसपाणोवमं ।
सोसु सव्वाहँ णावेइ जंपंतउ   गायमाणो वि हिंडेइ कंपंतउ ।
एह रत्त॑स दुक्खाइँ पेच्छेवि जो   बारहा अक्खरा छंदु संसग्गि सो ।

घत्ता—इय जाणिवि जो णरु कयरससंवरु मज्जपाणु लहु परिहरए ।
सो दुहसयआयरु भवरयणायरु दुल्लंघु वि ले॑लतउ तरए ॥८१॥

[५-११]

जा पलु रसइ सुरामयमत्ती   कासु वि रूवहु जम्मि ण रत्ती ।
दव्ववंतु णीउ वि सम्माणइ   तेण सरिसु रइसुक्खइँ माणइ ।
अत्थहीणु पुणु बहुगुणसुंदरु   तहु ण पवेसु देइ णियमंदिरु ।
अण्णहो सेवइ अण्णहो जोवइ   अण्णहो विडहु पुणु वि मणि ढोवइ ।
जिह जलवरुहि रहु आयट्टइ   तिह वारा पुणु णेहेँ वट्टइ ।
कूड-कवड-आलावहिँ रंजइ   उयरणिमित्तेँ णियतणु गंजइ ।
गुंजाहलसमाण पेक्खंतहँ   पाणक्खउ पुणु तहँ चक्खंतहँ ।
पडियट्टहु सा वट्टणि पुणु जिह   वेसहि कायकुंडु जाणहु तिह ।
एउ जाणिवि आवणतिय वज्जहु   सीलरयणु मा दुल्लहु भज्जहु ।
पारद्धि वि अणत्थ दुहकारणु   णिद्दोसियहु ण किज्जइ मारणु ।
सूयर-संवर-हरिणवरायहँ   वणि भमंत रक्खंति सकायहँ ।

[५-१०]

मद्यपान त्याग

मद्यपानसे उन्मत्त व्यक्ति भटकता फिरता है। लज्जा छोड़कर वह नीच कार्य करने लगता है। स्त्रीके गलेमें बाँह डालकर उसे बुलाता है और माता अथवा बहिन (आदि) जो मनमें आता है, वही कहकर पुकारता है और भोगता है। भार्याको देखकर 'माँ' इस प्रकार कहकर (उसे) प्रणाम करता है। सुरारसपानके कारण चक्कर काटता हुआ लड़खड़ाकर चलता एवं बल खाता हुआ वह मार्गके मध्यमें ऊपर मुख किये हुए लेट जाता है। कोई भी, सम्मान (की-भावना) के साथ उनके पास नहीं ढूँकता। श्वान उसके मुखमें शीघ्र ही मूँत (पेशाब कर) देता है, किन्तु वह उस (पेशाब) को भी श्रेष्ठ सुवर्णरस (मदिरा) समझ लेता है और—"हे मित्र, कल्याणकारी अमृतपानके समान यह मदिरा (मुझे) और दो और दो" इसप्रकार कहता है। (अनर्गल) बोलता हुआ वह सभीके लिये अपना माथा झुकाता है एवं (यद्वा-तद्वा) गाता हुआ भी लड़खड़ाता हुआ घूमता-फिरता है। इस प्रकार मदिरापानकी आसक्तिके दुखोंको देखकर भी जो प्राणी उसमें आसक्त है, उसका वर्णन यहाँ बारह वर्ण वाले 'संसग्गि-छन्दमें' किया गया है।

घत्ता—यह जानकर जो व्यक्ति रसनेन्द्रियका संवरण कर तत्काल ही मद्यपान छोड़ देता है; वह अनेक दुखोंके आकर, दुर्लंघ्य संसार-समुद्रको भी खेल-खेलमें पार कर लेता है ॥ ८१ ॥

[५-११]

वेश्यासेवन एवं शिकार त्याग

जो सुरामदमें मत्त होकर मांसका स्वाद लेती है, जो जन्मभर किसीके भी रूप-सौन्दर्यमें आसक्त नहीं होती, जो द्रव्यवान—धनवान नीच व्यक्तिका भी सम्मान करती है तथा उसके साथ रतिसुखों को मानती है और पुनः बहुत गुणवान् एवं सुन्दर होने पर भी अर्थहीन व्यक्तिको अपने घरमें प्रवेश नहीं देती। अन्यको भोगती है और अन्यको देखती है तथा किसी अन्य ही विटका मनमें ध्यान करती है। जिस प्रकार वारुहीका जल रथको काट देता है, उसी प्रकार वेश्या अपने स्नेहसे वर्त्तन करती है (अर्थात् धनको काटती है)। कूट-कपट आलापोंसे मनोरञ्जन करती है और पेट पालनेके निमित्त अपने शरीरका मर्दन कराती है। जो देखने वालोंके लिये गुञ्जाफलके समान सुन्दर (लगती) है किन्तु चखनेमे (—भोगने वालोंके लिये) वह प्राण लेवा है। जिस प्रकारसे प्रतिपट्ट (ताना-बाना) के लिये बर्त्तनी होती है, उसी प्रकार वेश्याका कायकुण्ड जानिए (—अर्थात् भोगने वालोंके लिये वह बर्त्तनीके समान है)। यह जानकर बाजारू स्त्रियोंको छोड़ो। दुर्लभ शीलरूपी रत्नको भग्न मत करो।

शिकार खेलना भी अनर्थों एवं दुखोंका कारण है, अतः निर्दोष प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए। बेचारे शूकर, साँभर एवं हरिण अपने शरीरकी रक्षा करते हुए वन में घूमते रहते हैं।

तणवसणग्गघरिय-भयवेविर गिरि-सरि-सवरर-कंदर-वासिर ।
जो पुणु पाउ ताहँ संतावइ सो अणंत दुक्खइँ संपावइ ।
मंडलाहँ उच्छिट्ठउ भक्खइ णरइ पडंतु कवणु तहु रक्खइ ।
जो जाणइ जीवहो गुणदुल्लहु जो भावइ रयणत्तउ वल्लहु ।
जो णिय देहहु वेयण जाणइ सो अण्णहु ण उद्धंसइ पाणइ ।

घत्ता—णिय डिंभसमाणइँ तिरिय वि माणइ रक्खइ वहइ ण सुमइणरु ।
सो भउ ण णिहालइ महि सग्गालइ तिय विलसिवि हुइ णाणधरु ।।८२।।

[५-१२]

तक्करु परहु दव्वु चोरेप्पिणु कंपमाणु गच्छइ बहि लेप्पिणु ।
जाइवि विसमभयाउरु घणवणि संवरेवि तणु लिहक्कइ णिज्जणि ।
दिसउ णिहालइ मणि बोहंतउ इहभवि परभवि सुहु णासंतउ ।
कहमवि पुणु वणाउ सो णिग्गइ मा कुइ मज्झु णियइ मा जग्गइ ।
असमसाहसारूढु जि गच्छइ कहँ वि तलारु तासु पुणु पेच्छइ ।
बंधिवि लइ रायहु दंसावइ अवगुणसयसहस्स संभावइ ।
रायण्णिहिँ सूलिहिँ रोविज्जइ हत्थ-पाय-सिरखंडणु किज्जइ ।
कोइ ण रक्खइ तहु मारंतहो मरिवि जाइ णरयहिँ पाविउ लहु ।

घत्ता—इय जाणिवि चोरहो पाविय घोरहो संसग्गु वि णउ किज्जइ ।
अण्णु वि परदारहो दुग्गइ बारहो रूउ ण चित्ति धरिज्जइ ।।८३।।

[५-१३]

परतिय पेच्छिवि मयणें भिज्जइ कामुउ णियमणि तिलु-तिलु झिज्जइ ।
ताहँ न लहइ दुरासइ भिज्जइ एवमेव बहु पाउ समज्जइ ।
खीजइ हँसइ तसइ विरहाउरु णउ कामिउ मण्णइ देवहु गुरु ।
परपिययम अलहंतु वियप्पइ अहणिसु मयणजाल संतप्पइ ।
एय पएसि कहव जइ लब्भइ ता भएण दोहिँ वि मणु खुब्भइ ।
मा कुवि णियइ धरइ बज्झइ इहँ जहिँ एवहु दुक्खु तहिँ सुहु किहँ ।
अहवा बंधिवि रावलि णिज्जइ सिरु मुंडिवि खरसिरि रोविज्जइ ।

दाँतोंके अग्रभागमें तृण दबाए एवं भयसे काँपते हुए वे पर्वत, नदी, सरोवर एवं गुफाओंमें रहा करते हैं। जो पापी उन्हें (पकड़कर) सन्ताप देता है, वह (निश्चय ही) अनन्त दुखोंको प्राप्त करता है। जो कुत्तोंके उच्छिष्टको भक्षण करता है, नरकमे गिरते हुए उसे कौन बचा सकता है? जो जीव दुर्लभ गुणको जानता है, जो प्रिय एवं हितकारी रत्नत्रयका ध्यान करता है, जो अपने शरीरकी वेदनाको जानता है, वह अन्यके प्राणोंका ध्वस नही करता।

घत्ता—सद्बुद्धिवाला व्यक्ति तिर्यञ्चोंको भी अपने बच्चोंके समान मानता है, उनकी रक्षा करता है और वध नहीं करता। वह व्यक्ति कहीं भय नहीं देखता, पृथिवी एवं स्वर्गभवनोंमें वह देवियोंका भोग करते हुए ज्ञानका धारी बनता है ॥ ८२ ॥

[५-१२]

चोरी एवं परस्त्रीका त्याग

तस्कर दूसरेके द्रव्यको चुराकर काँपता हुआ, उसे छिपाकर बाहर भाग जाता है। (घरवालोंसे) अत्यन्त भयाकुल होकर घने वनमें जाकर वहाँ अपने शरीरको सकुचित कर निर्जन स्थान में लुक (छिप) जाता है। इस भव और परभव के सुखोंका नाश करता हुआ वह (अपने) मनमें भयभीत रहता हुआ दिशाओं की ओर निहारता रहता है। यदि कभी वह किसी प्रकार उस जङ्गलसे निकलता है तो सोचने लगता है कि कोई मुझे देख न ले, कोई जाग न उठे। अत्यन्त साहस करके, यदि वह गया भी, तो फिर कही कोतवाल उसे देख लेता है और उसे बाँधकर राजाके सम्मुख लाकर दिखा (उपस्थित कर) देता है और (तब) उसमें वह लाखों अवगुणों की सम्भावना करता है। राजन्य वर्गके लोगों द्वारा उसे शूली पर चढ़ा दिया जाता है (अथवा) हाथ-पैर या शिरच्छेद कर दिया जाता है। मारे जाते हुए उसे कोई नहीं बचाता और वह पापी मरकर शीघ्र ही नरकको प्राप्त करता है।

घत्ता—घोर पापी चोरके सम्बन्धमें यह (पूर्वोक्त वृत्त) जानकर उसका संसर्ग भी कभी न करो। और भी, परस्त्रीके दुर्गतिके द्वारके समान रूपको चित्तमें धारण मत करो ॥८३॥

[५-१३]

राजा अर्ककीर्त्तिको सम्यक्त्व-प्राप्ति तथा कमठ द्वारा किये गये उपसर्गका कारण पूछना

कामुक व्यक्ति परस्त्रियोंको देखते ही कामदेव (के बाणों) से विंध जाता है। वह अपने मनमें तिल-तिल करके जलता रहता है। उन्हे प्राप्त न कर वह दुराशासे भग्न हो जाता है, इस प्रकार वह बहुतसे पाप अर्जित करता है। विरहातुर होकर वह दुःखी होता है, (तो कभी) हँसता है, त्रस्त होता है और वह कामी देव एवं गुरु को भी नहीं मानता। दूसरों की प्रियतमाको प्राप्त न कर वह कलपता रहता है और अहर्निश मदन ज्वालासे सन्तप्त होता है। एकान्त प्रदेशमें यदि बड़ी कठिनाईपूर्वक (उस प्रेमिकाको) कभी प्राप्त कर भी लिया, तब भयसे दोनोंका मन बड़ा क्षुब्ध रहता है कि कहीं कोई देख न ले या बाँध न ले। जहाँ इतना बड़ा दुख है, वहाँ सुख

सिरि हलु बंधिवि पुरि भामिज्जइ अहवा अवयव-भंगु तहु किज्जइ ।
इय जाणिवि परतिय वज्जिज्जइ णियकुलु सुद्धु ण इह लज्जिज्जइ ।
इय सावयवयाइँ णिसुणेप्पिणु मण-वय-कायतिसुद्धि करेप्पिणु ।
सम्मत्तु वि राएँ पडिवण्णउँ पुणु गुरु णविउ णाणसंपुण्णउँ ।
पुच्छइ णियकर सिरि संजोइवि णियडि णिसण्णु कमठु अवलोइवि ।
उवसग्गु कियउ किं कारणेण णाहहु वि एण पावें खलेण ।
तं कारणु अक्खहु महु गणेसु भव्वहँ कंजहँ बोहण दिणेसु ।

घत्ता—तं णिसुणिवि वयणइँ रंजिय सयणइँ गणहरु जंपइ णाणधरु ।
संबंधु पयासइ रायहु भासइ जिणमुह-णिग्गय सुणिवि गिरु ॥८४॥

[५-१४]

पढमु अणंताणंत पयासिउ सव्वागासु जिणिंदि भासिउ ।
तासु मज्झि तिल्लोउ गरिट्ठउ सो वि असंखपएसु विसिट्ठउ ।
आकिट्टिमु सइसिद्धु पसिद्धउ हरिउ ण धरिउ ण केण ण किद्धउ ।
घण-तणउवहि-समीरणि धरियउ जीवाजीवहिँ सव्वु जि भरियउ ।
ताहँ पिंडु सव्वहँ पुणु बीसइ जोयणाइँ सहसइँ जिणु सीसइ ।
उह पएसि पुणु कमि-कमि हीणइँ लोय सोसि पुणु ते ठिय खीणइँ ।
बिण्णि एक्कु कोसइँ ते हुवसइँ पणदहसय-पचहत्तरि-धणुहइँ ।
एहु पिंडु पुणु उड्ढपएसहिँ तिहिँ त्रि पयासिउ सुणिय विसेसहिँ ।
चउवह रज्जुहिँ उड्ढु पमाणिउँ तिण्णि तियाल घणारें जाणिउँ
तसणाडि वि तसु मज्झि पसिद्धो सव्वत्थ वि तसजीवहिँ रिद्धो ।
तहि बाहिर थावर जिणु भासइ पंचपयार भरिय बुह णासइ ।
मारणंति केवलि उववायह एयहँ तिहिमि समुग्घायं तह ।
तसणाडि वि बाहिर अविरुद्धउ एयहँ गमणु जिणायमि सिद्धउ ।
सत्तरज्जुतलि लोउ पउत्तउ एक पंच पुणु एक विहत्तउ ।
पुव्वावरेण ताउ लाइज्जहु तइलोयहु णियमणि माणेज्जहु ।
आयामु वि पुणु दक्खिण-उत्तर सत्तरज्जु सव्वत्थ णिरंतर ।

कैसा ? अथवा उसे बाँधकर राजकुल ले जाया जाता है और सिर मुड़ाकर उसे गधेकी पीठ पर बैठाया जाता है। फिर सिर पर हल (-झाड़ू ?) बाँधकर उसे नगरमें भ्रमण कराते हैं अथवा उसका अवयव (गुप्ताङ्ग) ही भग्न कर दिया जाता है। यह सब जानकर परस्त्रीका त्याग कर देना चाहिए और अपने शुद्ध कुलको लजाना नहीं चाहिए।"

इस प्रकार श्रावक-व्रतोंको सुनकर तथा मन, वचन और कायरूप त्रिशुद्धि करके राजा (अर्ककीर्त्ति) ने सम्यक्त्व प्राप्त किया। उसने ज्ञानसम्पन्न गुरुको प्रणाम किया (और) कमठ को निकटमें ही बैठा देखकर (उसने) अपने सिर पर हाथोंको जोड़कर पूछा—"इस दुष्ट पापीने किस कारणसे पार्श्वप्रभु पर उपसर्ग किया ? भव्यजनरूपी कमलोंको बोधित करनेके लिये सूर्यके समान हे गणधर, उसका कारण मुझे कहिये।"

घत्ता—अर्ककीर्तिके, स्वजनोंको हर्षित करनेवाले वचनोंको सुनकर ज्ञानधारी गणधरने, जिन-भगवान्‌के मुखसे निर्गत वाणी सुनकर राजासे उसके सम्बन्धमें प्रकाश डालते हुए कहा :—॥८४॥

[५-१४]

(उत्तर-स्वरूप सर्वप्रथम—) करणानुयोग प्रवचन : त्रैलोक्यका स्वरूप

"प्रथम जिनेन्द्र द्वारा कथित सर्वाकाश अनन्तानन्त रूपमें प्रकाशित है। उसके मध्यमें महान् तीनलोक हैं, जो असंख्य प्रदेशोंसे विशिष्ट हैं (तथा जो) अकृत्रिम हैं, स्वतः सिद्ध हैं और प्रसिद्ध हैं, न कोई उसका हरण करता है, न धारण और न निर्वाण। घनवातवलय, तनुवातवलय एवं घनोदधिवातवलय पर आधारित हैं। सारा लोक जीवाजीवोंसे भरा है। उन सभीका पिण्ड जिन भगवानने बीस-बीस सहस्र योजन प्रमाण ऊपर-ऊपर कहा है। ऊर्ध्व-प्रदेशमें क्रमशः हीन-हीन है तथा लोकके शिखर पर वे क्षीण हो जाते हैं। लोकशिखर पर (क्रमशः) दो कोस एक कोस एवं १५७५ धनुष प्रमाण है। तीनों ऊर्ध्व प्रदेशोंमें यह पिण्ड विशेष रूपसे जानकर प्रकाशित किया गया।

यह लोक चौदह रज्जू प्रमाण ऊँचा है और इसका समस्त क्षेत्रफल ३४३ घनराजू है। उसी के मध्यमें सुप्रसिद्ध त्रसनाडी है, वह सर्वत्र त्रसजीवोंसे भरी हुई है। दुखनाशक जिन भगवानने उसके बाहरके क्षेत्रको पाँच प्रकार के स्थावरोंसे भरा हुआ कहा है। मारणान्तिक केवलि एवं उपपाद-समुद्घात करते समय इन तीनों लोकोंमें उनका गमन त्रसनाड़ीके बाहर भी अविरुद्ध है, ऐसा जिनागमसे सिद्ध है।

लोकके मूलभागमें उसका प्रमाण पूर्वसे पश्चिममें सात राजू कहा गया है और फिर मध्य-लोकमें एकराजू, ऊर्ध्वलोकमें ऊपर जाकर पाँच राजू और पुनः एक राजू विभक्त है। अपने मनमें त्रिलोकका ऐसा आकार मानो और दक्षिण-उत्तर दिशामें लोकका आयाम सर्वत्र निरन्तर सात राजू जानना चाहिए।

घत्ता—वह-सोलह-आवीस पुणु अट्ठावीस वि रज्जु भणि।
चउतीस वि चालीस तह छायालीस जि अवर गणि ॥८५॥

[५-१५]

सत्तहँ णरयहँ एहु पमाणउँ सउछण्णउव वि रज्जू ठाणउँ।
सइतालीसाहियसउ जाणहु उड्ढलोउ रज्जू वि पमाणहु।
तिण्णि सयइँ तेयालइँ एयइँ गणिवि पयासिय रज्जू भेयइँ।
तिरियलोय मज्झिहिँ कणयायलु जोयणसहसु तासु भासिउ तलु।
तासु हेट्ठि पुणु णरउ पहिल्लउ तिण्णिभाय घम्मा णामिल्लउ।
पढमभाउ खरपुहई णामा सोलहसहस वि जोयण रामा।
णवविह भावणसुर तहिँ णिवसहिँ मणइंछियसुहाइँ ते विलसहिँ।
सत्तपयार वि वितरहिँ ठिय सुहि वसंति भुंजंति वि सुरसिय।

घत्ता—पंकबहुल णाउ वि बोयउ भाउ वि चउरासी सहस जि गणिउ।
तहिँ असुरकुमारहँ एयपयारहँ वासभूमि आयमि भणिउ ॥८६॥

[५-१६]

तइयउ भाउ वि असिय सहायइ तोयबहुलु णामेँ जिणु भासइ।
तहिँ णारइय वसहिँ दुहपूरिय परसप्पर घायहिँ मुसुमूरिय।
हणु-हणु सद्देँ तणुलय खंडिय आरलंत विलवंत ण छंडिय।
वंसा णामेँ णरउ वि बीयउ सेला केवलि भासइ तीयउ।
तहिँ अरिट्ठ-अंजण णामालउ तुरिउ वि पंचमु मुणि णरयालउ।
मघवी माघवी य पुहवी पुणु छट्ठी सत्तमी य णामेँ भणु।
पढम णरइ पत्थारइ तेरह बीयइ ताइ पुणु जि एयारह।
तीयइ णव चउथइ सत्त जि गणि पंचमि पंच तिण्णि छट्ठए मुणि।
एक्कु जि सत्तमि तमसा छण्णउ जहिँ णारइयहँ कुलु आवण्णउ।
एक्कऊण सव्वइँ पंचास जि पत्थारइँ हवंति दुहवास जि।
तीस जि लक्ख बिलइँ पहिलारइँ पंचवीस बीयइँ दुहसारइँ।
पण्णारह तीयइँ तुरियइँ दह पंचमि तिण्णि वि लक्ख बिलइँ तह।
लक्खु एक्कु पंचूणउँ छट्ठइँ सत्तमि पच बिलइँ णिक्किट्ठइँ।
सयल होंति चउरासी लक्खइँ बिलइँ पदेसिय बहुविहदुक्खइँ।
तिविह ते वि जिणणाणेँ लक्खिय इंदय-सेणिबद्ध वि अक्खिय।
कुसुमपयण्ण तह य बहुभेयइँ जहिँ वसंति णारइय अमेयइँ।

घत्ता—दस, सोलह, बाईस, अट्ठाईस, चौंतीस, चालीस एवं छयालीस रज्जू (अर्थात् कुल १९६ रज्जू प्रमाण) सात (नरक-) पृथिवियोंका घनफल जानना चाहिए ॥ ८५ ॥

[५-१५]

नरक वर्णन : घम्मा नरक वर्णन

इस प्रकार सातों नरकोंका प्रमाण एक सौ छियानवे रज्जू है। एक सौ सैंतालीस रज्जू ऊर्ध्व लोकका प्रमाण जानना चाहिए। इस प्रकार गणना करके ये ३४३ रज्जू कहे गये हैं।

तिर्यक् लोकके मध्यमें एक सहस्र योजन प्रमाण कनकाचलका तल है। उसके नीचे घम्मा नामक प्रथम नरक है, जिसके तीन भाग हैं। प्रथम भागका नाम खर पृथिवी है, जो सोलह सहस्र योजन मोटी है। नौ प्रकारके भवनवासी देव वहाँ रहते हैं और मनोवाञ्छित सुखोंको भोगते हैं। सात प्रकारके रसिक व्यन्तर देव भी वहाँ सुखभोग भोगते हुए रहते हैं।

घत्ता—पङ्कबहुल नामक दूसरा भाग भी चौरासी सहस्र प्रमाण मोटा जानना चाहिए। वहाँ एक प्रकारके असुरकुमार जाति के देवोंका निवास स्थान है, ऐसा आगम में कहा है ॥ ८६ ॥

[५-१६]

वंशा, सेला, अञ्जना, अरिष्टा, मघवी एवं माघवी नरकोंका वर्णन

तीसरा तोयबहुल नामक भाग भी अस्सी सहस्र योजन मोटा है, ऐसा जिन भगवानने कहा है। दुःखोंसे परिपूर्ण उन नरक भागोंमें नारकी लोग निवास करते हैं। (वे) परस्पर घातकर (एक दूसरेको) तोड़-मरोड़ करते रहते हैं। 'मारो-मारो' शब्द कहकर तनुलताको खण्डित कर देते हैं और रोते हुए एवं विलाप करते हुए भी (एक दूसरेको) छोड़ते नहीं।

वंशा नामका दूसरा नरक है और तीसरा नरक जिन भगवानने सेला नामका बताया है। उसके बाद चौथे एवं पाँचवें—अञ्जना एवं अरिष्टा नामके नरकालय हैं और (उनके बाद) मघवी एवं माघवी नामके छठवें एवं सातवें नरक कहे गये हैं।

प्रथम नरकमें तेरह नरक प्रस्तार, दूसरेमें ग्यारह, तीसरेमें नौ, चौथेमें सात, पाँचवेंमें पाँच, छठवेंमें तीन एवं तमाच्छन्न सातवें नरकमें एक (इस प्रकार) नरक प्रस्तार हैं, जिनमें नारकियों के कुल (समुदाय) दुःखोंसे पूर्ण रहते हैं। दुखोंके निवास उन (सातों) नरकोंमें (कुल मिलाकर) एक कम पचास (अर्थात् ४९) नरक प्रस्तार हैं।

प्रथम नरकमें तीस लाख बिल, दुखोंसे परिपूर्ण दूसरे नरकमें दुखद पच्चीस लाख बिल, तीसरेमें पन्द्रह लाख, चौथेमें दस लाख, पाँचवेमें तीन लाख, छठवेंमें पाँच कम एक लाख तथा सातवेंमें पाँच निकृष्ट बिल हैं। इस प्रकार बहुविध दुखोंसे युक्त समस्त नरकोंमें चौरासी लाख बिल कहे गए हैं।

जिन भगवानने अपने ज्ञानसे देखा है कि वे बिल तीन प्रकारके हैं—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं कुसुम प्रकीर्णक, जहाँ पर नाना प्रकारके अमित नारकी जीव निवास करते हैं।

घत्ता—पढमहँ णारयहँ वि देहपमाणु वि दंड-सत्त कर-तिण्णि पुणु ।
अंगुल-छह-अहियउ णाणें कहियउ होउ थाणु वइकिरउ तणु ॥८७॥

[५-१७]

बीयइ णरइ जि विउणु पमाणिउ तीयइ तंपि दूणु तणु जाणिउ ।
तह वि दूणु मुणि णरइँ चउत्थइँ विउणु तंपि पंचमइँ दुहत्थइँ ।
पंचमाउ तणु विउणउँ छट्ठए तह वि दूणु सत्तमइँ किलिट्ठइ ।
जलहि एक्कु पढमइँ आउसु पुणु वुज्जइ तिण्णि सत्त तिज्जइ पुणु ।
दह चउथए सत्तारह पंचमि बावीस वि सायर मुणि छट्ठमि ।
तेतीसंवुहि भासिय सत्तमि कज्जलसरिस जि भरिय महातमि ।
उक्किट्ठाउसु एहु वि दिट्ठउ एव्वहिँ भणमि राय णिक्किट्ठउ ।
पढमणरइ दहसहस वि वासइँ बीयइ सायरु एक्कु पयासइँ ।
तिज्जइ तिण्णि सत्त मुणि तुरियइ पंचमि दहसायर दुहभरियइ ।
छट्ठमि सत्तारह वि जहण्णउँ बावीस जि सत्तमि दुहछण्णउँ ।

घत्ता—पढमु वि रयणप्पहो पुणु सक्करपहो बालुप्पहो वि पंकप्पहु वि ।
पंचमु धूमप्पहु अण्णु वि तमपहु सत्तमु तह तमतमपहु वि ॥८८॥

[५-१८]

एह पहाणरयहँ णिव भासिय अवहि पयासमि णरयधरासिय ।
पढम-णरइ णारयहँ जि वुत्तउ णाणु वि जोयणु एक्कु णिरुत्तउ ।
अद्ध कोस ऊणउँ पुणु बिज्जए कोस तिण्णि जाणइ तह तिज्जए ।
चउथइ णरइँ अद्धहीणउ मुणि पंचमि बिण्णिकोस जाणहिँ गणि ।
छट्ठए कोसु दिवड्ढु पमाणिउ सत्तमि कोसु अवहि-गुण जाणिउ ।
मणविरहिह णिवडंति पहिल्लइ मज्जारु वि वुज्जए वुहरिल्लइ ।
तिज्जइ जंति विहंगम पाविय णिच्च जत्थ घायहिँ संताविय ।
णरइँ चउत्थइँ जंति भुयंगमु पंचमि पंचाणणु दुहसंगमु ।
तिय छट्ठए णरमीण जि सत्तमि पुव्वज्जिउ भुंजंति महातमि ।

घत्ता—प्रथम नरकके जीवोंका देह प्रमाण सातदण्ड एवं छह अंगुल अधिक तीन हाथ है, ऐसा केवलज्ञानियोंने कहा है। उस स्थानमें वैक्रियक शरीर होता है ॥ ८७ ॥

[५-१७]

नारकी जीवोंकी आयुका प्रमाण

दूसरे नरकमें (प्रथम नगरकी अपेक्षा) दुगुना शरीर तथा तीसरेमें उससे भी दुगुना शरीर जानना चाहिए। उससे भी दुगुना प्रमाण चौथे नरकमें और दुखोके स्थान पाँचवें नरकमें शरीरका प्रमाण उससे भी दुगुना है। पाँचवें नरकके शरीरसे भी दुगुना छठवें नरकमें तथा उससे भी दुगुना शरीर अन्तिम सातवें क्लिष्ट नरक में है।

प्रथम नरकमें आयुका प्रमाण एक सागर, दूसरे नरकमें तीन सागर, तीसरे नरकमें सात सागर, चौथे नरकमें दस सागर, पाँचवें नरकमें सत्रह सागर तथा छठवें नरकमें बाईस सागरकी आयु जानिए। इसी प्रकार काजलके समान काले, घोर अन्धकार पूर्ण सातवें नरकमे तेतीस सागर की आयु (जिनेन्द्र द्वारा साक्षात्) कही गई है। हे राजन्, यह उत्कृष्ट आयु बताई गई है। अब निकृष्ट आयु कहता हूँ।

प्रथम नरकमें (जघन्य) आयु दस हजार वर्ष तथा दूसरेमें एकसागर प्रमाण कही है। तीसरे नरकमें तीन तथा चौथे नरकमे सात हजार जानिए और पांचवेंमें दुःखोंसे पूर्ण दस सागर तथा छठवेंमें सत्रह सागरकी जघन्यायु होती है। दुखोंसे व्याप्त सातवें नरकमें बाईस सागर (की जघन्यायु) है।

घत्ता—प्रथम (नरकाका नाम) रत्नप्रभा है फिर शर्कराप्रभा, बालुप्रभा तथा पङ्कप्रभा, पाँचवां धूमप्रभा, अन्य छठवां तमप्रभा एवं सातवां तमतमाप्रभा है (ये सभी नरकपृथिवियोके अपर नाम हैं) ॥ ८८ ॥

[५-१८]

नारकीय जीवोंकी मृत्युके बाद होनेवाली गतियाँ

हे राजन्, इस प्रकार रत्नप्रभा आदि नरकोंका वर्णन किया। अब नारकियोंके अवधिज्ञान को प्रकाशित करता हूँ। प्रथम नरकमें नारकियोंका अवधिज्ञान केवल एक योजन प्रमाण कहा है (अर्थात् वे एक योजन दूरतककी बातें जान सकते हैं)। दूसरेमें, आधा कोस कम एक योजन। तीसरेमें, तीन कोस तक जान सकते हैं। चौथे नरकमें ढाई कोस, पाँचवेंमें गणधरोंने दो कोस प्रमाण जाना है। छठवें नरकमें डेढ़ कोश तथा सातवें नरकमें एक कोस पर्यन्त अवधिज्ञानका क्षेत्र (माना गया) है।

अमनस्क जीव प्रथम नरक तक उत्पन्न होता है। मार्जार दुखपूर्ण दूसरेमें। तीसरेमें पापी विहङ्गम जन्म लेते हैं, जहाँ वे निरन्तर घातोंसे सन्तप्त होते हैं। भुजङ्गम चौथे में और दुखोंके सङ्गम पाँचवेंमें सिह। स्त्री-मत्स्य छठवेंमें तथा पुरुष-मत्स्य सातवें महातमा नामक नरकमें पूर्वार्जित कर्मोंको भोगते हैं।

सत्तमणरयहँ जो आवेप्पिणु तिरिउ होइ पुणु दुक्खु सहेप्पिणु ।
णरइ पुणु वि सो जाइ मरेप्पिणु दुक्खु सहइ चिर जम्मु स रेप्पिणु ।
छट्ठिहिँ आयउ लहइ णरत्तणु णउ पावइ पुणु सो चारित्तणु ।
वउ-तउ धारइ पंचमि णिग्गउ सो वि ण लहइ तत्थ अपवग्गउ ।
चउत्थिहिँ आविउ सिवपउ पावइ तित्थयरु वि णउ णियमें भावइ ।
पढमिहि बीइहिँ तीइहिँ आयउ तित्थत्तणु वि लहइ सच्छायउ ।
चउतीसातिसयहिँ संपुण्णउ अट्ठमि पुहइ जाइ सो धण्णउ ।

घत्ता—हरि-हलहर-पडिहर-जयलच्छीधर-चक्केसर छक्खंडधरा ।
ए तास ण वाहिय सुहगयसाहिय णरयागमण ण होंति वरा ॥ ८९ ॥

[५-१९]

णरइ चउक्कु उण्हु अइ तिव्वु वि पावें जीउ सहइ तं सव्वु वि ।
पंचमि सीउ-उण्हु तहँ तिव्वउ णारएहिँ पुणु सो जि सहेव्वउ ।
तिव्वु सीउ छट्ठमि-सत्तमियहिँ तहिँ गउ जीउ सुक्खु पावइ कहिँ ।
गोलउ जोयण लक्ख पमाणउ आयसकेरउ खिवइ सयाणउ ।
अइउण्हें सो गलइ खणंतरि सीएँ पुणु विलाइ थाणंतरि ।
खेत्तब्भउ पुणु असुरोदीरिउ माणसीउ कायोब्भउ भीरिउ ।
अण्णोण्ण वि णिहणंति परोप्परु सुहु ण लहंति तत्थ णिमिसंतरु ।
संडासहिँ उब्बेवि वि दुहगुहिँ घालिवि लोहु खिवहि णारइ मुहिँ ।
गलिवि जाइ पुणु मिलइ खणंतरि जिम सूयय लव होहि णिरंतरि ।
णारयविवरहिँ पुणु संवाणिउँ खेत्तविसेसें वइरु वियाणउँ
धगधगंतु इंगालसमाणउँ आयसथंभालिंगण ठाणउँ ।
देवाविवि पुणु जंपहि रे खल परतियआलिंगिय पइँ चिरु छल ।
अणेक्क वि स मलितरु लाइवि तणु णिहसंति सोसु तणु साहिवि ।
तच्छाउ वि जइ कहमवि छुट्टइ तिव्व तिसाइउ सोणिउ घुट्टइ ।
पुणु घणघाएँ सिरि ताडिज्जइ तत्त कडाहि तेल्लि सो खिज्जइ ।
कुंभीपाय-समुब्भव-दुक्खइँ पुणु फरसग्गिणिदाह-असुक्खइँ ।

घत्ता—णरयवुह पवरहँ वासिय विवरहँ किह वण्णमि तहँ पावभरु ।
विणु सम्मदंसणि दुरियविहंसणि वइतरणि णिमज्जेइ णरु ॥ ९० ॥

सातवें नरकका दुख सहकर जो जीव वहाँसे मरकर लौटता है, वह तिर्यञ्च होता है। वह मरकर पुनः (उसी) नरकमें हो जाता है और पूर्वजन्मका स्मरण कर दुःख सहता है। छठवें नरकसे लौटकर जीव मनुष्यत्व प्राप्त करता है किन्तु उसे चारित्र प्राप्त नहीं होता। पाँचवें नरकसे निकलकर (मनुष्य होकर) वह व्रत-तप धारण कर लेता है। किन्तु वहाँ भी वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता। चौथे नरकसे लौटकर (जीव) मोक्षपद पाता है, किन्तु नियमसे तीर्थङ्कर नहीं होता। पहले, दूसरे और तीसरे नरकसे निकलकर जीव शोभायुक्त तीर्थङ्करत्वको प्राप्त करता है और चौंतीस अतिशयोंसे परिपूर्ण आठवीं पृथिवी प्राप्तकर वह धन्य हो जाता है।

घत्ता—वे नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और जयलक्ष्मीके धारी तथा छह खण्डधारी चक्रेश्वरपद प्राप्त करते हैं। उन्हें कोई भी बाधा उत्पन्न नहीं होती। सुगतिको साधनेके कारण उनका नरकोंमें आगमन नहीं होता ॥ ८९ ॥

[५-१९]

नरकोंकी विविध वेदनाएँ

चौथे नरकमें तीव्र उष्णता है (किन्तु) पापवशसे जीव उस सबको सहता है। पाँचवें (नरक) में तीव्र शीत और उष्णता है। नारकियोंके द्वारा वह सब भी सहा जाता है। छठवें एवं सातवें (नरक) में तीव्र शीत होती है। वहाँ जन्म लेकर जीव सुख कैसे पा सकता है? कोई सयाना यदि वहाँ एक लाख योजन प्रमाण लोहेका गोला डाल दे, तो (वह भी) तीव्र उष्णताके कारण क्षणमात्रमें गल जाता है और तीव्र शीतसे स्थानान्तरमें विलीन हो जाता है। वहाँ क्षेत्रोद्भव, असुरोद्भव, मानसिक एवं कायोद्भव वेदनाओंसे भयभीत हुए नारकी परस्पर में एक दूसरेका हनन करते हैं और वहाँ निमिष भरके लिये भी उन्हें सुख प्राप्त नहीं होता। संडासीसे नारकियोके मुँह फाड़कर उनमें लोहा गलाकर भर देते हैं, उनसे शरीर गल जाता है, किन्तु फिर क्षण मात्रमें उसी प्रकार मिल जाता है, जिस प्रकार पारेके बिन्दु (छार-छार बिखर जाने पर भी) निरन्तर संघटित हो जाते है। क्षेत्रकी विशेषताके कारण पूर्व-बैरको जानकर नारक-वृन्दोंके द्वारा उनका दमन किया जाता है। उनको धगधगाते हुए अङ्गारों के समान (तप्त) लोह-स्तम्भों का आलिङ्गन कराकर (वे) कहते हैं कि—"रे दुष्ट, तूने पूर्वकालमें छलसे परस्त्रीका आलिङ्गन किया था"। अन्य दूसरे, शामलिवृक्ष लाकर तृण अथवा वृक्ष डालियोके समान शरीर एवं सिर तहस-नहस कर डालते हैं। यदि वहाँसे वह किसी प्रकार छूट भी जाता है, तो हे नृप, वह तीव्र प्याससे घुटने लगता है। फिर उनके सिर पर हथौड़ों के प्रहार से आघात करते हैं और उन्हें तप्त तेलके कड़ाहोंमें डाल देते हैं। वहाँ उन्हें कुम्भीपाकमें पकाए जानेके समान जलनके दुख होते हैं और फिर स्पर्शाग्नि दाहके :—

घत्ता—उत्कृष्ट नरक-दुखोंसे युक्त विवरोंमें रहनेवाले नारकियोंके पापभारका कैसे वर्णन करूँ? पापोंका नाश करनेवाले सम्यग्दर्शनके बिना मनुष्य वैतरिणीमें डूबता है ॥९०॥

[५-२०]

जलबहलाउ उवरि जे सुरवर   दहवसुभेय सुणहिँ भो णरवर ।
असुरकुमार-णाय-वीवोवहि   विज्जु-थणिद-दिस-अग्गी-पुणु तहि ।
हेमकुम रु-वाउ-वुत्तउ थिर   भवणवासि दहए जाणहि किर ।
सत्तकोडिबाहत्तरिलक्खइँ   तेत्तियाइँ जिणभवणहु संखइ ।
चूडामणि-फणि-गरुड-गयंकइँ   मयरु वद्धमाणं वज्जंगइँ ।
हरि-कलसंकु-तुरउ ए जाणहु   भावणाहँ सिरचिण्हइँ माणहु ।
असुरहँ वेहपमाणु वि दिट्ठउ   धणुह पंचवीसइ सुमणिट्ठउ ।
सेसाहँ वि दहदंड पमाणिउ   पासजिणेँदेँ णाणेँ जाणिउ ।
असुरहँ सायरेक्कु पुणु आउसु   णायहँ पल्ल तिण्णि संभावसु ।
हेमकुमारु अढाइय पल्लइँ   दीवकुमारहो वे सोहिल्लइँ ।
अद्ध-अद्ध हीणउ सेसहँ पुणु   आउपमाणु एउ भवणहँ भणु ।
पट्टदेवि सव्वहँ भावणहँ वि   पंच-पंच भासिय सुहमणहँ जि ।
आइ तिइक्कहँ अट्ठ सहस्सइँ   विक्किरियंति ते वि रइरहसइँ ।
सेसहँ छहसहस वि विक्किरियउ   अणुहवंति सुहु मणअच्छरियउ ।
ताह असंखकोडि जोयण मुणि   अवहिणाणु सव्वहँ भासइ मुणि ।
चित्ततरूणं मूलिवि संठिय   पडिदिसि पडिम पंच-पंच वि ठिय ।

घत्ता—पडियंकासणि ठिय णउ केणवि किय चेइपडिम ता णवमि सया ।
वहभेय भवणसुर अक्खिय णिववर वसुविह वितर पडिम तया ॥९१॥

[५-२१]

ते किणर-किंपुरिस-महोरय   गंधव्व वि जक्ख वि रक्खस सय ।
भूय-पिसाय वि वितर सुरवर   भमहिँ रमहिँ सेवहिँ ते सुहवर ।
तिण्णिपयार ताह णिलयइँ मुणि   पुर-आवास-भवण एयइँ गणि ।
उड्ढगया आवास भणिज्जहिँ   अहगइँ भवणइँ विसि मुणिज्जहिँ ।
मज्झिय पएसि जि ते पुर भासिय   केवलणाणेँ सव्व पयासिय ।

[५-२०]

भवनवासी देवोंके भेद; शरीर, आयु और देवियोंके प्रमाण आदि

जलबहुल अंशके ऊपर जो दस और आठ प्रकारके देवगण निवास करते हैं, हे नरश्रेष्ठ, उनका वर्णन सुनो :—

असुरकुमार, नागकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, विद्युत्कुमार स्तनितकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार, हेमकुमार तथा वायुकुमार ये दस भवनवासी देवोंके भेद कहे गये हैं।

इन भवनवासियोंके भवनोंकी कुल संख्या सात करोड़ एवं बहत्तर लाख है। उतनी ही संख्या वहाँके जिनभवनोंकी है। इन भवनवासी देवोंके मुकुटमें चूड़ामणि रत्न, फण, गरुड़, गज, मकर, स्वस्तिक, वज्र, सिंह, कलश और घोड़े ये श्रीचिन्ह जानना चाहिये।

असुरकुमार देवोंके सुन्दर शरीरोंका प्रमाण पच्चीस धनुष जिनेन्द्रदेवने कहा है। शेष भवनवासी देवोंके शरीरका प्रमाण दस-दस दण्ड है, ऐसा पार्श्व जिनेन्द्रने अपने ज्ञानसे जाना है।

असुरकुमारोंकी आयु एक सागर प्रमाण है। नागकुमारों की आयु तीन पल्य जानिए हेमकुमारकी अढ़ाई पल्य और द्वीपकुमारोंकी सुन्दर दो पल्यको आयु है। शेष भवनवासियोंकी आयुका प्रमाण (पूर्वपिेक्षा) आधा-आधा पल्य कम-कम अर्थात् डेढ़ पल्य प्रमाण जानना चाहिये। भवनवासी देवोंका यही आयु-प्रमाण है।

शुभमनवाले सभी भवनवासी देवोंकी पाँच-पाँच पट्टदेवियाँ कही गई हैं। असुरकुमार-त्रिकमें उनकी पट्टदेवियाँ रतिक्रीड़ाके आवेगसे आठ-आठ हजार रूप बनाती हैं। शेष देवोंकी पट्टदेवियाँ छह-छह सहस्र रूप बनाती हैं और अद्भुत सुखोंको भोगती हैं। मुनिने कहा है कि उन सबका अवधिज्ञान असंख्य-कोटि योजन-प्रमाण जानिए। चैत्यवृक्षोंके मूलमें प्रतिदिशामें पाँच-पाँच (जिन-) प्रतिमाएँ संस्थित हैं।

घत्ता—वे प्रतिमाएँ पर्यङ्कासन पर विराजमान हैं। किसीके द्वारा निर्मित नहीं हैं (अकृत्रिम हैं)। उन चैतन्य प्रतिमाओंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ। हे नृपवर, इसप्रकार दस प्रकारके भवनवासी देवोंका वर्णन किया। अब आठ प्रकारके व्यन्तर देवोंका वर्णन करता हूँ ॥९१॥

[५-२१]

व्यन्तर देवोंके भेद, भ्रमण-स्थान एवं शरीर-प्रमाण-वर्णन

वे किन्नर, किंपुरुष, महोरग (सर्प) गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत एवं पिशाच—ये सभी व्यन्तरदेव (यहाँ-वहाँ) भ्रमण करते हैं, रमण करते हैं और इस प्रकार श्रेष्ठ सुखोंको भोगते हैं। उनके निवास स्थान तीन प्रकारके जानिए, जिनको पुर, आवास एवं भवन कहा गया है। ऊपर वालोंको आवास कहा जाता है, नीचे वालोंको भवन (के नामसे) जाना जाता है। मध्य प्रदेशमें जो निलय हैं, उन्हें सब पुर कहा गया है। केवलज्ञानसे सभी प्रकाशित होते हैं। कोई तो गिरि-कन्दराओं अथवा विवरोंमें निवास करते हैं और कोई सुरगिरिके शिखरों पर धवलगृहों (प्रासादों)

वसहिँ के वि गिरिकंदर-विवरहिँ   कि वि सुरगिरि-कूडहिँ घवलहरहिँ ।
कि वि आयासि सरहिँ मयरहरहिँ   कि वि णंदणवणि तरुवरसिहरहिँ ।
वितरगेहहँ सरवण दीसइ   वम्मा-तणुरुह सव्वु जि सीसइ ।

घत्ता—दह धणुह पमाणइँ तणु संठाणइँ वितराहँ सव्वहँ गणिउ ।
पल्लेक्कु अहिउ तहँ आउ मुणहुँ इहँ उक्किट्ठु वि णाहेँ मुणिउ ॥९२॥

[५-२२]

दहसहस जि वरिस जहण्ण आउ   वितर-भावणहँ वि दिण्ण राउ ।
सत्तसइ णऊव जोयण मुएवि   गयणंगणि जोइससुर जि के वि ।
ते भणिय आसि णिक्खवण-कालि   मेरुहि जंतेँ सुरवर कमालि ।
एव्वहि वि आउ तणु माणु जाणि   चंदहँ लक्खाहिउ पल्लु माणि ।
अक्कहु सहसाहिउ सो वि उत्तु   तहँ सुक्कहँ पल्लु सएण जुत्तु ।
पुणु एक्कु पल्लु सुरगुरुहि आउ   सेसहँ वि अद्धु पल्लु वि सहाउ ।
तारयहँ पाउ पल्लु जि पमाणु   जिण भासइ लोयालोय-जाणु ।
कोवंड सत्त तणुमाण ताहँ   जह उज्जोएँ खंडिय-तमाहँ ।
जोयण पमाणु चंदहु विमाणु   किंचूणु वि तहँ अक्कहु पमाणु ।
सुक्कहु विमाणु कोसेक्कु वुत्तु   पाऊणु विहप्पइ जाणु-उत्तु ।
पुणु अद्धु पाउ सेसहँ णिरुत्तु   तारंतर तिहुँ भेएँ पवुत्तु ।
उत्तमु मज्झमु वि जहण्ण भेउ   तं भासइ पासजिणिंदु देउ ।
सत्त वि पंचाससहस्सु कोस   तारयहँ वि अंतरु मुणिवि सेस ।
सीह वि गइंद-वसह वि तुरंग   सहसइँ चयारि पडिदिसि अभंग ।
ससि-रविविमाण चालहिँ जि णिच्च   ते जाणहिँ वाहण सुरहँ भिच्च ।
वसुसहस गहहँ वाहण हवंति   णक्खत्तहँ चारि वि सहस ठंति ।
तारयहँ विमाणहँ चालणाइँ   बे सहस भणिय सुरवाहणाइँ ।

घत्ता—दह-सय-एयाहिय जोयण साहिय एक्कवीस उत्तर भणिवि ।
कणयायलु छंडिवि गयणु वमंडिवि जोयस दिंति पयक्खण वि ॥९३॥

[५-२३]

सुदंसणमहिहर उवरि ठाणु   केसंतरि थक्कउ रिजुविमाणु ।
सो अड्ढाइयदीवस्स माणु   तहु उवरि वि सोलह सग्ग ठाणु ।
सोहम्मीसाणु वि सणंकुमारु   माहेंदु बंभु-बंभोत्तरु जि सारु ।

में। कोई आकाशमें विचरण करते हैं, तो कोई समुद्रमें; कोई नन्दनवनमें विहार करते हैं और कोई तरुशिखरों पर निवास करते हैं। व्यन्तरोंके गृह सरकण्डोंके वनमें होते हैं, वामाके पुत्रने यह सब कथन किया है।

घत्ता—सभी व्यन्तरोंके शरीरका प्रमाण दस धनुष कहा गया है। उनकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक होती है, ऐसा जिननाथने जाना है॥ ९२॥

[५-२२]

ज्योतिष्क देवोंका वर्णन

हे राजन्, व्यन्तर एवं भवनवासी देवोंकी जघन्य आयु दस सहस्र वर्ष है।

कोई ज्योतिष्क देव आकाशमें पृथिवीसे ७९० योजन ऊँचाई छोड़कर हैं। उनके सम्बन्धमें कहा गया है कि वे (जिन भगवान्‌के) निष्क्रमणकालमें देवताओंके मेरु पर्वत पर जाते समय अपने क्रमसे जाते हैं। इसी प्रकार उनकी आयु और शरीरका प्रमाण जान लीजिए :—

चन्द्रमाओंकी आयु एक लाख अधिक एक पल्य-प्रमाण जानना चाहिए। सूर्योंकी आयु एक हजार अधिक एक पल्य-प्रमाण है तथा शुक्रोंकी आयु सौ अधिक एक पल्य है। पुनः बृहस्पतियोंकी आयु पल्य-प्रमाण है। शेष बुध, मङ्गल एवं शनिकी आयु आधा-आधा पल्य है और ताराओंका आयु-प्रमाण पल्यका चौथाई भाग है, ऐसा लोकालोकके ज्ञाता जिनेन्द्रने कहा है। अपनी कान्तिसे अन्धकारको नाश करनेवाले इन ज्योतिषियोंके शरीरका प्रमाण सात-सात धनुष है।

चन्द्रमाका विमान एक योजन-प्रमाण है। उससे कुछ कम सूर्य-विमानका प्रमाण है। शुक्रका विमान एक कोस है तथा बृहस्पतिका विमान उससे एक-चौथाई कम है। शेष ज्योतिषियों के विमानोंका प्रमाण आधा एवं चौथाई कोस माना गया है।

तारोंकी दूरीमें तीन भेद होते हैं—उत्तम, मध्यम एवं जघन्य—ऐसा पार्श्व जिनेन्द्रने कहा है। तारोंमें विशेष अन्तर (क्रमशः) सात, पचास एवं एक सहस्र कोस जानिए।

प्रतिदिशामें अभंग रूपसे चार-चार सहस्र सिंह, गजेन्द्र वृषभ एवं तुरंग, चन्द्र और सूर्यके विमानोंको निरन्तर चलाते रहते हैं। वे यानोंके (देव—) वाहक उन देवताओंके भृत्य (—देव) हैं।

गृहोंके विमानोंके आठ सहस्र (देव—) वाहक हैं और नक्षत्रोंके चार सहस्र। तारोंके विमानोंके दो सहस्र देववाहन कहे गये हैं।

घत्ता—वे ज्योतिष्क-देव आकाशको घेरते हुए इक्कीस अधिक ग्यारह सौ योजन तक कनकाचलको छोड़कर प्रदक्षिणा दिया करते हैं। ९३॥

[५-२३]

स्वर्ग-कल्पोंका वर्णन एवं सौधर्म तथा ईशान स्वर्गके विमानोंकी संख्या—

सुदर्शन पर्वतके ऊपर केशके अग्रभाग प्रमाण अन्तरालपर ऋजु-विमान स्थित है। वही प्रमाण ढाईद्वीपका है। उसके ऊपर सोलह स्वर्ग-स्थान (स्थित) हैं (यथा—) सौधर्म, ईशान,

लंतव-कापिट्ठु वि सुक्कु इट्ठु   महसुक्कुसयारु वि सुरमणिट्ठु ।
सहसारु वि आणय-पाण-णामु   आरणु अच्चुउ पुणु तेयधामु ।
हेट्ठिम मज्झिम उवरिम विहोय   तिविहि जि पयार गेवज्ज गोय ।
तहु उवरि अणुत्तर णव पयार   सव्वत्थसिद्धि तहु उवरि सार ।
तासुप्परि बंभु जि लोउ दिट्ठु   गणहरदेवें तं सव्वु सिट्ठु ।
सोहम्मीसाणह पडल होंति   इकतीस विउल मुणिगण कहंति ।
उवरिम जुवलें पुणु सत्त जाणि   बंभह-बंभोत्तर चारि जाणि ।
लंतव-कापिट्ठिहिँ होंति बिण्णि   सुक्कुहु महसुक्कुहु एक्कु मण्णि ।
सत्तार-सहस्सारेहिँ एक्कु   चहु सग्गहिँ जाणहिँ पडलछक्कु ।
गेवज्जहिँ जाणहि णव णरेस   णवणुत्तरेसु एक्कु वि सुलेस ।
सव्वट्ठसिद्धि सो एक्कु जाणि   तेसट्ठिपडल ए भणहिँ णाणि ।

घत्ता—सोहम्मि विमाणइँ सोहाठाणइँ बत्तीस वि लक्खइँ वरइँ ।
ईसाणि सग्गि पुणु णिरसियतमगणु अट्ठबीसलक्खइँ घरइँ ।।९४।।

[५-२४]

बारहलक्खइँ मुणि सणकुमारि   माहिंदि अट्ठ पुणु तिमिरवारि ।
बंभह-बंभोत्तरि चारि लक्ख   पंचास सहस पुणु बिहुँ समक्ख ।
चालीससहस पुणु वरविमाण   सुक्कह महसुक्कहँ रयणठाण ।
उवरिम जुवलें छहसहस वुत्त   सयसत्त-चहुमि उज्जल पवित्त ।
हेट्ठिम तियक्कि गेविज्ज जाण   सउ एयारह उत्तर-विमाण ।
मज्झिम सत्तोत्तरु सउ णिरुत्त   उवरिम एक्काहिय णउव वुत्त ।
णवणुत्तरि णव णह जाणि जाण   पंचोत्तरि पंच जि भणहिँ ताण ।
इंदइ-सेणीबद्धइ जि ताइँ   तहँ कुसुमपयण्णइँ तिण्णि भाइँ ।

घत्ता—सोहम्मीसाणहिँ सुरहँ पमाणहिँ आउ ताहँ बे सायरइँ ।
सणकुमर-माहेंदहँ सुक्खअणिंदहँ सत्त वि मुणहिँ सुहायरहिँ ।।९५।।

[५-२५]

बिहि-बिहि दह चउदह सायराइँ   पुणु सोलहविहि कप्पहिँ जि ताइँ ।
दुण्णिहिँ अट्ठारह पुणु वि बीस   बावीस बिहिहिँ भासहिँ रिसीस ।
पुणु कमेण वड्डिज्जहिँ एक्कु-एक्कु   ते तारतम्म भेएण थक्कु ।
तेत्तीसंबुहि सव्वट्ठसिद्धि   अहणिसु विलसंति वि सुहसमिद्धि ।

सनत्कुमार, माहेन्द्र, सारभूत ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, प्रिय शुक्र तथा देवोंके लिये मनोज्ञ महाशुक्र और शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और तेजोधाम अच्युत। हे नरेश, अधस्तन, मध्यम और ऊपरी नामोंसे विहित नौ ग्रैवेयक हैं। उनके ऊपर नवविध अनुत्तर हैं और उसके भी ऊपर श्रेष्ठ सर्वार्थसिद्धि-स्वर्ग है। उसके भी ऊपर ब्रह्मलोक कहा गया है। गणधर देवने (राजा श्रेणिकको) यह सब बतलाया।

सौधर्म और ईशानके इकतीस विपुल पटल होते हैं, ऐसा मुनिगण कहते हैं। इसके ऊपरी युग्म सानत्कुमार-माहेन्द्रमें सात, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरमें चार, लान्तव-कापिष्ठमें दो, शुक्र-महाशुक्र तथा शतार एवं सहस्रारमें क्रमशः एक-एक। आनत-प्राणत, आरण और अच्युतमें छह-छह तथा हे नरेश, ग्रैवेयकोंमें नौ-नौ पटल जानो। नौ-अनुत्तर तथा सर्वार्थसिद्धिमें क्रमशः एक-एक पटल जानना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानीजन ये (कुल) त्रेसठ पटल कहते हैं।

घत्ता—सौधर्म स्वर्गमें श्रेष्ठ एवं शोभाके स्थान बत्तीस लाख विमान हैं। ईशान स्वर्गमें भी तम-समूहको निरस्त करनेवाले अट्ठाईस लाख गृह-विमान हैं। ९४ ॥

[९-२४]

सनत्कुमार आदि स्वर्गोंकी विमान-संख्या एवं आयु प्रमाण

सनत्कुमार-स्वर्गमें बारह लाख विमान हैं। और माहेन्द्रमें तिमिरको दूर करनेवाले आठ लाख विमान हैं। ब्रह्म एवं ब्रह्मोत्तरमें चार लाख, इसके बाद वाले लान्तव और कापिष्ठ में पचास सहस्र विमान, शुक्र एवं महाशुक्र स्वर्गमें उत्तम एवं रत्नोंके स्थान चालीस सहस्र विमान हैं। इसके ऊपरी युगल (शतार एवं सहस्रार कल्प) में छह सहस्र विमान और उसके ऊपर अन्य चार कल्पोंमें सात-सात सौ उज्ज्वल एवं पवित्र विमान हैं।

अधस्तन तीनों ग्रैवेयकोंमें एक सौ ग्यारह विमान जानना चाहिए। मध्यम ग्रैवेयकमें एक सौ सात विमान कहे गये हैं और ऊपरी ग्रैवेयकमें इकानवे विमान बताये गये हैं। नौ अनुदिशोंमें नौ-नौ नभगामी विमान जानना चाहिए और नौ अनुत्तरोंमें पाँच-पाँच विमान कहे गये हैं। ये विमान इन्द्रक, श्रेणिबद्ध एवं कुसुम प्रकीर्णक नामके तीन भेदवाले हैं।

घत्ता—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंकी आयुका प्रमाण दो सागर है। अनिन्द्य सुखभोग करनेवाले सनत्कुमार एवं माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी सुखकर सात सागरकी आयु जानिए ॥ ९५ ॥

[९-२५]

देवोंकी आयुका प्रमाण

आगेके दो-दो (ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ) कल्पोंमें दस एवं चौदह सागर, आगेके दूसरे कल्पमें सोलह-एवं उसके आगेके दो कल्पोंमें अठारह एवं बीस सागर तथा अन्य (अन्तिम) कल्पमें ऋषीवरने बाईस सागरकी आयु कही है। पुनः क्रमशः (उक्त अन्तिम कल्पवालोंकी आयुमें) एक-एककी संख्या चढ़ती (जुड़ती) जाती है। वे तारतम्य-भेदसे स्थित हैं। सर्वार्थसिद्धिमें तेतीस सागरकी आयु होती है और वहाँके निवासीदेव अहर्निश सुख-समृद्धिका भोग करते हैं।

जा पढमसग्गि उक्किट्ठु आउ　　सा उवरिम सग्गि जहण्ण ठाउ ।
सोहम्मीसाणहिँ सत्त हत्थ　　अद्धद्धहीणु सव्वहँ पसत्थ ।
सव्वट्ठसिद्धि अहमिंद जे वि　　कर एक्क पमाण सरीर ते वि ।
पढमहिँ दो कप्पहिँ सुर वसंति　　ते पढमावणि णाणेँ णियंति ।
उपरिम सग्गहँ अमयासण णियंति　　तिज्जी णरयावणि जे रहंति ।
तहु उप्परि चउ-सग्गहँ सुरेस　　चउथी सुब्भावणि ते असेस ।
चउसग्गहिँ पुणु जे देव वुत्त　　पंचम महि जाणहिँ ते पवित्त ।
छट्ठी महि गेवज्जामरेँव　　सत्तम-महि पुणु अणुदिसहिँमिंद ।
पुणु विजयणाढि पंचोत्तराहँ　　सुर जाणंति वि णिम्मलयराहँ ।
देवाहँ अहोगइ णाणु एउ　　उड्ढु वि सविमाणहुँ जाम केउ ।
अच्छरहँ आउ पुणु पल्लबद्ध　　पंचावण उक्किट्ठु वि सुलद्ध ।
उप्पत्ति ताह बिहु सग्गि उत्त　　सुहु भुंजहिँ मणइंछिय णिरुत्त ।

घत्ता—बिहिँ कप्पहिँ कायउ सुहु विक्खायउ संफासणु बिहि कप्पि पुणु ।
चउ-चउ सग्गहिँ कयबुह णिग्गहि रूव-सद्द-मण सुक्खु मुणु ॥९६॥

[५-२६]

तावसवउ जे धारंत संत　　सिउ झावहिँ भावहिँ पंचतत्त ।
ते जोइस सुर मरिऊण होंति　　अहवा वितरगइ के वि जंति ।
जे उत्तम-सावयवउ करंति　　अच्चुवसग्गहिँ ते जिय सरंति ।
अज्जियवउ धारिवि मरिवि णारि　　सोलहमइ दिवि संभवइ सारि ।
तहु उवरि ण गच्छइ मुणि मुएवि　　जहजायलिंगु धरिऊण ते वि ।
गइ भोइ सरीर परिग्गहेहि　　अभिमाणकसायहिँ दोसएहि ।
उवरिम-उवरिम सग्गहिँ विमाणि　　एयहिँ कमि-कमि सुरहीणमाणि ।
थिति जि पहाव सुह दित्ति लेस　　इंदियविसोहि आव जि असेस ।
ए अहिय-अहिय उवरेँ णरेस　　इह उड्ढलोउ भासहिँ जिणेस ।
सव्वट्ठसिद्धि उप्परि पवित्तु　　बारह जोयण पुणु सिद्ध खेत्तु ।
दक्खिण-उत्तर सो सत्त रज्जु　　पुव्वोवर रज्जू एक्कु सज्जु ।
ससि-मंडल-णिह तहु मज्झि वित्त　　उत्ताणछत्तयारी पवित्त ।

प्रथम स्वर्गकी जो उत्कृष्ट आयु होती है वही उसके ऊपर वाले स्वर्गकी जघन्य आयु जानना चाहिए।

सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंकी ऊँचाई सात-सात हाथ है। उसके बाद सभीका क्रमशः आधा-आधा हीन-प्रमाण जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धिमें जो अहमिन्द्रदेव हैं, उनके शरीरका प्रमाण एक हाथ है।

प्रथम दो कल्पोंमें (जो) देव निवास करते हैं वे प्रथम नरक-पृथिवीतक अपने ज्ञानसे देख सकते हैं। उसके ऊपरके देव तीसरी नरक-पृथिवीमें रहनेवालोंको देखते हैं। उसके ऊपरके चार स्वर्गवाले देव, तीसरी नरक पृथिवीमें रहनेवालोंको देखते हैं। उसके ऊपरके चार स्वर्गोंके सुरेश (अर्थात् शुक्र-महाशुक्र एवं शतार तथा सहस्रार पर्यन्त जो देव हैं वे) सम्पूर्ण चौथे नरक तक देख सकते हैं। उन चार स्वर्गोंके जो पवित्र देव हैं वे पाँचवीं नरक-भूमिको जानते हैं। नौ प्रकारके ग्रैवेयक छठवीं नरक-भूमिको और पुनः अनुदिशवासी अहमिन्द्रदेव सातवीं नरकपृथिवीको जान सकते हैं। पाँच निर्मलतर अनुत्तर विमानोंके देव सम्पूर्ण त्रिजगनाली (त्रसनाड़ी) को जानते हैं। देवोंका नीचेकी ओर जानेवाला इस प्रकारका ज्ञान होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्व दिशामें भी केतु-विमान तक विमानवासी देवोंका ऐसा ही ज्ञान होता है।

अप्सराओंकी जघन्य आयु अर्धपल्य एवं उत्कृष्ट आयु पचवन पल्य प्राप्त होती है।

उन देवियोंकी उत्पत्ति दो स्वर्गतक कही गई है, जहाँ वे मनोवाञ्छित अतिशय सुखोंका भोग करती हैं।

घत्ता—प्रथम दो कल्पोंमें कायसुख, उसके आगे दो कल्पोंमें स्पर्शसुख और आगे-आगे चार-चार दुःखोंका निग्रह करनेवाले स्वर्गों में रूप, शब्द, एवं मनका सुख जानिए॥ ९६॥

[५-२६]

देवों में विशेषता-भेद

तापस-व्रत धारण करके जो शिवका ध्यान करते हैं और पञ्चतत्त्वोंकी भावनाएँ करते हैं, वे मरकर ज्योतिष्क-देव होते हैं अथवा कोई-कोई व्यन्तर गतिमें भी उत्पन्न होते हैं। जो उत्तम श्रावक-व्रत धारण करते हैं, वे जीव अच्युत-स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं। जो श्रेष्ठ नारी आर्यिका-व्रत धारण कर मरती हैं वह सोलहवें स्वर्गमें उत्पन्न होती है। मुनिको छोड़कर उसके ऊपर अन्य कोई नहीं जाता। वे मुनि यथाजात लिङ्ग धारण करके, शरीरके भोगों और परिग्रहका त्याग करके, अभिमान-कषाय और दोषोंसे मुक्त होकर ऊपर-ऊपरके स्वर्गोंमें जाते हैं, ऐसा जानो। इन स्वर्गोंमें क्रम-क्रमसे देव हीन-मानवाले होते हैं।

स्थिति, प्रभाव, सुख, दीप्ति तथा लेश्या तथा इन्द्रियोंकी विशुद्धि एवं आयु, हे नरेश्वर, ये ऊपरकी ओर अधिक-अधिक हैं। इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने ऊर्ध्वका वर्णन किया है।

सर्वार्थसिद्धिके ऊपर बारह योजन प्रमाण पवित्र सिद्धक्षेत्र है। दक्षिण-उत्तरमें वह सात राजू-प्रमाण तथा पूर्व-पश्चिममें एक राजू चौड़ा सुशोभित है। उसके मध्यमें चन्द्रमण्डलके समान गोल,

वसु जोयणपिंडपमाणविस्त पणयाल लक्ख वित्थर जि मित्त ।
सा सिद्धसिला भासइ गणेसु तहि उवरि वि सिद्धालय पएसु ।
णिच्च जि अरूव तहिँ वसहिँ सिद्ध सम्मत्तपमुह गुणअट्ठरिद्ध ।
अमुत्त विवण्ण जि णाणपिंड कम्मट्ठरहिय तह सुह अखंड ।
परमाणंदालयणिच्चतत्तु वरणंतगुणायर-सरस-सित्त ।
तणुवायवलं ति वसंति सव्व तहु उवरि ण जंति भणंति सव्व ।
कि वि पज्जंकासणि ठिय वि तत्थ कि वि कायोसग्गें सिद्धसत्थ ।
अंतिमहु सरीरहु किंचि हीण उप्पत्ति-जरा-मरण-त्ति-खीण ।

घत्ता—ए सिद्ध भडारा तिजयहँ सारा भव्वह विंति जि बोहवरा ।
एव्वहिँ भो णरवर जयलच्छीवर मज्झ लोउ णिसुणेहि परा ॥ ९७ ॥

[५-२७]

एक्कु रज्जु वित्थारें वुत्तउ मज्झलोउ दीवोवहिँ जुत्तउ ।
ते असंख जिणणाहें जाणिय विउण-विउण आयमि वक्खाणिय ।
ताहँ मज्झि पुणु दीउ पहाणउँ जंबूदीउ णाइँ तहँ राणउँ ।
जोयणलक्खपमाणु गरिट्ठउ लहुउ वि सव्वहँ तहँ सो जेट्ठउ ।
भरहखेत्तु मेरुहि दाहिणदिसि धणुहायारु तासु भामहिँ रिसि ।
जोयणपंचसयइँ छव्वीसइँ छहकलाहि अहियउ जिणु सीसइँ ।
तासु मज्झि वेयड्ढु महीहरु पंचवीस जोयण तुंगउ वरु ।
पंचास जि जोयण वित्थारें सायरंति दीहत्तपयारें ।
महियलाउ दहजोयण उवरें बिण्णि सेणि वासिय खगणियरें ।
पंचास जि पुर दाहिणदिसि वर साठि भणिय उत्तरदिसि सुहयर ।
कोडि-कोडि गामइँ एक्केक्कहिँ करहिँ रज्जु खेयर-राणा तहिँ ।
तहु पव्वयहु सीसि कूडइँ णव पुण्णभद्द सुर तहिँ गय परभव ।

घत्ता—गंगा-सिंधुहि सरि पूरिय सर-दरि भरहखेत्तु छक्खंड किउ ।
पंचहि दुप्पिच्छहिँ वासिय मिच्छहिँ जिणवरधम्मु ण तहिँ मुणिउ ॥ ९८ ॥

[५-२८]

एक्कु जि अज्जखंड सुपसिद्धउ धम्म-कम्म-भेयहिँ सुसमिद्धउ ।
तहु उत्तरदिसि कुलगिरि भासिउ हेमवंतु हिमवंतु सुहासिउ ।

सीधा, छत्राकार एवं पवित्र आठ योजन मोटा देदीप्यमान क्षेत्र है, हे मित्र, उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन कहा गया है। उसके ऊपर सिद्धोंका निवास है, उसमें सिद्ध निवास करते हैं, जो नित्य, अरूपी एवं सम्यक्त्व-प्रमुख गुणोंके धारी तथा अष्ट-ऋद्धियोंसे युक्त, अमूर्त्तिक, विवर्ण (रूपरहित), ज्ञानके पिण्डस्वरूप, अष्ट कर्मरहित और अखण्ड सुखोंके धारी होते हैं। परमानन्दामृत से निरन्तर तृप्त, श्रेष्ठ अनन्त गुणोंके आकर एवं स्वरस (आत्मरस) से सिक्त होते हैं। सभी सिद्ध तनुवातवलयके अन्तमें निवास करते हैं, इसके ऊपर वे नहीं जाते, ऐसा सभीका (सर्वज्ञका) कथन है। कोई वहाँ पर्यङ्कासन में स्थित है, तो कोई सिद्ध-समूह, कायोत्सर्ग मुद्रासे। अन्तिम शरीरसे किञ्चित्हीन उत्पत्ति, जरा एवं मरण-दुःखसे रहित—

घत्ता—ये सिद्ध भट्टारक, त्रिजगमें सारभूत हैं तथा भव्यजनोंके लिये उत्तम बोध प्रदान करते हैं। हे जयलक्ष्मीके स्वामी नरवर (श्रेणिक) अब मध्यलोकको सुनो ॥ ९७ ॥

[५-२७]

मध्यलोकका वर्णन : भरतक्षेत्रकी स्थिति

मध्यलोक एक रज्जू प्रमाण विस्तारवाला कहा गया है, जो द्वीपों एवं सागरोंसे युक्त है। वे द्वीप एवं सागर जिननाथने असंख्य कहे हैं। अपने आयाममें वे दुगुने-दुगुने बताये गये हैं। उसके मध्यमें द्वीपोंमें प्रधान तथा उनके राजाके समान जम्बूद्वीप है। वह एक लाख योजन विशाल प्रमाणवाला है, यद्यपि वह (आकारमें) सबसे लघु है, परन्तु गुणोंमें ज्येष्ठ है।

मेरु पर्वतकी दक्षिणी दिशामें धनुषाकार भरतक्षेत्र है। उसमें ऋषि लोग भ्रमण किया करते हैं। उसका प्रमाण ५२६ योजनसे छह कला अधिक है अर्थात् भरतक्षेत्रका प्रमाण कुछ अधिक ५२६$\frac{६}{१९}$ है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। उसके मध्यमें सुन्दर विजयार्ध पर्वत है, जो पच्चास योजन ऊँचा है और पचास योजन विस्तारवाला है, जो दीर्घत्वके प्रसारमें सागर तक चला गया है।

महीतलसे दस योजन ऊपर इसको दो श्रेणियाँ विद्याधर समूहसे बसी हुई हैं। दक्षिण-दिशा की श्रेणीमें पचास करोड़ तथा उत्तर-श्रेणीसे साठ करोड़ सुखकारी पुर स्थित है और प्रत्येक पुरमें करोड़ गाँव हैं। प्रत्येक गाँवमें खेचर राजा राज्य किया करते हैं।

उस पर्वतके शिखर पर नौ पूर्णभद्र नामक कूट हैं जिन्हें देखकर देवगण भी पराभवका अनुभव करते हैं।

घत्ता—सरोवरों एवं गुफाओंको पूर्ण करनेवाली गङ्गा एवं सिन्धु नदियों द्वारा भरतक्षेत्रके छह खण्ड किये गये हैं (उनमेंसे दक्षिण भरतके तीन खण्डोंमेंसे मध्यका खण्ड, आर्यखण्ड है और शेष) पाँच खण्डोंमें भयानक म्लेच्छोंका निवास है। जिन-भगवान्का धर्म वहाँ नहीं जाना जाता ॥ ९८ ॥

[५-२८]

आर्यखण्ड, हिमवन्तकुलाचल एवं गङ्गा आदि नदियोंका वर्णन

एक ही खण्ड आर्यखण्डके नामसे सुप्रसिद्ध है, जो धर्म एवं कर्मके भेदोंसे समृद्ध हैं। उसकी

सहसु जि बावणाहिय जोयण कलबारह पुणु सुहसंजोयण ।
वित्थारें सउजोयण तुंगें दीहत्तें किय सायरसंगें ।
तहु कूड वि एयारह सुहवर तहिँ णिवसहिँ पुणु वितर-सुरवर ।
उवरिम सेलहु पउमु महावहु जोयण सहसु जि आयामा तहु ।
तासु अद्धु विक्खंभु पमाणहु दहजोयण गंभीरु वि जाणहु ।
तासु मज्झि पुंडरीउ भणिज्जइ जोयणेक्कु कहमवि ण विलिज्जइ ।
कणयवण्ण कण्णिय तहु उत्तो कोसपमाणु तेयवर-दित्तो ।
तहिँ सिरिदेवि सपरियण णिवसइ मणइंछिय सुहाइँ पुगु विलसइ ।

घत्ता—गंगा-सिंधु णइ रोहिय पुणु सइँ पोमसरहु णिग्गयइँ वरा ।
जोयण वि सवाछह-दह-गुणिया तह सायरि पडिय सुगंग परा ॥ ९९ ॥

[९-२९]

जहँ सुरसरि तहँ सिंधु जि पउत्त पच्छिम समुद्दि सा जाइ पत्त ।
वेयड्ढगिरिंदु वि ताहिँ मित्तु छखंडु जाउ तें भरहखेत्तु ।
हिमवंतहु उत्तरदिसिहिँ खेत्तु हेमवंतु णाम कप्पंघि जुत्तु ।
पंचोत्तरसउ बेसहसठाणु पुणु पंचकलाजोयणपमाणु ।
वित्थारु जि खेत्तहु मुणिउ एहु दीहत्तं जाम वि तोयगेहु ।
पल्लेक्कु तत्थ माणुसहँ आउ गाउप्पमाणु पुणु ताहँ काउ ।
मणइंछिय माणहिँ विविहभोय णउ सीउ ण उण्हु ण सोय-रोय ।
आमलय-पमाणाहारु लिंति णीहारु वि कहमवि णउ करंति ।

घत्ता—सा भोय-वसुंधर अहण्ण वि सुहवर बिण्णि सरिउ पवहंति तहिँ ।
रोहिय-रोहिय पुणु जलचंचलतणु ताहँ खलणु णउ हुवउ कहिँ ॥ १०० ॥

[९-३०]

बारह अद्धाहिय जोयणाहँ णिग्गमणु पढमु भासियउ ताहँ ।
पुणु दहगुण कमि-कमि वित्थरेवि पुव्वावरि सायरि पत्त बे वि ।
हिमवंतहु उत्तरदिसिहिँ तुंगु बिण्णि वि सयजोयण अइव चंगु ।
कुलगिरि जि महाहिमवंतु णामु दीहत्तें फंसिउ रयणधामु ।
सहस जि चयारि सय दुण्णि अणु दहजोयण दह वि कलाहि पुणु ।
वित्थरु भासिउ तहु गिरिवरासु वसु कूडपयासिय उवरि तासु ।

उत्तर दिशामें सुखकारी हिमवान्—हिमवन्त नामक कुलाचल है। उस कुलाचलका विस्तार १०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन और ऊँचाई एक सौ योजन है। अपने आयाममें वह सागर पर्यन्त विस्तृत है।

उसके ऊपर ग्यारह सुखकारी कूट हैं, जिनमें व्यन्तरदेव निवास करते हैं। उसके ऊपरी शिखर पर पद्म नामक महाह्रद है, जिसका आयाम एक सहस्र योजन है। उसकी चौड़ाई इसकी आधी जानिए और गहराई दस योजन। उसके मध्यमें एक पुण्डरीक कहा जाता है, जो एक योजन प्रमाण है और कभी भी विलीन नहीं होता। उसकी कर्णिकाएँ कनकवर्णकी कही गई हैं, जिनका प्रमाण एक-एक कोसका है और जो उत्तम तेजसे दीप्त हैं। उसपर 'श्री' नामक देवी अपने परिजनोंके साथ निवास करती है और मनोवाञ्छित सुखोंका विलास करती है।

घत्ता—गङ्गा, सिन्धु एवं रोहित (जैसी) श्रेष्ठ नदियाँ स्वयं पद्महृदसे निकली हैं। वे गङ्गा आदि नदियाँ सवा छह योजन विस्तृत तथा उससे दस गुने लम्बे समुद्रमें गिरती हैं॥ ९९॥

[५-२९]

भरतक्षेत्रके छह खण्डोंका विभाजन

जिसप्रकार गंगा नदी कही गई है, उसीप्रकार सिन्धु नदी। वह सिन्धु नदी पश्चिम समुद्रमें जाकर गिरती है। विजयार्ध उनका मित्र है। (इसप्रकार गंगा, सिन्धु एवं विजयार्ध पर्वतसे विभक्त होकर) इससे भरतक्षेत्रके छह खण्ड हो जाते हैं। हिमवान् पर्वतकी उत्तर दिशामें हैमवत नामका क्षेत्र है, जो कल्पवृक्षोंसे युक्त है। १०५२$\frac{५}{१९}$ योजन प्रमाणवाला हिमवत् नामक पर्वत है। यही हिमवन्त क्षेत्रका भी विस्तार है और समुद्रतक दीर्घ है। वहाँ मनुष्योंकी आयु एक पल्य एवं शरीरका प्रमाण एक गव्यूति है। वे वहाँ मनोवाञ्छित भोगोंको भोगते हैं, वहाँ न शीत है, न उष्णता और न रोग-शोक। वे आँवलेके बराबर ही आहार ग्रहण करते हैं तथा कभी भी मलमूत्रका त्याग नहीं करते।

घत्ता—वह भोगभूमि जघन्य होनेपर भी श्रेष्ठ सुखोंकी खानि है। रोहित एवं रोहितास्या नामकी चञ्चलतनवाली दो नदियाँ हैं, उनका कहीं स्खलन नहीं होता॥ १००॥

[५-३०]

महाहिमवन्त पर्वत एवं हरिवर्ष क्षेत्र तथा नदियोंका वर्णन

उन दोनों नदियोंका प्रथम निर्गमन-मुख साढ़े बारह योजन कहा गया है। फिर क्रम-क्रमसे दसगुनी विस्तीर्ण होकर वे दोनों नदियाँ पूर्व एवं अपर सागरोंको प्राप्त होती हैं।

हैमवत्-क्षेत्रकी उत्तर दिशामें दो सौ योजन ऊँचा एवं अत्यन्त सुन्दर महाहिमवन्त नामका कुलाचल है, जो दीर्घतामें समुद्रतक फैला है। जो ४२१०$\frac{१०}{१९}$ योजन प्रमाण है। यह उस पर्वतका विस्तार कहा गया है। उसपर आठ कूट कहे गए हैं।

पुणु पउमु महापहु तत्थ वुत्तु जोयण वीस जि अवगाहु उत्तु ।
बे-सहस जि आयामें मुणेहु तस्सद्धउ वित्थारें मुणेहु ।
तहु मज्झि कमलु वज्जमउ जाणि बे-जोयण णाणें भणाणि ।
बे-कोसहु केरी कण्णिया वि हिरिदेवि वसइ पुणु तहिँ सयावि ।
रोहिय-हरि णिग्गय सरवराउ उत्तरदिसि पुणु तहो गिरिवराउ ।
हरिवरिसु खेत्तु णामें पवित्तु जहिँ णरहँ सहावें अज्जवित्तु ।
बे-पल्लु आउ तहिँ माणुसाहँ बे-गाहु तणु पुणु भणिउँ ताहँ ।
आहारु वि अक्खपमाणु राय ए णीहारु ण तहिँ णीरोयकाय ।

घत्ता—वसु-सहसइँ जोयण चउसइँ तहँ गण एक्कवीस पुणु एयकला ।
इहु खेत्त-पमाणउँ सुरतरु-ठाणउँ मज्झिम भोयभूमि सयला ॥ १०१ ॥

[५-३१]

वीहतें पुव्वावर समुद्दि अब्भिडिउ खेत्तु जलयररउद्दि ।
तहु खेत्तंतरि बे सरि वहंति हरि-हरिकंता सरिवर कहंति ।
पंचाहिय जोयण वीस मूलि पवहिवि कमेण दह गुणियथूलि ।
पुव्वावरि लवणउवहि य पत्त णं णाह-समोवहु णारि रत्त ।
खेत्तहु उत्तरदिसि पुणु गिरिंदु णिक्खुह जि णिच्चवत्तणु णं रिसिंदु ।
हरिखेत्तहु विउणु जि वित्थरेण तुंगत्तु चारि सय जोयणेण ।
तहु उवरि कूड णव पुणु हवंति तिगिंछु महासरु तहिँ कहंति ।
अवगाहु जि वित्थरु वीहतणु महपउमह दूणउ मुणि पमाणु ।
पुक्खरु पुणु कण्णिय तेम उत्त दिहिदेवी णिवसइ तहिँ पवित्त
हरिकंत-सीय बे सरि पवित्त तिगिंछ दहहु पुणु एवि णित्त ।
जोयण पंचासइँ वहिवि आइँ सा णिवडिय पुव्व समुद्द जाइँ ।
तासुत्तरदिसिहि विदेहु खेत्तु तहु मज्झि मेरु पुणु कणयवित्तु ।

घत्ता—गयवंतायारें ससिपहधारें पव्वय णिग्गय चारिवरा ।
मेरुहि जिणु भासइ संसइ णासइ विदिसिहि ते थिय विदिसिपरा ॥ १०२ ॥

[५-३२]

उत्तम भोयभूमि सुरकुरुवर तिण्णि पल्ल जहिँ जीवहिँ णरवर ।
गाउ तिण्णि काय सुहणिब्भर इच्छियसुहइँ विंति सुरतरुवर ।

पुनः वहाँ पद्म नामक महाह्रद है, जिसका अवगाह बीस योजन कहा गया है। उसका आयाम दो सहस्र तथा विस्तार उससे आधा जानिए। उसके मध्यमें वज्रमय दो योजन विस्तारवाला कमल ज्ञानी जिनेन्द्रने कहा है, जिसके पत्र दो योजन विस्तीर्ण हैं। उसकी कर्णिका भी दो योजन प्रमाण है, जिसपर 'ह्री' नामकी देवी सदा निवास करती है।

उस पर्वतके सरोवरसे उत्तरदिशामें रोहित एवं हरित नदियाँ निकली हैं। वहाँ हरिवर्ष नामका पवित्र क्षेत्र है, जहाँकि निवासी मनुष्य स्वभावसे ही सरल चित्त होते हैं। वहाँ मनुष्योंकी आयु दो पल्यकी होती है और उनके शरीरका प्रमाण दो गाह प्रमाण होता है। हे राजन्, उनका भोजन एक अक्ष (बहेड़ा) प्रमाण होता है। वे मलमूत्रका विसर्जन नहीं करते (फिर भी) उनका शरीर निरोग बना रहता है।

घत्ता—८४२१ $\frac{१}{१९}$ योजन हरिवर्ष क्षेत्रका प्रमाण है। वह कल्पवृक्षोंका स्थान है और वहाँ समस्त मध्यम भोगभूमियाँ (स्थित) हैं॥ १०१॥

[५-३१]

निषध-पर्वत आदिका वर्णन

लम्बाईमें वह हरिक्षेत्र रौद्र जलचरोंसे युक्त पूर्व एवं अवर समुद्रसे सटा हुआ है। उस क्षेत्रमें हरित एवं हरिकान्ता नामक दो नदियाँ बहती हैं, जो मूलमें पच्चीस योजन हैं और आगे बहकर क्रमशः उससे दसगुनी स्थूल हो जाती हैं। वे (दोनों नदियाँ) पूर्व एवं पश्चिम सागरोंको इसप्रकार प्राप्त होती हैं, जिसप्रकार कोई अनुरक्ता नारी अपने नाथके समीप जाती है।

हरिक्षेत्रकी उत्तरदिशामें निषध पर्वत है, जिसका शरीर नित्य उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि कोई योगीन्द्र (रहता है)। वह हरिक्षेत्रसे विस्तारमें दुगुना है और ऊँचाईमें चार सौ योजन है। उसके ऊपर नौ कूट बने हुए हैं। वहीं तिगिञ्छ नामक महासरोवर कहा गया है। उसका अवगाह, विस्तार एवं लम्बाई महापद्मसे दुगुनी है। उसमें कर्णिकावाले पुष्कर कहे गये हैं, जिनपर 'धृति' नामक पवित्र देवी निवास करती है।

हरिकान्ता एवं सीता ये दोनों पवित्र एवं शाश्वत नदियाँ तिगिञ्छ सरोवरसे निकलती हैं। वे पचास योजन बहकर आती हैं और वहाँ दोनों मिलकर पूर्व समुद्रमें गिरती हैं।

उसकी उत्तरदिशामें विदेहक्षेत्र है, जिसके मध्यमें सुवर्णसे दीप्त मेरुपर्वत है।

घत्ता—गजदन्तके आकारवाले तथा चन्द्रमाके समान कान्तिमान मेरुपर्वतकी चारों विदिशाओंसे चार पर्वत निकले हैं, ऐसा संशयनाशक जिनेन्द्रने कहा है। उन चार विदिशाओंमें—॥१०२॥

[५-३२]

पूर्व एवं अपर-विदेह का वर्णन

सुरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि है, वहाँ के उत्तम लोग तीन पल्य जीते हैं। उनके गात्र तीन गव्यूति प्रमाण होते हैं और वहाँ नितान्त सुखदायक श्रेष्ठ कल्पवृक्ष मनोवाञ्छित सुख देते हैं।

जिहँ सुरकुरु तिहँ उत्तरकुरु मुणि   दाणहुँ फलेण जंति तहिँ बहुगुणि ।
तेत्तीस जि सहास जिरु भासिय   रस-सय चउरासीय सुपसाहिय ।
जोयणाइँ कल-चारि पमाणउ   एह विदेहमाणु सुवियाणहु ।
कणयायलहु पुव्वदिसि णिवसइ   पुव्वविदेहु णामु तें ववसइ ।
जो अवरण्ण दिसिहिँ तहु वुत्तउ   अवरविदेहु वि भणिउँ णिरुत्तउ ।
वसुवूणिय खेत्तइँ एक्केक्कहिँ   बिण्णि अहिय तीसइँ सव्वहँ तहिँ ।
वेयड्ढु वि गंगा-सिंधू सरि   ए हवंति पुणु पडिखेयंतरि ।
बिण्णि वि धण-कण पूरियसरसइँ   कालचक्कु तत्थ वि णउ परसइँ ।
कालु चउत्थउ दोहिमि वट्टइ   जिणवर भणिउ धम्मु णो हट्टइ ।
आउसु कोडिपमाणु णिरुत्तउ   तारतम्म-भेएँ पुणु वुत्तउ ।
तित्थंकरहँ ण संखा तहिँ णिव   चक्कवट्टि-हरि-बल-पडिहरि मिव ।
उप्पज्जंति धम्मधुर धारा   केवलि-रिसि चारणमुणि सारा ।
पंचसरासण सयइँ सरीरइँ   तेय दित्त भूहर इव धीरइँ ।
जो उत्तरदिसि णीलु कुलायलु   सो वि सिद्धसमाणु सुहायलु ।
पुणु रुम्मि वि सिहरी गिरि जाणहु   केसरि-महपुंडरीयइँ माणहु ।
पुंडरीउ पुणु तत्थ जि सरसह   कूलजेवि ते पुणु पभणहिँ बुह ।

घत्ता—रम्मउ-हेरण्णु वि पुणु एराउ वि सोओयापमुहँ वि सरिहिँ ।
ए सयल वि जाणहुँ चित्ति पमाणहुँ जहँ दक्खिण तहँ संभरहिँ ॥ १०३ ॥

[५-३३]

जलणिहि जंबूदीवहिँ दूणउ   लवणंबुहि णामेण उ वण्णउ ।
बिण्णि लक्ख वित्थारें वुत्तउ ।   दिसि विदिसिहिँ वडवाणल जुत्तउ ।
बाहिर दीवहु वेई सोहइ   वज्जमई दोही जण मोहइ ।
बारह जोयण सा वीही णिय   वसुजोयण पुणु मज्झि पवण्णिय ।
चत्तारि वि उवरें जिणु भासइ   तुंगत्तणि पुणु अट्ठ पयासइ ।
उववेई बिहि दिसहि अखंडिय   देवारण्णें सा पुणु मंडिय ।
पुणु धादइ-खंडु वि तहु दूणउ   चारि लक्ख जोयण संपुण्णउ ।
मेरु दोण्णि पुव्वावर तहि ठिय   कणयवण्ण सुर कीलहिँ पिय-पिय
एक्केक्कहुँ संबंधिय खेत्तइँ   चउतीस वि वेयड्ढइँ तेत्तइँ ।

जिस प्रकार सुरकुरुकी रचना है, उसी प्रकार की रचना उत्तरकुरु की भी जानना चाहिए। वहाँ दानके फलसे बहुतसे गुणीजन जाते हैं। उस विदेह-क्षेत्रका प्रमाण ३३६८४ ४/१९ योजन कहा गया है।

कनकाचल की पूर्वदिशामें जो क्षेत्र (स्थित) है, वह पूर्वविदेह नामसे निश्चित है और उसकी दूसरी पश्चिम दिशामें जो कहा गया है, वह निश्चित रूपसे अपर विदेह कहा जाता है। एक-एकमें सोलह-सोलह क्षेत्र हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर बत्तीस (क्षेत्र) हैं। विजयार्ध एवं गङ्गा, सिन्धु नदियाँ प्रतिक्षेत्रके मध्यमें रहती हैं। ये दोनों ही विविध प्रकारके धन-धान्यसे पूरित एवं सरस हैं और वहाँ कालचक्षु स्पर्श नहीं करते अर्थात् वहाँ कालचक्रके सुषमा-दुषमा आदि छह प्रकारके आरे नहीं चलते। सदैव एक जैसा काल बना रहता है। दोनोंमें सदैव चतुर्थ काल (बना) रहता है और जिनकथित धर्म (वहाँ) कभी घटता नहीं। उनकी आयु कोटिवर्ष निश्चित है और वह तारतम्यके भेदसे कही गयी है।

हे राजन्, वहाँ तीर्थङ्करों तथा उसी प्रकार चक्रवर्त्ती, वासुदेव, बलदेव एवं प्रतिवासुदेवकी कोई संख्या नहीं है और वहाँ धर्म की धुराके धारक श्रेष्ठ केवलि, ऋषि एवं चारणमुनि उत्पन्न होते रहते हैं। उन लोगोंके शरीर पाँच सौ धनुष ऊँचे हैं तथा तेजसे दीप्त एवं पर्वतके समान धैर्यवान् होते हैं।

उत्तरदिशामें जो नील कुलाचल है, वह भी सिद्धशिलाके समान सुखकारी है, इसके बाद रुक्मि एवं शिखरी पर्वत जानिए, वहाँ केशरी और महापुण्डरीक (सरोवरों) को मानें। वहीं पुण्डरीक सरोवर भी है। इन तीनोंको ज्ञानीजन 'नदियोंको जन्म देने वाला' कहते हैं।

घत्ता—रम्यक, हैरण्यवन् तथा ऐरावत नामक क्षेत्र एवं सीतोदा प्रधान नदियोंको जानिए और चित्तमें धारण कीजिए और जहाँ दक्षिण दिशा है, वहाँ इनका स्मरण कीजिए॥ १०३॥

[५-३३]

लवणोदधि, धातकीखण्ड आदिका वर्णन

लवणोदधि नामक सागर जम्बूदीपसे दुगुना प्रमाण वाला वर्णित है, जिसका विस्तार दो लाख योजन कहा गया है और जो दिशाओं एवं विदिशाओंको बाडवानलसे युक्त करता है। द्वीपके बाहर एक विशाल वज्रमयी वेदिका सुशोभित है, जो लोगोंको मोहती है। उसकी बारह योजन की वीथी है, जिसका मध्य भाग आठ योजन वर्णित है। उसका ऊपरी भाग चार योजन और ऊँचाई आठ योजन प्रमाण है। उसकी दोनों दिशाओंमें अखण्ड उपवेदिकाएँ हैं और वह देवारण्य (दिव्य उपवन) से मण्डित है।

उसके बाद धातकी खण्ड (द्वीप) है, जो उस (लवणोदधि) से दुगुना है। वह चार लाख योजन कहा गया है। उसके पूर्व एवं पश्चिम दिशामें दो सुमेरु पर्वत हैं और जिनपर प्रत्येक दिशामें स्वर्णवर्णवाले देवता क्रीड़ाएँ किया करते हैं। प्रत्येकसे सम्बन्धित चौंतीस क्षेत्र हैं और उतने ही

छह कुलपव्वय चउदह णइ-सर अज्जभूमि तहँ विलसहिँ णरवर ।
पढमदीवि भासियइँ जि णामइँ सव्वत्थ जि किय ताइँ पमाणइँ ।
कालोवहि तम्हाउ विउणु पुणु अट्ठलक्ख णामेँ सो णिव सुणु ।
तासु दूणु पुणु दीउ भणिज्जइ पुक्खरद्धु णामेँ जाणिज्जइ ।
जोयण सोलह लक्ख णिरुत्तउ मणुसोत्तर पव्वएण विहत्तउ ।
वलयायारेँ मज्झि परिट्ठिउ पुक्खरद्धु तेँ कारणि सिट्ठउ ।
बिण्णि मेरु तहु मज्झि परिट्ठिय पुव्वावरदिसि सुरहँ मणिट्ठिय ।

घत्ता—जेत्तिय कुलगिरिवर तेत्तिय सरुवर तेत्तिय सरि पुणु खेत्त तिम ।
अण्ण वि दीवोवहि विउण-विउण तहि ते असंख हउँ भणमि किम ॥ १०४ ॥

[५-३४]

बे रवि-ससि जंबूदीव होंति चारि वि लवणंबुहि णत्थि भंति ।
धाईखंडहि दोवह भमंति कालोवहि बेयालीस संति ।
पुणु पुक्खरद्धि जिणवर भणंति रवि-ससि जि बहत्तरि तत्थ थंति ।
ए णिच्च पयाहिण मेरु दिंति अड्ढाइदीवहु तमु हणंति ।
धुवताराइँ छत्तीस जि हवंति जंबूदीवहिँ मुणिवर कहंति ।
एक्कूणयालुसउ पुणु समुद्दि लवणंबुहि णामेँ जलरउद्दि ।
पुणु सहसु दहोत्तरु धाइखंडि कहव ण हिंडहिँ वंड-खंडि ।
सहसइ इकयालीस जि पउत्त वीसोत्तरु सउ उत्तरेण जुत्त ।
कालोवहिए धुव मुणहिँ भव्व णउ भमहिँ थंति ते णिच्च सव्व ।
तेवण्ण सहस बे सयइँ तीस ए पुक्खरद्धि भासहिँ रिसीस ।

घत्ता—ससि-रवि-णक्खत्तइँ विहिय समंतइँ दीवड्ढाइय बाहिरए ।
ठिय घंटायारेँ गयगइचारेँ जाम सयंभु उवहि तरइ ॥ १०५ ॥

इय सिरिपासणाहपुराणे आयमत्थस्स अच्छि सुणिहाणं सिरिपंडिय रइधू विरइए सिरिमहाभव्व खेऊ साहु णामंकिए लोयसंठाणवण्णणो णाम पंचमो संधि-परिच्छेओ समत्तो । संधि—५ ॥ छ ॥

सिद्धाःसिद्धिसमाश्रिता निरुपमानन्तैर्गुणैराश्रिताः—
त्रैलोक्यार्चितधर्मचक्रपतयो ये चार्हतः सूरयः ।
ये भावश्रुतभावभावितमनस्सत्पाठकाः साधव—
स्ते कुर्वन्तु शिवं प्रशान्तमनसः क्षेमाख्यसाधोः क्षितौ ॥

●

विजयार्ध। छह कुलाचल हैं और चौदह नदियाँ एवं सरोवर। इन आर्यभूमियोंमें उत्तम मनुष्य विलास करते हैं।

प्रथमद्वीपके नाम कह दिये गये हैं और सर्वत्र इनका प्रमाण भी कर दिया गया है। हे राजन्, कालोदधि नामक समुद्र उससे दुगुना है और आठ लाख योजन विस्तार वाला है। उससे भी दूना दूसरा द्वीप कहा गया है, जिसे पुष्करार्द्ध नामसे जाना जाता है। वह सोलह लाख योजन निश्चित है तथा मानुषोत्तर पर्वतसे विभक्त है। वह वलयाकारसे उसके मध्यमें स्थित है, इसलिये उस द्वीपका नाम पुष्करार्द्ध कहा गया है। उसके मध्यमें पूर्व एवं अपर दोनों दिशाओंमें दो मेरु (पर्वत) स्थित हैं, जो देवताओंको प्रिय हैं।

घत्ता—जितने कुलाचल हैं, उतने हो उत्तम सरोवर हैं, उतनो ही नदियाँ एवं उतने हो क्षेत्र हैं। उनसे दुगुने-दुगुने द्वीप एवं समुद्र हैं। उस प्रकार वे असंख्यात हैं, उनका वर्णन मैं कैसे करूँ ?॥ १०४॥

[५-३४]

जम्बुद्वीप आदिमें सूर्य-चन्द्र एवं तारोंका प्रमाण

जम्बूद्वीपमें दो-दो सूर्य एवं चन्द्रमा होते हैं, इसी प्रकार लवण समुद्रोंमें चार-चार, इसमें भ्रान्ति नहीं। धातकीखण्डमें बारह-बारह चन्द्र एवं सूर्य भ्रमण करते हैं। कालोदधिमें बयालीस-बयालीस चन्द्र-सूर्य हैं और फिर जिन भगवान कहते हैं कि पुष्करार्द्धमें बहत्तर-बहत्तर सूर्य एवं चन्द्र हैं। ये निरन्तर ही मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करते हैं और अढ़ाई द्वीपके अन्धकारका नाश करते हैं।

मुनिवर कहते हैं कि जम्बूदीपमें छत्तीस ध्रुवतारे होते है। रौद्रजल वाले लवण समुद्र नामके रौद्रजल वाले समुद्र में एक सौ उनतालीस एवं धातकीखण्डमें एक सहस्र दस, ध्रुवतारे हैं। कालोदधिमें इकतालीस सहस्र और उसके ऊपर एक सौ बीस (अर्थात् ४११२०) ध्रुवतारे मानों। वे सब भ्रमण राज्य-खण्डमें नहीं करते, अपितु नित्य (निश्चल) हैं। ऋषीश्वर पुष्करार्द्धमें ५३२३० ध्रुवतारे कहते हैं।

घत्ता—ढाई द्वीपके बाहर भी अन्धकारका नाश करने वाले चन्द्र, सूर्य एवं नक्षत्र घण्टाकार रूपमें हाथीकी गतिके समान विचरण करते हुए वहाँ तक स्थित हैं जहाँ तक कि स्वयम्भू (रमण) सागर पार होता है॥ १०५॥

इस प्रकार श्री पण्डित रइधू विरचित श्री महाभव्य खेऊसाहूके लिये नामाङ्कित आगमके अर्थको समझनेके लिये नेत्रके समान श्रीपार्श्वनाथ पुराणके अन्तर्गत 'लोक-संस्थानका, वर्णन करने वाला पाँचवाँ सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ। सन्धि—५।

सिद्धिको प्राप्त, निरुपम, अनन्त गुणोंके आश्रय, त्रैलोक्यपूजित, धर्मचक्रवर्त्ती, सिद्ध तथा अरहन्त, आचार्य और भावश्रुतसे भावित मनवाले, साधु, सत्पाठक एवं पृथिवी-मण्डल पर प्रशान्त मनवाले खेऊ साहूका कल्याण करें।

संधि—६

[६-१]

घत्ता

इय भासिय लोयहिँ ठिय तियलोयहिँ जंबूदीउ जो पढमु तहिँ ।
तासु जि भरहंतरि खंडिय सुरसरि देसु सुरम्मउ अत्थि महि ॥ छ ॥

जहिँ गाम वसहिँ बहुविउलराम जहिँ जण णिवसहिँ परिपुण्णकाम ।
जहिँ ढिक्करंति वसह वि भमंति गाविहिँ समाण धण्णइँ चरंति ।
जहिँ माहिसाइँ दुद्धइ घणाइँ जहिँ सहल सकुसुमइँ वरवणाइँ ।
गोवलियाइँ जहिँ रमिउ रासु तं पेच्छिवि सुरवरु महइ वासु ।
जहिँ खीरहिँ पउ पालंति णारि सवियारु ण जंपहिँ सीलधारि ।
पुंडुच्छुवणइँ जहिँ रसु बहंति णडयण इव ते णिच्च जि सहंति ।
णिरवद्दउ जणु जहिँ सव्वकाल मच्छं धिवि णउ सरि खिवहिँ जाल ।
तहिँ पोयणपुरु णयरु वि पहाणु णं विहिणा णिम्मिउ धम्मठाणु ।
जहिँ फलहिँ विणामिय उववणाइँ ते सहहिँ णाइँ सज्जणजणाइँ ।
जहिँ सरि-सरवर पूरिय-पयाइँ अइसीयलाइँ माणिय-वयाइँ ।
जहिँ खाइय तहु[1] पाणिउँ धरंति णं णयरहु दासित्तणु करंति ।
जहिँ बिविहरयणदित्तउ विचित्तु पायारु जत्थ रवि णाइँ छित्तु ।
गोउर चयारि णं वयण सोह णयरहु संजाया अरिउ खोह ।
हिमवंतकूडणिह जहिँ घराइँ गमणु ण लद्धउ पुणु रविकराइँ ।

घत्ता—तहिँ राउ गुणायरु तेएँ भायरु अरविंदु वि णामेँ भणिउ ।
अरिकुलसंतासणु णिवपयसासणु जो बंदिणविंदहिँ थुणिउ ॥ १०६ ॥

[६-२]

जसु भएण वइरि काणणि वसंति तरुहलइँ णिच्च ते तहिँ असंति ।
जेँ पूरिय भिच्च जणाहँ आस जसु जसेण धवलकय वसु दिसास ।
जयसिरिणिवासु अइपउरुकोसु दंडेण विहंडिउ जेँ सदोसु[2] ।
तहु मंति विप्पु छकम्मरत्तु णामेण विस्सभूइ जि पवित्तु ।
तहु भज्ज अणुंधरि सुद्धसील पइ-रइरसदायणि णिच्चकील ।

---

१. क. भइ. ख—तइ ।   २. क. अदोसु ।

सन्धि—६

[६-१]

पार्श्वके भवान्तर-वर्णन : सुरम्य-देश, पोदनपुर-नगर एवं वहाँके राजा अरविन्दका वर्णन

घत्ता—इस प्रकार भाषित, तीन भेदोंमें स्थित एवं लोकोंमें प्रथम जो जम्बुद्वीप है, उसके गङ्गासे विभाजित भरत-क्षेत्रकी भूमिमें सुरम्य नामका (एक) देश है।

वहाँ अनेक विपुल आरामोंवाले ग्राम बसते हैं, जिनमें परिपूर्ण इच्छाओंवाले नागरिकजन निवास करते हैं, जहाँ वृषभ ढिक्कारते हुए घूमते हैं और गायोंके साथ धान्य चरा करते हैं। जहाँ पर घना दूध देने वाली भैंसें है, जहाँ पर फलों एवं फूलोंसे युक्त श्रेष्ठ उद्यान हैं, जहाँ ग्वालिनोंके द्वारा रास रचा जाता है, उसको देखकर इन्द्र भी वहाँ रहनेकी इच्छा करते हैं। जहाँ नारियाँ पौसरे बैठाकर प्रजा-पालन करती हैं, जहाँ शीलधारी नर विकारपूर्वक नहीं बोलते। (जहाँ) पुंड्र (गन्नों)के खेत रस बहाते रहते हैं और नित्य नटजनोंके समान शोभायमान होते हैं। जहाँ लोग सदैव निरुपद्रव रहते हैं। जहाँ धीवर भी सरोवरमें जाल नहीं डालते। वहाँ (सुरम्य नामक देशमें) पोदनपुर नामका प्रधान नगर है, मानों विधिने धर्मस्थानका निर्माण किया हो। जहाँके उपवन फलोंसे झुक गये हैं, जिससे वे (गुणोंसे विनम्र) सज्जनजनोंके समान शोभायमान हैं। जहाँ अतिशीतलजलसे पूरित सरिता और सरोवर, व्रतोंको मानने वाले शान्त प्रकृतिवाले व्यक्तियोंके समान हैं। जहाँकी गहरी खाइयाँ पानीको इस प्रकार धारण करती हैं, मानों नगरका दासीपना कर रही हों। जहाँ विविध प्रकारके रत्नोंसे दीप्त विचित्र प्राकार हैं, जो सूर्यके द्वारा स्पर्शकी जाती हैं। जहाँके चार गोपुर नगरकी मुख-शोभाके समान है और शत्रुओंको क्षोभ उत्पन्न करने वाले है। हिमवन्त कूटके समान जहाँ ऊँचे-ऊँचे भवन हैं, जिनकी ऊँचाईके कारण सूर्य-किरणें भी गमन नहीं कर पातीं।

घत्ता—उसी नगरमें गुणोंका सागर एवं सूर्यके समान तेजस्वी अरविन्द नामका राजा कहा गया है, जो शत्रु-समूहको सन्त्रस्त करनेवाला, 'नृप' इस पदका शासक तथा बन्दिजनोंके द्वारा स्तुति-प्राप्त है ॥ १०६ ॥

[६-२]

विश्वभूति नामका विप्रमन्त्री तथा उसके कमठ एवं मरुभूति नामक पुत्रोंका वर्णन

जिसके भयसे शत्रुजन जङ्गलोंमें निवास करते हैं और वहाँ वे सदैव तरुफलोंको खाते हैं। जिसने सेवकजनोंकी आशाओं को पूर्ण किया है, जिसके यशने आठों दिशामुखोंको धवलित किया है, जो जयश्रीका निवास है, अत्यन्त प्रचुर कोशका स्वामी है और जिसने अपराधियोंको दण्डसे खण्डित कर दिया है। उस (राजा अरविन्द) का षट्कर्मोंमें अनुरक्त विश्वभूति नामका पवित्र (हृदय वाला) मन्त्री है। उसकी अनुन्धरी नामकी शुद्ध शीलव्रती भार्या है, जो निरन्तर क्रीड़ाओं

तहि पढमु पुत्तु अइसमलभाउ दुण्णययारउ कमठक्खु जाउ ।
वंकगइ कुसुइ णं किण्हसप्पु रंधाणेसिउ उव्वूढदप्पु ।
बीयउ कणिट्ठु मरुभूइ णामु मइसायरु गुणगणरयणधामु ।

घत्ता—बुद्धिए जो सुरगुरु णं धणुवरसरु सक्खरु णं वसुहइ खिरु ।
अइचित्तपवित्तउ सोहियगत्तउ णिम्मलु णावइ सुरहरु ।। १०७ ।।

[६-३]

कमठहु भज्जा बहुसुक्खखाणि वरुणा णामेण जि महुर-वाणि ।
लहुबहु वि वसुंधरि कुडिल-चित्त चंचलजोव्वणमय णिच्च मत्त ।
जा दो वि रमंति सगेहिणीउ णं रूउरसायण-वाहिणीउ ।
अण्णहिँ दिणि रइ-रस-रत्तएण दुस्सीलेँ कमठेँ मत्तएण ।
अवलोइय लहुभायरहु णारि करिणीव करिंदेँ रूवसारि ।
बहु दुक्ख-खाणि णं णरयखोणि कुलमइलणि खल अवजसहु जोणि ।
आसत्तउ पाविउ हीणसत्तु खणि-खणि चिंतइ मणि तं कलत्तु ।
सा पुणु आसत्ती धिट्ठ तासु कालेण विहिउ पुणु सील-णासु ।
तंबोलाहरणइँ रइसुहाइँ माणंति कील पुणु बहुबिहाइँ ।
णिय-कुल-मज्जाय चएवि बे वि इंदियसुहु पोसहिँ पाव ते वि ।
केण वि रायहु पुणु कहिय वत्त सठु कमठु रमइ भायहु कलत्त ।
तं सुणिवि राउ कोवियउ चित्ति पुच्छियउ तेण मरुभूइ मंति ।

घत्ता—भो मंति गुणायर वरमइसायर सच्चु वयणु फुडु मज्झु भणु ।
तुव भाइ कुसीलउ परतियलीणउ सुणमि जणहु हउ पुणु जि पुणु ।। १०८ ।।

[६-४]

अणिट्ठो ण इट्ठो पुरे एहु धिट्ठो पमुत्तो खलो पावयम्मो णिकिट्ठो ।
तुमं लज्जयारो कुलायारभट्ठो पुराउ सुणिस्सारयामीति भट्ठो ।

से अपने प्रियतमको रति-रस प्रदान किया करती है। उसका कमठ नामका प्रथम पुत्र हुआ जो अत्यन्त कलुषित मनवाला, दुर्नयकारी, काले नागके समान कुटिल चालों वाला, कुश्रुति (पक्षमें कुत्सित कानों वाला, अथवा—कुत्सित शास्त्रोंका ज्ञाता), परछिद्रान्वेषी एवं अत्यन्त अभिमानी था। (उसका) दूसरा कनिष्ठपुत्र मरुभूति नामका था, जो बुद्धिका सागर तथा गुणरूपी रत्नोंका धाम था।

घत्ता—बुद्धिमें जो बृहस्पतिके समान था अथवा मानों धनकुबेर था। (और ऐसा प्रतीत होता था) मानों वह पृथिवी पर साक्षर होकर ही आया है। वह अत्यन्त पवित्र चित्तवाला, सुन्दर शरीर वाला, मेरु पर्वतके समान निर्मल एवं (लोगों द्वारा) नमस्कृत था ॥ १०७ ॥

[६-३]

कमठ एवं मरुभूतिकी पत्नी—वरुणा एवं वसुन्धरीका वर्णन

(उस) कमठकी वरुणा नामकी भार्या थी जो अनेक सुखोंकी खानि एवं बड़ी मधुरभाषिणी थी परन्तु वसुन्धरी नामकी अनुजवधू (मरुभूतिकी पत्नी) कुटिल चित्तवाली एवं चञ्चल यौवनके मदसे सदैव मत्त रहती थी। जब वे दोनों मित्र सौन्दर्य-रसायनकी वाहिनी अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ सुखपूर्वक रमण कर रहे थे, (तभी) अन्य किसी दिन रतिरसमें आसक्त, मदोन्मत्त एवं दुःशील कमठने अपने लघुभ्राताकी, रूपमें श्रेष्ठ स्त्रीको इस प्रकार देखा, जैसे कोई गजेन्द्र सुन्दर हथिनीको। नरक-पृथिवीके समान अनेक दुखोंकी खानि, कुलको मलिन करनेवाली, दुष्टा, एवं समस्त अपयशकी योनिके समान उस नारीमें वह पापी, हीन-सत्त्व आसक्त हो गया और प्रतिक्षण मनमें उस कलत्रका चिन्तन करने लगा। वह धृष्ट स्त्री भी उसमें आसक्त हो गई और समय पाकर कमठ ने उसका शीलभंग कर दिया।

वे दोनों ताम्बूल, आभरण (के उपभोगों), रतिसुख एवं नाना प्रकारकी क्रीड़ाएँ करने लगे। अपनी कुल-मर्यादा छोड़कर वे दोनों पापी इन्द्रिय-सुखका पोषण करने लगे। किसीने यह बात राजासे कह दी कि 'मूर्खकमठ अपने भाईकी स्त्रीसे रमण करता है।' यह सुनकर राजा अपने मनमें बड़ा कुपित हुआ और उसने अपने मन्त्री मरुभूतिसे पूछा—

घत्ता—"हे गुणोंके आकर, श्रेष्ठ बुद्धिके सागर, मन्त्रिवर, मुझे स्पष्टरूपसे सत्य बात कहो। तुम्हारा भाई कुशील है, परस्त्रीमें लीन है, ऐसा मैं बार-बार लोगोंसे सुनता हूँ" ॥ १०८ ॥

[६-४]

कमठका अनुजवधु वसुन्धरीके साथ गुप्त-प्रेम एवं राजाके पास उसका रहस्योद्घाटन

"नगरमें इस अनिष्टकारी, धृष्ट, प्रमत्त, दुष्ट, पापकर्मी एवं निकृष्ट कमठ (का होना) इष्ट नहीं है। वह तुम्हारे लिये लज्जाकारी एवं कुलाचारसे भ्रष्ट है, उस भ्रष्ट को मैं नगरसे निकालता हूँ।

सुणेऊण रायस्स वायापवीणो पयंपेइ ता वाउभूई अदीणो ।
अहो रायराएस णीईवियारा किमुत्तं भडारा तया लोयसारा ।
कमट्ठो [सुबुद्धो] कुलायार-लीणो सुवेयत्थ-सज्झाय णिच्चं पवीणो ।
कहं वंछए सो परायारु णिंदो महं भायरो जेट्ठओ सो अणिंदो ।
असच्चं तुमं केण पावेण वुत्तं ण तं माणणीयं णरिंदं अजुत्तं ।
सुणेऊण राओ सुणेहाणुरत्तो ण उल्लंघए वाउभूइस्स उत्तो ।

घत्ता—अरविंद-णरिंदहो कुलणहचंदहो बुज्झाविवि जा सुहि रहए ।
ता अण्णहिँ वासरि जहिँ णिवसहि घरि ता णरु एक्कु तासु कहए ॥ १०९ ॥

[६-५]

तुव घरिणिहिँ भायरु तुज्झु रत्तु णियमणि मण्णिहि महु वयणु वुत्तु ।
तं सुणिवि भणइ सो सच्चसंधु किं एहु कम्मु आयरइ बंधु ।
खल जंपिवि भायहु दोसु एउ बंधवहँ करंति जि णेहभेउ ।
अण्णहिँ विणि णरवर किंकरेहिँ अवलोइवि रायहु कहिउ तेहिँ ।
सइँ दिट्ठउ सुर-आरूढु दुट्ठु अरविंदु राउ अइयारु रुट्ठु ।
किंकर कठोर-करवाल धारि पहुणा तहु पेसिय विग्धकारि ।
तेहिँ मि जाइवि बंधियउ पाउ आणिवि दक्खालिय जत्थ राउ ।
मुंडाविउ तेण वि सीसु तासु णं उप्पाडिउ विहि केसपासु ।
बंधाविय बेल्लवि उत्तमंगि ते सहहिँ केम पुणु तासु अंगि ।
णं अवजस-तरु फलियउ विचित्तु खरि आरोविउ सो पावछित्तु ।
कि वि मत्थइँ टक्कर-घाउ दिंति कि वि चीरखंडु लुंचेवि लिंति ।
कि वि धूलि खिवहिँ तहु वयण-चंड कि वि सिरि धरंति हंडियहँ खंड ।
डिंडिमु वज्जंतेँ णट्ठधम्मु पुर-बाहिरि णीसारिउ कुकम्मु ।
कुलु-बलु-धणु-कित्ति विणासयारु बिहु लोयविरुद्धउ परहु दारु ।

घत्ता—उव्वेइय चितउ सो वणि पत्तउ गिरि-कंदर-भूरुहघणउँ ।
मिययणसोहिल्लउ हरिकोहिल्लउ खेयर-सुरहँ सुहावणउँ ॥ ११० ॥

[६-६]

तं वणु जोयउ गयमएण तित्तु णं कमठहु पावेँ तं पलित्तु ।

राजाकी बात सुनकर वाक्पटु वायुभूति अदीनभावसे बोला—"तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ-नीतिके विचारक हे राजराजेश्वर, भट्टारक, आपने यह क्या कहा है ? कमठ [सुबुद्ध,] कुलाचारका पालक एवं सद्वेदोंके अर्थ-स्वाध्यायमें नित्य प्रवीण है। वह निन्द्य परदाराको कैसे चाह सकता है ? वह मेरा अनिन्द्य ज्येष्ठ भाई है, तुम्हें किसी पापीने यह झूठ ही कह दिया है। हे नरेन्द्र, वह माननीय नहीं है, (सर्वथा) अयुक्त है।" (इस प्रकार) वायुभूतिके (भाईके प्रति) स्नेहसिक्त वचन सुनकर राजाने उसका उल्लंघन नहीं किया।

घत्ता—अपने कुलरूपी गगनके लिये चन्द्रमाके समान (उस) राजा अरविन्दको समझाकर जब वायुभूति सुखपूर्वक रह रहा था, तभी किसी अन्य दिन जब वह घर में ही था तब एक व्यक्ति ने उससे कहा :—॥ १०९॥

[६-५]

राजा के द्वारा कमठ का देश-निष्कासन

"तुम्हारा भाई तुम्हारी गृहिणी में अनुरक्त है। मेरा कहा हुआ यह वचन (तुम) अपने हृदयमें मानों।" यह सुनकर सत्य-संधायक वह (मरुभूति) बोला—"क्या भाई (कमठ) ऐसा कर्म कर सकता है ? भाई के ऐसे दोष कहकर दुष्टजन बान्धवों के स्नेहभावमें फूट डाल देते हैं।"

अन्य दूसरे दिन उन राजसेवकोंने राजाके दर्शन करके कहा—"उस दुष्ट (कमठ) को हमने स्वयं सुरा-आरूढ़ (मतवाला) देखा है।" (तब) राजा अरविन्द इस अतिचार से अत्यन्त रुष्ट हो गया और राजा ने कठोर खड्ग को धारण करने वाले (पापकर्मोंके करने वालोंके लिये-) विघ्नकारी (अपने विश्वस्त) सेवक उसके पास भेजे। उन्होंने जाकर उस पापी-कमठ को बाँध लिया और लाकर राजाके सामने उपस्थित किया। राजाने उसका सिर मुड़वा दिया, मानों, विधिने ही उसके केशपाश उखाड़ लिये हों। राजाने उसके सिर पर बेलें बँधवा दीं। वे उसके अङ्गमें कैसे शोभायमान हुईं ? मानों अपयश रूपी वृक्षने विचित्र फल दिया हो और उस पापीको गधे पर चढ़ा दिया। कोई तो (उसके) माथे में टक्कर देकर प्रहार करते थे, कोई (उसके) चीर-खण्ड नोंच लेते थे। कोई उसके प्रचण्ड मुख पर धूलि फेंकते थे, तो कोई उसके सिर पर हण्डियोंके टुकड़े रख देते थे। डिंडिमनाद करते हुए उस धर्महीन कुकर्मी कमठ को बाहर निकाल दिया।

परदारागमन (निश्चय ही) कुल, बल, धन एवं कीर्त्तिका विनाशकारी एवं दोनों लोकोंके विरुद्ध है।

घत्ता—उद्विग्न चित्त वह (कमठ) गिरि, कन्दरा एवं घने वृक्षोंसे युक्त, मृगगणोंसे सुशोभित, क्रुद्ध सिंहोंसे युक, खेचरों एवं देवोंके लिये सुखदायक वनमें पहुँचा ॥११०॥

[६-६]

कमठ द्वारा एक वनाश्रममें आना तथा शैव-साधुओंका दर्शन

कमठने हाथीके मदसे सिक्त उस वनको देखा, मानों वह कमठके पापसे लिप गया हो।

कत्थ वि हरि गज्जहिँ तं णिएवि णं परदारियहु विरुद्ध ते वि ।
कत्थ वि घोणि स-विवरहु सरंति णं तहु मुहदंसणु णउ करंति ।
अह पायालहु गमु पायडंति परतिय-आसत्ता णिरु पडंति ।
अलिउलइँ वि कत्थ वि रुणु-रुणंति ते किण्ह णाइँ तहु गुण थुणंति ।
तं वणु जोवंतु वि जाइ जाम अग्गइँ तावसगणु दिट्ठु ताम ।
कु वि सिउ-सिउ घोसइ गुणपसत्थु कु वि तउ तावइ पुणु उद्धहत्थु ।
कु वि छारेँ चच्चइ णिययगत्तु कु वि पंचग्गिहिँ तावेण तत्तु ।
कु वि अक्खमालकरि जवइ तत्थ कु वि धारइ आरण पवरवत्थ ।
कोइ वि दीसइ वंचंतु संझ णिय वेला णउ हारेइ वंझ ।

घत्ता—तहिँ तावस सामिउ सिवगइगामिउ दिट्ठउ तेण दुरासएण ।
णीसासु मुएप्पिणु तहु पणवेप्पिणु पुणु णिसण्णु तत्थासएण ।।१११।।

[६-७]

आसीस दिण्णु पुणु तेण तहो सिउ फुरउ वच्छ तुव एत्थ लहु ।
पुणु सो पुच्छिउ तावसेण णरु तुहु दीसहि लक्खण रूवधरु ।
भणु-भणु किं दीसहि सुसियतणु किं कारणि आयउ एत्थु वणु ।
ता भणइ कमठु मायापउरो इह पोयणपुरि णिव पावपरु ।
अरविंदु णामु तहिँ मंतिवरु हउँ कमठु णामु वेयत्थधरु ।
अण्णु जि महु भायरु लहुउ खलु मरुभूय समज्जिय-पावमलु ।
असहंतेँ महु सिरि तेण गुणु परयारदोसु अलियउ जि पुणु ।
महु लाइवि रोसावियउ णिउ तहु वयणेँ तेण जि दंडु किउ ।
धम्मिल्लभारु मुंडावियउ खर रोपिवि पुरि हिंडावियउ ।
कर-लट्ठिहिँ मुट्ठिहिँ ताडियउ किंकरणरेहिँ विब्भाडियउ ।
तेँ कारणि इह संपाइयउ हउँ तुम्हहँ पय अणुराइयउ ।
इह भवि मइलद्धी सिक्खपरा दे-देहि जईसर दिक्खवरा ।

घत्ता—तहु वयण सुणेप्पिणु मणि वि हसेप्पिणु तावसवउ तेँ दिण्णु पुणु ।
भप्पुहिँ तणु मंडिउ हुउ पासंडिउ तउ तवंतु सो थक्कु वणु ।।११२।।

उसको देखकर कहीं सिंह गरजते थे, मानों वे भी उस परदारगमन करने वालेके विरुद्ध थे। कहीं घोणियाँ अपने बिलों में घुस रही थीं मानों वे उसका मुखदर्शन ही नहीं करना चाहती थीं अथवा वे (उस) पाताल-गमन को प्रकट कर रही थीं जहाँ परस्त्रियासक्त (व्यक्ति) निश्चित रूपसे पड़ते हैं। कहीं-कहीं भ्रमर-समूह रुणझुण-रुणझुण कर रहे थे, वे ऐसे काले थे, मानों वे उसके काले गुणों (दुर्गुणों) की (व्याज—) स्तुति कर रहे हों। उस वनको देखता हुआ जब (आगे बढ़ता) जा रहा था तो उसने अपने सम्मुख एक तापस-समूहको देखा। कोई शुभ गुणोंसे युक्त तापस 'शिव-शिव' की घोषणा कर रहा था, कोई ऊँचे हाथ करके तप कर रहा था, कोई भभूतसे अपने गात्रकी चरचा कर रहा था, (तो) कोई पञ्चाग्निके तापसे तप्त हो रहा था, कोई अक्ष-(रुद्राक्ष) मालाको हाथमें लेकर जाप कर रहा था, (तो) कोई जङ्गलका श्रेष्ठ वल्कल-वस्त्र धारण किये हुए था। कोई सन्ध्याबन्दन करता हुआ दिखाई दे रहा था और बाँझ भी अपनी मर्यादाको नहीं हार रहे थे।

घत्ता—दुराशयी उस कमठने वहाँ शैवमार्गी एवं तपस्वियोंके स्वामी (कुलपति) को देखा और निःश्वास छोड़कर उसे प्रणाम करके पुनः (अपने उद्धारकी—) आशाके साथ (उनके) समीप बैठ गया ॥ १११ ॥

[७]

कमठका दीक्षित होकर पञ्चाग्नितपमें संलग्न होना

उस (तापस गुरु) ने उसे आशीष दी कि हे वत्स, (अब) तुम्हें यहीं पर शीघ्र ही 'शिव' प्रकट हो। पुनः उस तापसगुरुने उस (कमठ) से पूछा—"तुम लक्षणों एवं सौन्दर्यसे युक्त दिखाई देते हो। बोलो—बोलो (इस समय) शुष्क शरीर क्यों दिखाई देते हो ? किस कारणसे तुम इस वनमें आये हो ?" तब महामायावी कमठने कहा—

"इसी पोदनपुर नामक नगरमें पापी अरविन्द नामक राजा (रहता) है, उसका मैं, वेदोंके अर्थोंको जानने वाला कमठ नामक श्रेष्ठ मन्त्री हूँ। मेरा पापमलको अर्जित करने वाला एक अन्य छोटा भाई मरुभूति है। मेरी श्री एवं सद्गुण-राशिको सहन न करते हुए उसने मुझपर झूठ-मूठमें ही परस्त्री-सेवनका दोष लगाकर राजा (अरविन्द) को मुझ पर क्रोधित करा दिया। उसके कहने-से राजाने मुझे दण्डित किया है।

मेरा केशभार मुंड़वा दिया, गधे पर बैठाकर नगरमें घुमाया, घूंसों, लाठियों एवं मुट्ठियोंसे मारा और राजसेवकोंके द्वारा मुझे (धक्के देकर) निकलवा दिया है। उसी कारणसे मैं यहाँ आया हूँ और आपके चरणोंका अनुरागी हूँ। इस जन्ममें मुझे उत्तम सीख मिल गई है। हे योगीश्वर, अब मुझे श्रेष्ठ दीक्षा-संस्कार दीजिए।"

घत्ता—उसके वचन सुनकर तथा मनमें हर्षित होकर उसे तापसव्रत दे दिया। भस्मसे शरीर मण्डित करके वह एक पाखण्डी साधु बन गया और तप करता हुआ वनमें रहने लगा ॥११२॥

[६-८]

सिरि जड धारिय मणि अइवजडु पाहाणसिला थिउ धरिवि भडु ।
एत्तहि पुणु लहुवउ लज्जियउ तंबोलु विलेवणु वज्जियउ
विवणम्मणु णिवसइ रयणि-दिणु किं मंतत्तणि बंधवेण बिणु ।
इय चिंतिवि रायहु अण्ण दिणि विण्णवइ विसण्णउ मंति मणि ।
खलमहिलहिँ कारणि णिग्गुणेण बंधउ अवमाणिउँ दुज्जणेण ।
भायरु गरुयारउ जणणि णिहु पहु पइँ णीसारिउ जणिय-दिहु ।
तं गंपि खमावमि देव भणु खंतेँ पुणु पणवइ सुरहँ गणु ।
ता भणइ राउ भो सच्छमणा किं भणिउँ बप्प पइँ सीलघणा ।
किं पिसुणेँ तेण खमाविएण गुणु किं पि णत्थि अहिलालिएण ।
सो पाउ अणिट्ठु जि कुविउ खलु अण्णु वि तउ तावइ सो समलु ।
तहु पासि गमणु णउ भव्वु मुणि इहु सुहिउ वयणु महु मंति सुणि ।
इय वारिज्जंतु वि मोहरउ अमुणंतहो रायहो सो जि गउ ।
तहिँ वणिहिँ महत्तउ भाउ जई पिच्छिवि तहु तुट्ठउ सुद्ध मई ।
पंचग्गि तावसं तसु तणु मरुभूइ णमिउ तिहु एय भणु ।
तुहु खमहिँ-खमहिँ महु भायवरा हउँ अविणीयउ तवलच्छिधरा ।
इय भणिवि चरणउरि धरिवि सिरि जा पणवइ जंपइ विणयगिरु ।

घत्ता—ता सिर सिलघाएँ पयडियमाएँ होँ करेवि सो हणिउ तिण ।
तणुवेयण पाविउ सिरि दोहाविउ गयउ जीउ तहु तक्खणिण ॥११३॥

[६-९]

इय जाणिवि पाविय [1]तणउ णेहु कहमवि णवि किज्जइ दमियदेहु ।
अण्णु वि कुत्थियलिंगिहु समाणु णउ किज्जइ परिचउ ताहँ माणु ।
भवियव्वु ण फेडइ एत्थु कोइ इउ भणइ भडारउ परमजोइ ।
पव्वयसिरिहिँ कक्करकरालि सल्लइवणि सघण तमालतालि ।
मरिऊण पवणभूइ सुअत्ति पविघोसु करीसरु जाउ झत्ति ।
वरुणा जा होंती कमठणारि सा करिणी मरि हुव तत्थ सारि ।

१. क. ख. सरिसु ।

[६-८]

मरुभूतिका क्षमायाचना-हेतु कमठके पास गमन

सिरपर जटाएँ धारण करके (भी) वह मनमें अतिशय जड़ था। (फिर भी) वह भट ध्यान करता हुआ पाषाणशिला पर स्थित हो गया।

इधर (कमठ के) छोटे भाई (मरुभूति) ने लज्जित होकर ताम्बूल एवं विलेपन छोड़ दिये। दिनरात (वह) अन्यमनस्क रहने (और सोचने) लगा। 'बान्धवके बिना मन्त्रीपन से क्या?' ऐसा विचार कर अन्य दूसरे दिन विषण्णमन उस मन्त्रीने राजासे निवेदन किया कि—'दुष्ट-महिला एवं निर्गुण तथा दुर्जन लोगोंके कारण मेरे बन्धुका अपमान हुआ है। हे देव, माताके समान धृति (सुख) उत्पन्न करने वाले मेरे बड़े भाईको निकाल दिया, अतः हे देव, (यदि आप) कहें तो मैं जाकर क्षमा माँग लूँ क्योंकि क्षमागुण से तो देवगण भी नम्र हो जाते हैं। तब राजा कहने लगा—"हे स्वच्छमन, शीलवान (मरुभूति), तुम यह क्या कह रहे हो? उस पिशुनसे क्षमा माँगनेसे क्या? सर्पका पालन करनेसे कोई लाभ नहीं। वह पापी अनिष्ट कुपित और खल है, और भी, (कि) वह कलुषित मनसे तप कर रहा है। उसके पास जाना ठीक नहीं, हे मन्त्रिवर, मेरे इन हितकारी वचनोको सुनो।"

इस प्रकार रोके जाने पर भी मोहासक्त वह मरुभूति राजा (अरविन्द) के कथन पर ध्यान न देकर वहाँसे चला और वनमें गया। वहाँ अपने बडे भाई (कमठ) को यतिके रूपमें देखकर वह शुद्धमति (मरुभूति) अपने मनमें सन्तुष्ट हुआ। पञ्चाग्नि तपस्यासे तप्त शरीर वाले भाई (कमठ) को नमस्कार किया और बोला—"तपोलक्ष्मीके धारी हे बन्धुवर, तुम मुझे क्षमा करो क्षमा करो, मैं तो अविनीत हूँ।" यह कहकर उसके चरणों पर (अपना) सिर रखकर जब तक वह विनय पूर्वक बोल ही रहा था कि—

घत्ता—(मरुभूतिके) सिर पर शिलाके आघातसे उस (छली कमठ) ने हुंकार करके उस (मरुभूति) को मार डाला। शारीरिक वेदना पाकर तथा सिर दो टुकड़ों में फूट जानेसे उसका जीव तत्क्षण चला गया॥ ११३॥

[६-९]

कमठद्वारा क्रोधावेशमें मरुभूतिकी हत्या और मरुभूतिका मरकर गजयोनि प्राप्त करना

यह जानकर पापीका देहदमन करनेवाला (देहनाशक) स्नेह कभी भी नहीं करना चाहिए। अन्य भी, अभिमानी एवं कुत्सित वेश धारण करनेवाले लोगोंसे न परिचय करना चाहिए और न (उनका) सम्मान। (क्योंकि) 'इस संसारमें भवितव्यताको कोई नहीं मेंट सकता', ऐसा परमयोगी भट्टारकने कहा है। वह पवनभूति तत्काल ही आर्त्तभावसे मरकर तमालतालसे युक्त सघन सल्लकीवनमें कराल कङ्करोंसे युक्त पर्वत-शिखर पर वज्रघोष नामक गजेन्द्रके रूपमें उत्पन्न हुआ।

वरुणा नामकी जो कमठकी पत्नी थी वह मरकर वहीं श्रेष्ठ हथिनी (के रूपमें उत्पन्न) हुई।

तें गएण समाणु रमइ भोउ करु करेण धरइ माणइ विणोउ
चट्टइ फंसइ माणइ अणंगु खणु वि ण छंडइ सा तासु अंगु ।
पव्वयसिहरइँ दंतहिँ खलंतु अइपबल सबलगयघड हणंतु ।
णियकरेण खिवइ णियदेहि पंसु सरि तडि उड्डावइ थक्कु हंसु ।
गंडत्थल पयडइ णिच्च दाणु काणणि गिरि हिंडइ गज्जमाणु ।
गुमु-गुमु-गुमंत भमियावलि विंदु चालंतउ णं अंजणगिरिंदु ।

घत्ता—मयमत्तउ मइगलु वासियगिरितलु दसणदित्ति धवलासउ ।
करिणीए सहु णिवसइ रइसुहु विवसइ तहि वणम्मि भड तासउ ॥११४॥

[६-१०]

जा णिवसइ तावहिँ पोयणपुरि अरविंदेण णरिंदि णियघरि ।
सिहरि णिसण्णें जलहरु दिट्ठउ णाणाजलदकूड सुमणिट्ठउ ।
चिंतइ एणायारें जिणहरु कारावमि महियलि भवदुहहरु ।
इम चिंतिवि कागणि तें लेप्पिणु किर महि लिहइ जाम मणु देप्पिणु ।
ता विभरिउ गयणु तें जोयउ मेहपडलु तत्थ वि णालोयउ ।
5 सुद्ध गयणु जोएप्पिणु राएँ णियमणि चिंतिउ ताम विराएँ ।
जेम घणागमु खणेण पणट्ठउ तिम संसारसरूउ वि दिट्ठउ ।
णत्थि णिच्चु जं किंपि वि दीसइ तणु-धणु विज्जुललवसम सीसइ ।
इय चिंतिवि महि [1]तणुव वियप्पिवि तक्खणि पुत्तहो रज्जु समप्पिवि ।
सइँ अरविंदु करेविण संवरु[2] अइ णिव्विण्णउ जाउ दियंबरु ।

घत्ता—सो मुणिवरु संतु वि तवसिरि कंतु वि विहरंतउ तं जि वणि ।
ठिउ तहिँ तणुसग्गें सुहगइ मग्गें झावइ अप्पसरूउ मणि ॥११५॥

[६-११]

जा तावहिँ तत्थ जि वणि पउरु कु वि आइवि मेल्लिवि सत्थ धरु ।
वसहहु भारइ उत्तारियइ कट्ठारअरट्टा भारियइ ।
जा भुंजहिँ वणिवर समहिँ वणु तावहिँ सो गइवरु आउ पुणु ।

१. ख. ताव । २. ख. संकरु ।

वह उस हाथीके साथ भोग-विलास करती थी, उसकी सूँड़को अपनी सूँड़में धारण करती और मोद मनाती थी। वह उसके शरीरको चाँटती, स्पर्श करती, उसे कामदेवके समान मानती और क्षणमात्रको भी उसके शरीरको न छोड़ती थी।

वह हाथी पर्वतशिखरको अपने दाँतोंसे स्खलित करता हुआ, अत्यन्त प्रचण्ड एवं बलवान् गजसमूहका हनन करता हुआ, अपनी सूँड़से अपनी ही देह पर धूलि बिखराता, सरोवरके तटपर स्थित हंसोंको उड़ाता, गण्डस्थलोंसे निरन्तर मदजलको बहाता तथा वन-पर्वतोंमें गर्जन करता हुआ, भ्रमण करता रहता था। गुमगुमाती हुई भ्रमरावलीको चलायमान करता हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों अञ्जनगिरि ही हो।

घत्ता—अपनी दन्त-दीप्तिसे धवल मुखवाला, भटोंको भी त्रास देनेवाला वह मदोन्मत्त हाथी गिरिकी तलहटी में उस वनमें हथिनीके साथ रहता हुआ रतिसुख भोगता रहता था॥ ११४॥

[६-१०]

राजा अरविन्दका वैराग्य-धारण

जब वह हाथी इस प्रकार उस वनमें रह रहा था, उसी समय पोदनपुरमें (किसी समय) राजा अरविन्दने अपने प्रासाद-शिखर पर बैठे हुए जलदों रूपी नाना कूटोंसे अत्यन्त मनोहर बादल को देखा (और) सोचने लगा—"मैं इसी मेघपटलके आकारका पृथिवीतल पर संसार-दुखको नाश करने वाला एक जिनगृह बनवाऊँगा।" ऐसा विचारकर और एक काकिणी लेकर जब वह ध्यान देकर पृथिवी पर (कल्पित मन्दिरका) चित्र बना रहा था तभी उसने विस्मितचित्तसे आकाशको (पुनः) देखा तो वहाँ मेघपटलको न पाया। शुद्ध आकाश देखकर राजाने विरागपूर्वक अपने मनमें सोचा "जिस प्रकार घने बादलका आगमन क्षणभरमें नष्ट हो गया, उसी प्रकारसे संसारका स्वरूप भी वैसा ही कहा गया है। जहाँ कुछ भी नित्य दिखलाई नहीं पड़ता, शरीर और धन विद्युत्कण (विद्युल्लेखा) के समान कहे जाते हैं।" ऐसा सोचकर पृथिवीको शरीरके समान (नश्वर) जानकर तत्क्षण ही (अपने) पुत्रको राज्य समर्पित करके राजा अरविन्द स्वयं संवर करके अत्यन्त निर्विण्ण होकर दिगम्बर हो गया।

घत्ता—वे शान्त एवं तपोलक्ष्मीके स्वामी मुनिवर, उसी वनमें बिहार करते हुए वहीं शुभगतिके मार्ग स्वरूप कायोत्सर्ग (मुद्रा) में स्थित हो गये और मनमें आत्म-स्वरूपका ध्यान करने लगे॥ ११५॥

[६-११]

अरविन्द मुनिद्वारा गजके लिये प्रतिबोधन

जब इसप्रकार वह (राजा अरविन्द) वहाँ तप कर रहा था तभी वणिक्श्रेष्ठ बड़े भारी सार्थके साथ वहाँ आकर रुके। उन्होंने बैलोंका भार उतार दिया और उनकी काठी आदि दूर कर एवं सहलाकर उनकी थकान दूर की। जब वे वणिक् उस वनमें भोजन कर रहे थे, उसी समय वह

अगडंतु खडंतु महीरुहइँ कंपिय मयगण वासिय गुहइँ ।
वणिवर वि पणट्ठु भएण तहु रिसि-सरणि पइट्ठु सयल लहु ।
मर्यभभलु कुडि[1] लग्गउ वि गउ मुणि पासि परायउ लद्ध-जउ ।
आयावणजोएँ संठियउ जा हणइ तासु कोह ठियउ ।
तावहिँ भउ सुमिरिउ तेण तहिँ सिरु णाइवि थक्कउ सो वि महिँ ।
तहिँ अवसरि जोउ समत्तु तहु गयवरहु वि अक्खइ णाणबहु ।
भो-भो मरुभूय णिवारियउ तुहुँ थक्कु ण मइँ बहु वारियउ ।

घत्ता—खल-कमठेँ मारिउ सिर-सिल ताडिउ अट्ट मरिवि तुहुँ जीउ गउ ।
अरविंदु पहाणउँ पोयणराणउँ सो हउँ ठिउ वणि धरिवि तउ ॥११६॥

[६-१२]

भो गयवर णवि दुक्खिउ किज्जइ हिंसइ णरइ दुक्खु पाविज्जइ ।
जिउ संसारसमुद्दि णिमज्जइ चउरासीति जोणि भामिज्जइ ।
हिंसइ होइ कुरूव दुगंधउ हिंसइ पंगुलु णरु बहिरंधउ ।
हिंसइ होइ तुरिउ दुद्दंसणु हिंसइ णोसु वि तिलपिंडासणु ।
भो गइंदवर हिंस पमेल्लहि मा अप्पाणउँ दुग्गइ घल्लहि ।
लइ-लइ सावयवयाइँ पवित्तइँ णिम्मलसम्मद्दंसणजुत्तइँ ।
इहु पयक्खु पेक्खहिँ दुक्कियफलु बंभणु मरिवि जाउ गउ कलिमलु ।
आसण्णभव्वेँ इय णिसुणेप्पिणु वय गिण्हिय मुणिपय पणवेप्पिणु ।
मुणिवरु विहरिउ भवतम-णेसरु वणि हिंडइ वयवंतु गएसरु ।
अण्णखलिय तरुपल्लव भक्खइ सावयवउ थिर भावेँ रक्खइ ।
तोउ पियइ गयमय-पयडोहिउ एइंदियजीउ वि ण विरोहिउ ।
पिप्पीलिययणु मग्गि णियच्छइ सणिउँ-सणिउँ जोवंतउ गच्छइ ।
वीयराइमुणि-वयणइँ झावइ कहमवि अट्ट-रउद्द ण भावइ ।
अहणिसु वणिउम्मज्झउ अच्छइ पंथि चलइ पुणु गयघड पच्छइ ।
वि-रसाहारेँ खीणसरीरउ णिच्चपरीसहसहणेँ धीरिउ ।
अण्णहिँ दिणि सरि सो संपत्तउ जलु पीयंतु खीणु तणु खुत्तउ ।

घत्ता—सो कमठु वि तावसु रुद्दझाणवसु मरिवि जाउ तहिँ सप्पु खलु ।
कुक्कुडणामालउँ वण्णेँ धवलउ पयडु णाइँ हालाहलु ॥ ११७ ॥

---

१. क. ख. कुठि ।

हाथी झगड़ता हुआ, वृक्षावलियोंको खण्डित करता हुआ एवं गुफाओंके वासी मृगगणोंको कम्पायमान करता हुआ वहाँ आया। वे सभी वणिक् भी उसके भयसे भागकर तत्क्षण ही ऋषिकी शरणमें आए। मदसे विह्वल एवं कुटिलदंती हाथी भी शीघ्र ही मुनिके पास आया। आतापन-योगसे स्थित उन मुनिराजको क्रोधवश जब वह मारने लगा तभी उसने वहाँ अपने पूर्वभवका स्मरण किया और पृथ्वी पर सिर झुका कर खड़ा हो गया। उसी अवसर पर मुनिराजका योग समाप्त हुआ और वे बहुज्ञानी मुनि उस गजश्रेष्ठसे बोले—"हे-हे मरुभूति, मेरे द्वारा बार-बार रोके जाने पर भी तुम रुके नहीं—

घत्ता—दुष्ट कमठ ने तुम्हारे सिर पर शिलासे आघात कर तुम्हें मार डाला था और आर्त्तभावसे मरकर तेरा वही जीव (अब यह) हाथी हुआ है। तथा मैं, जो अरविन्द नामका पोदनपुरका राजा था, वह (अब) तप धारण करके इस वनमें स्थित हो गया हूँ ॥११६॥

[६-१२]

गज द्वारा अहिंसाणुव्रतका धारण एवं जलपान करते समय कीचड़में फँसना

"हे गजश्रेष्ठ, अब तुम किसीको दुखी मत करना, (क्योंकि) हिंसासे नरकमें दुख प्राप्त होता है, जिससे जीव संसार-समुद्रमें डूबता है और चौरासी योनियोंमें भ्रमण करता है। हिंसासे कुरूप एवं दुर्गन्धियुक्त होता है, हिंसासे व्यक्ति पङ्गु, बहिरा एवं अन्धा होता है। हिंसासे व्यक्ति तुरन्त ही दुर्दर्शनीय हो जाता है। जो हिंसा करता है अथवा जो तिलमात्र भी (माँस) भक्षण करता है, वह नाशको प्राप्त होता है। हे श्रेष्ठ गजेन्द्र, तुम हिंसा छोड़ दो, अपनेको दुर्गतिमें मत ढकेलो। निर्मल सम्यग्दर्शनसे युक्त पवित्र श्रावक व्रत ले लो। अपने दुष्कृतका यह प्रत्यक्ष फल देखो कि ब्राह्मण भी मरकर कलिके समान काला हाथी हुआ।"

उस आसन्न भव्यने यह सुनकर मुनिराजके चरणोंमें प्रणामकर व्रत ग्रहणकर लिये। (तदनन्तर) संसार रूपी अन्धकारको नष्ट करने वाले सूर्यके समान मुनिश्रेष्ठ विहार कर गये और व्रती गजराज भी वनमें भ्रमण करने लगा। (वह) दूसरोंके द्वारा तोड़े हुए वृक्षोंके पत्तोंको खाता और श्रावक व्रतकी रक्षा स्थिर भावसे करता था। वह (हाथी) जलको भी मदरहित भावसे जल में प्रविष्ट होकर पीता था और एकेन्द्रिय जीवकी विराधना नहीं करता था। वह मार्गमें पिपीलिका आदि कीड़ोंको धीरे-धीरे देखता हुआ चलता था। वीतराग मुनिके वचनोंका ध्यान करता था। कभी भी आर्त्त या रौद्रभाव मनमें नहीं लाता था। अहर्निश वह वनगुल्ममें रहता और (जब कभी जाता तो) मार्गमें गजसमूहके पीछे-पीछे चलता। वह धैर्यवान विरस आहार लेनेसे एवं नित्य परीषह सहनेसे कृशकाय हो गया।

किसी अन्य दिन वह सरोवर पर आया और जल पीता हुआ कृशकाय होनेसे वहीं फँस गया।

घत्ता—वह तापस कमठ भी रौद्र ध्यानके कारण मरकर वहीं कुक्कुट नामकी सर्पयोनिमें धवल वर्णका तथा साक्षात् हालाहलके समान दुष्ट सर्प हुआ ॥ ११७ ॥

[६-१३]

जहिँ गउ खुत्तउ तहिँ संपायउ णं खयकालु गइंदहु आयउ ।
सप्पें हत्थि णिहालिउ केहउ झाणें थक्कु रिसीसरु जेहउ ।
आसि वइरसंबंधें डंकिउ सो गइंदु कहमवि णउ संकिउ ।
मण संगहिय जीवदयधम्में अणसणविहि पडिगाहिवि रम्में ।
मरिवि उवण्ण कप्पि सहसारइँ अमरकोडि सेविइ सुहसारइँ ।
मणिमयकुंडलजुव-सेहरधरु अच्छरयण खोहिउ पउरामरु ।
सायर सोलह माणु विराउसु तहिँ भुंजेप्पिणु बहु कीलारसु ।
जंबूदीवहिँ पुव्वविदेइँ लोगोत्तमपुरि तहँ पुणु रेहइँ ।

घत्ता—तहिँ खेयरराणउँ जयसिरिठाणउँ असणिगइ णामेण वरु ।
तडिवेया तहु तिय रूवें रइ जिय ताहि गब्भि सो जाउ सुरु ॥ ११८ ॥

[६-१४]

चुउ सहसारदेउ सो जायउ णामें असणिवेउ विक्खायउ ।
रज्जु भोउ भुंजिवि तें संतें णिव्वेयउ पुणु कालें जंतें ।
णामु समाहिगुत्तु मुणिसारउ तहु सयासि किउ तउ भवहारउ ।
थिउ णियतणु सीलेण विहूसिवि कोहु माणु मायामउ सोसिवि ।
मोहु हणंतु चरंतउ तवभरु घोर वीर तव-तेएँ मणहरु ।
अण्णहिँ दिणि रिसि थिउ तणुसग्गें हिमगिरिगुहहिँ विहिय णासग्गें ।
एत्तहिँ पुणु जो कुक्कुडु विसहरु धूमप्पहिँ भुंजिवि सो दुहभरु ।
पुणु अजयरु तहिँ गिरिगुहि जायउ वइरवसेण तत्थ मुणि पायउ ।

घत्ता—तें रिसिवयधारउ मयणवियारउ गिलिउ जि मुउ परमेसरु ।
हुउ वसु रिद्धीसरु जयलच्छीधरु अच्चुवसग्गिहि सुरवरु ॥११९॥

[६-१५]

तहिँ बावीसोवहिँ सुहु भुंजिवि इंदियसुहहिँ णिच्च मणु रंजिवि ।
पुणु इह दीवइ अवरविदेहइँ पउमदेसि मणि मंडिय गेहइँ ।
आसाउरि णयरीहिँ सुहंकरु वज्जवीणु णामेण णरेसरु ।

(६-१३)

सर्प (कमठके जीव) द्वारा गज-दंश एवं गजका मरकर सहस्रार-देव होना

जिस स्थान पर हाथी फँस गया था वहीं वह (सर्प) आया, मानों गजेन्द्रके लिये क्षयकारी काल ही आ गया हो। सर्पने हाथीको कैसा देखा ? जैसे ध्यानसे स्थित ऋषीश्वर हो। भूतपूर्व बैर-सम्बन्धसे (उस सर्प द्वारा) डँसे जाने पर वह गजेन्द्र किसी भी प्रकार शङ्कित नहीं हुआ। रम्य जीव दया-धर्मसे मनको संग्रहीत (संवरण) करके और अनशन-विधि ग्रहण करके मरकर सहस्रार-कल्पमें उत्पन्न हुआ और वहाँ अमर योनिमें श्रेष्ठ सुखोंका सेवन करने लगा। मणिमय कुण्डल युगल और मुकुटका धारी वह प्रबल श्रेष्ठ देव अप्सरा गणोंको क्षुब्ध करने वाला हुआ। सोलहसागर की दीर्घायु को वहाँ अत्यन्त क्रीड़ापूर्वक भोग कर (वह) जम्बुद्वीपके पूर्वविदेहमें, जहाँ लोकोंमें श्रेष्ठ नगरी शोभायमान है—

घत्ता—वहाँ जयश्रीके स्थान स्वरूप अशनिगति (विद्युत गति) नामक श्रेष्ठ विद्याधर राजा (निवास करता) था। उसकी (अपने—) रूपसे रति (कामदेवकी पत्नी) को जीतनेवाली तडितवेगा नामकी पत्नी थी। वह देव उसके गर्भमें उत्पन्न हुआ ॥ ११८ ॥

[६-१४)

वही सहस्रार-देव चयकर अशनिवेग विद्याधर हुआ। पुनः अजगर (कमठके जीव) द्वारा उसका दंश होनेसे मरकर उसका अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न होना

सहस्रार स्वर्गसे च्युत होकर वह देव अशनिवेगके नामसे विख्यात हुआ। वहाँ राज्यको भोगकर कालव्यतीत करते-करते वह सन्त, निर्वेदको प्राप्त हो गया और उसने समाधिगुप्त नामके श्रेष्ठ मुनिके समीप भवनाशक तप धारण कर लिया।

अपने तनको शीलसे विभूषित करके क्रोध, मान, माया एवं मदको शोषित करके मोहका हनन करते हुए, तपके भारका निर्वाह करते हुए घोर पराक्रमी एवं तपके तेजसे मनोहर वह ऋषि किसी दूसरे दिन हिमगिरिकी गुफामें नासाग्रदृष्टि करके कायोत्सर्गमें स्थित था और इधर कुक्कुट नामका जो विषधर था वह धूमप्रभा नरकमें अत्यन्त दुःख भोगकर फिर उसी गिरिगुफामें अजगर हुआ। बैरके वशसे उसने वहाँ उस मुनिको पाया।

घत्ता—उस (अजगर) के द्वारा निगला जाकर ऋषिव्रतका धारी एवं मदनको विदीर्ण करनेवाला वह परमेश्वर मरकर अच्युत स्वर्गमें आठ ऋद्धियोंका स्वामी एवं जयलक्ष्मीका धारी सुन्दर देव हुआ ॥ ११९ ॥

(६-१५)

वह अच्युतदेव ही चयकर वज्रनाभ चक्रेश्वर हुआ

वहाँ बाईस सागर पर्यन्त सुख भोगता हुआ वह देव नित्य इन्द्रिय-सुखोंसे मनोरञ्जन करता रहा। इसी द्वीपके अपर-विदेह स्थित पद्म नामक देशमें मणिमण्डित भवनोंसे युक्त आशापुरी नामकी

तहु वल्लह विजया सीमंतिणि हावभावविब्भमजलवाहिणि ।
चिरकिय-तवयरणें सुच्छायउ ताहि गब्भि सो सुरु संजायउ ।
वंजणलक्खण-चच्चियगत्तउ वज्जणाहु णामें सुपसिद्धउ ।
चिरकयपुण्णें हुउ चक्केसरु छण्णवसहस जाउ अंतेउरु ।
एयच्छत्तें मेइणि तिं भुत्ती जरदासि व पुणु सिग्घि चत्ती ।

घत्ता—खेमंकरणाहहो तित्थसणाहहो पणवेप्पिणु तउ तें गहिउ ।
सहु रायसहासहिँ थिउ गिरिवासहिँ तउ तवेइ मुणि सव्वहिउ ॥१२०॥

[६-१६]

ऊलंबियकर झाणासत्तउ णियमणि आराहय रयणत्तउ ।
अजयरु मरि पुणु छट्ठं[२] णरयहिँ परसप्पर जुज्झिय जहिँ सरयहिँ ।
बावीसंबुहि[३] दुह भुंजप्पिणु पुणु संसारि किलेसु सहेप्पिणु ।
सबरु हूउ तहिँ वणि आवेप्पिणु [× × × × ×]
दुट्ठ[४] कुरंगु णामु सो हिंडइ णाणावणयरगणइँ विहंडइ ।
तहिँ आयउ जहिँ झाणें थिउ मुणि वइरु सुहिय समचित्तु महागुणि ।
मुणिदंसणि सो पाविउ कुद्धउ कित्थु जाइ एव्वहिँ मइँ लद्धउ ।
पुव्ववइरु सुमरिवि तें रुट्ठें बाणें बिद्ध साहु पाविट्ठें ।
सव्वत्थ जि जज्जरिउ कलेवरु तहँ वि मणाउ ण चलिउ जईसरु ।

घत्ता—तणु चइवि समाहिए खयभववाहिए गेवज्जहिँ संभूउ खणे ।
तहिँ मज्झि विमाणहिँ वरसुहठाणहिँ अहमिंदक्खु पसण्णु मणि ॥१२१॥

[६-१७]

सायर सत्तावीसइँ आयसु तिय-वज्जिउ तहिँ विलसइ सुहरसु ।
सोय-रोय-आतंकविहीणउ समयसाररसभावणलीणउ ।
सरसु अइंदिउ सुहु भुंजेप्पिणु सम्मं दंसणु मणि भावेप्पिणु ।
जंबूदीवहिँ कोसलदेसहिँ धण-कण-पूरिय-धरणि असेसहिँ ।
उज्झाउरि णयरीहिँ णरेसरु वज्जबाहु राणउ णं महिहरु ।
तासु णारि परियणहु पियंकरि णामें वुच्चइ पयड पहंकरि ।
ताहिँ गब्भि अहिमिंदु वि हूवउ सो आणंदु णामु सुसरूवउ ।
चंदहु णं पडिचंदु वि जायउ गय-कलंकु णं महियलि आयउ ।
तणु तेएण सूरु णं बीयउ कहमवि णउ राहहु भयभीयउ ।
अइसुंदरु आणंदु णरेसरु गउ जिणगेहि अण्ण दिणि सुहयरु ।

---

१. क-ख. हुअभूय । २. क. पंचम । ३. क. सत्तदहंबुहि । ३. ख. दुट्ठ ।

नगरीमें वज्रपीड़ नामका राजा है। उसकी विजया नामकी अति बल्लभा प्रिया थी, जो हावभाव एवं विभ्रमोंकी जलवाहिनीके समान थी। पूर्वकृत तपाचरणसे वह कान्तिमान् देव उसके गर्भमें उत्पन्न हुआ और पूर्वकृत पुण्यसे वह व्यञ्जनों एवं लक्षणोंसे चिन्हित शरीरवाला वज्रनाभ नामसे सुप्रसिद्ध चक्रेश्वर हुआ। उसका छियानबे सहस्र रानियोंका अन्तःपुर हुआ। एकच्छत्र मेदिनीको भोगा और फिर उसे बूढ़ी दासीके समान शीघ्र ही त्याग दिया।

घत्ता—तीर्थसे युक्त (—समवशरण से युक्त) क्षेमङ्कर स्वामीको प्रणाम करके एक सहस्र राजाओंके साथ उसने तप ग्रहण कर लिया और वह मुनि पर्वतपर स्थित रहकर सर्वहितकारी तप तपने लगा॥ १२०॥

[६-१६]

शबर (कमठके जीव)के द्वारा मृत्यु प्राप्तकरके वज्रनाभका अहमिन्द्र देव होना

हाथ लटका कर ध्यानमें लीन वे मुनि अपने मनमें रत्नत्रयको आराधना करने लगे।

पुनः अजगर मरकर छठवें नरकमें उत्पन्न हुआ जहाँ नारकी परस्परमें वेगपूर्वक जूझते रहते हैं। बाईस सागर पर्यन्त दुःख भोगकर पुनः संसारमें क्लेश सहकर उसी वनमें आकर (कुरग नामका) शबर हो गया। (× × × × ×)।

कुरंग नामका वह दुष्ट शबर घूमता हुआ नाना वनेचर गणोंका हनन किया करता था। वह वहाँ आया जहाँ शत्रु एवं मित्रोंमें समचित्त एवं महागुणी मुनि स्थित थे। मुनिका दर्शन कर वह पापी क्रुद्ध हो गया (और बोला)—"अब मैंने इसे (पा) लिया है, यह जायगा कहाँ?" (इस प्रकार) पूर्व बैरका स्मरणकर क्रुद्ध हुए उस पापीने साधुको बाणसे बेध दिया (जिससे) उसका कलेवर सर्वत्र जर्जरित हो गया तथापि यतीश्वर रञ्चमात्र भी विचलित नहीं हुए।

घत्ता—समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर, भव-व्याधिका क्षयकर वे क्षणमात्रमें ही ग्रैवेयकमें उत्पन्न हो गये। वहाँ श्रेष्ठ सुखोंके स्थान स्वरूप विमानमें, प्रसन्न मनवाले अहमिन्द्रदेव हो गये।

[६-१७]

अहमिन्द्र देवका अयोध्यामें राजकुमार आनन्दके रूपमें जन्म

उस विमानमें सत्ताईस सागर-पर्यन्त आयुमें (उन्होंने) स्त्री रहित सुखोंका आस्वादन किया। शोक, रोग एवं आतङ्कविहीन (रहकर) परमात्मरस की भावनामें लीन रहते हुए सरस अतीन्द्रिय सुखोंको भोगकर मनमें सम्यग्दर्शनकी भावना करके जम्बुद्वीपमें, जहाँकी सम्पूर्ण भूमि धन-धान्यसे पूरित है, उसमें कोशल-देशकी अयोध्यापुरीमें पर्वतके समान बज्रबाहु नरेश्वर राज्य करता था। उसकी परिजनोंके लिये अत्यन्त प्रिय 'प्रभंकरी' नामकी सुप्रसिद्ध पट्टरानी थी। अहमिन्द्रदेव उसी पट्टरानीके गर्भमें आया और आनन्द नामका अत्यन्त रूपवान् पुत्र हुआ। मानों चन्द्रमामें से कलंकरहित प्रतिचन्द्र उत्पन्न होकर वहीं महीतल पर अवतरित हो गया हो। शारीरिक तेजसे मानों वह दूसरा सूर्य ही था जो कथमपि राहुसे भयभीत नहीं होता। अति सुन्दर आनन्द नामका वह शुद्ध हृदय नरेश्वर, अन्य किसी दिन जिन-मन्दिर गया। वहाँ नाना मणियोंसे जटित स्वर्णकलशोंसे

हेमघडिय णाणामणिजडियउ तहिँ सिंचियउ जिणेसहँ पडिमउ ।
अंचियाउ पुणु णविवि णिसण्णउँ तावहिँ मुणिवरु एक्कु उवण्णउ ।

घत्ता—ता तुट्ठेँ राएँ वज्जियमाएँ मुणिपयजुवलु णमंसियउ ।
सिरु महिँ लाएप्पिणु गव्वु मुएप्पिणु चिरकिउ असुहु विहंसियउ ॥१२२॥

[६-१८]

पुणु णिवेण सो मुणिवरु पुच्छिउ मिच्छाभाउ सयलु दुगुंच्छिउ ।
किं पाहणपडिमच्चणण्हाणेँ पुण्णु होइ महु भासहि णाणेँ ।
अक्खइ मुणि जो जिणवर पडिमउँ कारावइ मणिभम्महँ घडियउ[1] ।
तासु पुण्णु को महियलि वण्णइँ सक्कु वि तासु णवइ बहुगुणवइ ।
जो पुणु अच्चइ अट्ठपयारेँ जिणपडिबिंब-भत्तिभरभारेँ ।
सो पुज्जिज्जइ पुणु जि सुरेसहिँ मेरुसिहरि संमिलिवि असेसहिँ ।
भावेँ जिणु भावइ सुविसुद्धउ केवलणाणगुणेहिँ समिद्धउ ।
जो भावेँ जिणवरु मणि माणइ सो णरु सासइ सुहु संमाणइ ।
जो पाहाणपडिम मण्णेप्पिणु णिंदइ भंजइ सो जि मरेप्पिणु ।
णरइँ जाइ बहुदुक्खइँ भुंजइ वइतरणिहिँ सो पाविउ मज्जइ ।
राय जइवि जिणपडिम अचेयण मण्णइ सा ण वि राउ ण-वेयण ।
तुवि परिणामु जि कारणु वुत्तउ पावहो पुण्णहो होइ णिरुत्तउ ।
वज्जभित्ति जिम झिंदुअ पाडिउ तहु संमुहिउ एय अप्पाडिउ ।
तह णिंदा-थुइ-वयण पहारहि पडिम ण भिज्जइ सुह-दुहयारहि ।
लहु लग्गंति सुहासुह कम्मइँ सग्गहो कारण पयडिय धम्मइँ ।
इम जाणिवि जिणु भावेँ भावहु तासु पडिम पुणु अहणिसु झावहु ।

घत्ता—कारण बहु दीसहिँ भणिय रिसीसहिँ कज्जु वि णिय परिणामु मुणि ।
इय णिसुणिवि राएँ पणवियपाएँ तं जि वयणु भावियउ मणि ॥१२३॥

[६-१९]

पणविवि मुणिहँ राउ गिहि आविउ रविमंडलु जिणभवणु करांविउ ।
सुद्ध-फलिह-मणि सो णिरु छण्णउँ सज्जण-जण-मणणोत्तरवण्णउँ ।
अक्क-विमाणहिँ जा जिणपडिमउँ तहिँ पडिबिंबु ताहँ मणिजडिमउ[2] ।
णिच्च णिहालिवि अच्चुच्छावइ तिपयाहिण देप्पिणु पुणु भावइ ।
अण्णेहि मि इह विहि पुणु आसिउ अमुणंतहिँ सहेइ मूणासिउ ।

---

१. क. ख.—घडिमउ । २. क. मणिघडिमउ ।

जिन-प्रतिमाओंका अभिषेक किया, पूजाकी और नमस्कार कर बैठ गया। तभी एक मुनिवर वहाँ पधारे।

घत्ता—तब मायारहित सन्तुष्ट राजाने मुनिके चरण-युगलमें नमस्कार किया (और) पृथिवी पर सिर लगाकर गर्व छोड़कर चिरकृत अशुभ कर्मोंका विध्वंस किया॥ १२२॥

[६-१८]

आनन्दद्वारा एक मुनिराजसे पाषाण-प्रतिमाके न्हवन-अर्चन सम्बन्धी प्रश्न

पुनः राजाने समस्त मिथ्यात्वको दूर कर देनेवाले मुनिराजसे पूछा—"पाषाण-प्रतिमाके अर्चन एवं न्हवनसे क्या पुण्य होता है? अपने ज्ञानसे मुझे समझाइए।" यह सुनकर मुनिराजने (उत्तरमें) कहा—"जो मणियों एवं धातुसे घटित जिनवरकी प्रतिमाका निर्माण कराता है, पृथिवी तलपर उसके पुण्यका वर्णन कौन कर सकता है? गुणवान् इन्द्र भी उसे नमन करता है। पुनः जो अत्यधिक भक्तिपूर्वक जिन-प्रतिबिम्बकी अष्ट प्रकारसे अर्चना करता है, जो मेरुशिखिरपर समस्त इन्द्रोंके द्वारा एक साथ मिलकर पूजा जाता है, जो केवलज्ञान आदि गुणोंसे समृद्ध है और पूर्ण विशुद्ध है, ऐसे जिनवरको जो भावपूर्वक मनमें मानता है, वह व्यक्ति शाश्वत सुखको पा लेता है और जो पाषाण-प्रतिमा मानकर उसकी निन्दा करता है और उसे भग्न करता है, वह मरकर नरकमें जाता है, बहुत दुखोंको भोगता है और वह पापी वैतरिणीमें डूबता है।

हे राजन्, यद्यपि जिन-प्रतिमा अचेतन है तथापिउ से वेदनशून्य नहीं मानना चाहिए। संसारमें निश्चितरूपसे परिणाम (भाव) ही पुण्य और पापका कारण होता है। जिसप्रकार वज्र-भितिपर कन्दुक पटकनेपर उसके सम्मुख यह फट जाती है उसी प्रकार दुःख-सुखकारक निन्दा एवं स्तुति परक वचनोंके प्रहारसे यद्यपि प्रतिमा भङ्ग नहीं होती तथापि उससे शुभाशुभ कर्म तुरन्त लग जाते हैं। उनमेंसे धार्मिक कर्मोंको स्वर्गका कारण कहा गया है। यह जानकर शुद्ध भावनापूर्वक जिन-भगवान्‌का चिन्तन करो और उनकी प्रतिमाका अहर्निश ध्यान करो।

घत्ता—ऋषीश्वरोंके द्वारा कर्मबन्धके अनेक कारण देखे गये हैं। कार्य भी अपने-अपने (कर्मोंके) परिणाम ही हैं।" यह सुनकर राजाने मुनिके चरणोंमें प्रणाम करके उनके उसी वचनको अपने मनमें भाया॥ १२३॥

[६-१९]

आनन्द द्वारा सूर्यमण्डलाकार जिन-भवन निर्माण और वैराग्य धारण

मुनिराजको प्रणाम करके राजा अपने भवनमें आया और सूर्यमण्डलाकार जिन-भवनका निर्माण कराया। वह शुद्ध स्फटिक मणियोंसे व्याप्त था जो वर्णमें सज्जन जनोंके मनन (विचार) के लिये भी कल्पनातीत था! सूर्य-विमानोंमें जो मणिजटित प्रतिमाएँ हैं, वहाँ मानों उन्हींके प्रतिबिम्ब उपस्थित थे। अत्यन्त उत्सवसे उनका नित्यदर्शनकर तथा तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उनका ध्यान करता था। इसीप्रकार अन्य अनेक विधियोंका आश्रय लेता हुआ वह वहाँ अमुनि अर्थात् गृहस्थ होते हुए भी मौनाश्रित अर्थात् मुनिके समान शोभायमान होता था।

अण्णहिं दिणि संसारु असारउ जाणेप्पिणु तउ गिण्हिउ सारउ ।
सायरगुत्तिहु पासि पवज्जिउ थिउ गिरिकंदरि भवभयवज्जिउ ।
तिव्व तवेण जि तविय णियंगइँ बज्झब्भंतर छंडिय संगइँ ।

घत्ता—मुणि बज्झब्भंतरु पयडिय तवभरु सहिय परीसह विसम थिरु ।
रयणत्तउ झावइ तवि तणु तावइ करणइँ दंडइ मणपसरु ।।१२४।।

[६-२०]

रायरोस बिण्णि वि अवमाणिय चेयण इयर पयत्थ पमाणिय ।
चिम्मउ णाण-पिंडु गुणसायरु कम्मकलंक-विवलु तमभायरु ।
अप्पउ आराहइ मुणि अहणिसु मासोवासहिं तणु विहियउ किसु ।
एयारह अंगइँ अब्भसियइँ अंगोवंगइँ रूवहु ल्हसियइँ ।
सद्दंसण-विसुद्धि-पमुहइँ वर सोलहभावणाइँ हुअ सुहयर ।
जिणवरपउ दावणइँ पवित्तइँ तेँ आराहियाइँ मलचत्तइँ ।
जे पुणु हुव होसहिँ तित्थंकर वट्टमाण जे लोयसुहंकर ।
ते सोलहकारण भावेप्पिणु सिद्ध हूअ णियगुणु पावेप्पिणु ।
खइर-वणंतरालि मडयासणि थिउ तणुसग्गेँ जाम महामुणि ।
ता जो होंतु भिल्लु मयमारउ जेण मुणिंदु विद्धु तवसारउ ।
पुणु मरेवि गउ तमतमणरयहिँ दुहु सहेवि पुणु णिग्गउ सरियहिँ ।
जाउ सीहु सो तत्थ वणंतरि जहिँ मुणि णिवसइ झाणि णिरंतरि ।

घत्ता—तेँ सो मुणि लक्खिउ वेएँ भक्खिउ सरिवि वइरु दुण्णयभरिउ ।
सो खमगुणधारउ मयणवियारउ चउवहम्मि दिवि पुणु सरिउ ।।१२५।।

[६-२१]

गब्भसिलहिँ सुरवरु उप्पण्णउ आहरणहिँ लंकिउ कयउण्णउ ।
अच्छरयणकर चालियचामरु छत्तु धरिउ सिरि पुणु घण-डंबरु ।
सायरवीसाउसु सुरवंदिउ विविहविलासइँ रमइ अणिंदिउ ।
झोसहिँ पक्खहिँ सासु पमेल्लइ तिय पडिचार मणेण वि झेल्लइ ।

अन्य किसी दिन संसारको असार जानकर उसने सारभूत तप (-भाव) ग्रहण किया। वह सागरगुप्त (मुनि) के पास प्रव्रजित हो गया और गिरि-कन्दराओंमें मृगों अर्थात् सिंहों आदिके भयको छोड़कर (वहाँ) स्थित हो गया। वह (वहीं) बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहका त्यागकर तीव्र तपसे अपने अङ्ग (शरीर) को तपाने लगा।

घत्ता—(वे) मुनिराज बाह्याभ्यन्तर-तपके भारको धारण करते हुए तथा विषम-परीषहोंको भी स्थिरतासे सहन करते हुए रत्नत्रयका ध्यान करने लगे, तपसे शरीरको तपाने लगे तथा त्रिगुप्ति रूपी करणके द्वारा मनके प्रसारको रोकने लगे!॥ १२४॥

[६-२०]

सिंह (कमठके जीव)के द्वारा मुनि (मरुभूतिके जीव)का भक्षण एवं उस मुनिकी चौदहवें (प्राणत-) स्वर्गमें उत्पत्ति

उन्होंने राग एवं द्वेष दोनोंको ही तिरस्कृत कर दिया, जीव और अजीव रूप पदार्थोंको (पृथक-पृथक रूपसे) जाना। वे (मुनि) अहर्निश चिन्मय, ज्ञानपिण्ड, गुणोंके सागर, कर्मरूपी कलंकको दुर्बल करने वाले, एवं अज्ञानान्धकारका नाश करने वाले शुद्धात्मकी आराधना करने लगे। मासोपवाससे शरीरको कृश कर दिया। ग्यारह अङ्गोंका अभ्यास किया, (घोर तपके कारण) अङ्गोपाङ्ग अपने रूपसे गिर गये अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी शोभा नष्ट हो गई। विशुद्ध सम्यग्दर्शन प्रमुख, सुखकर, उत्तम, जिनेन्द्रपदको प्रदान करनेवाली, पवित्र एवं मलरहित सोलह भावनाएँ उसमें उत्पन्न हुईं, जिनकी वह आराधना करने लगा।

लोकोंके लिये सुखदायक जो तीर्थङ्कर हो चुके हैं, आगे होंगे तथा जो वर्त्तमानमें हैं वे सभी सोलहकारण भावनाएँ भाकर तथा आत्माके शुद्ध परमात्म-गुणको पाकर सिद्ध हुए हुए हैं।

जब वे महामुनि खदिरवनमें मृतकासनसे कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित थे, तभी वह, जो मृग-मारक भील था तथा जिसने तपमें श्रेष्ठ मुनीन्द्रको बींधा था और फिर मरकर वह वहाँसे तमतमा नामक नरकमें गया था, वही (जीव) वहाँ पर्याप्त दुख सहनकर पुनः निकला और उसी वनमें सिंह-योनिमें उत्पन्न हुआ, जहाँ मुनि निरन्तर ध्यानमें मग्न थे।

घत्ता—उसने उन मुनिराजको देखकर तथा दुर्नीतिपूर्ण बैरका स्मरण करके वेगपूर्वक उन्हें खा डाला। क्षमा-गुणके धारक और कामदेवको विदीर्ण करने वाले वे मुनि चौदहवें स्वर्गमें उत्पन्न हुए॥ १२५॥

[६-२१]

प्राणत-देवका वाराणसीमें जन्म

वह देव गर्भशिलामें उत्पन्न हुआ। वहाँ उस पुण्यशालीका शरीर आभरणोंसे अलंकृत था। अप्सरागणोंके हाथोंसे उसके ऊपर चामर डुलाए जाते थे और घने आडम्बरसे युक्त छत्र उसके सिर पर धारण किया गया था। देवोंके द्वारा वन्दित एवं अनिन्द्य वह देव नाना प्रकारके भोग-विलासोंको बीस सागरकी आयु तक भोगता रहा। बीस पखवारोंमें श्वास छोड़ता था, जिसे सेवा-शुश्रूषाकी

बीससहासहिँ वरिसहिँ भुंजइ अहणिसु भोयहिँ णियमणु रंजइ ।
सोहु मरिवि धूमप्पहिँ पत्तउ पंचपयार दुक्ख संतत्तउ ।
भो रविकित्ति णरेसर बुज्झहि मा मिच्छत्त-कसाएँ मुज्झहि ।
पुणु कालावसाणि सो सुरवरु एत्थु भरहिँ आयउ बहु पहधरु ।

घत्ता—कासी वरदेसहिँ सग्गविसेसहिँ वाणारसिहिँ णरिंदु वरु ।
हयसेणु पहाणउँ णयगुणठाणउँ वम्मादेविहि हिययहरु ।।१२६।।

[६-२२]

ताहि गब्भि लोयत्तयसामिउ तित्थणाहु सिवउरिपहगामिउ ।
पासणाहु णामेण जिणेसरु अम्हहँ पहु णिज्जिणिय-रईसरु ।
धूमप्पहु णरयाउ विणिग्गउ तावसु हुउ पुणु कोह वलिग्गउ ।
सो पंचग्गिकिलेसु सहेप्पिणु संवरुसुरु हुउ तणु छंडेप्पिणु ।
णहि जंतेण तेण जिणु दिट्ठउ तउ तवंतु सामिउ झाणट्ठिउ ।
कुविउ विमाणहिँ खलणेँ णियमणि वइरु मुणिवि पुव्विल्लउ तक्खणि ।
किउ उवसग्गु वि तेण महायउ आसण-कंपेँ सेसु वि आयउ ।
तेण विहिउ उवसग्ग णिवारणु इहु णरेस मुणि वइरहु कारणु ।
इय णिसुणिवि रविकित्ति णरेंदेँ णिय-कुलकुमुववियासणचंदेँ ।
सम्मत्तु वि पविमलु गिण्हेप्पिणु पासजिणेसहु पय पणवेप्पिणु ।
णिय पुरि पत्तु सपरियणजुत्तउ गिहवउ पालइ जिणपयभत्तउ ।
जिणआयदणहिँ महियलु मंडिउ करइ रज्जु रविकित्ति अखंडिउ ।

घत्ता—जिणधम्मरसायणु सुहसयदायणु णरभवि जेण ण भावियउ ।
सो जम्मु वि हारइ सुहगइ वारइ रयणु व दुल्लहु पावियउ ।।१२७।।

इय सिरिपासणाहपुराणे आयमअत्थस्स अच्छि सुणिहाणे सिरिपंडिय-रयधू-विरइए सिरिमहाभव्व-खेऊ-साहू-णामंकिए जिणभवांतर-वण्णणो णाम छट्ठो संधी-परिच्छेओ समत्तो । सन्धि—६

अथ आशीर्वादः

संसाराहिप्रखण्डनं सुखकरं रत्नत्रयं दुर्लभम्
मृत्यूत्पत्तिजरान्तकं गुणनिधिर्लोकाधिपैरर्च्चितम् ।
कर्मारातिविनाशकं निरुपमं क्षेमाख्यसाधोः परम्
भूयात्तस्य शुभाप्तिरेवमनिशं ह्यत्रान्यजन्मन्यपि ।। ६ ।।

भावनासे सुरनारियाँ झेलती थीं। उसने बीस सहस्र वर्ष आयुको भोगा और अहर्निश भोगोंसे अपने मनको रञ्जित करता रहा।

(वह) सिंह भी मरकर धूमप्रभा नामक नरकमें उत्पन्न हुआ (और वहाँ वह) पाँच प्रकारके दुखोंसे तप्त होता रहा। हे रविकीर्त्ति नरेश्वर, (तुम इसे) भलीभाँति जानो तथा मिथ्यात्व और कषायसे मोहित मत होओ। काल (- लब्धि) समाप्त होनेपर अत्यधिक प्रभाका धारी वह देव यहाँ भरत (- क्षेत्र) में आया।

घत्ता—श्रेष्ठ काशी देशकी स्वर्गसे भी विशिष्ट वाराणसी नगरीमें न्याय एवं सद्गुणोंका स्थान तथा वामादेवीके हृदयके हारके समान अश्वसेन नामक प्रधान राजा है॥ १२६॥

[६-२२]

राजा अश्वसेनके गृहमें प्राणतदेवकी पुत्र-रूपमें उत्पत्ति एवं कमठका विप्र-पुत्र होना

उस राजाकी वामादेवी नामकी रानीके गर्भमें तीनों लोकोंके स्वामी, तीर्थनाथ, शिवपुर-पथगामी तथा कामदेवका जीतनेवाले हमारे प्रभु पार्श्वनाथ नामके जिनेश्वरने जन्म लिया।

धूमप्रभासे निकलकर पुनः वह (कमठका जीव) क्रोधके वशीभूत कमठ नामका तापस हुआ और फिर वह पञ्चाग्नि-तपका क्लेश सहकर तथा शरीर छोड़कर संवर नामक देव हुआ। (उसी समय एक दिन) आकाश-मार्गमें जाते हुए उसने तप तपते हुए, ध्यान-स्थित स्वामी पार्श्वनाथ-जिनेन्द्रको देखा।

विमानके स्खलनसे वह अपने मनमें कुपित हुआ। पूर्वजन्मका बैर जानकर तत्क्षण उसने महान् आपत्तिकारक उपसर्ग किया, इस कारण अपना आसन कम्पित होनेसे शेषनाग वहाँ आया और उसने उपसर्गका निवारण किया। हे नरेश, यही बैरका कारण जानो।"

यह सुनकर अपने कुलरूपी कुमुदोंके विकासके लिये चन्द्रमाके समान (उस) रविकीर्त्ति नरेन्द्रने विमल सम्यक्त्व ग्रहण करके पार्श्व जिनेशके चरणोंमें प्रणाम किया, फिर वह परिजनों सहित अपने नगर लौटा और जिन-चरणोंका भक्त रहता हुआ वह गृहस्थके व्रतोंका पालन करने लगा। उस रविकीर्त्तिने सारे महीतलको जिनायतनोंसे अलकृत कर दिया। इसप्रकार वह अखण्ड राज्यकरने लगा।

घत्ता—अनेक सुखोंको प्रदान करनेवाले, जिन-धर्मरूपी रसायनका जिसने नरभवमें सेवन नहीं किया वह, दुर्लभ रत्नके समान प्राप्त नर-जन्मको हार जाता है और शुभगतिको दूर कर देता है॥१२७॥

इसप्रकार श्रीपण्डित रइधू द्वारा विरचित, श्रीमहाभव्य खेऊ साहूके लिये नामाङ्कित, आगमके अर्थको समझनेके लिये नेत्रके समान श्रीपार्श्वनाथ पुराणके अन्तर्गत जिन-भवान्तरोंका वर्णन करनेवाला छठवाँ सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ। सन्धि—६।

संसाररूपी सर्पको नष्ट करनेवाले, सुखकारी, मृत्यु, उत्पत्ति एवं वृद्धावस्थाका अन्त करनेवाले, सद्गुणोंके निधान, लोकाधिपों द्वारा पूजित, कर्म समूहके विनाशक, निरुपम, श्रेष्ठ एवं दुर्लभ रत्नत्रयकी शुभ उपलब्धि; साधु-स्वभावी क्षेमसिंहको इस जन्म एवं अन्य जन्मोंमें भी निरन्तर होती रहे। ६॥ छ॥

●

संधि—७

[७-१]

घत्ता—पुणु पासजिणेसरु मणसंसयहरु विहरइ सुरणरपरियरिउ ।
भव्वइँ गणु सासइ धम्मु पयासइ णियवाणिए भुवणुद्धरिउ ॥ छ ॥

चउतीसातिसयसिरिणिकेउ जयमहिउ पयडु देवाहिदेउ ।
जगगुरु परमेसरु सयलु सिद्धु वरणंतचउट्ठयगुणसमिद्धु ।
लोयत्तयमंडणु पयडु णामु रविकोडि समाणु सरीरधामु ।
सुक्काइधाउवज्जिउसरीरु कम्मट्ठ-विणासणि अतुलधीरु ।
केवलणाणुज्जलु हयतमोहु जहखायचरियराएण सोहु ।
धरणेँद-णरेँद-सुरेँद-पुज्जु मिच्छामयगिरिसिरि चंडु वज्जु ।
पुरिसोत्तमु-बंभु-सयंभु संतु सिवणारिहि केरउ णवउ कंतु ।
उक्किट्ठ पाडिहेरट्ठजुत्तु संसारसमुद्दि अभिण्ण-पोत्तु ।

घत्ता—जिणु संति णिरंजणु दुहसयभंजणु बोहंतु वि अहणिसु जणहँ ।
मणईहारहियउ गुणगणसहियउ संसयसय फेडइ मणहँ ॥ १२८ ॥

[७-२]

केहि मि गिण्हियइ महव्वयाइँ गिहमोहु चइवि सुहसयकयाइँ ।
केहि मि संगहिय अणुव्वयाइँ अइयारविसुद्धइँ गयरयाइँ ।
सम्मइंसणु केहि मि णरेहिँ दारापेहणवउ भवडरेहिँ ।
हयसेणेँ गिण्हिय परमदिक्ख सावयगिहि जेँ आयरिय भिक्ख ।
वम्मादेवी हुअ अज्जसार सा सहइ परीसहदुण्णिवार ।
दह गणहर णिम्मलणाणधारि जिणवाणि जेहिँ उद्धरिय सार ।
सयचारिवि चउदहपुव्वजुत्त अट्ठारह सइ सीसइँ तहुत्त ।
अवहीसर पणरह-सय मुणीस तेत्तिय विक्किरियारिद्धिईस ।
तावंति वि तहिँ केवलिपहाण सहसेक्कु णवइ ति [य] भुत्तठाण ।
मणपज्जय णवसय वरमुणिव वसुसय वाएसर थुवसुरिंद ।

सन्धि—७

[७-१]

पार्श्व-प्रभुका विहार

घत्ता—मनके संशयोंका नाश करनेवाले पार्श्व जिनेश देवों एवं मनुष्योंसे परिचरित होकर विहार करने लगे और संसारसे पार उतारनेवाले वे (जिनभगवान्) अपनी वाणीसे भव्यजनोंका शासन करते हुए धर्मका प्रकाश करने लगे ॥ छ ॥

वे (पार्श्वजिन) चौंतीस अतिशयरूपी लक्ष्मीके निकेत, लोकपूज्य, साक्षात् देवाधिदेव, जगद्गुरु, परमेश्वर, सकलसिद्ध, श्रेष्ठ अनन्त-चतुष्टय रूप गुणोंसे समृद्ध, त्रैलोक्यमण्डन, सुप्रसिद्ध-नाम, करोड़ों सूर्योंके समान शारीरिक तेजसे युक्त, शुक्रादि धातुओंसे वर्जित शरीरवाले, अष्टकर्मोंके नाश करनेमें अतुलनीय धैर्यवान, केवलज्ञानके उज्ज्वल प्रकाशसे अज्ञानान्धकार-समूहका नाश करनेवाले, क्षायिक चारित्ररूपी राग (अनुराग एवं रङ्ग) से शोभायमान, धरणेन्द्र, नरेन्द्र एवं सुरेन्द्र द्वारा पूजनीय, मिथ्यामदरूपी गिरिशिखरके लिये प्रचण्ड वज्रदण्डके समान, पुरुषोत्तम, ब्रह्मा, स्वयम्भू, शान्त, शिवनारीके लिये नवीन प्रियतम, उत्कृष्ट अष्ट-प्रातिहार्योंसे युक्त तथा संसाररूपी समुद्रके लिये अभिन्न पोतके समान और—

घत्ता—शान्त, निरञ्जन, अनेक दुखोंके भञ्जक, लोगोंके लिये अहर्निश प्रतिबोध देनेवाले, मनोकामनाओंसे रहित, गुणसमूहोंसे युक्त तथा मनके सैकड़ों संशयोंको हटानेवाले थे ॥ १२८ ॥

[७-२]

पार्श्वका सम्मेद-शिखर आगमन

किन्हींने घरका मोह छोड़कर तथा सभी प्रकारके सुखोंको प्रदान करनेवाले महाव्रत धारण कर लिये। किन्हींने अतिचाररहित विशुद्ध एवं मालिन्यरहित अणुव्रत ग्रहण कर लिये। किन्हींने सम्यग्दर्शन धारण किया तो किन्हींने संसारसे भयभीत होकर दारा-अप्रेक्षण अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लिया। हयसेनने परमदीक्षा ग्रहण कर ली और श्रावकोंके घर भिक्षा ग्रहण करने लगे। वामादेवी भी आर्यिका बन गई और वह दुर्निवार परीषहोंको सहन करने लगी। पार्श्वके-तीर्थमें निर्मलज्ञानधारी दस गणधर हुए, जिन्होंने श्रेष्ठ जिनवाणीका उद्धार किया। (इसी प्रकार) चार सौ चतुर्दशपूर्वोंके धारी एवं अठारह सौ शिष्य कहे गये हैं।

पन्द्रह सौ अवधिज्ञानके धारक मुनि, उनसे तिगुने विक्रिया-ऋद्धिके धारक और उनसे भी तिगुने वहाँ प्रधान केवलि थे। एक हजार नब्बे स्त्रीमुक्त स्थानको प्राप्त करनेवाले, नौ सौ मनःपर्ययज्ञानधारी मुनीन्द्र, इन्द्रों द्वारा स्तुत्य आठ सौ वागेश्वर, (श्रुतज्ञानके पारगामी),

अडतीस सहासइँ कंतियाहँ   लक्खेक्कु वि सावय ठिय वयाहँ ।
तिण्णि जि लक्खइँ सावियहँ संख   देव वि सेवहिँ सामिहुँ असंख ।
तिरियंचहँ णत्थि पमाणु तत्थ   जिणवरभासिय णिसुणहिँ पयत्थ ।
चहुविह संघेँ सहँ दोस-चत्तु   सम्मेयगिरिहि विहरंतु पत्तु ।

घत्ता—तहु सिरि गयबाहु ठिउ जिणणाहु रुंधिवि मणवयपास पहु ।
आण वि पुणु तणु जोएँ जिणु दंडकवाडइँ करइ लहु ॥ १२९ ॥

[७-३]

चउसमयहिँ दंडकवाडपयर   पूरणु पविहिउ पुण्णु लोय-णयर ।
आउसमाणेँ किय कम्म तिण्णि   झाणे वि जहा ठिय कम्म छिण्णि ।
आयापएस संवरिय पुणु   थिउ तइय सुक्क झाणम्मि जिणु ।
बाहत्तरि पयडिहिँ खउ कियउ   तेरहमइ गुणठाणिहि ठियउ ।
पुणु थक्कु अजोइगुणेहि जहँ   लहु पंचक्खर ठिदि करिवि तहँ ।
तेरह जि पयडि तेँ तहिँ खविया   पंचासी ए जाणहुँ भविया ।
सावणहुँ सेयसत्तमिहिँ दिणि   परिसेसिय भवभवभमणरिणि ।
कम्माइँ विहंजिवि पासजिणु   किउ उड्ढगमणु बाहाइँ विणु ।

घत्ता—सिवपइ जिणु पत्तउ कलिमलचत्तउ सिद्धु बुद्धु हुउ सुद्ध तणु ।
वसुगुणहिँ समिद्धउ चेयणसिद्धउ लद्धउ सासयसुक्खधणु ॥ १३० ॥

[७-४]

अंतिमदेहहु किंचूणुहीरु   तेयमउं वि थक्कउ तहिँ सरीरु ।
तणु-पवणवलंति वि भिडउ सीसु   चुलसीविलक्ख गुणणंतईसु ।
हुउ आदसहाउ तिजोयहीणु   णिव्वाणु णिरंजणु दोसु खीणु ।
मुणिवर छत्तीस वि समउ तेण   थिय अजरामर होइवि सुहेण ।

अड़तीस सहस्र कान्ताएँ (आर्यिकाएं), एक लाख व्रती, श्रावक एवं श्राविकाओंकी संख्या तीन लाख थी। असंख्यात देव स्वामी पार्श्वकी सेवा कर रहे थे। वहाँ तिर्यञ्चोंका तो कोई प्रमाण ही न था। वे जिनवर-भाषित पदार्थोंको सुन रहे थे। चतुर्विध-संघके साथ वे निर्दोष (पार्श्व) वहाँसे विहार करते हुए सम्मेद-शिखर पहुँचे।

घत्ता—उस (सम्मेद-शिखर) की चोटीपर मन और वचनको अवरुद्ध करके गजबाहु जिनेन्द्र—पार्श्वप्रभु स्थित हो गये। फिर आनप्राणको अवरुद्ध करके (केवल) काययोगसे जिन-भगवान्‌ने शीघ्र ही दण्ड-कपाटक-समुद्घात किया ॥ १२९ ॥

[७-३]

पार्श्वका तपश्चरणकर निर्वाण-गमन

इस प्रकार चार समयोंमें (पार्श्वने) दण्ड, कपाट, प्रतर एवं लोकपूर्ण समुद्घात करके समस्त संसाररूपी नगरको पूर दिया। वेदनीय, नाम एवं गोत्र इन तीन अघातिया कर्मोंको आयु-कर्मके समान कर लिया और ध्यानमें इस प्रकार स्थित हुए कि जिससे कर्म कट जावें। आत्म-प्रदेशोंका संवरण करके वे जिनवर तीसरे शुक्ल-ध्यानमें स्थित हो गये। उसमें उन्होंने अघातिया कर्मोंकी शेष बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय किया। तेरहवें गुणस्थानमें ही स्थित रहते हुए फिर अयोग-केवलि-गुणस्थानमें स्थित हो गये। वहाँ पाँच लघु-अक्षरोंके उच्चारणकाल जितनी स्थिति करके कर्मोंकी शेष अन्तिम तेरह प्रकृतियोंका क्षय किया। इस प्रकार हे भव्य, इन पचासी प्रकृतियों को जानो।

पार्श्वप्रभुने श्रावणशुक्ल सप्तमीके दिन भव-भव भ्रमणरूपी ऋणको परिशेष (समाप्त) कर दिया। इस प्रकार कर्मोंको पूर्णरूपसे ध्वस्त करके पार्श्वजिनने निर्बाध रूपसे ऊर्ध्वगमन किया।

घत्ता—कलिमलरहित जिनवर शिवपदको प्राप्त हुए और (वे) सिद्ध, बुद्ध एवं शुद्ध अरूपी शरीरके धारक हुए। अष्टगुणोंसे समृद्ध, चैतन्यसिद्ध होकर (उन्होंने) शाश्वत सुखरूपी धन प्राप्त कर लिया ॥ १३० ॥

[७-४]

देवों द्वारा पार्श्वके परिनिर्वाणोत्तर सम्पन्न क्रियाएँ

वहाँ उनकी अरूपी देह अन्तिम लौकिक देहसे आकारमें किञ्चित् ऊन (कम) तथा तेजोमय अवस्थामें स्थित हो गई। उस सिद्धशिलापर तनुवातवलयके अन्तिम भागमें चौरासी लाख सिर भिड़े हुए हैं। वे सिद्ध अनन्त गुणोंके ईश्वर होते हैं। पार्श्वप्रभुको शुद्ध आत्मस्वभाव रूप, त्रियोग रहित, निरञ्जन एवं दोषरहित निर्वाण (प्राप्त) हो गया। उनके साथ अन्य छत्तीस मुनि भी सुखपूर्वक अजरामर होकर स्थित हो गये।

जिणवरणिव्वाणु मुणेवि इंदु सुरविंदहिँ सहु आयउ अणिंदु ।
विउरुव्विवि मायामउ सरीरु सिंघासणि णिहियउ तेण धीरु ।
पुणु पविहिय अट्ठपयार पुज्ज जा सव्वहँ चित्तहँ अइमणोज्ज ।
गोसीरपमुह पुणु देवदार सिरिखंड अवर णाणापयार ।
मेल्लिवि कट्ठइँ सलु रइउ तेण तहिँ तं तणु संणिहियउ खणेण ।
सुरवर तिपयाहिण करिवि तासु पणविवि ते थक्का जाम पासु ।
पुणु अग्गिकुमारहि णविय पाय तहु सीसिकिरीडहु अग्गि जाय ।
पज्जलिय चिया णहमग्गु रुद्धु जिणमोक्खगमणु ता जएण बुद्धु ।

घत्ता—बहु तूरणिणद्दें भुवणविमद्दें संसयारि तं तासु पुणु ।
पुणु भप्फ गहेप्पिणु सीसिणिहेप्पिणु खीरंबुहि गउ सक्कु पुणु ।। १३१ ।।

[७-५]

तहिँ भप्फ पहाविवि पुणु सुरेसु पडिआविवि पणविवि सिरिगणेसु ।
गउ दिवि अंतिमु कल्लाणसारु विरएप्पिणु सो णियभत्तिभारु ।
सिरि संभु-गणेसरु भरहखेत्ति पयडेप्पिणु धम्माहम्मजुत्ति ।
गउ सो पुणु तत्थ अविग्घ ठाणि जे अण्ण रिसीसर परमणाणि ।
कि वि सासयपुरी अहमिंद के वि णिय तवहु पहावें सयल ते वि ।
कंतिय वि पहावइ सुद्धचित्त णियमणि सम जाणिवि सत्तु-मित्त ।
अच्चुवसग्गहिँ गय तणु चएवि तत्थ वि सुरवरु हुव बम्मदेवि ।
तत्थाउ चविवि पुणु बिण्णि देव सिवपउ पावेसहिँ कमेण तेव ।

घत्ता—भवि-भवि सिरिपासहो विग्घविणासहो चरणजुअलु महु मणिवसहु ।
अरु कलिमलचत्तहो णिम्मलचित्तहो खेऊ साहुहु सुह दिसउ ।। १३२ ।।

[७-६]

अमुणंतें भइँ वण्णहँ विसेसु पाइयछंदहँ णउ मुणिउ लेसु ।
णवि सद्दासद्द विहत्ति अत्थु तह वि हु मइँ धिट्ठें रइउ सत्थु ।
पद्धडिया-छंदें इहु पुराणु णियमइ अणुसारें अत्थठाणु ।

जिनवरका निर्वाण जानकर अनिन्द्य इन्द्र (वहाँ) सुरवृन्द सहित आया। उस धीरने विक्रियाऋद्धिसे मायामय धीर शरीर बनाया और उसे सिंहासन पर विराजमान किया। पुनः अष्ट प्रकारसे पूजा की, जो सभीके हृदयोंको अतिमनोज्ञ लगी। गोशीर्ष प्रमुख देवदारु, श्रीखण्ड और नाना प्रकारके काष्ठ मिलाकर उसने शैय्या (चिता) निर्मित की और उसपर तत्काल ही (पार्श्व-जिनेन्द्रका वह मायावी) शरीर रखा। जब देवगण उसकी तीन प्रदक्षिणाएँ कर प्रणाम करके समीपमें खड़े थे तभी अग्निकुमारोंने (पार्श्वके) चरणोंमें प्रणाम करके उनके शीर्ष-किरीटके आगे जाकर चिता प्रज्वलित कर दी जिससे आकाशका मार्ग अवरुद्ध हो गया और जगने जिनवरके 'मोक्ष-गमन' को जान लिया।

घत्ता—सम्पूर्ण भुवनको क्षुब्ध करनेवाले अनेक तूर्योंके निनादपूर्वक वह शक्र उन (पार्श्व)-प्रशंसाकारक भस्मको ग्रहण करके (उसे) अपने सिरपर रखकर क्षीरसमुद्रको गया ॥ १३१ ॥

[७-५]

पार्श्व-शिष्योंका स्वर्गगमन

वहाँ भस्मको बहाकर सुरेश (इन्द्र) वापिस आया और श्रीगणधरको प्रणाम करके अपनी भक्तिके अनुसार अन्तिम श्रेष्ठ कल्याणक करके स्वर्गको (वापिस) चला गया।

श्री स्वयम्भू गणधर भरतक्षेत्रमें धर्म-अधर्मकी युक्ति प्रकाशित करके वह भी उसी निर्विघ्न स्थानको चला गया।

जो परमज्ञानी अन्य ऋषीश्वर थे, उनमेंसे कोई तो अपने तपके प्रभावसे शाश्वतपुरीको गये और कोई अहमिन्द्र हो गये।

प्रभावती कान्ता भी शुद्ध चित्त होकर अपने मनमें शत्रु-मित्र सबको समान जानकर और अपने शरीरको त्यागकर अच्युत स्वर्गमें गयी। वामादेवी भी वहींपर उत्तमदेव हुई। वहाँसे च्युत होकर दोनों देव उसी क्रमसे शिवपदको पावेंगे।

घत्ता—विघ्नोंके विनाशक, कलिमल रहित एवं निर्मलचित्त श्रीपार्श्व जिनेन्द्रके चरण-युगल भव-भवमें मेरे मनमें बसे रहें और खेऊ साहूके लिये भी सुख प्रदान करते रहें ॥ १३२ ॥

[७-६]

कवि रइधू द्वारा ग्रन्थ-प्रणयन सम्बन्धी त्रुटियोंके लिये क्षमा-याचना

वर्णोंकी विशेषताको न जाननेवाला मैं प्राकृत-छन्दोंका भी लेश नहीं जानता और न शब्द-अपशब्द, विभक्ति एवं अर्थको ही जानता हूँ। फिर भी मुझ धृष्टने (इस) शास्त्रकी रचना की है। अपनी मतिके अनुसार अक्षर और मात्राओंसे शून्य यह पार्श्वपुराण, पद्धडिय-छन्दमें मेरे द्वारा रचा गया है। हे भव्यजन, उसे शोधकर पूर्ण कर लेना।

पद्धडिया-छन्द नाना प्रकारका है, उनका विचार मैंने लक्ष्य नहीं किया। जो दुर्जन अथवा

विरयउ मइँ अक्खर-मत्त-सुण्णु तं करहु भव्व सोहेवि पुण्णु ।
पद्धडियछंद णाणापयार णउ लक्खिय मइँ ताहँ जि वियार ।
दुज्जण-सज्जण ससहाव जे वि दोसइँ गुणाइँ गिण्हंति ते वि ।
बुहयण महु मा मणि करहु रोसु सोहेवि सत्थु किज्जहु अदोसु ।
जं पुव्वरिसीसहु सुत्तु दिट्ठु तं पिच्छिवि मइँ विरयउ मणिट्ठु ।

घत्ता—जिणवरवयणुब्भव णिरसियमणभव देउ भडारी बोहि वरा ।
गुणमुणिपयभत्तहो रइधकवित्तहो पंडियस्स मुहिँ वसउ परा ॥ १३३ ॥

[७-७]

महु होउ विसुद्ध समाहिबोहि मिच्छत्तमहागहभर-णिरोहि ।
वरकेवलणाणुज्जलु सरीरु संभवउ अरुहु भवि-भवि सुधीरु ।
णोसारिय विसयमहारि दूरि गुरु होज्जहु मुणिवर परमसूरि ।
सद्दंसणरयणु वि मणि वसेउ अप्पापर-वत्थुहिँ णाणभेउ ।
अरु हिंसावज्जिउ परमधम्मु संपज्जउ भवि-भवि णट्ठछम्मु ।
सावयकुलि जम्मु पवित्तु होउ मित्तु वि साहम्मिउ विगयसोउ ।
वयभर-खमु तणु संभवउ संतु मुहि वसउ णिच्च णवयारमंतु ।
विकहारत्तु मा मइ हवेउ सिरिपासणाहु एत्तडउ देउ ।

घत्ता—पुणु खेऊ-णामहो गुणगणधामहो खीरंबुहिजलसरिसु जसु ।
भुवणयरि णिरग्गलु ससिपहणिम्मलु भमउ सइच्छइ दाणवसु ॥ १३४ ॥

[७-८]

सिरिअइरवालकुललद्धसंसु ऐंडिलगोत्तेँ वर णाइँ हंसु ।
जोइणिपुरम्मि णिवसंतु आसि सिरिदेदा साहु सपुण्णरासि ।
पुणु तासु अणुक्कमि लच्छिकोसु महियाणामेँ जणजणियतोसु ।
तहु णंदणु पैतू पावहोणु पुणु तासु तणुब्भउ धम्मि लीणु ।
अंचिय-जिणवर-चरणारविंद महदाणेँ पोसिय-बंदिविंद ।
णामेण पुण्णपालु जि पउत्तु चाहडिय णाम पुणु तहु कलत्तु ।
तहु पुत्त बिण्णि चंदक्क सोह जिणधम्म धुरंधर पयडगोह ।
तहँ गरुवउ साहु छाजा पउत्तु णाथू साहु वि पुणु तासु पुत्तु ।
णाथू साहहु सुव बिण्णि हूव झाझणु वीधा गुणसार भूव ।
बीयउ जि पुण्णपालहु जि पुत्तु जाल्हउ भावियउ जिणेंवसुत्तु ।

सज्जन जैसे स्वभावसे युक्त हैं, वे तदनुसार दोषों एवं गुणोंको ग्रहण करते हैं। हे बुधजन, अपने मनमें मेरे प्रति रोष मत करना (इस) शास्त्रको शुद्धकर निर्दोष बना लेना। मैंने पूर्व-ऋषीश्वरका जो सूत्र देखा उसे देखकर ही यह मनोज्ञ-काव्य रचा है।

घत्ता—जिनवरके मुखसे उद्भूत, मनकी भ्रान्तिको दूर करने वाली हे भट्टारिके (सरस्वति), हमें उत्तमबोधि प्रदान करो। गुणकीर्ति मुनिके चरणोंके भक्त तथा इस कवित्तके रचयिता रइधू पण्डितके मुखमें निरन्तर वास करो॥ १३३॥

[७-७]

आश्रयदाता खेऊ साहूका पारिवारिक परिचय एवं आशीर्वचन

मुझे मिथ्यात्वरूपी महाग्रहके भारका निरोध करनेवाली विशुद्ध-विशुद्ध समाधिबोधि प्राप्त होवे। श्रेष्ठ केवलज्ञानसे उज्ज्वल शरीरवाले धैर्यवान् अरहन्त भव-भवमें होवें। विषयरूपी महाशत्रुको दूरसे ही निस्सारित करनेवाले परमसूरि मुनिवर गुरु होवें। सम्यग्दर्शन रूपी रत्न मनमें बसा रहे। आत्मा और परवस्तुओंमें ज्ञानसम्मत भेद बना रहे तथा कपटरहित एवं हिंसावर्जित परमधर्म भव-भवमें प्राप्त होवे। पवित्र श्रावककुलमें जन्म होवे और विगतशोक सहधर्मी मित्र होवें। व्रतभारको सहन करनेमें सक्षमशरीर प्राप्त होवे एवं मुखमें निरन्तर नवकार-मन्त्रका वास रहे। बुद्धि कभी भी विकथामें आसक्त न बने। हे श्रीपार्श्वनाथ प्रभु, बस, इतना ही दीजिए (—मुझे और कोई अन्य आकांक्षा नहीं)।

घत्ता—गुणगणोंके धामस्वरूप खेऊ (खेमसिंह) नामक साहूका क्षीरसागरके जलके सदृश निष्कलंक यश एवं स्वेच्छया प्रदत्त आठ प्रकारके दान, चन्द्रमाके समान निर्मल इस सांसारिक-नगरीमें निर्बाधरूपसे भ्रमण करते रहें॥ १३४॥

[७-८]

आश्रयदाताकी जाति-गोत्र एवं पिछली पीढ़ियोंका वर्णन

सुप्रसिद्ध अग्रवाल-कुलके ऐंडिल गोत्रमें उत्पन्न, राजहंसके समान तथा पुण्यकी राशि-स्वरूप श्री देदा (नामके) साहू योगिनीपुरमें निवास करते थे। उनके चरणोंका अनुकरण करनेवाली एवं लक्ष्मीका निधान तथा लोगोंको सन्तोष देनेवाली महिया नामकी पत्नी थी। उनका पैतू नामका निष्पाप पुत्र उत्पन्न हुआ। पुनः उस पैतूका एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो धर्ममें लीन, जिनवरके चरणकमलोंका पूजक तथा महादानसे वन्दि-वृन्दोंका पोषक था।

उस (पुत्र) का नाम पुण्यपाल था। उसकी पत्नीका नाम चाहडिय था। उससे चन्द्र एवं सूर्यकी शोभाके समान, जैनधर्ममें धुरन्धर तथा नगरमें प्रमुख दो पुत्र उत्पन्न हुए।

ज्येष्ठ पुत्र छाजा साहूके नामसे प्रसिद्ध हुआ, उसका भी पुत्र नाथू साहू (नामका) हुआ। नाथू साहूके भी गुणोंके सारभूत दो पुत्र उत्पन्न हुए—झाझणु एवं बीझा।

पुण्यपालका दूसरा पुत्र पजण साहू नामका था, जो जिन-सूत्रोंकी भावना करनेवाला था तथा—

घत्ता—जिणवरपयभत्तउ गिहवयरत्तउ जसु जसु बंदीयणहिँ गुणिउँ ।
परियणसुहदायणु गुणसयभायणु पजणसाहु णामेँ भणिउँ ॥ १३५ ॥

[७-९]

तहु पिय बील्हा णाम गुणायर पिययमचित्तहो णिच्चसुहायर ।
ताहि तणुब्भउ महिविक्खायउ अहणिसु पवयणगुणअणुरायउ ।
चउविह-संघभारधुर-धोरिउ जेँ मिच्छत्तमहागहु मोडिउ ।
संसारहु संसरणे भीयउ दाणेँ णं सेयंसु जि बीयउ ।
खेउ णामु साहु विक्खायउ देव-सत्थ-गुरु-पय-अणुरायउ ।
तासु धणो णामा पिय पियवइ जिम राहवहु सीय वम्महु रइ ।
णंदण चारि तासु जयसारा संजाया गुणियणहँ पियारा ।
ते चत्तारि वि चहुँदिसि मंडण जाचयजणमण-रोर-विहंडण ।
सहसराजु पढमउ तहँ वुच्चइ जो संघवी गिरणारहु वुच्चइ ।
रतनपालही णामा तहु पिय उधरण सुव उच्छंगि रमिय पिय ।
पहराजु वि बीयउ ससिकर-पहु दाण-भोय उवमिज्जइ सो बहु ।
मइणपालही तहु पियधण्णी सोणपाल णंदणेण सउण्णी ।
तीउ पुत्तु पुणु रइवइ भासिउ गिह-भर-भारु वहणु जसु सासिउ ।
कोडो णामा तासु जि भामिणि अहणिसु सधव चित्तमणुगामिणि ।
ताहि पुत्तु लोहगु णं ससहरु वंजणलक्खण-चच्चिय-मणहरु ।
चउथउ सुउ विज्जारस भरियउ होलिवम्मु णामेँ विप्फुरियउ ।
तहु कलत्त सरसुत्ती णामा दाणसील सुंदर अहिरामा ।

घत्ता—तहु पुत्तु गुणायरु णाइँ कलायरु चंदपालु णामेण सिसु ।
इहु वंसु पवित्तउ जिणपयभत्तउ णंदउ महि धण-कण-वरिसु ॥ १३६ ॥

[७-१०]

एयहँ सव्वहँ जो मज्झि सारु खेऊ सुसाहु कण्णावयारु ।
तेँ काराविउ पासहु पुराणु भवतमणिण्णासणु णाइँ भाणु ।
कइणा विरएप्पिणु सुहमणेण रइधू-णामेण वियक्खणेण ।
संपुण्णु करेप्पिणु पयडअत्थु खेऊ-साहुहु अप्पियउ सत्थु ।
बहुविणएँ तं गिण्हियउ तेण तक्खणि आणंदिउ णियमणेण ।

घत्ता—जो जिन भगवानके चरणकमलोंका भक्त एवं श्रावक-व्रतोंमें अनुरक्त है तथा जिसके यशका गुणगान बन्दियों द्वारा किया जाता है, जो परिजनोंको सुख देनेवाला है तथा जो सैकड़ों गुणोंका भाजन है ॥ १३५ ॥

[७-९]

आश्रयदाताका पीढ़ी-परिचय (....जारी)

उस पजण साहूकी प्रियाका नाम बील्हा था, जो गुणों की आकर तथा प्रियतमके चित्तके लिये निरन्तर सुखकारी थी। उससे पृथिवी मण्डल पर विख्यात, अहर्निश प्रवचन-गुणों का अनुरागी, चतुर्विध-सङ्घके भारकी धुराको धारण करने वाला, मिथ्यात्वरूपी महाग्रहको मोड़ देनेवाला, संसारमें भ्रमण करनेसे भयभीत, दानमें मानों द्वितीय राजा श्रेयांसके सम्मान, एवं विख्यात खेऊ (क्षेमसिंह) नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जो देवशास्त्र एवं गुरुके चरणोंका अनुरागी था। उसकी रामके लिये सीताके समान तथा कामदेवके लिये रतिके समान अत्यन्त बुद्धिमति धण्णो नामकी प्रियतमा थी। उसके जगमें श्रेष्ठ, गुणीजनोंको प्यारे चार पुत्र उत्पन्न हुए।

वे चारों ही पुत्र चारों दिशाओंके शृङ्गार थे तथा याचकजनोंके मनकी निर्धनताको दूर करनेवाले थे। प्रथम पुत्र शुद्ध हृदय सहजराज कहलाता था, जो गिरनार यात्राका 'संघवी' (सङ्घपति) कहलाता था। उसकी रतनपालही नामकी प्रियतमा थी, जिसकी गोदीमें रमण करनेवाला उद्धरण नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। द्वितीय पुत्र पहराज था, दान एवं भोगमें जिसकी उपमा चन्द्रमासे दी जाती थी। उसकी मइणपालही नामकी प्रियतमा थी जो सोणपाल नामक पुत्रसे पुत्रवती थी। (उस खेऊ साहूका) तीसरा पुत्र रतिपति कहा गया है, जिसको गृहस्थीके भारको वहन करनेवाला कहा गया है। उसकी कोडि नामकी भामिनी थी, जो रातदिन अपने प्रियतमके मनकी अनुगामिनी थी। उसका चन्द्रमाके समान मनोज्ञ लोहग नामका पुत्र हुआ जो शारीरिक व्यञ्जन एव लक्षणोंसे युक्त था। चौथा पुत्र विद्याके रससे परिपूर्ण होलिवम्म नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसकी दानशीला एवं रमणीय सरस्वती नामकी पत्नी थी।

घत्ता—उस होलिवम्मका गुणोंका सागर तथा चन्द्रमाके समान सौम्य चन्द्रपाल नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह (समस्त) वंश पवित्र एवं जिनचरणोंका परमभक्त रहा है। वह पृथिवी मण्डल पर धन-धान्यादिसे समृद्ध होकर वर्धित होता रहे ॥१३६॥

[७-१०]

आश्रयदाता द्वारा कविका श्रद्धा-समन्वित सम्मान

इन सबके मध्यमें कर्णके अवतारके समान श्रेष्ठ जो खेऊ साहू हुआ उसने भवान्धकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान इस पार्श्वनाथ पुराणका प्रणयन कराया है। विचक्षण प्रतिभा सम्पन्न रइधू नामक कविने शुभ मनसे (इस शास्त्रकी) रचना करके और प्रकट अर्थोंसे युक्त उस शास्त्रको समाप्त कर खेऊ साहूको (जब) अर्पित किया (तब) उसने भी अत्यन्त विनयपूर्वक उसे ग्रहण

दीवंतरआगयविविहवत्थ पहिराविवि अइसोहा पसत्थ ।
आहरणहिँ मंडिउ पुणु पवित्तु इच्छावाणेँ रंजियउ चित्तु ।
संतुट्ठउ पंडिउ णियमणम्मि आसीवाउ वि दिण्णउ खणम्मि ।

घत्ता—अविरलजलधारहिँ तण्हणिवारहिँ तप्पउ मेइणि णिच्चपरा ।
कलिमलवुह खिज्जहु मंगल गिज्जहु पासपसाएँ घरि जि घरा ।।१३७।।

[७-११]

णिरवद्दउ णिवसउ सयलु देसु पयपालउ णंदउ पुणु णरेसु ।
जिणसासणु णंदउ दोसमुक्कु मुणिगण णंदउ तहिँ विसयचुक्कु ।
णंदहु सावययण गलियपाव जे णिसुणहिँ जीवाजीवभाव ।
सिरिखेउसाहु सुधम्मि रत्तु णंदणहिँ समउँ णंदउ बहुत्तु ।
णंदउ महि णिरसिय असुहुकम्मु जो जीवदयावरु परमधम्मु ।
अहिणंदउ पासपुराणु एहु सज्जणजणाहँ जि जणिउ णेहु ।
कंचण-महिहरु जा ससि-दिणिंद जा पुणु महियलि कुलमहिहरिंद ।

घत्ता—मच्छरमयहीणउँ सत्थपवीणउँ पंडिययणु णंदउ सुचिरु ।
परगुणगहणायरु वयणियमायरु जिण-पय-पयरुह-णविय-सिरु ।।१३८।।

इय सिरिपासणाहपुराणे आयमअत्थस्स अच्छि-सुणिहाणे सिरि पंडियरयधु-विरइए सिरिमहाभव्व खेउ-साहु-णामंकिए सिरिपासणाहणिव्वाणकल्लाणवण्णणो णाम सत्तमो संधी-परिच्छेऊ समत्तो । सन्धि—७

इति श्रीपार्श्वनाथपुराणं समाप्तम् ।।

●

संवत् १७४३ वर्षे माघ चन्द्रवारे लिखितं महानन्द पुष्करमल्लात्मज पालम्बनिवासी शुभं भवतु लेखकाध्यापकयोः ।। छ ।।

किया और अपने मनमें तत्क्षण आनन्दित हुआ तथा उसे द्वीपान्तरोंसे आये हुए अत्यन्त सुन्दर एवं प्रशस्त विविध प्रकारके वस्त्र पहिनाए तथा आभूषणोंसे मण्डित किया। पुन: उस पवित्र चित्तको इच्छादान देकर प्रसन्न किया। रइधू पण्डित भी अपने मनमें बड़ा सन्तुष्ट हुआ (और) उसने तत्क्षण ही उसे आशीर्वाद दिया।

घत्ता—पाश्व प्रभुकी कृपासे तृष्णाको दूर करनेवाली अविरल जलधाराओंसे मेदिनी नित्य तृप्त होवे। पृथिवी मण्डल पर कलिमलके दुख क्षीण होवें और घर-घरमें मङ्गलगीत गाये जांय ॥१३७॥

[७-११]

भरतवाक्य

सम्पूर्ण देश उपद्रवोंसे रहित रहे, नरेश प्रजाका पालन करता हुआ आनन्दित रहे। जिन-शासन फले-फूले, निर्दोष मुनिगण विषय-वासनासे दूर रहकर नन्दित रहें। जो श्रावकगण जीव-अजीव आदि पदार्थोंका श्रवण करते हैं, वे पापरहित होकर आनन्दसे रहें।

अपने सुपुत्रोंके साथ श्री खेऊ साहू, स्वधर्ममें लीन रहते हुए पुत्रों के साथ प्रचुर आनन्दको प्राप्त करें। जोवदया-परक परमधर्म पृथिवीमण्डलसे अशुभ कर्मोंको निरस्तकर बना रहे। सज्जनजनोंमे स्नेह उत्पन्न करानेवाला यह पार्श्वपुराण अभिनन्दित रहे। जब तक सुमेरुपर्वत है, चन्द्र एवं सूर्य है, जबतक पृथिवीतल पर कुलाचल है और जबतक सरसिज (लक्ष्मो) से समृद्ध स्वर्गमें शक्र है तबतक अर्थसिद्ध शास्त्र प्रवृत्त होता रहे।

घत्ता—दूसरोंके गुण ग्रहण करनेवाले, व्रत एवं नियमोंका आचरण करनेवाले, मात्सर्य-मदसे रहित एवं शास्त्रमें प्रवीण पण्डितगण चिरकाल तक आनन्द करें एवं (सभी जन) जिनेन्द्रके चरण कमलोंमें नतमस्तक रहें ॥१३८॥

इस प्रकार श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित श्री महाभव्य खेऊ साहूके लिये नामाङ्कित आगमके अर्थको समझनेके लिये नेत्रके समान श्री पार्श्वनाथपुराणके अन्तर्गत श्री पार्श्वनाथके निर्वाण कल्याणकका वर्णन करनेवाला सातवाँ सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ। सन्धि—७

श्री पार्श्वनाथपुराण समाप्त हुआ

●

संवत् १७४३ वर्षके माघ.......चन्द्रवारके दिन पालम्ब निवासी पुष्कर-मल्ल के सुपुत्र महानन्दने इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि की। प्रतिलिपि-कर्त्ता एवं अध्यापकका शुभ हो।

(१) लिपिकर्त्तुः प्रशस्तिः (दिल्ली प्रति)

इति श्री पार्श्वपुराणं समाप्तं । छ। संवत्सरेऽस्मिन् श्रीविक्रमादित्यगताब्दसंवत् १४९८ [तमे] वर्षे माघ वदि २, सोमवासरे श्रीमद्गोपाचले तुंवरराज्ये । कथम्भूते ?

रम्ये राज्ये च हामीर-पैरोजे जनवर्द्धके ।
षड्दर्शनानि प्राप्तानि तुंवरे दानमानतः ॥ १ ॥

बन्दीकृतं द्विशतपञ्चसहस्रकेन्द्रः
राजन्समुद्धरणगोपगिरीन्द्र दुर्गे
श्रीवीरसिंहभवने यदि न त्वदीयं
स्याज्जन्म कोऽपि न विमुञ्चयितुं समर्थः ॥ २ ॥

श्री मदुद्धरणवंशे राजा श्रीगणेश्वरपुत्रकलिकालचक्रवर्त्ति श्रीडुंगरेन्द्रः । कथम्भूतः श्री डुंगरेन्द्रः ?

अन्यायतिमिरदिनकर विधुरितजनशरण सज्जनानन्दः ।
नृपवरलक्ष्मीवल्लभ भवतु पुरो धर्मवृद्धिरतः ॥ ३ ॥

सुधा चन्द्रे न पाताले न कान्ताधरपल्लवे ।
अस्ति डुंगरराजेन्द्र तवारिकरपल्लवे ॥ ४ ॥

श्रीडुंगरराज्यप्रवर्त्तमाने काष्ठासंघे माथुरान्वयगणे भट्टारकः श्रीमद्गुणकीर्त्तिदेवस्तत्पट्टे श्रीयशःकीर्त्तिदेवः तेषामाम्नाये अग्रोतकान्वये साधुखेउपुत्रहोला [महाशयेन] आत्मकर्म्मक्षयनिमित्तं लेख्यापितं ॥ छ ॥

श्रीमदग्रोतकवंससाधु तद्भार्याकरमापुत्ररूपचन्द्रलिखितम् ॥ छ ॥

यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयताम ॥ १ ॥

तैलाद्रक्षेद् जलाद्रक्षेद् रक्षेच्छिथिलबन्धनात् ।
परहस्तेऽहं न दातव्यमेवं वदति पुस्तकम् ॥ २ ॥

शुभमस्तु लेखकपाठकयोः । छ । छ ॥

(१) लिपिकर्त्ताकी प्रशस्ति (दिल्ली प्रति)

इस प्रकार गोपाचल स्थित तुंवर (तोमरवंशी राजाओंके) राज्यमें विक्रम संवत् १४९८ वें वर्षकी माघवदी द्वितीया, सोमवारके दिन यह श्रीपार्श्वनाथ पुराण समाप्त हुआ। कैसा था यह तुंवरराज्य ?

हम्मीर और फीरोजके जनकल्याणकारी एवं न्यायपूर्ण राज्यकालके समान ही तोमर राजाओंके राज्यकालमें भी दान एव मान-सम्मानके द्वारा षट्दर्शन (का अध्ययन-अध्यापन एवं विद्वान्) प्राप्त थे ॥ १ ॥

हे राजन्, हे गोपगिरीन्द्र, हे उद्धरणदेव, यदि श्रीवीरसिंहके भवनमें तुम्हारा जन्म न होता, तो दुर्गमें बन्दी किये गये ५२०० राजाओंको मुक्त करा सकनेमें कौन समर्थ होता ? ॥ २ ॥

श्री उद्धरणदेवके वंशमें राजा गणेश्वर हुए, जिनके पुत्र थे कलिकालचक्रवर्त्ती राजा श्री डुंगरेन्द्र। कैसे थे वे राजा डुंगरेन्द्र ?

हे अन्यायरूप अन्धकारके लिये सूर्य, हे पीड़ित एवं अनाथजनोंके शरण, हे सज्जनोंको आनन्द देनेवाले, हे लक्ष्मीवल्लभ, हे नृपवर, धर्मवृद्धिके कार्योंमें आप अग्रणीके रूपमें रत रहें ॥ ३ ॥

हे डुंगरराजेन्द्र, (तुम्हारे लिये) अमृत न तो चन्द्रमामें प्राप्य है, न पातालमें और न कान्ताके अधरपल्लवमें ही। वह तो तुम्हारे शत्रुके करपल्लवमें ही विद्यमान है ॥ ४ ॥

उन्हीं श्री डुंगरराजेन्द्रके राज्यमें प्रवर्त्तमान, काष्ठासंघ, माथुरगच्छके भट्टारक श्रीमद् गुणकीर्त्तिदेव हुए तथा उनके पट्टमें श्री यशःकीर्त्तिदेव हुए। उनके आम्नायमें अग्रवाल कुलमें जन्म लेनेवाले खेऊ (खेमसिंह) साहू हुए, उनके पुत्र होलाने आत्मकर्मके क्षयके निमित्त यह ग्रन्थ लिखवाया ॥ छ ॥

श्री अग्रोतक वंशमें साधु नामक व्यक्ति हुआ, जिसकी भार्याका नाम करमा था। उनके पुत्र रूपचन्द्रने इस ग्रन्थको लिखा (अर्थात् इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि की)।

इस पुस्तकको जिस रूपमें मैने देखा, उसी रूपमें लिख दिया है। इसकी शुद्धाशुद्धियोंके लिये मुझे दोष न दिया जाय ॥ १ ॥

यह पुस्तक कह रही है कि "तैल, जल एवं शिथिल बन्धनसे मुझे सुरक्षित रखते हुए दूसरेके हाथमें मत देना।" ॥ २ ॥

(२) लिपिकर्त्तुः प्रशस्ति (जयपुर प्रति)

अथ शुभसंवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपति विक्रमादित्यराज्यगताष्टानि संवत् १७८६ शाके शालिवाहन १६५१ तत्र वर्षे महामाङ्गल्य क्रत मासोत्तममासे कार्त्तिक धवलपक्षे तिथौ द्वितीया चन्द्रवासरे श्री कुरुजांगलदेशे योगिनीपुरनिकटे श्रीमत् पालम्बनामनगरे श्रीमहम्मदसाहमुगलपातिसाहराज्यप्रवर्त्तमाने १२ द्वादशवर्षे श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे भट्टारक श्रीकुमारसेनदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्रीप्रतापसेनदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्रीमाहवसेनदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्रीउद्धरसेनदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्री-श्री-श्रीदेवसेनदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्रीविमलसेनदेवः तत्पट्ट भट्टारकश्रीधर्मसेनदेवः तत्पट्टे भट्टारक श्रीभावसेनदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्रीसहस्रकीर्त्तिदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणकीर्त्तिदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्रीयशकीर्त्तिदेवः तत्पट्टे भट्टारक मलयकीर्त्तिः तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणभद्रसूरिदेवः तत्पट्टे भट्टारकश्रीभानुकीर्त्तिः तत्पट्टे भट्टारकश्रीकुमारसेनः तत्पट्टे भट्टारकश्रीशुभकीर्त्तिः तत्पट्टे भट्टारकश्रीमेघकीर्तिः तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणभद्रः तत्पट्टे भट्टारकश्री-श्री-श्रीविद्वज्जन-मनरञ्जन-सभाश्रृङ्गार प्रवीण-पण्डित देवसेनः तदाम्नाए इक्ष्वाकुवंशे महतीया गोत्रे जैसवाल ज्ञाते जैसलमेरु निकासे नवमासवास्तव्यः यः पालंबवास्तव्य साहु मेघराज तस्य भार्या ··· ······तस्य पुत्र जापूसाह तस्य भार्या ·· ········ तस्य पुत्र दयावंतस तवं × × ×

●

(२) लिपिकर्त्ताकी प्रशस्ति (जयपुर प्रति)

श्री विक्रमादित्य नृपतिके शुभ संवत् १७८६ शक-शालिवाहन सं० १६५१ के वर्षमें महा-मङ्गल करनेवाले मासोत्तम कार्त्तिक मासकी धवल द्वितीया चन्द्रवारके दिन यह ग्रन्थ कुरुजांगल देश स्थित योगिनीपुर (आधुनिक दिल्ली)के निकटवर्त्ती पालम्ब नामके नगरमें लिखा गया। जबकि श्री मुहम्मदशाह मुगल बादशाहका राज्य वर्त्तमान था। उसके राज्यकालके १२वें वर्षमें श्री काष्ठासंघ, माथुरगच्छ एवं पुष्करगणमें श्री कुमारसेन देव नामके भट्टारक हुए, उनके पट्टमें भट्टारक प्रतापसेन देव; तथा उनके पट्टमें भट्टारक श्री माहवसेनदेव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री उद्ध(र)सेनदेव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री श्री श्री देवसेनदेव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री विमलसेनदेव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री धर्मसेनदेव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री भावसेनदेव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री सहस्रकीर्त्ति देव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री गुणकीतिदेव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री यशःकीर्त्ति देव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री मलयकीर्त्ति; उनके पट्टमें भट्टारक श्री गुणभद्रसूरिदेव; उनके पट्टमें भट्टारक श्री भानुकीर्त्ति; उनके पट्ट में भट्टारक श्री कुमारसेन; उनके पट्टमें भट्टारक श्री शुभकीर्त्ति; उनके पट्टमें भट्टारक श्री मेघकीर्त्ति; उनके पट्ट में भट्टारक श्री गुणभद्र; उनके पट्टमें भट्टारक श्री श्री श्री, विद्वज्जनोंका मनोरञ्जन करनेवाले, सभाके शृंगारस्वरूप, प्रवीण-पण्डित देवसेन हुए। उनके आम्नायमें इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न महतीय गोत्रवाले जैसवाल जातिके साहू मेघराज हुए, जो पालम्ब निवासी थे तथा जैसलमेरमें प्रवासकालमें नौ मास तक रहे। उन मेघराजकी भार्याका नाम × × × था, उसके पुत्रका नाम जपू साहू था, उसकी भार्याका नाम × × × था। उसका पुत्र तपस्वी एवं दयावान् × × × × ।

[२]

सिरि-रइधु-विरइउ

सुकोसलचरिउ

[१-१]

घत्ता—जिणवर-मुणिविंदहो थुवसयइंदहो चरणजुवलु पणवेवि तहो।
कलिमलवुहणासणु सुहयणसासणु चरिउ भणमि सुक्कोसलहो ॥ छ ॥

तिहु भेय पसिद्ध जि भुवणि सिद्ध णिक्कल तह सयल वि सद्दरिद्ध।
वसु-गुण-समिद्ध वसु-कम्म-मुक्क वसुमी वसुहहिँ जे णिच्च थक्क।
परमाणंदालय अप्पलीण उप्पत्ति-जरा-मरण त्ति हीण।
वरणाणमएण रसेण सिच्च ते णिक्कलसिद्ध णवेवि णिच्च।
जे घायइ-कम्म विणासणेण महि विहरहिँ केवल-लोयणेण।
अड-पाडिहेर अइसइ-सुसोह भावत्थि विभासणि भव-णिरोह।
अहि-णर-सुरवइणा णमियपाय सव्वहँ हिय-मागहि जाय-वाय।
ते सकलसिद्ध तहँ पुणु णवेवि पुणु बारसंगसुयपय सरेवि।
जिणवयण-विणिग्गउ वण्णपिंडु तं सद्द-सिद्ध झाइवि अखंडु।
ए सिद्ध तिविह पणविवि णिरोह मिच्छत्तयाण णिद्दलण सीह।

घत्ता—तह गणहरसामिय सुहगइगामिय भवसरसोसदिणेसर।
जे सत्त-[१]तत्त सय पयडिय महिदय ते वण्णहिय णिहयसर ॥ १ ॥

[१-२]

ते पणविवि बहुभत्तिए गणहर ताहँ पट्टि पुणु जि हुव मुणिवर।
विजयसेण-पमुहा य गुणायर आयम-सत्थ-अत्थ-रयणायर।
तेहिँ अणुक्कमि सूरि पहाणउँ छंद-तक्क-वायरणह ठाणउँ।
खेमकित्ति णामेण जईसरु महिउ जेण दुम्महु वि रईसरु।
तासु मयासणि कलिमलचत्तउ णिच्च चित्ति भाविउ रयणत्तउ।
बारहविह तवभेय सुहंकरु हेमकित्ति अहिहाणु दुरियहरु।

---

१ क. ख. सत्त।

[१-१]

मङ्गल नमस्कार

घत्ता—कलिकाल रूपी दुःख का नाश करनेवाले एवं भव्यजनोंका शासन करनेवाले उन सुकौशल मुनिके चरितका मैं वर्णन करता हूँ, जिन (सुकौशल मुनि) के चरणयुगल जिनवर मुनीन्द्रों द्वारा स्तुत्य एवं शत-शत इन्द्रों द्वारा नमस्कृत हैं ॥ छ ॥

जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं, निष्कल होने पर भी समस्त शब्द-ऋद्धियोंसे सिद्ध हैं। जो (सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन प्रभृति—) आठ (विशेष—) गुणोंसे समृद्ध हैं, आठ कर्मोंसे मुक्त हैं, और जो (अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व प्रभृति—) आठ (सामान्य) गुणों में निरन्तर स्थित हैं। जो परम आनन्द प्रदान करनेवाले गृह (मोक्ष) में आत्मलीन हैं तथा उत्पत्ति, जरा एवं मरणसे रहित हैं और जो श्रेष्ठ ज्ञानरूपी रससे सिक्त हैं, उन निष्कल सिद्धों को दैनिक नमस्कार करके तथा घातिया-कर्मोंके विनाशके कारण एवं केवलज्ञान रूपी नेत्रके द्वारा जो पृथिवीपर विहार करते हैं; जो अष्ट-प्रातिहार्यों तथा भव-निरोधक अतिशयों से सुशोभित हैं, जो नव-पदार्थोंको विभासित करते हैं, जो असुरों, मनुष्यों एवं इन्द्र द्वारा नमित-चरण हैं, जो सभीके हितार्थ मागधी-वाणीमें उपदेश करते हैं। उन सभी सिद्धोंको बार-बार नमस्कार करके तथा (उनके) द्वादशाङ्ग श्रुत-पदोंका स्मरण करके तथा जिनमुखसे विनिर्गत अखण्ड वर्णपिण्डोंको धारण करनेवाले शब्द-सिद्धों (गणधरों) का भी ध्यान करता हूँ। इस प्रकार मिथ्यात्वके निर्दलनके लिये सिंहके समान एवं निरीह उन सिद्धोंको त्रिविध प्रणाम करके—

घत्ता—शुभगतिकी ओर गमन करनेवाले, भवरूपी सरोवरको सुखा डालनेके लिये दिनेश्वर—सूर्यके समान तथा कामदेवके बाणोंको नष्ट करनेवाले उन गणधर स्वामीको प्रणाम कर उनकी वाणीको भी अपने हृदयमें धारण करता हूँ, जो निरन्तर पृथिवीपर दयापूर्वक सप्ततत्त्वोंको प्रकट किया करते हैं ॥ १ ॥

[१-२]

भट्टारक-परम्परा का स्मरण

बहुभक्ति पूर्वक मैं उन गणधरोंको प्रणाम कर पुनः उन्हींके पट्टमें, आगम शास्त्रों एवं उनके अर्थोंके लिये रत्नाकरके समान तथा गुणोंकी खानि स्वरूप विजयसेन प्रभृति जो प्रमुख मुनिवर हुए हैं, उन्हें भी प्रणाम करता हूँ। छन्द, तर्क एवं व्याकरणके स्थान स्वरूप उन्हीं प्रधान सूरि (विजयसेन) के अनुक्रममें दुर्जेय कामदेवका भी मन्थन कर डालनेवाले खेमकीर्त्ति (क्षेमकीर्त्ति) नामके यतीश्वर हुए। उनके सिंहासन (पट्ट) पर कलिकालरूपी मलको दूर करनेवाले, रत्नत्रयको निरन्तर मनमें भावित करनेवाले, सुखकारी एवं पापोंका हरण करनेवाले द्वादशविध तपको तपने वाले हेमकीर्त्ति नामके सूरि हुए।

तासु पट्टि तवलच्छिहि मंदिरु अइ अकंपु णं छट्ठउ मंदिरु ।
बुद्धम-इंदिय-बल-दमणायरु भव्वइ-मण-संसय-तम-भायरु ।
मणसिय-विसहर-विस-विणिवारउ तेरहविहि चारित्त जो धारउ ।
आयम-रस-रसेण जो सित्तउ अहणिसु जें भाविउ रयणत्तउ ।
कुमरसेणु णामें कलिगणहरु पणविवि तिवयण सुद्धिए भवहरु ।
अवर वि णिग्गंथ महामुणि णवकोडि वि तिहु ऊणिय बहुगुणि ।

घत्ता—अण्णहिँ दिणि जिणहरि धयलग्गंवरि रइधू बुहु सुहझाणि रउ ।
गउ जिणवर दिट्ठउ णयण-मणिट्ठउ सिरु धर धरि पणवाउ कउ ॥ २ ॥

[१-३]

तहिँ वंदिउ गच्छहँ परमेसरु कुमरसेणु पुणु परम-जईसरु ।
आसीवाउ दिण्णु तहु राएँ णेहु समप्पिवि अविरलवाएँ ।
पुणु गुरुणा जंपिउ भो पंडिय रइधू णिसुणहि सीलअखंडिय ।
तुव जुग्गउ भणेमि हउँ पेसणु तं करणिज्जु अवसु दुहणासणु ।
जह पइँ णेमि-जिणिंदहु केरउ चरिउ रइउ बहुसुक्ख-जणेरउ ।
अण्णु वि पासहु चरिउ पयासिउ खेहु-साहु-णिमित्ति सुहासिउ ।
बलहद्दहु पुराण पुणु तीयउ णियमण अणुराएँ पइँ कीयउ ।
तह सुकोसलचरिउ सुहंकरु विरयहि भवसयदुक्खखयंकरु ।
तं णिसुणिवि हरसिघहु णंदणु पडिजंपइ किय जिणपय वंदणु ।
सत्थ-अत्थ-हीणउ हउँ सामिय किं पंगुल हवंति णहगामिय ।
किं अतरंडु तरइ पुणु सायरु किं अब्भिडइ रणंगणि कायरु ।
बोक्कडु-धूलु करिहु किं बोल्लइ किं वच्छउ धवलह भरु झिल्लइ ।
आसि कइंदहिँ चरिउ जि भासिउ कह विरयमि हउँ तं गेहासिउ ।
पिंगल-छंदु वि दुविह त्ति ण जाणमि किं अप्पउ कइत्तगुणि माणमि ।

घत्ता—अह तुम्हह वयणहिँ करमि सत्थु सुहसययरणु ।
परकारणु सामिय तव पह गामिय एक्कु अत्थ-संसयहरणु ॥ ३ ॥

पुनः उनके पट्टमें तपोलक्ष्मीके मन्दिरस्वरूप, अत्यन्त निर्भीक मानों छठवें मेरु-मन्दिर ही हों, तथा दुर्दम इन्द्रियोंके बलका दमन करनेवाले, भव्यजनोंके मनके संशयरूपी अन्धकारके लिये भास्करके समान, मदनरूपी विषधरके विषको दूर करनेवाले, तेरह प्रकारके चारित्रके धारी आगम-रूपी रससे सिक्त, अहर्निश रत्नत्रयको भानेवाले, कलिकालके गणधरके समान, भवहारी (सूरिवर—) कुमारसेनको त्रिवचन-शुद्धि पूर्वक प्रणाम करके तथा और भी जो तीन कम नौ करोड़ गुणज्ञ निर्ग्रन्थ महामुनि हुए हैं, उन्हें भी प्रणाम करता हूँ।

घत्ता—अन्य दूसरे दिन शुभध्यानमें रत (यह) रइधु-पण्डित धवल शिखरवाले जिन-मन्दिरमें गया। वहाँ नेत्रों एवं मनको इष्ट लगने वाले जिनवरके दर्शन किये तथा पृथिवी पर सिर धर कर उन्हें प्रणाम किया ॥ २ ॥

[१-३]

अपने गुरु कुमारसेन भट्टारकके साथ कविका वार्तालाप एवं कवि द्वारा अपनी दीनवृत्तिका प्रदर्शन तथा ग्रन्थ-प्रणयनकी प्रतिज्ञा

पुनः वहाँ (जिन-मन्दिरमें) अपने गच्छ (माथुरगच्छ)के परमेश्वर तुल्य परम यतीश्वर कुमारसेनकी वन्दना की। यतीश्वरने अविरल वाणीमे स्नेह समर्पित करते हुए अनुरागपूर्वक आशीर्वाद दिया। पुनः उन गुरु (यतीश्वर)ने कहा—"अखण्ड शीलवाले हे रइधु पण्डित, सुनो, मैं तुम्हारे योग्य कार्य कहता हूँ, दुःखका नाश करनेवाले उस करणीय कार्यको तुम्हें अवश्य करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार तुमने अनेक सुखोंके जनक नेमिजिनेन्द्रके चरितको रचा है; सुखोंके आश्रयभूत अन्य (ग्रन्थ) पार्श्वचरित भी तुमने खेहू साहूके निमित्त प्रकाशित किया है। पुनः अपने मनमें अनुरागसे भरकर तुमने बलभद्र-पुराण नामक तीसरे ग्रन्थका भी प्रणयन किया है, उसी प्रकार अब संसारके सैकड़ों दुखोंका क्षय करनेवाले एवं सुखकारी 'सुकौशल-चरित'का भी प्रणयन करो।"

गुरुके वचन सुनकर हरिसिंहके पुत्र (रइधू)ने जिन-पदोंकी वन्दनाकर प्रत्युत्तरमें कहा—"हे स्वामिन्, मैं शास्त्रों एवं उनके अर्थोंके ज्ञानसे शून्य हूँ (आप ही बताइये कि—) क्या पंगु व्यक्ति (कभी) नभगामी हो सकता है? तैरनेकी कला न जाननेवाला भी क्या समुद्र पार कर सकता है? कायर व्यक्ति क्या रणांगणमें (शत्रु-सैन्यसे) भिड़ सकता है? बकरेके द्वारा उड़ाई गई धूल क्या हाथीको लाँघ सकती है? क्या बछड़ा बैलके भारका वहन कर सकता है? पूर्व कालीन कवीन्द्रोंने जिस प्रकार (उत्कृष्ट कोटि)के चरितोंका प्रणयन किया है, मैं गृहाश्रित रहते-हुए उस प्रकार (उत्कृष्ट कोटि)की रचना कैसे कर सकता हूँ? द्विविध पिङ्गल-छन्दको भी नहीं जानता हूँ, फिर अपने कवित्त्व-गुणको मैं (योग्य) कैसे मान सकता हूँ?

घत्ता—फिर भी हे स्वामिन्, मैं तो आपके (द्वारा निर्दिष्ट—) पथका अनुगामी हूँ। अतः आपके वचनों (आदेश)से सैकड़ों प्रकारके सुखोंको देनेवाले तथा संशयको दूर करनेवाले एक निर्मल (चरित्रवाले) शास्त्र (—सुकौशल चरित)की परोपकारके निमित्त रचना करता हूँ ॥ ३ ॥

[१-४]

सोयारें विणु णउ सहइ सत्थु विणु कणयकडें पुणु जिह पयत्थु ।
तिं विणु के वित्थारेइ लोइ सोयारें विणु पायडु ण होइ ।
जिणवरहु वि झुणि णिग्गमणु णत्थि सोयारें विणु [ण] पयडिय पयत्थि ।
तहु वयण सुणिवि गुरु भणइ तासु भो पंडिय किं णउ मुणहि आसु ।
इह गोवग्गिरि धण-कण-अतुच्छि आवासिय जहिं जए भमिवि लच्छि ।
सिरिडुंगरसीह णरेंद-रज्जि वणिवरु णिवसइ पुण बहु जसज्जि ।
सिरिअइरवालवंसहिँ पहाणु सिरिवीधा संघइ गुणणिहाणु ।
तहु णंदणु महलगवो[1] सहंतु तहु सुउ आणा साहु जि सुसंतु ।
तहु भज्जा वीधो सीलसाली णंदण वि तिण्णि तहु पुणु गुणाली ।
सिरिपिथउँ सीहु पल्हणु जि बीउ रणमलु तीयउ भव-भमण-भीउ ।
भव्वयण-सयलकय-पणयबंधु सिरिआणा साहु जु सच्चसंधु ।
भो बुह जाणहि णियमणि समत्थु वित्थारइ महि सो एहु सत्थु ।
करि कव्वु खलाहँ वियलाहिमाणु कोसलु चरित्तु पयडिय-पमाणु ।
सज्जणजणमणसंतोसयारि णि[2]यमइ जंपेसहि पावहारि ।

घत्ता—ए वयणविलासहिँ चित्तुल्लासहिँ कोसलचरिउ सुहावणउ ।
ते करुणाढत्तउ कलिमलचत्तउ जणसवणहँ सुहदावणउ ॥ ४ ॥

[१-५]

हउँ करमि कव्वु जडमइ अगव्वु ।
गुरुवयणु केम लंघेवि एम ।
भव्वयण धण्ण धारेहु कण्ण ।
जसु सुणण भत्ति हुइ णाणसत्ति ।

---

१. क. ख. महलगपो० । २. क. णिव० ।

[१-४]

कविके आश्रयदाता आणा साहूकी वंश-परम्परा एवं परिचय

"श्रोताओंके बिना उत्तम पदों एवं अर्थोंसे युक्त शास्त्र (उसी प्रकार) सुशोभित नहीं होता, जिस प्रकार कि सोनेके कड़ोंके बिना (किसी षोडशी सुन्दरी युवतीके) हाथ-पैर सुशोभित नहीं होते। अतः उनके (श्रोताओंके) बिना संसारमें (शास्त्रका—) विस्तार कौन करेगा ? (क्योंकि) श्रोताओंके बिना वह प्रकाशित ही नहीं हो सकता। श्रोताओंके बिना न तो जिनवरको ध्वनिका ही निर्गमन सम्भव है और न (नव-) पदार्थोंका प्रकाशन ही।"

इस प्रकारके वचन सुनकर गुरु (कुमारसेन)ने तत्काल ही रइधूसे कहा—"हे पण्डित, क्या तुम नहीं जानते कि यह गोपगिरि (आधुनिक ग्वालियर) धन एवं सोने-चाँदीसे समृद्ध है। संसार-भरमें घूम-भटककर लक्ष्मी (अन्तमें) उसे ही (गोपगिरिको) अपना निवास-स्थल बना लेती है।

"वहाँके श्री डूँगरसिंह नरेन्द्रके राज्यमें, श्री अग्रवाल वंशका प्रधान एवं गुणोंका निधान श्री वीधा सिंघई (संघपति) नामका एक वणिक् श्रेष्ठ निवास करता है, जिसने विविध प्रकारके यशार्जन किए हैं।

"उस वीधा सिंघईका महलगव नामक एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। उस (महलगव)का भी सन्त प्रकृतिवाला आणा साहू नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस आणा साहूकी शीलवती भार्याका नाम वीधो था। उस गुणज्ञा (वीधो)के तीन पुत्र उत्पन्न हुए—प्रथम, श्री पृथिवीसिंह, दूसरा, पल्हण एवं तीसरा, भव-भ्रमणसे भयभीत रणमल।

"श्री आणा साहू समस्त भव्यजनोंका प्रणयबन्धु एवं सत्यका सन्धान करनेवाला है। हे बुध, अपने मनमें यह समस्त जानकारी रखो, क्योंकि वही (आणा साहू) इस शास्त्र (सुकौशल-चरित) का पृथिवी पर विस्तार करेगा। (अतः) खलजनोंके अभिमानको विगलित करनेवाले काव्यका प्रणयन करो और सज्जन-जनोंके मनको सन्तुष्ट करनेवाले, तथा पापोंको हरनेवाले सुकौशलके प्रामाणिक चरितका अपनी बुद्धिके अनुसार प्रकाशन करो।"

घत्ता—"चित्तको उल्लसित करनेवाले गुरुके इस वाणी-विलासके अनन्तर करुणासे व्याप्त, कलिकालके पापरूपी मलको दूर करनेवाले, भव्यजनोंके श्रवणों को सुख प्रदान करनेवाले एवं सुहावने सुकौशल सम्बन्धी—॥ ४ ॥

[१-५]

सुकौशलचरितका माहात्म्य-वर्णन एवं ग्रन्थारम्भ। राजा श्रेणिकके दरबारमें वनपालका आगमन

—काव्यकी, निरभिमानी मैं (रइधू) रचना करता हूँ। (यद्यपि) मैं जड़मति हूँ, फिर भी गुरुके इन वचनोंका भी मैं उल्लंघन कैसे करूँ ? हे भव्यजन, (इस काव्यको) तुम अपनेक ानोंमें धारणकर धन्य बनो, (क्योंकि) इसके सुननेसे भक्ति एवं ज्ञान-शक्ति (प्राप्त) होती है"।

इह पढमि दीवि ससि-रवि-पदीवि ।
भरहंतवासि मागहणिवासि ।
रायगिहु णामु णयरु वि पगामु ।
तहिँ अत्थि राउ सेणिउ अपाउ ।
बे-पक्खु-सुद्धु जिणसमय बुद्ध ।
संगामि मल्लु अरिसीसि सल्लु ।
तहु भज्ज साम चेल्लणि य णाम
गुणरयणखाणि णं सुद्धवाणि ।
ताइँ जि समाणु विलसेइ जाणु ।
अण्णहि दिणम्मि सिंहासणम्मि ।
आसण्णु जाम वणवालु ताम ।
आयउ तुरंतु जिण संभरंतु ।
फल-फुल्लधारि थिउ सीहवारि ।

घत्ता—तक्खणि पडिहारेँ गिहसंचारेँ कणयलयालंकियकरेण ।
सो संभासहि पइसारिउ महि सिरु धारिउ णिउ पणविउ तिजयसरेण ॥ ५ ॥

[१-६]

स-भालि भुअग्ग थवेवि भणेइ गुणायरु णायरु राउ सुणेइ ।
जिणेसरु वीरु जयत्तिइ इट्ठु गि [रिस्स] सिरम्मि ठिउ मइँ दिट्ठु ।
पुणि तहु दंसणि चोजु विचित्तु गइंदहु सीहु वि जायउ मित्तु ।
फणीसु-मऊरु रमहिँ सुहचित्तु विरालु विउंदर एक्कहि खित्तु ।
तहा तरु अण्ण वि अंकुर जाय फलइ दलंकिय सीयल-छाय ।
ण तत्थ वि दीसइ कहमि विरोहु णरामर-तिरियहँ जायउ बोहु ।
सुणेवि णरेसरु हरिसिउ चित्ति मयासगरीढहु उट्ठिउ झत्ति ।
स-भज्जु वि सत्त पयाइँ गमेइ परोक्ख सुभत्तिए णाहु णवेवि ।
पुणो वि णिसण्णु सभूसण-राम णिवेण समप्पिय तासु सकाम ।
पवज्जिय वज्जय भेरि रवाल समागय णायर धम्मरसाल ।
णिवारिय अलि-उल कण्ण-झडप्प विहंसिय महिहर डसण-तडप्प ।
परिट्ठिउ मत्तगइंद णरेंदु पयाव-विसेसिय जेण दिणिंदु ।
सुवण्णमहारह जोत्तिय संस तहोवरि रूढ णरेंद सुवंस ।
तुरंगम वाहिवि चडिय[१] णरेस महायण धम्मिय भव्व असेस ।

---

१. क—चणिय ।

चन्द्र एवं सूर्यसे प्रदीप्त इसी प्रथम द्वीपके भरतक्षेत्रमें मगध (नामका) एक देश है, (उसमें) राजगृह नामका सुन्दर नगर है। वहाँ राजा श्रेणिक राज्य करता है, जो निष्पाप, बाह्याभ्यन्तर दोनों पक्षोंसे शुद्ध, जिनागमोंका जानकार, संग्राममें मल्ल एवं शत्रु-शीर्षोंके लिये शल्य था।

उसकी, गुणरूपी रत्नोंकी खानि स्वरूपा चेलना नामकी एक श्यामा भार्या थी, मानों शुद्ध वाणी (—सरस्वती) ही (साकार होकर आ गई) हो। उसके साथ वह चतुर (राजा श्रेणिक) विलास करता (हुआ आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहा) था।

अन्य दूसरे दिन जब वह सिंहासन पर आसीन था, उसी समय जिन-भगवानका स्मरण करता हुआ एक वनपाल. वेगपूर्वक (वहाँ) आया और फल-फूल लिये हुए वहीं सिंहद्वार पर खड़ा हो गया।

घत्ता—प्रतिहारीने तत्काल ही स्वर्णदण्डसे अलंकृत अपने हाथ (के संकेत) से उस (वनपाल) को राज्य-सभामें प्रवेश कराया। वनपालने भी पृथिवी पर सिर झुकाकर तथा तीन बार जयघोषके उच्चारण पूर्वक राजा (श्रेणिक) को प्रणाम किया ॥ ५ ॥

[१-६]

सम्राट् श्रेणिकका वीर-प्रभुके समवशरणमें सम्मिलित होनेके लिये सदल-बल प्रस्थान

माथे पर दोनों हाथ रखकर वह (वनपाल) बोला—"हे गुणाकर, हे नागर, हे राजन्, (मेरी प्रार्थना) सुनिए। मैंने त्रिजगत्के लिये इष्ट वीर जिनेश्वरको गिरिशिखर पर स्थित देखा है। उनका दर्शन (इतना) विचित्र एवं आश्चर्यजनक है कि गजेन्द्र तथा सिंहमें भी मित्रता हो गई है, फणीश एवं मोर सुहृदचित्त होकर विनोद कर रहे हैं, मार्जार एवं छछूंदर एक ही खेतमे क्रीड़ाएँ कर रहे हैं। इसी प्रकार वृक्ष (भी) अन्यान्य अंकुरोंसे अंकुरित एवं फलित होकर अलंकृत एवं शीतल छायासे युक्त हो रहे हैं। वहाँ कहीं भी विरोध नहीं दिखता और मनुष्य देव तथा तिर्यञ्च सभीके लिये बोध उत्पन्न हो गया है।"

(वनपाल का यह कथन) सुनकर नरेश्वर श्रेणिक अपने चित्तमें हर्षित हुआ और सिंहासनपीठसे झटपट उठा। भार्यासहित वह सात पैर (आगे) गया (और) परोक्षमें ही भक्तिपूर्वक नाथ (वीर प्रभु) को प्रणामकर पुनः सिंहासन पर बैठा और उसने (अपने) सुन्दर आभूषण वनपालको अनुराग पूर्वक समर्पित कर दिये।

सुन्दर वज्रभेरी बजाई गई, (जिससे) धर्मरसिक नागरिक-जन उपस्थित होने लगे। भ्रमर-समूहको (अपने) कानोंसे झपटकर उड़ानेवाले, तथा पर्वतोंको अपने दाँतोंसे विध्वंस कर देनेवाले मदोन्मत्त गजेन्द्र पर, अपने प्रतापसे दिनेन्द्रको भी निष्प्रभ कर देने वाला वह राजा श्रेणिक सवार हुआ। प्रशंसनीय एवं सुन्दर स्वर्णनिर्मित महारथ जोता गया, जिसके ऊपर राजा श्रेणिकके श्रेष्ठ वंशज आरूढ़ हुए। घोड़ों पर अन्य नरेश चढ़े तो बाहनियों (बहिलियों) पर महाजन एवं समस्त धार्मिक भव्यजन।

घत्ता — जिणभत्ति-कयायरु णरवइ णायरु चल्लिय णियपरिवारजुवा ।
समसरणु णिहालिउ कयमलु खालिउ मेल्लिय वाहण-छत्त-धया ॥ ६ ॥

[१-७]

जिणणाहु दिट्ठु सुरणरमणिट्ठु ।
भामर सु-तिण्णि देप्पिणु सु-मण्णि ।
कर णिहिवि सीसि पुण अग्गदेसि ।
होएवि राउ अइसुद्ध-भाउ ।
उच्चरइ थोत्तु हियसवण-सोत्तु ।
जय वीयराय जिय मयण-साय ।
जय तिजय-णाह जय जगि अवाह ।
जय अमर-सामि सिवपंथि गामि ।
जय सयलसिद्ध अइसइ-समिद्ध ।
जय बंभ-संभ चउगइ-णिसुंभ ।
जय णंत-णाण सिवलच्छिठाण ।
जय वीर-धीर णिब्भयसरीर ।
जय चरमदेव कय सक्कसेव ।
जय भुवणसार भवजलहि तार ।
जय [1]दव्व-भेय भासिय अणेय ।
जय बंभयारि तवभारधारि ।
जय मइ-गहीर सगभंगिहीर ।
इय थुइवि णाहु वंदिउ अबाहु ।
गोयमु गणिदु पुणु गुरु अणिंदु ।
पणवेवि तासु ठिउ जेम दासु ।
णरसहहिँ चंगु णं दंसणंगु ।

घत्ता—जिणवयणरसायणु सुहसयदायणु णिसुणिवि तुट्ठउ राउ मणि ।
पुणु गणहरु राएँ पुल [—किय काएँ ?] पुच्छिउ मे संसयहरणु गणि ॥ ७ ॥

[१-८]

सुक्कोसल-केवलि केण वंसि संजायउ [सा—] मिय दुरिय-भंसि ।
तं अक्खहि महु मणि हरहि सल्लु उवसग्गु सहिउ पुणु किह दुहिल्लु ।

---

१. क. ख. दुव्व ।

घत्ता—इस प्रकार जिनभक्ति करता हुआ नरपति वह नागर (श्रेणिक) अपने परिवारके साथ चला और (कुछ दूरसे ही) कर्मोंका स्खलन करनेवाले समवशरणको निहारकर उसने (वहीं पर अपने) वाहन, छत्र एवं ध्वजाको छोड़ दिया ॥ ६ ॥

[१-७]

श्रेणिक द्वारा वीर-स्तुति एवं गौतम गणधरसे प्रश्न

उस (श्रेणिक)ने देवों एवं मनुष्योंके लिये अत्यन्त प्रिय जिननाथके दर्शन किये। प्रसन्न मनसे तीन भाँवरें देकर, (अपने) मस्तक पर हाथ रखकर, पुनः अग्र-प्रदेशमें बढ़कर अत्यन्त शुद्ध-भावपूर्वक राजाने हृदय एवं कानोंके लिये स्रोतके समान स्तोत्रका (इस प्रकार) उच्चारण किया—"मदनके (दुर्दम) बाणोंको (भी) जीत लेनेवाले हे वीतराग, (तुम्हारी) जय हो; हे त्रिजगतनाथ, (तुम्हारी) जय हो; भवबाधाओंसे रहित (हे देव, तुम्हारी) जय हो। अमरत्वको प्राप्त एवं शिवपन्थके गामी हे स्वामिन्, (तुम्हारी) जय हो। सकल-सिद्ध एवं अतिशयोंसे समृद्ध (हे देव, तुम्हारी), जय हो। चारों गतियोंको नष्ट कर देनेवाले, हे ब्रह्मा, हे स्वयम्भू, (तुम्हारी) जय हो। अनन्त ज्ञान एवं शिवलक्ष्मीके आस्थान (हे देव, तुम्हारी) जय हो। हे वीर, धीर एवं निर्भय शरीर, (तुम्हारी) जय हो। शक्र द्वारा सेवित हे चरमदेव, (वर्धमान स्वामी, तुम्हारी) जय हो। भवोदधिसे तारने वाले हे भुवनसार, (तुम्हारी) जय हो। द्रव्य-भेदोंको अनेक प्रकारसे भासित करनेवाले (हे देव, तुम्हारी) जय हो। तप-भारके धारी हे (आजन्म—) ब्रह्मचारी, (तुम्हारी) जय हो। सप्तभंगोके गूहस्वरूप हे गम्भीर मतिवाले (तुम्हारी) जय हो।"

इस प्रकार अबाध नाथ (वीर प्रभु) की स्तुति कर बन्दना की। फिर अनिन्द्य गुरु गौतम-गणीन्द्रको प्रणाम कर वह (राजा श्रेणिक) उनके पास (उसी प्रकार) बैठ गया जैसे उनका दास ही हो। मनुष्योंकी सभामें वह ऐसा सुशोभित था, मानों सम्यग्दर्शनका ही अंग हो।

घत्ता—वहाँ अनेक सुखोंको प्रदान करने वाले जिनवचनरूपी रसायनको सुनकर वह (श्रेणिक) अपने मनमें सन्तुष्ट हुआ। पुनः राजाने गणधर गौतमसे पुलकित-गात्र होकर पूछा—"हे गणधर, मेरे (प्रश्नोंका उत्तर देकर) संशयका हरण कीजिए।" ॥ ७ ॥

[१-८]

सुकौशल चरित-कथनकी भूमिकास्वरूप लोक-वर्णन प्रारम्भ—मध्यलोक वर्णन

"हे स्वामिन्, सुकौशल केवलि, किस पापनाशक वंशमें उत्पन्न हुए थे ? उन्हें दुःसह उपसर्ग क्यों सहना पड़ा ? इसका कारण कहिए और मेरे मनका शल्य दूर कीजिए।"

तं सुणि जंपइ गोयमु गणेसु आइण्णइ मगहमहाणरेसु ।
इक्खाकु-वंसि इहु पयडु राय जिम जायउ तिम णिसुणेहि वाय ।
आयास अणंताणंतु वुत्तु तहो मज्झि तिलोउ तिभेय-जुत्तु ।
तिहु वायवलहिँ वेढिउ अखंडु सहरिउ ण धरिउ ण कियउ खंडु ।
चउवह रज्जू उच्चत्त-माणु पायालु सत्त-रज्जू-पमाणु ।
णरलोउ एक्क रज्जू वि सव्वु पंच वि रज्जू सुरलोय भव्वु ।
सिवलोउ वि रज्जु पमाणु सच्चु[1] भासइ जिणवरु इम विगय-मच्चु[2] ।
तहु मज्झि मज्झु लोउ वि पउत्तु दह-पंच-कम्मभूमीहिँ जुत्तु ।

घत्ता—पंचहिँ भूमिहिँ पुणु सेणिय णिव सुणु हवइ चउत्थउ कालु सया ।
पंचसय सरासणु तणु दुहणासणु णर हवंति जिणधम्मि रया ॥ ८ ॥

[१-९]

भरहेरावइ पण-पण संखइँ विद्धि-हाणि पुणु कालावेक्खइँ ।
उवसप्पिणि अवसप्पिणि माणहि छह-छह भेयए पयड णिय-थामहि ।
जेम रहट्टहु घडिय पवट्टइ तिम णिव कालचक्कु परियट्टइ ।
सुसमु-सुसमु पढमउ[3] तहुँ जंपिउ जुवलजम्म-संभवण-वियप्पउ ।
डिंभ जम्मि जंभाइय अंतहि पियर मरेवि जंति दिवि कंतहि ।
करअंगुलि लिहंति ते बालए [त ?] हु विलसंति तेत्थु चिरु कालए ।
कप्पद्दुमतरु कय-उवयारइ दहविहभोय विंति मणहारइ
पल्लोवमइ तिण्णि जीवंति वि बालदिणिंद-तेयसम कंति वि ।
कोडाकोडि चारि सार पुणु गलइ कालु आवइ बीयउ पुणु ।
सुसमु कालु णामें सो वुत्तउ कोडाकोडि वि तिण्णि पउत्तउ ।

घत्ता—धणुहइँ छह सहसइँ बहुसुह विलसइँ चत्तारि वि सहसाइँ तणु ।
उच्छेहु मणूसहु आउस पुणु तउ तिण्णि बिण्णि पल्लाइँ पुणु ॥ ९ ॥

---

१. क. सव्वु । २. ख. भव्वु । ३. क. ख. पढउ ।

यह सुनकर गौतम-गणेश बोले—"हे मगध महानरेश, सुनो (तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ)। हे राजन्, इस संसारमें इक्ष्वाकु वंश जैसा हुआ है, वह तो सर्वविदित ही है, उसे मेरी वाणीमें सुनो—

यह आकाश अनन्तानन्त कहा गया है। उसके मध्यमें तीन भेदोंसे युक्त त्रिलोक स्थित है, जो त्रिविध वातवलयोंसे वेढ़ित एवं अखण्ड है, उनका न तो कोई संहार कर सकता है, न कोई उन्हें धारण ही कर सकता है और न कोई खण्डित ही कर सकता है। उनकी ऊँचाईका मान चौदह राजू है, (उसमेंसे) पाताल (-लोक) सात राजू प्रमाण है। समस्त मनुष्य लोक एक राजू प्रमाण है। सुन्दर सुरलोक पाँच राजू (प्रमाण) है (और) समस्त शिवलोक एक राजू प्रमाण। अमरत्वको प्राप्त जिनवरका ऐसा ही कथन है। उनके मध्यमें पन्द्रह कर्मभूमियोंसे युक्त मध्यलोक कहा गया है।

घत्ता—हे श्रेणिक नृप, सुनो, पुनः (उक्त कर्मभूमियोंमेंसे) पाँच भूमियोंमें सदा चौथा काल बना रहता है। वहाँ पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊँचे शरीर वाले, दुःखनाशक एवं जिनधर्ममें रत मनुष्य होते हैं।" ॥ ८ ॥

[१-९]

कालवर्णन

"भरत एवं ऐरावत (क्षेत्र) संख्यामें पाँच-पाँच हैं। उनमें कालकी अपेक्षा बृद्धि-हानि होती रहती है। उवसर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल छह-छह भेदोंके द्वारा अपने-अपने स्थान पर प्रकट होता रहता है ऐसा मानों। जिस प्रकार रहँटका घड़ा परिवर्त्तित होता रहता है (अर्थात् घूमनेके कारण भरता और क्रमशः खाली होता रहता है) उसी प्रकार, हे राजन्, वह कालचक्र भी परिवर्त्तित होता रहता है।

उनमेंसे सर्वप्रथम 'सुषमा-सुषमा' काल कहा गया है, जिसमें युगल-युगलिया (के रूपमें नर-नारी)के जन्मकी विकल्पना की गई है। डिम्भके जन्मके बाद ही अन्तमें जम्हाई लेते ही माता-पिता मृत्युको प्राप्तकर स्वर्ग चले जाते हैं।

वे बालक हाथकी अंगुली चूसते रहते है और वहीं पर चिरकाल तक विलास किया करते हैं। कल्पद्रुम (उनका) उपकार किया करते हैं और मनोहारी दस प्रकारके भोजन प्रदान करते हैं। (यद्यपि) तीन पल्योपम-मात्र ही वे जीवित रहते हैं (तो भी) बाल सूर्यके समान तेज कान्तिवाले होते हैं। सारपूर्ण वह (सुषमा-सुषमा काल) चार कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है और फिर समाप्त हो जाता है। पुनः द्वितीय काल आरम्भ होता है। इस (दूसरे-) कालका नाम 'सुषमा' कहा गया है, जिसकी अवधि तीन कोड़ाकोड़ी सागरकी कही गई है।

घत्ता—वहाँके मनुष्योंके शरीरका उत्सेध (अधिकसे अधिक-) छह सहस्र धनुष प्रमाण एवं (कमसे कम-) चार सहस्र धनुष प्रमाण है। वे विविध सुखोंका भोग-विलास किया करते हैं। उनकी (उत्कृष्ट-) आयु तीन पल्य एवं (जघन्य-) आयु दो पल्य-प्रमाण होती है" ॥ ९ ॥

[१-१०]

कप्पतरु दहविह दिंति भोउ णउ अंतर-मिच्चु ण कास-रोउ ।
पुणु सुसमु-दुसमु तीयउ वि कालु कोडाकोडि वि सुह-रसालु ।
बे सहस धणुह तहि दीहकाउ पल्लेक्कु भणिउ पुणु तत्थ आउ ।
पुणु कालु चउत्थउ धम्मु-धामु तहु दुसमु-सुसमु जाणेहि णामु ।
सो कोडाकोडिउ जलहि एक्कु वेयाल सहसवरिसेहि [1]क्कु ।
पंचसय धणुह तहि दीह-देहु कमि-हीणु वि कालक्कमि मुणेहु ।
तहि कोडि पुव्व जीवंति लोय धम्मत्थकाम माणंति भोय ।
तणु पंचवण्ण माणिय विणोय पडिदिणइ लिंति [1]आहारु भोय ।

घत्ता — पंचमउ कालु पुणु एव्वहिँ णिव सुणु सुक्खहीणु बहुदुक्खभरु ।
चलचित्तायारउ चलु मायारउ अवजसपावकलंकधरु ॥ १० ॥

[१-११]

दुसमकालु परिणइवि णरेसर पुण्णहीणु दुक्खिय होसहिँ णर ।
सधण-किउण धणरहिय-विबुहजण धम्मु सहिंसु भणेसहिँ बंभणु ।
सच्चु अहिंसाधम्मु रसायणु जिणवरभासिउ बहुसुहभायणु ।
तं अधम्मु पभणेसहिँ णिद्दय णिव-सम्माण-पमाय-वसंगय ।
जणु मिच्छत्तएण पम्मत्तउ णउ सद्दहइ जिणागमु वुत्तउ ।
णरवइ होसहिँ पय-संपय-रय मुणिवर संग-परिग्गह-रइ-कय ।
बहु-कर-पूरिय-पय णिवसेसइ सङ्ढ-तिण्णि-कर देहु हवेसइ ।
आउ ताहँ वरिसइ बोसोत्तरु दुक्खकिलेसु सहेहिँ णिरंतरु ।
अकुलीण जि होहिँ ति णरेसर कुल-बल-सील-सुद्ध-सेवय णर ।
जणणि-जणण-पडिकूल वि पुत्तइँ कुलतिय पुणु सज्जाइ वि [2]चत्तइँ ।
एक्कबीस सहसइँ संवच्छर कलिपमाणु भासंति अमच्छर ।
तत्थ जि विरलहँ धम्मु उपज्जइ कहमवि कासु वि वयभरु छज्जइ ।

१. ख ति-अहारु । २. क. ख. चित्तइँ ।

[१-१०]

कालवर्णन (जारी)

"वे कल्पवृक्ष (—वहाँके निवासी मनुष्योंके लिये) दस प्रकारके भोजन प्रदान करते है। उन-(मनुष्यों)की न तो बीचमें (अकाल-) मृत्यु होती है और न खांसी आदि रोग ही होते हैं।

(सुषमा कालके बाद) पुनः सुखों एवं दुखोके रसायनके समान तीसरा 'सुषम-दुषमा काल' आता है, जिसकी अवधि दो कोड़ाकोड़ी सागरकी है। वहाँ पर (मनुष्योंके) शरीरकी दीर्घता (ऊँचाई) दो सहस्र धनुष तथा आयु एक पल्य प्रमाण कही गई है।

पुनः धर्मके धामके समान चतुर्थकाल आता है, जो 'दुषम-सुषमा'के नामसे जाना जाता है। यह काल बियालीस सहस्र वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरके बाद समाप्त होता है। वहाँके लोगोंके शरीरकी दीर्घता पाँच सौ धनुष प्रमाण जानों। (वह भी) कालक्रमसे क्रमशः हीन-हीन होती जाती है। वहाँ एक कोटिपूर्व वर्षों तक लोग जीवित रहते हैं। धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ पूर्वक भोग-विलास करते रहते हैं। (उस समयके) मनुष्योंके शरीर पाँचों वर्णोंके होते हैं। वे विनोद-पूर्वक जीवन-यापन करते है तथा प्रतिदिन आनन्दपूर्वक तीन बार आहार लेते हैं।

घत्ता—इस (चतुर्थ काल)के बाद हे राजन्, अब पंचमकाल (का वर्णन) सुनो, जो सुखोंसे हीन, विविध दुखोसे भरपूर, चंचल-चित्त कारक, चपल एवं मायारत है, तथा अपयश, पाप एवं कलंकका घर है॥ १०॥

[१-११]

कालवर्णन (जारी)

"हे नरेश्वर, दुषमाकालके परिणत होते ही मनुष्य पुण्यहीन एवं दुखी होने लगेंगे। धनवान् (व्यक्ति) कंजूस एवं विद्वान् लोग धनरहित होंगे। ब्राह्मण लोग 'हिंसा' को 'धर्म कहने लगेंगे। विविध सुखोंके भाजनरूप जिस सत्य एवं अहिंसाको जिनवरने धर्मरसायन कहा है, उसे ही निर्दय लोग 'अधर्म' कहेंगे। (फिर भी) राजा लोग प्रमादके वशीभूत होकर उन्हें ही सम्मानित करेंगे। लोग मिथ्यात्वसे प्रमत्त रहेंगे, जिनोक्त आगमोंमें श्रद्धान नहीं करेंगे, राजागण पद (लोलुपता) एवं सम्पदामें रत रहेंगे। मुनिवर परिग्रहके संगमें रत रहेंगे। प्रजा विविध करोंमें डूबी रहेगी। मनुष्य-शरीर साढे तीन हाथका होगा। उनकी आयु बीस वर्षसे कुछ ही अधिक रहेगी। वे दुखों एवं क्लेशोंको निरन्तर सहते रहेंगे। अकुलीन व्यक्ति नरेश्वर होंगे तथा कुलीन, बलवान् एवं शील-शुद्ध व्यक्ति (विवश होकर) उनकी सेवा करेंगे। पुत्र (अपने) माता-पिताके प्रतिकूल और कुलीन महिलाएँ मर्यादासे विचलित होंगी। वीतरागने इक्कीस सहस्र वर्षों तक कलिकालका प्रमाण कहा है। उस कालमें किसी विरलेमें ही धर्मकी भावना उत्पन्न होती है और बड़ी कठिनाईसे ही कोई व्रत-भारसे सुशोभित होता है।

घत्ता—पुणु छट्ठमु कालु दुखवमालु दुक्खम-दुक्खम णामु चलु।
गिरि वणि णिवसेसहिँ कंदअसेसहिँ णरु भुंजेसहिँ पावफलु ॥ ११ ॥

[१-१२]

णउ असणु ण अण्ण सरीरि चेलु णउ वण्णु वग्गु आयारु-मेलु।
णउ हय[1]-मय-धेणु ण पहु[ण] भिच्च णर णग्ग धूम अलिवण्ण णिच्च।
कालहु पवेसि बे हत्थ काय जीवेसहि वरिसइ वीस राय।
भक्खंति मीण जलयरहँ सत्थु कालावसाणि पुणु एक्कु हत्थु।
कायहु पमाणु भासंति जोइ सोलह सवच्छर आउ होइ।
इकवीस सहसवरिसइँ पमाणु उवसप्पिणि अइदूसहु वियाणु।
इम कालचक्कु दहखेत्ति राय चक्कु व्व फिरइ तं विविह भाय।
पुणु तीयइँ कालहु किं पि सेसि पल्लहु अट्ठम-भायहिँ विसेसि

घत्ता—तहु चउदह कुलयर कुलसंपयधर होंति णिसुणि भो रायवर।
पडिसुइ-णामालउ पढम-कुलालउ देसावहि-संजुवउधर ॥१२॥

[१-१३]

पुणु सम्मइ-कुलयरु उप्पण्णउ खेमंकरु तहु[2] तीयउ धण्णउ।
खेमंकरु सीमंकरु भासिउ सीमंधरु छट्ठउ वि सुहासिउ।
विमलवाहु चक्खुब्भउ मणु पुणु णवमु जसस्सी जाणहु पहु गुणु।
अहिचंद वि चंदाहु जि णिम्मलु मरुएवउ वि पसेणजिउ गयमलु।
णाहिराउ अंतिमउ जि कुलयरु मरुएवी णामा भज्जहि वरु।
सय पंच वि धणु पणवीसाहिउ उच्चत्तु देह णीहाराहिउ।
परिगलियउ तइउ कालु पुणु पुव्वइ चउरासी लक्ख सुणु।
थक्कउ गय कप्पद्दुम पवरु थिय कम्मभूमि होएवि परु।

---

१. क. दय। २ क ख. तहि।

घत्ता—पुनः दुःखोंको राशिके समान दुषमा-दुषमा नामका चंचल एवं पापोंके फलका साकाररूप छठवाँ काल आता है, जिसमें मनुष्य गिरि एवं वनोंमें निवास करेंगे तथा वहाँ कन्दमूलका भक्षण करेंगे ॥ ११ ॥

[१-१२]

कालवर्णन एवं कुलकरोंका परिचय

"उस (छठवें काल)में न तो भोजन मिलता है, न अन्न और न शरीरके लिये वस्त्र ही। वर्ण, वर्ग एवं आचार (-विचार)का भी मेल नहीं रहेगा। न हय, गज एवं गायें रहेंगी और न स्वामी एवं भृत्य ही। व्यक्ति नंगे रहेंगे और (उनके शरीरका) वर्ण निरन्तर धुएँ एवं भौंरेके समान काला रहेगा। (छठवें) कालके आरम्भ होते ही शरीर दो हाथ प्रमाण होने लगेगा और हे राजन्, वे (मात्र) बीस वर्ष तक ही जीवित रहेंगे तथा निश्चय ही मछली (आदि) जलचरोंका भक्षण करेंगे।

छठवें कालके अन्त समयमें (उनके) शरीरका प्रमाण एक हाथ और आयु (मात्र-) सोलह वर्षोंकी रहेगी, ऐसा योगियोंने कहा है। अत्यन्त दुस्सह यह उवसर्पिणी-काल इक्कीस सहस्र वर्ष प्रमाण का जानो। हे राजन्, यह कालचक्र दसों क्षेत्रों (पाँच भरत एवं पाँच ऐरावत)में चक्रके समान विविध भाँति फिरता रहता है।

जब तीसरे कालका कुछ अंश शेष बचता है और उसमें (जब) पल्यका आठवाँ भाग अवशिष्ट रहता है—

घत्ता—तभी कुल एवं सम्पत्तिके धारी चौदह कुलधर उत्पन्न होते हैं। हे राजन्, (अब उनका वर्णन-) सुनो। उनमेंसे सर्वप्रथम प्रतिश्रुत नामका कुलकर होता है, जो कुलीन, देशावधिज्ञानयुक्त एवं संयमव्रतका धारी होता है" ॥ १२ ॥

[१-१३]

कुलकरोंका परिचय

"पुनः (दूसरा) सन्मति (नामका) कुलकर उत्पन्न हुआ। उसके बाद तीसरा (उदार) प्रकृति वाला खेमंकर (कुलकर) हुआ। (इसके बाद) खेमंधर (एवं) सीमंकर (नामक कुलकर) कहे गये हैं। (उनके बाद) छठवाँ कुलकर सीमंधर हुआ जो सुखोंका आश्रय था। पुनः विमलवाहु एवं चक्षूद्भवको मानो। पुनः प्रभूत गुणों वाले यशस्वी नामके नौवें कुलकरको जानो। (इसके बाद) निर्मल (बुद्धि वाले) अभिचन्द्र एवं चन्द्राभ, तत्पश्चात् पापमलसे रहित मरुदेव एवं प्रसेनजित हुए। अन्तिम कुलकर नाभिराय हुए (जिनकी) मरुदेवी नामकी श्रेष्ठ भार्या थी। उन (नाभिराय)की देहकी ऊँचाई पच्चीस अधिक पाँच सौ अर्थात् पाँच सौ पच्चीस (५२५) धनुष प्रमाण थी, जो नीहार (-क्रिया)से रहित थी। (इस प्रकार उस) तीसरे काल (के वर्णन) की समाप्ति हुई (और अब) चौरासी लाख पूर्वका वृत्तान्त सुनो। उसमें श्रेष्ठ कल्पवृक्ष समाप्त हो गये और उसके बादसे ही कर्मभूमिका प्रारम्भ हुआ।

घत्ता—इंवि ता धणयहो पयडिय-विणयहो जंपिउ अणुराएण विवि।
भो जक्ख-गुणायर णिसुणहि भायर सवणजुवलु णिय थिरु धरिवि॥ १३॥

[१-१४]

अट्ठारह कोडाकोडि आसि विणु धम्मेँ वियलिय तोयरासि।
एव्वहिँ होसइ तित्थयरु तित्थु पयडेसइ भारहि धम्मपंथु।
णिव णाहि णरेंदहो पीय-पत्ति मरुएवि णाम णं धम्मभुत्ति।
तहि उवरि हवेसइ तित्थणाहु लोयत्तय-वोहणु दीहबाहु।
इय जाणिवि जण-मण जणिय तुट्ठि जाइवि विरयहि भो रयणविट्ठि।
जं जंपिउ एम सहसक्खेँ तं आएसु वि मण्णिउ जक्खेँ।
गयउ गंपि तहि पुणु पुरु सारी उज्झाउरि णिम्मिय ति पयारी।
कणयधार वरिसइ जक्खेसरु णं धणयागमि जलहरु कयसरु।
एत्तहि णाहिणरिंदहु पत्तिए णियमंदिरि पल्लंकि पसुत्तिए।
णिद्दावस मउलाविय णेत्तिय सुइणावलि जोयइ सुपवित्तिय।

घत्ता—वरि सिविणय-पंति णरेंद-पिया पिच्छिवि मणि संतुट्ठिया।
मरुएवी हंसतूलिसयणा सुप्पहाए लहुट्ठिया॥ १४॥

[१-१५]

सुधम्मत्थकज्जम्मि दक्खा पवित्ता गया णाहपासम्मि संतुट्ठचित्ता।
णिसा दिट्ठ रायस्स सिट्ठो सुविट्ठो तमायण्णियं राउ चित्तम्मि हिट्ठो।
पयंपेइ होएसए तुज्झु पुत्तो पिए लोयसारो अणग्धो पवित्तो।
गइंदेण विट्ठेण देवेंद-पुज्जो मिच्छत्त-मोहंधयारंत-सुज्जो।
मएंदेण विट्ठेण एक्कंगवीरो महातेयवंतो सुरेँदद्दिधीरो।
गवीणाहिणा भूमिभाए पहाणो रमादंसणे लच्छि-कोलाहिठाणो।
पिए दंसणे दिट्ठ जं पुप्फमाला पियालिंगए तेण सो मुत्तिबाला।
मयंकेण संदेह-संतावहारी दिणेसेण णिद्दोस-उज्जोवयारी।
झसाणं जुए णिम्मलं-णट्ठदोसं जुए पुण्णकुंभेण सण्णाणकोसं।
सरेणं महाराय पोमाणिवासं समुद्देण सामुद्दमुद्दाविसेसं।
मइंदासणे आसणं सेलइंदो सुराणं विमाणे थुउ देववंदो।

घत्ता—तभी स्वर्गलोकमें इन्द्रने प्रकट होकर विनयशील कुबेरसे अनुरागपूर्वक कहा—'हे यक्ष, हे गुणाकर, हे भाई, अपने दोनों कानोंको स्थिर कर (मेरी बात) सुनो।' ॥ १३ ॥

[१-१४]

अन्तिम कुलकर नाभिराय का परिचय एवं उनकी पत्नी मरुदेवी द्वारा स्वप्न-दर्शन

"धर्मके बिना ही अठारह कोड़ा-कोड़ी (सागर) तक जलराशि विगलित रही। अब इस समय तीर्थंकरका तीर्थ (प्रारम्भ—) होगा, जो भारतवर्ष (भरतक्षेत्र) में धर्मपन्थ प्रकट करेगा। नृप नाभिनरेन्द्रकी, धर्ममूर्तिके समान मरुदेवी नामकी प्रियपत्नी है। उसके उदरसे तीनों लोकोंके बोधन-हेतु दीर्घबाहु तीर्थनाथ (उत्पन्न) होंगे। यह जानकर हे यक्ष, तुम जाकर लोगोंके हृदयोंको सन्तोष देनेवाली रत्नवृष्टि की रचना करो।"

इस प्रकार सहस्राक्षने जो कुछ कहा, यक्ष (राज) ने उसके आदेशको माना और चला गया। चलकर सारपूर्ण उस पुण्यनगरीमें पहुँचा। वहाँ उसने प्यारी अयोध्यापुरीका निर्माण किया। (तत्पश्चात्) यक्षेश्वरने स्वर्णधारा बरसायी, मानों कुबेरके आगमन पर जलधरने (मंगल—) स्वर ही किया हो।

इसी बीच अपने भवनमें पलंग पर शयन करने हेतु निद्रावश (अपने) नेत्रोंके बन्द करते ही नाभिनरेन्द्रकी पत्नी मरुदेवीने शुभसूचक स्वप्नावली देखी।

घत्ता—नाभिनरेन्द्रकी प्रियतमा उस श्रेष्ठ स्वप्नावलीको देखकर मनमें सन्तुष्ट हुई। मरुदेवी प्रभातकालमें ही हंसतूलिकावाली शैयासे तत्काल उठी॥ १४॥"

[१-१५]

सोलह स्वप्नोंका फल-वर्णन

उत्तम धर्म एवं अर्थ (पुरुषार्थ) के कार्यमें दक्ष, पवित्र एवं सन्तुष्ट चित्त वह (मरुदेवी अपने) नाथ (नाभिराय) के पास गई। (वहाँ उसने) रात्रिमें देखे हुए स्वप्न राजाके लिए कह सुनाये। उन्हें सुनकर राजा (अपने) चित्तमें हर्षित हुआ और (मरुदेवीसे) बोला—"हे प्रिये, तुझे लोकमें सारभूत, अनर्घ्य एवं पवित्र पुत्र उत्पन्न होगा। (१) गजेन्द्रके देखनेसे वह (पुत्र) देवेन्द्रों द्वारा पूज्य तथा मिथ्यात्त्व रूपी मोहान्धकारका तत्काल अन्त करनेवाला होगा। (२) मृगेन्द्रके देखनेसे (वह) एकमात्र वीर, महान् तेजस्वी एवं सुमेरुके समान धीर होगा। (३) वृषभके देखनेसे वह पृथिवी भागका प्रधान बनेगा। (४) रमा (लक्ष्मी) के दर्शनसे वह मोक्ष-लक्ष्मीका क्रीड़ास्थल होगा। हे प्रिये, स्वप्नमें जो (५) पुष्पमाला देखी है, सो वह मुक्ति रूपी बालाके साथ प्रिय आलिङ्गन करेगा। (६) मयंकके दर्शनसे वह सन्देह रूपी सन्तापको दूर करनेवाला होगा। (७) सूर्यदर्शनसे वह निर्दोष एवं (धर्म को) प्रकाशित करनेवाला होगा। (८) मीनयुगलको देखनेसे वह निर्मल एवं दोषोंको नष्ट करनेवाला होगा। (९) पूर्ण कुम्भयुगल देखनेसे वह (साक्षात्) ज्ञानकोश होगा। (१०) पद्मयुक्त सरोवर देखनेसे वह महान् राजा बनेगा। (११) समुद्रदर्शनसे वह प्रमोदकारी एक मुद्राविशेष धारण करेगा। (१२) मृगेन्द्रासन (सिंहासन)के दर्शनसे वह शैलेन्द्र (—मेरुपर्वत) पर आसन प्राप्त करेगा। (१३) सुरविमानके दर्शनसे वह

फणिदालएणं तिसेया-पवत्तं मणीणं चएणं गुणाणं पि जुत्तं ।
हुवासेण कम्मेँधणाणं हुयासो पिए जाणि पुत्तो जयत्तप्पयासो ।

घत्ता—इय सिविणयदंसणे दुरियविहंसणे तुव उअरिहिँ सुउ होसइ ।
णाणत्तयलंकिउ गुणगणपंकिउ इम णरणाहु पघोसइ ॥ १५ ॥

(१-१६)

तं णिसुणिवि मरुएवि पतुट्ठिय णियमंदिरि गय चित्तपहिट्ठिय ।
अण्णहि दिणि सव्वट्ठविमाणहु चउवि उवण्णु गब्भि सुट्ठाणहु ।
गब्भमज्झि ठिउ जिणवरसारउ कमलिणि-दलि जलबिंदूयारउ ।
वसुहधार पण्णारह मासइँ जक्खराउ वरिसिउ सुपयासइँ ।
छह-देविहिँ सेविय जिणमायरि णिवसइ सुहि पुणु जाम किसोयरि ।
ता सुरवरेण गब्भपूया-विहि णिम्माविय जण-मणहँ जणिय दिहि ।
उप्पण्णउ तिहुवण-परमेसरु महि उग्गमियउ णाइँ दिणेसरु ।
अट्ठोत्तरसहासलक्खणधरु मुत्तिबहुल्लियाहिँ पहिलउ वरु ।
भवणवासि घरि संख पवज्जिय वित्तराहँ गिहि पडह पवज्जिय ।
जोइस सोह-णिणाय समुट्ठिय घंटासण कप्पाहँ जि घुट्ठिय ।
सिंहासण कंपिय असुरेँदहु जाणिवि महि उप्पत्ति जिणेँदहु ।
चडिवि सक्कु चल्लिउ अइरावणि अण्ण वि चलिय चडिवि णियवाहणि ।

घत्ता—जिणभत्ति करायरु सुक्खइसायरु चउविहसुर संपाय जुउ ।
उज्झाउरि आयउ मणि अणुरायउ परिअंचिवि तिव्वार थुउ ॥ १६ ॥

[१-१७)

पउलोमि आणिउ झत्ति णाहु सक्कहो करि दिण्णउ णाणबाहु ।
संचालिउ णहयलि पुणु गइंदु सिरि धरिउ छत्त णं पुण्णिमिंदु ।
आयासु वि अट्ठावणइँ सुद्धु सहसइँ जोयण लंघेवि रुद्धु ।
पुणु पंडुसिलोवरि आसणम्मि जिणणाहु जि थप्पिउ तहि खणम्मि ।

देवगणों द्वारा स्तुत्य होगा। (१४) फणीन्द्रके भवनके दर्शनसे वह तीनों लोकों द्वारा सेवाको प्राप्त होगा। (१५) मणियोंको राशिके देखनेसे वह गुणगणसे युक्त होगा। हे प्रिये, (१६) निर्धूम अग्निदर्शनसे वह तुम्हारा पुत्र कर्मरूपी ईंधनको जला देगा और तीनों लोकोंको प्रकाशित करेगा, ऐसा जानो।

घत्ता—इस प्रकार पापोंके विध्वंस करनेवाले स्वप्न-दर्शनके फलस्वरूप तुम्हारे उदरसे (ऐसा) पुत्र उत्पन्न होगा जो त्रिविध (—मति श्रुत एवं अवधि) ज्ञानोंसे अलंकृत एवं गुणगणसे युक्त होगा।" इस प्रकार नरनाथ (नाभिराय) ने घोषणा की॥ १५॥

[१-१६]

ऋषभदेवका गर्भावतरण एवं जन्मकल्याणक

उन स्वप्नफलोंको सुनकर मरुदेवी अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्नचित्त होकर अपने भवनमें पहुँची।

अन्य दूसरे दिन (एक जीव) अपने निवास स्थल—सर्वार्थ (-सिद्धि नामक) विमानसे चयकर (मरुदेवीके) गर्भमें आया। (वह) जिनवर-श्रेष्ठ कमलिनी-दलमें जलबिन्दुके आकारके समान गर्भके मध्यमें स्थित रहे। पन्द्रह मास तक यक्षराजने प्रकाशरूपमें (निरन्तर) स्वर्णवर्षा की। (श्री, ह्री आदि-) छह प्रकारकी देवियोंसे सेवित जिनमाता उसी प्रकार सुखपूर्वक रहने लगी, जिस प्रकार कि कोई किशोरी कन्या।

तब सुरवरने उस गर्भकी, लोगोंके मनमें धैर्य उत्पन्न करने वाली पूजा, विधिपूर्वक रचाई। तीनों लोकोंके परमेश्वर उत्पन्न हुए, मानों महीतल पर दिनेश्वर ही उदित हुए हों। वह (शिशु) एक हजार आठ लक्षणोंका धारी था एवं मुक्तिरूपी बहुरियाका सर्वप्रथम (होने वाला) वर।

भवनवासियोंके घरमें (जिनेन्द्रके जन्म लेने पर) शंख बज उठे (और) व्यन्तरोंके घरमे पटहवाद्य बज उठे। ज्योतिषियोंके यहाँ सिंहनिनाद हो उठा और कल्पवासियोंके यहाँ घण्टासन ठुकने लगे। महीतल पर जिनेन्द्रकी उत्पत्ति जानकर असुरेन्द्रका सिंहासन कम्पित हो उठा। शक्र ऐरावत पर चढ़कर चला। अन्यान्य (देव) भी अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर चले।

घत्ता—सुखोंके सागरके समान जिनेन्द्र भगवानकी आदरपूर्वक भक्ति करते हुए तथा मनमें अनुरक्त होकर चतुर्विध देवगण अयोध्यापुरी आये और उन्होंने तीन बार नमस्कार कर स्तुति की॥ १६॥

[१-१७]

पाण्डुकशिला पर १००८ कलशोंसे अभिषेक एवं कर्णछेदन-संस्कार

इन्द्राणी झटपट (उस) ज्ञानबाहु (शिशु) नाथको ले आई और उन्हें शक्रके हाथोंमें (सौंप) दिया। (शक्रने शिशुके) सिर पर छत्र धारण किया (वह ऐसा प्रतीत होता था) मानों, पूर्णमासीका चन्द्र ही हो और (फिर उस शक्रने) गजेन्द्रको आकाश-मार्गमें संचालित किया। इस प्रकार अट्ठानवे सहस्र योजन शुद्ध किन्तु रुद्ध आकाश-मार्गको लांघकर उस शक्रने तत्क्षण ही पाण्डुक शिलाके ऊपर (-स्थित) आसन पर जिननाथको स्थापित किया। न्हवनके आरम्भमें ही

दुंदुहिसर पडह वि संख-ताल वज्जिय ण्हवणारंभहिँ रसाल।
जय-जय सद्दवट्ठिउ भुवणमेहि आणंदु ण मायउ सुरहँ देहि।
अमरेहिँ जि किय णहपंति ताम खीरंबुहि तडु थिउ पयडु जाम।
वरकलस सहस अट्ठाहिएहिँ जिणवरु ण्हाविउ सुरवरसएहिँ।

घत्ता—जय-जय-सद्दें जिणु मंगलविहि पुणु ण्हाविवि अच्चिउ तेण पहु।
पविसुई लेप्पिणु पय पणवेप्पिणु सवणजुम्मु विंधियउ लहु॥ १७॥

[१-१८]

कुंडल कण्णि जि हारु उरत्थलि कंकणु भुइँ कडिसुत्तउ कडियलि।
भुवणहँ तिलयहु तिलउ वि दिण्णउ सुरवइ मण्णइ हउँ इह धण्णउ।
थोत्त[1] विंति आढत्तिय पुणु वर जय तित्थेस पढम तित्थंकर।
जय णाहेय सयल हियंकरु जय अखंड केवल विज्जेसरु।
जय अणंत वरगुणरयणायर जय मिच्छत्त-तमोह-दिवायर।
इय थुणेवि पुणु चित्त वियारिवि कर अंगुट्ठि अमिउ संचारिवि।
पुणु वि अउज्झहिँ[2] णेउ भडारउ जणणिहिँ अप्पिउ मयणवियारउ।
पुणु पविपाणि वि रहसें णच्चिवि गउ णियठाणि पियर तहु अंचिवि।
कालें जंति जिणवरु वड्ढइ णं वरधम्महु अंगायड्ढइ।

घत्ता—सहु अमरकुमारहिँ जिणिय वियारहिँ कीलइ देउ सपुण्ण-वसु।
णाणासुहमाणइ कलगुण जाणइ लोयसामि उवमियइ कसु॥ १८॥

इय सिरिकोसलचरिए णिरुवमसंवेयरयणसंभरिए सिरिपंडिय-रइधु-विरइए सिरिआणा साहुसुत-रणमल-अणुमण्णिए छक्कालणिद्देसु कुलयर-जिणणाहउप्पत्तिवण्णणो णाम पढमो संधी-परिच्छेऊ सम्मत्तो। संधिः॥ १॥ छ॥

●

आशीर्वादः

अभिमतगुणग्रामः कामं जगज्जनवल्लभः
कलभलीलाशीलः कलंकलकेलिदः।
जयतु जगतां सारः सतां शिरसि शेखरः
परमधार्मिकः साधु रणमल्ल-नामकः[3]॥ १॥

---

१. क-ख-थोत्तविंत्ति। २. क-ख-अउसहिँ। ३. क-ख-णामकः।

सरस दुन्दुभि स्वर, पटह, शंख एवं ताल बजने लगे। भुवनको मोहित कर देने वाला जय-जय स्वर उठने लगा। (उससे उत्पन्न) आनन्द देवोंकी देहमें न समा सका।

देवोंने वहाँ आकाश-मार्गमें जो पंक्ति बनाई थी वह प्रकट होकर क्षीराम्बुधि तट तक स्थित हुई और श्रेष्ठ एक सहस्र आठ कलशोंसे सैकड़ों देवोंने जिनवरका न्हवन किया।

घत्ता—उस शक्रने जय-जयकार शब्दके साथ मंगल विधिपूर्वक जिन भगवानका न्हवनकर अर्चना की और वज्रसूची लेकर (भगवानके) चरणोंमें प्रणामकर शीघ्र ही (उनके) श्रवणयुगल वेध दिया ॥ १७ ॥

[१-१८]

ऋषभदेव की शिशु अवस्थाका वर्णन

कानोंमें कुण्डल, वक्षस्थल पर हार, भुजाओंमें कंकण तथा कटिभागमें कटिसूत्र (पहिनाकर) (त्रि-) भुवनके लिये तिलकके समान उन नाथको तिलक लगाया और (इस प्रकार) उस सुरपतिने 'मैं इस संसारमें धन्य हो गया' इस प्रकार माना। पुनः उसने श्रेष्ठ स्तोत्र एवं विनती प्रारम्भ की—'हे तीर्थेश, हे प्रथम तीर्थंकर, आपकी जय हो। हे नाभेय, आप सभीके हितकारी हैं, आपकी जय हो। हे अखण्ड, कैवल्य-विद्याके ईश्वर, आपकी जय हो। हे श्रेष्ठ अनन्त गुणरूपी रत्नोंके सागर, आपकी जय हो। मिथ्यात्वरूपी अन्धकार-समूहके लिये दिवाकरके समान हे देव, आपकी जय हो।' इस प्रकार स्तुतिकर पुनः चित्तमें (कुछ) विचार करके उस (सुरपति) ने (शिशुके) हाथके अंगूठेमें अमृतका संचार किया। पुनः (वह शक्र) मदनका विदारण करनेवाले उस भट्टारक-शिशुको अयोध्या नगरीमें लाया और उसकी जननीके लिये अर्पित कर दिया।

पुनः उस वज्रपाणिने 'रहस-बधावा' का नृत्य किया और (तत्पश्चात् शिशुके माता-पिता की अर्चना कर) अपने स्थान पर लौट गया। कालके व्यतीत होनेके साथ ही जिनवर भी वृद्धिगत होने लगे, मानों श्रेष्ठ धर्मका अंग ही बढ़ने लगा हो।

घत्ता—अमरकुमारोंके साथ वे जिनेन्द्र विचरण करने लगे और स्वपुण्यवश वे देव क्रीड़ाएँ करने लगे। वे नाना प्रकारके सुखोंका अनुभव करने लगे तथा समस्त कला-गुणोंको जानने लगे। उस लोक-स्वामी की उपमा किससे दूँ ? ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीपण्डित रइधू द्वारा विरचित श्री आणासाहूके पुत्र रणमल द्वारा अनुमोदित निरुपम संवेगरूपी रत्नके लिये स्मरणीय श्रीकोशलचरितके षट्कालनिर्देश प्रकरणमें (अन्तिम) कुलकरके यहाँ जिननाथ (वृषभ) की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाला प्रथम सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ ॥ १ ॥ छ ॥

(ग्रन्थ-प्रेरकके लिये प्रदत्त—) आशीर्वाद

सद्गुण-समूहसे युक्त, मनोहर, लोकप्रिय, हस्तिके बच्चेके समान सुन्दर-सुन्दर लीलाओं वाला, सुन्दर क्रीड़ाएँ करनेवाला, संसारमें सारभूत, सज्जनोंका शिरोमणि, परमधार्मिक रणमल नामक साहू जयवन्त रहें ॥ १ ॥

संधि—२

[२-१]

घत्ता—जिणणाहु कलायरु गुणरयणायरु सुरणरवरसेविउ पहु।
जा णिवसइ सिरिहरि बहुसोहाधरि ता तहि पय मिलि आय लहु ॥ छ ॥

पणविवि पहु विणत्तु समूहें   भुक्ख-सीय-आयव-दुह-दूहें।
सुरतरवरु इंछियसुह धण्णा   एव्वहिँ ते सयल वि उच्छिण्णा।
अम्हह को उवाउ जीवेवए   खाणि-पाणि तणु-दुह णासेवए।
ताहँ वयणु णिसुणेवि [1]भडारउ   [2]कलणिउणं वि कहइ जगसारउ।
असि-मसि-किसि-पमुहाइ जि विज्जइ   भासिय णाइँ लोय सहिज्जइ।
बीसलक्ख पुव्वइँ लंघेप्पिणु   थिउ जिणु रज्जि विवाहु करेप्पिणु।
कच्छ महाकच्छहु सुव धण्णइ   णंदि सुणंदी णाम को वण्णइ।
ताहि समाणु रज्जु विलसंतहो   इच्छिय-काम-भोय भुंजंतहो।
णंदण सउ जाया जगि सारा   भरह-बाहुबलि-पमुह पियारा।
बंभी सुंदरि बे पुणु दुहियउ   कय चिरपुण्णें जायउ सुहियउ।

घत्ता—तेसट्ठि वि लक्खइ पुव्व समक्खइ रज्जु करंतिहु गयइ तहु।
अज्ज वि तित्थेसरु सेवइ रइभरु इम चिंताविउ देवपहु ॥ १९ ॥

[२-२]

तिहुवण-जण-मण-आसाऊरणु   अज्ज जि भोयासत्तउ जिणमणु।
किं पि करमि वइरायहो कारणु   जेण धरइ तवभरु भवतारणु।
जेण भरहि तित्थत्तु पवट्टइ   मोहमहाभरु जेणोहट्टइ।
इम चिंतिवि तिं पुणु चंदाणण   अंताउरु पेसिय णीलंजण।
सक्काणए सा गय पुणु तेत्तहिँ   सहहिँ णिसण्णउ जिणवरु जेत्तहिँ।
कयपणाउ पुणु अवसरु मग्गिउ   णाडयविहिणा जिणउल्लग्गिउ।

---

१. क. ख. भंडारउं। २. क. ख. कलणिउ जंबु।

सन्धि—२

[२-१]

जन-कल्याणके हेतु ऋषभदेव द्वारा असि, मसि, कृषि आदि विद्याओंका उपदेश

घत्ता—कलाकर—चन्द्रमाके समान, गुणरूपी रत्नोंके आकर—समुद्रके समान तथा देवों एवं मनुष्योंसे सेवित जिनेन्द्रनाथ जब अनेक शोभाओंसे सम्पन्न अपने श्रीगृहमें निवास कर रहे थे, तभी प्रजाके लोग मिलकर वहाँ आये ॥ छ ॥

भूख, शीत एवं आतपके दुखसे दुखी उस जनसमूहने प्रभुको प्रणाम कर प्रार्थना की—"(हे देव), इच्छित सुख एवं धन प्रदान करनेवाले जो श्रेष्ठ कल्पवृक्ष थे, इस समय वे सभी नष्ट हो गये हैं। हमारे जीवित रहने, खाने-पीने तथा शरीरके दुखोंको नष्ट करनेका (अब) क्या उपाय है? (कृपाकर उन्हें शीघ्र बतलाइये)।" प्रजाजनोंके ये वचन सुनकर कलाओंमें निपुण एवं संसारके लिए सारभूत भट्टारक (ऋषभ) नाथने (उन्हें आश्वास्त किया और) उत्तर स्वरूप असि, मसि, कृषि आदि प्रमुख विद्याएँ लोकके हितार्थ बताईं।

बीसलाख पूर्व तक जिनेन्द्र ऋषभ राज्य (—व्यवस्था) में स्थित रहे। उसके बाद (राजा—) कच्छ एवं महाकच्छकी नन्दी एवं सुनन्दी नामकी श्रेष्ठ एवं अवर्णनीय कन्याओंके साथ विवाह करके, एवं उनके साथ इच्छित काम-भोग भोगनेवाले तथा राज्य (—सिंहासन) को सुशोभित करनेवाले उन (प्रभु ऋषभ) के, संसारमें सारभूत भरत एवं बाहुबलि प्रमुख सौ प्रिय पुत्र उत्पन्न हुए और चिरकृत पुण्यके फलसे सुखोंको प्राप्त ब्राह्मी एवं सुन्दरी (नामकी) दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं।

घत्ता—"राज्य करते हुए इन तीर्थेश्वरके त्रेसठ लाख पूर्व व्यतीत हो गये (फिर भी) अभी तक वे रति-विलासोंका सेवन कर रहे हैं।" इस प्रकार प्रभु (ऋषभ) ने देवोंको चिन्तित कर दिया ॥ १९ ॥

[२-२]

रंगशालामें नीलाञ्जनाकी आकस्मिक मृत्यु

"त्रिभुवनके लोगोंके हृदयोंकी आशाओंको पूर्ण करनेवाले जिनेन्द्रका मन आज भी भोगासक्त है? अतः (अब मैं) इनके वैराग्यका कोई कारण (—उपस्थित) करूँ, जिससे यह भवतारण (नाथ) तपका भार धारण कर लें और जिससे भरत क्षेत्रमें तीर्थंका प्रवर्त्तन हो, जिससे मोहका महान् भार हट जाय।" ऐसा विचार करके उस (शक्र) ने एक चन्द्रवदना नीलाञ्जना (नामकी अप्सरा) को उनके अन्तःपुरमें भेजा। पुनः शक्रके द्वारा लाई गई वह नीलाञ्जना वहाँ गई जहाँ राज्य सभामें जिनवर विराजमान थे। उसने (उन्हें) प्रणाम किया और जिनवरके सन्मुख नाटक-विधि (—से उनके मनोरञ्जन करने) का अवसर माँगा।

रंग पाइट्ठु विज्जुल-अणुहर हाव-भाव-बिब्भम[1]-रससुहयर ।
गेउ-वज्जु जं भारहि वुत्तउ पयडिय तंताइ जह सुत्तउ ।
सुरणरवर-सह-मणु मोहंती पडिय धरत्ति झत्ति लोहंती ।
पाणविसज्जिय मुव णीलंजस हाहारउ जायउ पयडियरस ।

घत्ता—णीलंजसमरणें जणसुहहरणें जिणहु चित्त हुव संकवर ।
जिह एह सुरंगण रंजिय-जण-मण गय तह अण्णवि एत्थ धर ॥ २० ॥

[२-३]

णीलंजस जं महि घुलिय दिट्ठु णाहहु मणि तं संका पइट्ठु ।
धी-धी संसारु अणत्थमूलु मे-मे मण्णइ पुणु मोह-भूलु ।
खणि दिट्ठ-पणट्ठु अणिच्च सव्व कोहारइ णरभउ दुलहु भव्व ।
संसारिय-सुक्खु अणंत-दुक्खु जाणंतु वि सेवइ तं पि मुक्खु ।
सव्वह अवसाण ण भंति का वि होसइ इम पुणु-पुणु चित्ति भावि ।
तं कारणु लहिवि विरत्तु णाहु लोयंतिएहिँ पुणु णविउ साहु ।
भो आइदेव चिंतियउ चारु णट्ठउ सुधम्मु उद्धरहि सारु ।
इउ जंपिवि गय ते सग्गि जाम विसहें विण्णउँ णिय रज्जु म
भरहेसरस्स पुणु चउणिकाय सुरणर संपाइय णविय पाय ।
सिविया-जाणें आरूढ णाहु सुरवरेहिँ णिउ वणि दीहबाहु

घत्ता—णम सिद्ध भणंतें सिवसिरिकंतें पंचमुट्ठि सिरि लोउ किउ ।
ठिउ जि सुतणुसग्गें सरिय-पवग्गें दुज्जउ मयणु णरेंदु जिउ ॥ २१ ॥

[२-४]

ति सहु तासु हेउ अमुणंता चारि सहस पव्वइयमहंता ।

---

१. क. विज्झम ।

रंगशालामें प्रविष्ट होते ही हाव-भाव एवं विभ्रमोंके रससे युक्तकर (—अपने नृत्योंसे) वह (नीलाञ्जना) बिजलीका अनुकरण करने लगी। तांत आदिके सूत्रोंसे निर्मित जो भी गेय-वाद्य भरत मुनिने (अपने नाट्यशास्त्र नामक ग्रन्थमें) कहे हैं, उनको प्रकट किया गया। अर्थात् उसीके आधार पर नृत्य-संगीत हुआ। उस (नृत्य—) सुखसे सहस्रों देवों एवं नर श्रेष्ठोंके मनको मोहित एवं क्षुब्ध करती हुई वह अप्सरा तत्काल ही धरती पर गिर पड़ी। उसका प्राण-विसर्जन हो गया और इस प्रकार (देखते-देखते ही उस) नीलाञ्जसाकी मृत्यु हो गई ! (—उसके कारण संगीत और नृत्यका आनन्द रूपी) रस 'हाहाकार' में परिणत हो गया !

घत्ता—नीलाञ्जसाकी मृत्यु एवं (उसके कारण—) लोगोंके दुखी हो जानेसे जिनेन्द्रका चित्त शंकित हो उठा (और वे विचार करने लगे)—'जिस प्रकार जन्म-मनका रञ्जन करने वाली यह सुराङ्गना मृत्युको प्राप्त हो गई, उसी प्रकार इस पृथिवीके अन्य लोग भी मृत्युको प्राप्त होंगे ही।' ॥ २० ॥

[२-३]

ऋषभदेवका वन-गमन एवं केश-लुञ्चन

नीलांजसाको जब पृथिवी पर मरा हुआ देखा तब नाथ (ऋषभ)के मनमें शंका पैठ गई और यह भाव मनमें उदित हो उठा—"अनर्थके मूल इस संसारको धिक्कार है, मोह के कारण (स्वात्मको) भूलकर वह (सभीको) 'यह मेरा है'—'यह मेरा है' इस प्रकार मानने लगता है। (यहाँ तो) सब कुछ अनित्य है। दुर्लभ एवं भव्य नरभव क्रोध आदि (कषायों)में रत रहता है। सांसारिक सुख अनन्त दुःखोंका कारण है। यह जानता हुआ भी यह मूर्ख उनका सेवन किया करता है। सभी अवसानको प्राप्त होंगे, इसमें भ्रान्तिका कोई कारण नहीं।" इस प्रकार (जिनेन्द्र) अपने मनमें बार-बार चिन्तन करने लगे।

(नीलाञ्जसाके मृत्युरूपी—) उस कारणको प्राप्तकर नाथ विरक्त हो गये। लौकान्तिक देवोंने 'साधुकार' कहकर उन्हें नमस्कार किया (और इस प्रकार स्तुति की—"हे आदिदेव, आपने सुन्दर विचार किया है। सारभूत श्रेष्ठ धर्म नष्ट हो रहा है (अब उसका) उद्धार कीजिए।" इस प्रकार कहकर जब वे देवगण स्वर्ग चले गये, उसी समय ऋषभने भरतेश्वरको अपना राज्य दे दिया। चतुर्निकायके देव एवं मनुष्य वहाँ आये और उनके चरणोंमें प्रणाम किया, फिर शिविका नामक यानमें आरूढ़ वे दीर्घबाहु नाथ सुरवरों द्वारा वनमें ले जाए गये।

घत्ता—'णमोसिद्धं' कहते हुए 'शिवश्री'के कान्त उन ऋषभने अपने सिरके पाँच मुष्टि केशोंका लुञ्चन किया, फिर एक नदीके तीर पर कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित हुए और दुर्जेय मदन-नरेन्द्र पर विजय प्राप्त की ॥ २१ ॥

[२-४]

ऋषभदेवकी सेवामें राजा नमि एवं विनमिका आगमन

ऋषभदेवके महान् वैराग्यका कारण जानकर उनके साथ चार सहस्र राजा भी प्रव्रजित हो

जिह ससि वेढिउ गह-संघाएँ छम्मास जि थिउ लंबिय-काएँ।
जे णरेस ति सहु पव्वइया तहँ ते वि परीसह-वाएँ लइया।
छुह-तण्हातव-तावें भग्गा णासिवि खाण[1]-पालविहि लग्गा।
तरुहलाइँ केहिमि तहिँ भक्खिय के वि सरम्मि ण्हंति तिसु-दुक्खिय।
को वि भणइँ मा गेहहिँ गच्छहु सामिहु सेवमाण इह अच्छहु।
भरहणरेंदहु किं पच्चुत्तरु देसहु जाइ तत्थ मुइ जिणवरु।
इय मंतिवि जा थक्क वणंतरि त दइव-झुणि जाया अंबरि।
भो-भो दीण-सत्त णिग्गंथहो कवडासियहो हणि परमत्थहो।
एण रिसीसर-लिंगुद्धरणें जम्म-जर-विणास-भयहरणें।
जल-फलाइँ मा डोहहो खंडहु अहवा णिग्गंथत्तणु छंडहु।
इय णिसुणिवि वक्कल-जड-धारी मिच्छामय जाया दुणिवारी[2]।

घत्ता—जहिँ जिणवर णाहु लंबियबाहु तहिँ णमि विणमि पराइया।
करवाल वि हत्थइँ णाविय-मत्थइँ पुरउ थक्क[3] बे भाइया ॥ २२ ॥

[२-९]

पणवंतहो जाणउँ णवइ[4] णाहु अरि-मित्त-वयरि समचित्ति साहु।
ता तेहि जि वुत्तउ वीयराय अम्होवरि काइँ विरत्तभाउ।
णउ णियहि ण जंपहि किं पि देव णेहु वि णउ पयडहि तिजयसेव।
जइ अम्हहँ किं पि ण देहि सामि ता बोल्लु एक्कु जंपेहि ठामि।
सव्वहँ पय दिण्णिय देस-गाम वयणहँ वि अम्ह संसउ सुकाम।
इय णिवहि अप्पउ बिण्णि जाम धरणिवहु आसणु टलिउ ताम।
अवहिए जाणिवि आयउ खणेण जिणु वंदिउ तिं भत्ति भरेण।
पुणु पुच्छिउ भड किं कारणेण जिणु सेवहु असि धारिय करेण।
पडिउत्तरु तेहिमि तासु दिण्णु अम्हहँ पच्छइ पहु वणि पवण्णु।
णिय पुत्तहँ देप्पिणु पुहइ-रज्जु अम्हहं ण किं पि इहु मुणहि कज्जु।
तं णिसुणिवि विहसिवि भावणेसु वेयड्ढ-रज्जु दिण्णउ असेसु।
उत्तर-दाहिणि सिढिहि णरेस विज्जाहरपहु ते हुव विसेस।
गउ सेसु ठाणि जिणवरु वि बाहु चरियहिँ विहरिउ पुणु दीहबाहु।

---

१. क. ख. खाणि। २. क ख. दुणिवार। ३. ख पुरउक्क। ४. क. ख. चवइ।

गये। जिस प्रकार शशि ग्रह-समूहोंसे वेष्ठित रहता है, उसी प्रकार (वैराग्य प्राप्त उन राजाओंसे वेष्ठित ऋषभदेव भी) छह मास तक खड़े (-खड़े तकरते) रहे। जो नरेश उनके साथ प्रव्रजित हुए थे उनकी शरीररूपी लता परीषहरूपी वायुसे काँपने लगी। वे क्षुधा, तृषा एवं आतपके तापके कारण भग्न (स्खलित) हो गये और म्लेच्छोंके आचारकी पालन-विधिमें लग गये। कोई-कोई वहाँ तरुफल भखने लगे और कोई-कोई तृषासे दुखी होकर सरोवरमें नहाने लगे। कोई कहता था कि '(अपने) घर मत जाओ, स्वामीकी सेवा करते हुए यहीं रहो। जिनवरका साथ छोड़कर तथा वापिस लौटकर भरत नरेन्द्रको क्या उत्तर दोगे ?' इस प्रकार विचार करके जब वे (पुनः) वनके मध्य पहुँचे तभी आकाशमें देव-ध्वनि हुई—"हे-हे दीन सत्त्व, कपटाश्रित रहनेसे निर्ग्रन्थ-वृत्तिकी हानि होगी। इन ऋषीश्वर (ऋषभदेव)के समान लिङ्ग (यथाजातरूप) धारण करनेसे ही जन्म, जरा एव विनाशका भय दूर हो सकता है। (अतः) जल-फलादिकी अभिलाषासे (अपना तप) खण्डित मत करो अथवा निर्ग्रन्थपना ही छोड़ दो।" यह सुनकर वे दुर्निवार राजा लोग वल्कल एवं जटाधारी बनकर मिथ्यात्वी बन गये।

घत्ता—जहाँ जिनवरनाथ भुजाओंको लम्बित किये (हुए खड़े) थे तभी वहीं (राजा कच्छ एवं सुकच्छके पुत्र राजकुमार-) नमि एवं विनमि आये। उनके हाथोंमें तलवार थी। उन दोनों भाइयोंने मात्सर्य-पूर्वक ऋषभदेवको प्रणाम किया और उनके सम्मुख बैठ गये॥ २२॥

[२-९]

राजकुमार नमि एवं विनमिका ऋषभदेवके सम्मुख आगमन

"हे नाथ, आप प्रणम्य हैं, ऐसा हम जानते हैं और आपको नमन करते हैं। अरि, मित्र एवं शत्रुके प्रति हे साधुचित्त, आप समचित्त हैं। किन्तु हे त्रिजगसेवित (ऋषभदेव), न आप हमारी ओर दृष्टिपात कर रहे हैं और न कुछ बोल ही रहे हैं एवं न अपना स्नेहभाव ही व्यक्त कर रहे हैं। हे स्वामिन्, यदि आपने हमें कुछ नहीं दिया, तो भी (कम से कम) एक बोल तो आप हमारे लिये बोल दीजिए। अपने सभी पुत्रोंको (आपने) देश एवं ग्राम दिये हैं (उनके बदले में) आपके वचन मात्र भी हमारे संशयको दूरकर हमारी इच्छाको पूर्ण कर सकते हैं।" जब दोनों राजकुमारों (नमि एवं विनमि) ने इस प्रकार आत्मनिन्दा की तब धरणेन्द्रका आसन कम्पित हुआ। अवधि-ज्ञानसे जानकर वह क्षणभरमें वहाँ आया तथा भक्ति-विभोर होकर उसने जिन-वन्दन किया और (नमि विनमिसे) पूछा कि 'हे भट, किस कारणसे हाथोंमें तलवार धारणकर (तुम लोग) जिन भगवानकी सेवामें आये हो ?' तब उन्होंने उसे प्रत्युत्तर दिया (और कहा—) 'कि हमारे पीछे (अर्थात् हमारी अनुपस्थिति) में प्रभु (ऋषभ) अपने पुत्रोंको पृथिवीका राज्य देकर वनवासी हुए हैं। (इन्होंने—) हमें कुछ भी नहीं दिया) (यही कहनेके लिये हम यहाँ आये हैं—) बस, यही हमारा कार्य समझो।' यह सुनकर तथा हँसकर धरणेन्द्रने उन्हें वैताढ्यका समस्त राज्य दे या, (फल-स्वरूप) वे उत्तर एवं दक्षिण श्रेणीके विद्याधर नरेशोंके स्वामी बन गये। धरणेन्द्र अपने निवास-स्थान पर चला गया। दीर्घबाहु जिनवरने भी चर्याके लिये विहार किया। युवाजनों·

जुव-मत्त-विट्ठि जोवंतु संतु पुर-णयरि भमइ सिवलच्छि-कंतु ।
हय-गय-रयणासण-छत्त-वास भायण-भोयण जणरोर तास ।
अमुणिय विहि णाहहु लोय विंति णिल्लोहइँ ते दाणइँ ण लिंति ।

घत्ता—विहरंतउ संतउ कलिमल-चत्तउ गयउरि जिण संपत्तउ ।
एत्तहिँ कुरु-राणउ तिजयपहाणउ सुइणउ णिएवि सुरत्तउ ॥ २३ ॥

[२-६]

णिय-भायहु अक्खइ सुहि णिसण्णु जावहि ता सामिउ पुरि पवण्णु ।
कलयलु णिसुणिवि सेयंसु राउ धाविउ जिणसम्मुहुँ सुद्धभाउ ।
ति पयाहिण देप्पिणु णमिय पाय तक्खणि भउ सुमरिवि बुद्ध जाय ।
पडिगाहिवि पाराविउ [जि] णाहु देविहिँ भणिउ णहि साहु-साहु ।
वर कुसुमविट्ठि गंधोउवाउ गयणंगणु वुट्ठउ मणिणिहाउ ।
सेयंसु जाउ दाणेसु लोइ सयडामुहि वणि गउ परमजोइ ।
तहिँ थाइवि पुणु परमेसरेण सिरिआइजिणेस-महेसरेण ।
संचूरिउ विसयहँ विसमु सेणु णिद्धाडिउ पुणु वि कसायरेणु ।
आऊरिउ तेण हि सुक्क-झाणु उप्पायउ केवलपरमणाणु ।
सयरायर-वत्थु-सरूव-जाणु मिच्छत्त-मोह-तम-पडल-भाणु ।

घत्ता—वेमाणिय-वितर-जोइसियामर-कप्पवासि जे तियसवरा ।
जिण णाणुप्पण्णउ भुवणि रवण्णउ णिय-णिय-चिण्हहिँ मुणिउँ परा ॥ २४ ॥

[२-७]

सक्काएसेँ जक्खेसरेण किउ समवसरणु भत्तीभरेण ।
तिविहु वि पायारु सुवण्णवण्णु चउगोउरदारहिँ मणरवण्णु ।
बारह कोट्ठहिँ लंकियउ सारु माणथंभ चारि हयमाणभारु ।
वण-उववण-सर-सोहा विचित्त वर-रयणथूह तमभरु णिहित्तु ।
सिंहासण-छत्तत्तय समिद्धु तहु मज्झि परिट्ठिउ सयलसिद्धु ।
णिय-णियवाहण आरूढ देव तहिँ चउणिकाय आइय सुसेव ।
चउतीसातिसय सिरि णिकेउ सक्केण णविउ पुणु पढमदेउ ।

---

१. क. ख.-सुवत्तउ । २. क. ख. पवन्नु । ३. क. ख. वच्छ ।

को मत्तदृष्टिसे देखते हुए शिवलक्ष्मीके कान्त वे (जिनेन्द्र) पुरों एवं नगरोंमें भ्रमण करने लगे। (वहाँ) आहार-विधिको जाने बिना ही लोग 'जय-जयकार' शब्दके साथ उन्हें घोड़े, हाथी, रत्नासन, छत्र, वस्त्र, भाजन एवं भोजन आदि का, बिना किसी लोभ-लालचके दान (करनेका प्रयत्न) करते थे, किन्तु ऋषभ जिनेन्द्र उसे स्वीकार नहीं करते थे।

घत्ता—(इस प्रकार) विहार करते हुए कलिकाल रूपी मलका त्याग करते हुए वे गजपुर पधारे। इधर तीनों लोकोंमें प्रधान कुरुराजने रात्रिमें सुन्दर स्वप्नावलि देखी ॥ २३ ॥

[२-६]

राजा श्रेयांस द्वारा ऋषभदेवको सर्वप्रथम आहारदान

उसने सुखपूर्वक बैठे हुए अपने भाईसे कहा—'बाहर जाइये, नगरमें स्वामी (ऋषभ) पधारे हैं।' (जन-) कोलाहल सुनकर राजा श्रेयांस भी शुद्धभावपूर्वक जिनेन्द्रके सम्मुख दौड़े और तीन प्रदक्षिणाएँ देकर चरणोंमें नमस्कार किया तो तत्क्षण ही वे प्रबुद्ध हो गये और उन्हें पूर्व-भवका स्मरण हो आया। जिनेन्द्र नाथको पड़गाहकर उन्होंने पारणा कराई। (उसी समय) आकाशमें देवोंने 'साधु-साधु' (का जयघोष-) किया। श्रेष्ठ पुष्पों एवं गन्धोदककी वृष्टि होने लगी और लोकमें दान करने वालोंमें राजा श्रेयांस यशस्वी हो गये।

वे परमयोगी (ऋषभ) पुनः शकटामुख वनकी ओर चले गये। वहाँ ध्यानस्थित होकर उन परमेश्वर, आदि-जिनेश्वर-महेश्वरने विषयोंकी विषम सेनाको चूर-चूर कर दिया तथा कषाय-रजको निष्कासित कर दिया। उन्हें गम्भीर, चराचरकी वस्तुओंके स्वरूपको जानने वाला, मिथ्यात्त्व-मोहरूपी अन्धकार-पटलके लिये भानुके समान श्रेष्ठ केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

घत्ता—ऋषभदेवके लिये तीनों लोकोंमें उत्तम केवलज्ञानके उत्पन्न होने पर वैमानिक, व्यन्तर, ज्योतिषिदेव एवं कल्पवासी नामके जो भी उत्तम (जातिके) देव थे, वे सभी अपने-अपने चिन्होंके साथ उनका ध्यान करने लगे। ॥ २४ ॥

[२-७]

यक्षेश्वर द्वारा समवशरणकी रचना एवं ऋषभदेवकी दिव्यध्वनिका प्रारम्भ

शक्रके आदेशसे यक्षेश्वरने भक्तिसे भरकर स्वर्ण-वर्णवाले एवं मनोहर, त्रिविध प्राकार और गोपुर-द्वारोंसे युक्त, बारह कोठोंसे अलंकृत, अभिमानके भारको चूर करनेवाले, सारभूत चार मानस्तम्भोंसे युक्त, वन-उपवन एवं सरोवरकी शोभासे विचित्र, तमके भारको दूर करनेवाले, श्रेष्ठ रत्नस्तम्भों तथा सिंहासन और छत्रत्रयसे समृद्ध एक समवशरणकी रचना की। उसके मध्यमें सकलसिद्ध देव (ऋषभ) विराजमान हुए। अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर चतुर्निकायके देव सेवा-हेतु वहाँ आये। चौंतीस अतिशयवाले, श्री के निकेत उन प्रथम देव (ऋषभ)को शक्र ने पुनः

थुइ करिवि णिसण्णउ वज्जपाणि उच्छलिय जिणेसहु दिव्ववाणि ।

घत्ता—गोयमगणसारउ भवसरतारउ विसय वाणि[1] झिल्लेवि परा ।
णरवरहँ पयासइ संसय णासइ महियलि सासय धम्मवर ॥ २५ ॥

[२-८]

एत्तहिँ उज्झहिँ भरहेसरहो वद्धाव तिण्णि हुव णिववरहो ।
णाणहु सुव चक्कुप्पत्ति परा तं णिसुणिवि तं दिसि णविवि धरा ।
जाणिवि धम्महो फलु सयलगं पि सव्वहँ पहिलउ करणिज्जु तं पि ।
इय चिंतिवि गउ सकुडुंबु तत्थ भरहेसरु थिउ जिणणाहु जत्थ ।
ति-पयाहिण करि ति णविउ णाहु णरकोटि णिसण्णउ[2] भरहणाहु ।
तण्णिग्गय जिणमुहि दिव्ववाणि छ दव्वह पयत्थ सुत्तत्थ खाणि ।
जीवाजीवासवसंवराहँ णिज्जर मोक्खहो भेयइँ वराहँ ।
संजम-लेसा-तव-सील-झाण सायरु पुव्वहँ पल्लहँ पमाण ।
गुण-ठाण-मग्गणा जीवठाण सग्गापवग्ग पह चारि दाण ।
तव-वय-भावण पुव्वंग भेय जिणणाहेँ भासिय तहिँ अणेय ।

घत्ता—जिणणाहो दिट्ठउ जेम जहिट्ठिउ णिसुणिवि तुट्ठउ राउ मणि ।
पुणु तहु पणवेप्पिणु चित्ति सरेप्पिणु गउ णियगेहि णरेंदु खणि[3] ॥ २६ ॥

[२-९]

णंदणहु तुंडु जोइवि णिवेण पुणु चक्कु समच्चिउ गउरवेण ।
महि कारणि दिण्णु पयाणु तेण पारक्क सयल जिय आहवेण ।
वत्तीस-सहस-मंडल-धरेहिँ तेत्तिय जि मउडवद्धहिँ णिवेहिँ[4] ।
तेहिँ जि सेविउ छक्खंडराउ भरहेसरु णिउ णियगेहि आउ ।
जिह बप्पेँ केवललच्छि लद्ध तिह [5]पुत्तिं जयसिरि राउ बद्ध ।
गणबद्ध जि सोलहसहस देव अणुदिणु पयडंति णरेंदसेव ।
मालूर-पवर-पीवर थणा वि छण्णवइ सहासइ अंगणा वि ।
अट्ठारह कोडिउ वरतुरंग चउरासी लक्ख [वि]पुणु रहंग ।

---

१. क. ख. सेणि । २. क. ख. णिसन्नौ । ३. क. ख पणे । ४. क. ख ण्णेविहि ।
५. क. ख. लक्खै ।

नमस्कार किया। स्तुति कर वज्रपाणि जब वहाँ बैठ गया तब जिनेश्वर की (दिव्य—) वाणी खिरने लगी।

घत्ता—गणधरोंमें श्रेष्ठ, भवरूपी समुद्रके तारनेवाले गौतमने उत्तम मनुष्योंको प्रकाशित करनेवाली, संशयको नष्ट करनेवाली तथा पृथिवी तल पर शाश्वत श्रेष्ठ धर्म सम्बन्धी ऋषभदेवकी उत्कृष्ट (दिव्य—) वाणी झेली ॥ २५ ॥

[२-८]

भरतको त्रिरत्न-प्राप्ति एवं उनका ऋषभके समवशरणमें आगमन। ऋषभदेवका धर्मोपदेश

इधर अयोध्यामें नृपवर भरतेश्वरके लिये (पिताके लिये—) केवलज्ञान, तथा (स्वयंके लिये—) पुत्र-प्राप्ति एवं श्रेष्ठ चक्र (—रत्न) की उत्पत्ति सम्बन्धी तीन बधावा (बधाइयाँ) एक ही साथ प्राप्त हुए। उन्हें सुनकर राजाने उन समस्त उपलब्धियोंको धर्मका ही फल जानकर उस दिशामें (—जिस ओर ऋषभदेव स्थित थे) पृथिवी पर झुककर नमस्कार किया और "यही (मेरे लिये) सर्वप्रथम करणीय है" यह विचारकर भरतेश्वर सकुटुम्ब वहाँ पहुँचे जहाँ (समवशरण में) जिननाथ स्थित थे। तीन प्रदक्षिणाएँ करके प्रभुको तीन बार नमस्कार किया और वे भरत मनुष्योंकी कोटिमें बैठ गये। उसी समय जिनमुखसे छह द्रव्य एवं नौ पदार्थों सम्बन्धी सूत्रार्थोंकी खानिस्वरूपा दिव्य-वाणी निकली और जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा एवं मोक्षके श्रेष्ठ भेदों तथा संयम, लेश्या, तप, शील, ध्यान, सागर, पूर्व, पल्य, प्रमाण, गुणस्थान, मार्गणा, जीवस्थान, स्वर्ग एवं अपवर्ग-मार्ग चारदान, तप, व्रत, भावना, पूर्व, अंगभेद आदि अनेक प्रकारके उपदेश प्रभु ऋषभने दिये!

घत्ता—जिननाथने अपने ज्ञानसे जैसा देखा था, वैसा ही कहा। उसे सुनकर भरतनरेन्द्र पुनः उन्हें प्रणामकर तथा (अपने) चित्तमें (उनका) स्मरणकर तत्काल ही वे अपने घरको ओर चले गये ॥ २६ ॥

[२-९]

भरतचक्रवर्तीका दिग्विजय एवं वैभव-वर्णन

राजा भरतने गौरवके साथ अपने पुत्रका मुख-दर्शन कर (उपलब्ध—) चक्ररत्नकी पूजा-की। पुनः उन्होंने पृथिवीपर राज्य-विस्तार हेतु प्रयाण किया और अपने पराक्रमसे बत्तीस सहस्र मण्डलधारी तथा उतने ही मुकुटधारी नृपोंको युद्धक्षेत्रमें ललकारकर उन सभीको जीत लिया। इस प्रकार षट्खण्डाधिपति बनकर नृप भरतेश्वर उन शत्रु-राजाओं द्वारा सेवित होकर अपने घर लौट आए।

जिस प्रकार बाप (ऋषभ) ने केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी प्राप्त की थी, उसी प्रकार बेटा (भरत) ने भी राज्यश्री को अनुरागपूर्वक बाँध लिया था। गणबद्ध सोलह सहस्रदेव प्रतिदिन नरेन्द्र-की सेवामें प्रस्तुत रहते थे।

कैंथाके समान गोल श्रेष्ठ एवं सुपुष्ट स्तनों वाली छयानबे सहस्र अंगनाएँ, अठारह करोड़ उत्तम घोड़े, चौरासी लाख रथांग, उतने ही प्रमत्त गजश्रेष्ठ, नवनिधियाँ, सात सौ कुक्षिवास (जहाँ

तिसिय वुलइ गयवर पमत्त   णवणिहि पुणु रयणइ सत्त-सत्त ।
कोडिउ वि तिण्णि दुज्झंति धेणु   को वण्णइ भरहणरेंदु सेणु ।

घत्ता—चिर भवि रयणत्तउ मलमय चत्तउ जिं अखंडु भावियउ मणि ।
सो भरहणरेसरु एयच्छत्त वरु करइ रज्जु राइयउ जणि ॥ २७ ॥

[२-१०]

एत्थंतरि विहरिवि रिसहणाहु   कइलासि परिट्ठिउ वि गयबाहु ।
लोयत्तय सामिउ जय जणेरु   समवसरणरहिउ गयपाडिहेरु ।
चउदह दिण थक्कउ वीयराउ   जोयत्तय-मुक्कउ सुद्धभाउ ।
कम्मट्ठ हणिवि गउ अचलठाणि   थिउ होइवि सुद्धु गुणोह-खाणि ।
तं णिसुणिवि भरहाइय णरेस   सुरवर पुणु आइय तहिँ असेस ।
णिव्वाणपुज्ज देवहु करेवि   गय-णिय णिय णिलयहिँ गुण सरेवि ।
भरहेसरेण बहु करिवि रज्जु   पुणु चिंतिउ तिं परलोयकज्जु ।
रविकित्ति सपुत्तहो पुहइ देवि   जा लोउ लेइ जिणु मणि सरेवि ।
उप्पण्णउ तावहिँ विमलणाणु   केवल अहिहाणु वि सयल जाणु ।
महि विहरिवि धम्माहम्म जुत्ति   भासिवि आसिय पुणु परममुत्ति ।

घत्ता—भरहु जि णिव्वाणहु सासयठाणहु तणु चएवि संपत्तउ ।
रविकित्ति अउज्झहिँ वइरि-दुगिज्झहिँ रज्जु करेइ सहंत्तउ ॥ २८ ॥

[२-११]

रज्जु करिवि वय धारिवि कालें   सासयपुरि गउ सो सुक्कालें[1] ।
अन्न [2]जि तेण वसंवहु जाया   धरणीधर[3] महियलि विक्खाया ।
अजिउ जिणिदु पुणु वि उप्पण्णउ   वर इक्खाक्कु वंसि महि धण्णउ ।
तहु पच्छइ सयसहस णरेसर   उच्छिण्णा कालेण महीधर ।
पुणु संभउ अहिणंदणु जायउ   सुमइ वि पउमप्पहु विक्खायउ ।
सुप्पासु वि ससिपह धवलुज्जलु   पुप्फयंतु तित्थयरु विगइमलु ।
सीयलु सेयंसु वि सेयाहिउ   वासुपुज्जु विमल विसंसाहिउ ।

---

१. क. ख. सुरकालें २. ख. वि. ३. क. °घर

रत्नोंका व्यापार होता था) एवं तीन करोड़ दुधारु गाएँ भरतके अधीन थीं। भरत नरेन्द्रकी सेना-का वर्णन तो कर ही कौन सकता है ?

घत्ता—(जिस प्रकार ऋषभने) चिरकाल तक जीवनमें कर्ममल रूपी मदको दूरकर अखण्ड-रूपसे रत्नत्रयको मनमें भावित किया, उसी प्रकार भरत नरेश्वरने भी एकच्छत्र राज्य किया और वे प्रजाजनोंमें सुशोभित होने लगे ॥ २७ ॥

[२-१०]

क्रमशः ऋषभदेव एवं भरत चक्रवर्तीका परिनिर्वाण एवं अयोध्यामें रविकीर्ति द्वारा राज्य-संचालन

इसी बीच गजबाहु ऋषभनाथ विहार करके कैलाश-पर्वत पर स्थित हुए। तीनों लोकों-पर विजय प्राप्त करनेवाले वे स्वामी (उस समय) समवशरण एवं प्रातिहार्योंसे रहित थे। मन वचनकाय रूप त्रियोगसे मुक्त एवं शुद्ध भाव वाले वे वीतराग (उस स्थितिमें) चौदह दिन तक रहे (और उसीमें), अष्टकर्मोंको नष्ट करके विशुद्ध गुणोंकी खानिस्वरूप वे निश्चल होकर अचलस्थान (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

यह सुनकर भरत आदि समस्त नरेश एवं देव वहाँ आए और ऋषभदेवके परिनिर्वाणकी पूजा तथा उनके गुणोंका स्मरणकर अपने-अपने निवास-स्थानों पर लौट गये।

भरतेश्वरने बहुत वर्षों तक राज्यकर अपने परलोकके सुधारनेका विचार किया और अपने पुत्र रविकीर्तिको पृथिवी (-का राज्य) देकर (तथा अपने) मनमें जिनेन्द्रका स्मरणकर, (वनमें) जाकर, केश-लुञ्चन किया। उसी समय उन्हें सकल (पदार्थोंका) ज्ञाता केवलज्ञान नामका विमल-ज्ञान उत्पन्न हो गया। पृथिवीपर आसन्न-भव्योंको धर्म-अधर्म सम्बन्धी उत्तम मुक्तिदायिनी युक्तिको समझाकर—

घत्ता—वे भरत अपने शरीरका त्यागकर शाश्वत स्थान स्वरूप निर्वाणको प्राप्त हुए। (इधर) बैरियोंसे दुर्जेय रविकीर्त्ति अयोध्यापुरीमें राज्य करता हुआ शोभायमान हुआ ॥ २८ ॥

[२-११]

इक्ष्वाकु वंश-परम्परा वर्णन

वह (भरत पुत्र—) रविकीर्ति भी राज्य कर और तत्काल ही व्रत धारणकर समयानुसार शाश्वतपुरी—मोक्षको प्राप्त हुआ। इसी महीतल पर उस रविकीर्त्तिकी वंश-परम्परामें अनेक विख्यात राजा हुए। बादमें अजित जिनेन्द्र भी उसी श्रेष्ठ एवं पृथिवीपर धन्य इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए। उनके बाद अवसर आने पर शत्रु-राजाओंको उखाड़ फेंकनेवाले सैकड़ों-हजारों नरेश्वर हुए। पुनः सम्भव एवं अभिनन्दननाथ हुए और उनके बाद सुमति एवं पद्मप्रभ विख्यात हुए। (उनके बाद) सुपार्श्व तथा धवलोज्ज्वल चन्द्रप्रभ तथा कर्ममलरहित पुष्पदन्त तीर्थंकर हुए। (फिर) शीतल तथा विशेष हित-कारी श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विषम-साधक विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ

पुणु अणंत धम्म जि हुव जिणवर संति कुंथ अर णामा सुहयर ।
मल्लि वि मुणिसुव्व तित्थंकरु लोयत्तय-सामिउ भय-हुहहरु ।
तासु जिणंतरि पुण वि अउज्झहिँ णिवरु जायउ वयरिहु गिज्झहिँ ।

घत्ता—णामेण विजयरहु अरिघड-खयसहु जिणपयपयरुह भत्तउ ।
तहु भज्ज पहावणि···· ···············कणयचूलिया ससउ ॥ २९ ॥

इय सुक्कोसलचरिए णिरुवमसंवेयरयणसंभरिए सिरिपंडियरइधु-विरइए सिरिमहाभव्व-
आणासुत्तं-रणमल्लअणुमण्णिए कोसलदेसणिद्देसवण्णणो णाम बीउ
संधी-परिच्छेऊ सम्मत्तो ॥ छ ॥ संधि ॥ २ ॥ छ ॥

और अरहनाथ नामके सुखकारी जिनवर हुए। उनके बाद तीनों लोकोंके स्वामी एवं भव-भयरूपी दुखोंका हरण करनेवाले मल्लिनाथ एवं मुनिसुव्रत नामके तीर्थंकर हुए। उन जिनेन्द्रोंके बाद अयोध्यापुरीमें बैरियोंके लिये दुर्दम एक नृपश्रेष्ठ हुआ—

घत्ता—जिसका नाम विजयरथ था, जो शत्रुओंको नष्ट करनेमें समर्थ तथा जिन भगवानके चरण-कमलोंका भक्त था। उसकी भार्याका नाम प्रभावती था जो [× × × × ×] सौन्दर्यमें कनकाचल शृङ्गको भी पराजित करती थी ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीपण्डित रइधू विरचित, श्री महाभव्य आणासाहुके पुत्र रणमल्लके द्वारा अनुमोदित, निरुपम संवेगरूपी रत्नके लिये स्मरणीय, सुकौशल-चरितमें कोशल-देशका निर्देश-वर्णन सम्बन्धी द्वितीय सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ। ॥ २ ॥ छ ॥

सन्धि—३

[३-१]

घत्ता—जयरहु सुव[1] दंसणु वइरि-विमद्दणु सक्कमण्णु णामेण हुउ ।
तहु पणइणि सारी जणमणहारी किसिसमाणा मेहि जुउ ॥ छ ॥

तिहि उवरि उवण्णा बिण्णि पुत्त चंदक्कछायसम तणु सुदित्त ।
वज्जंकियकरचरणारविंदु पविबाहु ताहँ जेट्ठउ अणिंदु ।
इयरो वि पुरंदरु पुहवि-सारु इक्खायवंस उज्जोययारु ।
ते बिण्णि रमंति भमंति संत पियगेहि सइच्छइँ कणयकंति ।
जा णिवसइ ता कहु अण्ण जाय णायपुरि णयरि जणसुक्खदाय ।
गयवाहणु राणउ तहिँ पवीणु अरिपलयकालु उद्धरिय-दीणु ।
अण्णायतिमिरतमअंतयारि णियपरियणमणसंतोसयारि ।
जिणधम्मि रत्तु पोसिय-सपत्तु रण्णि कणट्ठि[2] बाहुवरकमलवत्त ।

घत्ता—तहु सयलंतेवरि पिय अग्गेसरि चूरामणि णामें भणिया ।
.... ॥ ३० ॥

[३-२]

तहि उवरि मणोहरु[3] णाम सुउ जायउ वरलक्खणरूवजुउ ।
अन्न वि ससिकरपहसरिसु सुवा णामेण मणोदा ललिय भुवा ।
तहि कारणि पहुणा वरेंणियउ[4] पविबाहु जि णियमाणि मणियउ ।
जोव्वणसिरिवंतु वियाणियउ मंतिहिँ पुणु सो जि पमाणियउ ।
तहु आणणच्छि राएण सइँ णियणंदणु पेसिउ तेण कइँ ।
सो गउ आएसु लहेवि तहिँ उज्झावरि जयरहु राउ जहिँ ।
पुणु दिट्ठु सहाहिँ णिसण्णु णिउ बहुभत्तिए ति पणवाउ किउ ।

---

१. क.ख. कुवि २ क.ख. कट्ठणि ३. क मणोहउ ४. क ख वरणियउ

संधि—३

[३-१]

नागपुरके राजा गजवाहनका वर्णन

घत्ता—उस (विजयरथ) का भी जयरथ नामका एक दर्शनीय पुत्र उत्पन्न हुआ। जो बैरियोंका मान-मर्दन करनेवाला तथा शक्रके समान समर्थ था। उसकी सारभूत जन-मन-हारिणी एवं कीर्त्ति-पुञ्जके समान एक प्रियतमा थी ॥ छ ॥

उसके उदरसे चन्द्र एवं सूर्यकी छविके समान दीप्त शरीरवाले दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे ज्येष्ठ पुत्रका नाम पविबाहु (वज्रबाहु) था, जो अनिन्द्य था तथा जिसके कर एवं चरणारविन्द वज्रांकित थे। पृथिवीपर सारभूत तथा इक्ष्वाकुवंशके लिए उद्योतित करनेवाले दूसरे पुत्रका नाम पुरन्दर था।

स्वर्णकान्तिवाले वे दोनों भाई अपनी इच्छानुसार पितृगृहमें जब रमण करते एवं भ्रमण करते हुए रह रहे थे, उसी समय अन्यत्र कहीं पर, लोगोंके लिए सुखदायी नागपुर (नामकी) नगरी थी। वहाँका राजा गजवाहन था, जो प्रवीण, शत्रुजनोंके लिये प्रलयकालके समान, दीनोंका उद्धार करनेवाला, अन्यायरूपी तिमिर-तमका अन्त करनेवाला, अपने परिजनोंके मनको सन्तुष्ट करनेवाला, जिनधर्ममें अनुरक्त तथा सत्पात्रोंका पोषक था। उस बाहुश्रेष्ठ (गजवाहन) की कमल-मुखी कनिष्ठारानी—

घत्ता—का नाम चूड़ामणि था, जो समस्त अन्तःपुरमें प्रिय एवं अग्रेसर थी। [× × × × × × ।] ॥ ३० ॥

[३-२]

नागपुरके राजकुमारका अयोध्यापुरीमें आगमन एवं राजकुमार वज्रबाहुके साथ अपनी बहिनके विवाहका प्रस्ताव

उसके उदरसे श्रेष्ठ लक्षणों एवं सौन्दर्य सम्पन्न 'मनोहर' नामका एक पुत्र और चन्द्रकिरणों की प्रभाके समान एवं ललित भुजाओं वाली 'मणोदा' नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। उसी कन्याके निमित्त प्रभु (गजवाहन) ने अपने मनमें उस (पूर्वोक्त) पविबाहु (वज्रबाहु) को (अपनी कन्याका वर) मान लिया था।

इधर, मन्त्रियोंने भी (—मणोदाको) यौवनश्री युक्त जानकर राजा (गजवाहन) का ध्यान (उस कन्याके विवाहको ओर) आकर्षित किया। राजाने भी उसे (पविबाहुको) लाने हेतु अपने पुत्र (मनोहर) को उसी मन्त्रीके साथ भेजा। वे दोनों राजाका आदेश पाकर वहाँ गये जहाँ अयोध्या में राजा जयरथ निवास करता था। वहाँ उन्होंने राजा जयरथ को राज्य-सभामें बैठा हुआ देखा। उसे उन्होंने बड़ी भक्ति-पूर्वक प्रणाम किया। राजा जयरथने उस मन्त्री (एवं राजकुमार) को

[३-३]

हय-गय-रह-भडराहवसमाणु   चल्लंति रयसो रुद्धभाणु ।
गच्छंति पुरउ गिरिवु दिट्ठु   णं दुग्गइ वारणु परमइट्ठु ।
जिह-जिह समीवि गच्छइ कुमारु   तिह-तिह चित्तहो पयडिय वियारु ।
णाणाविह तरुवर-सिरि-रवण्णु   वल्लीगेहहिँ दिसमग्ग छण्णु ।
वरकुसुमरेणु-रंजिय-धरत्ति   छप्पयगणरंजिय-गंधसत्ति ।
फल-दल-सोहिय भूरुह-अणंत   सज्जणजण इव णामियंग संत ।
णिज्झरण जलें तित्तिय गइंद   अविरुद्ध वि जहिँ थिय पुणु मइंद ।
गिरि-वणु जोवंति चलंति जाम   अग्गइ मुणिवरु तहिँ दिट्ठु ताम ।
तरुमूलहिँ तणुसग्गेण थक्कु   पविबाहु खणद्धें तत्थ ढुक्कु ।
तवसा सोसिय तणुसत्ति जेण   णियदंसणि आरोविय मणेण ।
णासग्गि णिहिय णियदिट्ठि संत   मयउल पणवहि पुणु बहि भमंत ।
तं मुणि जोइवि पविबाहु चित्ति   चिंतवइ पुणु वि पवि हिय सुमित्ति ।

घत्ता—विसयहँ सुहु सेविवि मोहु णिसुंभुवि धण्णउ एहु तवेइ तउ ।
मल-मय-कय-संवरु वज्जियडंबरु वोदहविहु उद्धरिय तउ ॥ ३२ ॥

[३-४]

परिहरियसंगु   जह[2]जायलिंगु ।
कायहु विरत्तु   मुत्तिहिँ वि रत्तु ।

---

१. क. ख. राहण । २. क-ख—जहि ।

आसन दिलवाया और बड़े गौरवके साथ उसने विनय की। पुनः उसने हर्षितमन पूर्वक उनदोनोंसे उनके आगमनका कारण पूछा। तब उन्होंने जयरथसे कहा—"यहींपर नागपुर (नामक एक नगर) है, जहाँ शत्रुओंका वध करनेवाला इभवाहन (गजवाहन) नामक नरपति राज्य करता है। उसकी चूड़ामणि नामकी प्रिया है। मैं उन्हींका पुत्र हूँ। मेरी स्नेहयुक्ता मणोदा नामकी बहिन है। उसीके निमित्त मन्त्रियोंने आपके पुत्रको श्रेष्ठ बताया है। आपके पुत्रका, इस कन्याके साथ विवाह करना सर्वोत्तम होगा।

घत्ता—उसी कारणसे आपका ध्यानकर मैं यहाँ आया हूँ। हे प्रभु, इस विषयमें आप करणीय-कार्य कीजिए।" उसे सुनकर राजा गजवाहनने पुलकित शरीर होकर तत्काल ही वज्रबाहुको (उनके साथ नागपुर) भेज दिया ॥ ३० ॥

[३-३]

राजकुमार वज्रबाहु द्वारा रम्य-वनमें एक मुनिराजके दर्शन

घोड़े, हाथी, रथ एवं राघवके समान भटोंसे युक्त उस राजकुमार वज्रबाहुके चलनेके कारण उठी हुई धूलिसे सूर्य-अवरुद्ध हो गया। चलते हुए उसने अपने सम्मुख आये हुए गिरीन्द्रको (इस प्रकार) देखा मानों दुर्गतिके निवारण हेतु वह कोई परम इष्ट (देव) ही हो। जैसे-जैसे वह राजकुमार (वज्रबाहु, नागपुर के) समीप पहुँचने लगा, वैसे-वैसे ही उसके चित्तमें विकार उत्पन्न होने लगा। नाना प्रकारके उत्तम जातिके वृक्षोंकी शोभासे रम्य, लतागृहोंसे अवरुद्ध दिशामार्ग वाले, उत्तम पुष्परजसे रंजित धरतीसे युक्त, गन्धासक्त षट्पदों द्वारा रंजायमान, सज्जनजनोंके अंगोंके समान नम्रीभूत अनन्त फल-समूहोंसे सुशोभित वृक्षोंसे युक्त, निर्झरोंके जलोंसे तृप्त गजेन्द्रोंसे व्याप्त तथा जहाँ मृगेन्द्र भी विरोधभाव छोड़कर स्थित थे, ऐसे गिरिवनोंको निहारता हुआ जब वह (उस वनमें होकर) जा रहा था, तभी उसने अपने आगे एक मुनिवरको देखा। वे एक वृक्षके नीचे कायोत्सर्ग-मुद्रामें स्थित थे। वज्रबाहुने क्षणार्ध तक उनकी ओर ढूँका (देखा) कि तपस्यासे उन्होंने अपनी तनशक्तिको शोषित कर दिया है, आत्मदर्शनमें जिन्होंने अपने मनको आरोपित कर दिया है, तथा जो नासाग्रपर अपनी दृष्टि लगाये हुए हैं और बाहर घूमते हुए मृगगण जिन्हें प्रणाम कर रहे हैं, उन मुनिवरको देखकर वज्रबाहुने अपने मनमें विचार किया—'मुझे (अब) हितकारी कल्याणमित्र मिल गया है।'

घत्ता—विषय-सुखोंके सेवन (की वृत्ति) एवं मोहको नष्टकरने वाले (ये मुनिराज) धन्य हैं, जो (इस प्रकार यहाँ) तपस्या कर रहे हैं। (अष्टकर्म) मलों एवं अष्टमदोंसे संवृत, आडम्बरोंसे दूर तथा द्वादशविध तपोंसे (इन्होंने) आत्मोद्धार किया है ॥ ३२ ॥

[३-४]

वज्रबाहुके मनमें वैराग्योदय

"परिग्रह छोड़कर, यथाजात लिङ्ग (दिगम्बर) होकर, कायस विरक्त, मुक्ति-मार्गमें रत,

बुज्झिय-ससत्तु भव-जाण-वत्तु ।
वज्जिय-ममत्तु सम-मित्त-सत्तु ।
मयमाण-चत्तु जिणसमय-भत्तु ।
णीराय-भुत्ति णं झाण-थत्ति ।
धारिय-तिगुत्ति किय-भिक्ख-भुत्ति ।
णिक्कंपु धीरु खय-समरवीरु ।
अहो साहु-साहु इहु लंबबाहु ।
असहाउ एहु थिउ रयणगेहु ।
हउँ पुणु पमत्तु थिउ विसयरत्तु ।
मद-मोहमूढु राएण छूढु ।
पावेण सत्तु णासिय-णरत्तु[1]— ।
णरभउ अणग्घु पाविवि महग्घु ।
वयभरु धरेमि मुणिपय सरेमि ।
होइवि णिगंथु हउँ रहमि एत्थु[2] ।
परिणयण-कज्जु महु णत्थि अज्जु ।
इत्थेव थामि णिज्जणि सुरामि ।
[3]सोसेमि काउ होसमि विराउ ।
पुणु-पुणु जि तेण चिंतिउ मणेण ।

घत्ता—अचलिय-मणु परिभवसंवेएँ जुउ थक्कु णिएविणु वुत्तउ ।
मुणि दएण हसेप्पिणु [तं इउ पुच्छिउ ?] किं पिउ एत्थु सइत्तउ ॥ ३३ ॥

[३-५]

भो पविभुअ किं एअग्गि चित्तु अवलोयहि मुणिवरु खीणगत्तु ।
जाणिवि गिण्हेसहि[4] एह दिक्ख आसत्तउ दीसइ सुगइ-सिक्ख ।
तं सुणिवि मणोहरु[5] तेण वुत्तु जइ हउँ गिण्हमि के मइँ चरित्तु ।
तहु किं करेहि ता भणिउ तेण तहु चित्तवित्ति अमुणंतएण ।
जह तुह तह हउँ पुणु थामि मित्त तुह पय सेवमि इह एयचित्त ।
भो पढमवयसि वयभरु सहेइ पुणु कुमर दिक्ख धण्णउ हवेइ ।
तं सुणि जंपिउ इम होउ मित्त तुव वयणें गहमि दिक्खा पवित्त ।
इम जंपिय वत्थाहरण सोह उत्तारिय जण[6]-मण-जणिय-खोह ।

---

१. क. ख. परत्तु । २. क. एच्छु । ३. क. ख सेसेमि । ४. क. ख. मण । ५. क. ख. मणोदउ ।
६. क. ख जय ।

सप्ततत्त्वोंको जानकर भव-समुद्रके लिये यानके समान, ममत्व छोड़कर, मित्र एवं शत्रुमें समचित्त, मद एवं मानको त्यागदेनेवाले, जिनागमभक्त, मानों कि ध्यानस्थ वीतराग-मूर्त्ति ही हों, त्रिगुप्तिधारी, भिक्षावृत्ति करके आहारलेनेवाले, निष्कम्प, धीर, कर्मरूपी शत्रुके लिये समर वीर, दीर्घबाहु तथा आश्चर्यजनक साधु-स्वभावी ये साधु (दिखाई देते—) हैं। (एक ओर ये हैं) जो असहाय (निराश्रित) हैं, किन्तु रत्नत्रयके गृहस्वरूप स्थित हैं, और (दूसरी ओर) मैं हूँ, जो प्रमत्त हूँ, विषयारक्त हूँ, मद-मोहके कारण मूढ़ हूँ, रागरंगमें डूबा हुआ हूँ, पापासक्त हूँ, और (अपनी यह—) मनुष्यदेह नष्टकर रहा हूँ। (अतः अब यह) अनर्घ्य एवं महार्घ्य नरभव प्राप्तकर मैं भी व्रतभार धारण कर मुनिराजके चरणोंका अनुकरण करूँ तथा निर्ग्रन्थ होकर मैं यहीं वनमें रहूँ। परिणयन (सस्कार) से अब मुझे कोई प्रयोजन नहीं। यहीं निर्जन-वनमें रुक जाऊँ, शरीरको सुखा दूँ और वीतरागी हो जाऊँ।" उस वज्रबाहुने यह बात बार-बार अपने मनमें सोची।

घत्ता—निश्चलमन, आत्मनिन्दासे पूरित, और संवेगयुक्त उस वज्रबाहुको आया हुआ देखकर मुनिराजने दयापूर्वक हँसकर पूछा—'बोलो, क्या पिता (अथवा प्रियजनों) से पूछकर यहाँ आये हो' ? ॥ ३३ ॥

[३-९]

राजकुमार वज्रबाहु एवं मनोहरमें वैराग्योदय सम्बन्धी वार्त्तालाप

'यह वज्रबाहु सुगति-शिक्षामें आसक्त दिखाई दे रहा है तथा (वह) यहीं पर दीक्षा ग्रहण कर लेगा।' यह जानकर (राजकुमार मनोहरने—) उससे पूछा—"हे वज्रबाहु, एकाग्रचित एवं क्षीणगात्र मुनिवरको (इस प्रकार—) क्यों देख रहे हो ?" यह सुनकर वज्रबाहुने उससे कहा—"यदि मैं (दीक्षा—) ग्रहणकर ही लूँ, तो मेरा यह आचरण कैसा रहेगा और तब तुम क्या करोगे ?" उस (वज्रबाहु)की चित्तवृत्तिको (यथार्थरूपमें) जाने बिना ही (मनोहरने—) उससे कहा—"जहाँ आप, वहीं मैं, हे मित्र, मैं भी यहीं रहूँगा और एकाग्रचित्त होकर आपके चरणों की सेवा करता रहूँगा (क्योंकि—) हे कुमार, प्रथम-वयमें जो व्रतभारको सह लेता है, उसकी दीक्षा धन्य

तं णिएवि मणोहरु[1] भणिउ तासु   भो सामिय तुअ मइँ विहिउ हासु[2] ।
णउ अवसरु एव्वहिँ वयहु णाह   महु सत्थि चलहिँ गयसुंडबाह ।
तं वयणि बोल्लइ वज्जबाहु   मुणि विक्खोवरि जि बद्धगाहु ।
कल्लाणमित्तु तुहुँ मज्झु जाउ   जे एहउ पयडिय हास भाउ ।

घत्ता—भवकूवि पडंतउ विसयासत्तउ महु तइँ करलंबणु विहिउ ।
तुव सरिसु गुणायर सुहमयसायर णत्थि को वि अण्णु जि सुहिउ ॥ ३४ ॥

[३-६]

विज्जुल-लव अणुहर विसय-सुक्ख   को सेविवि सहइ [तं] णरय-दुक्ख ।
उप्पत्ति-जरा-मरण त्ति खिण्णु   गिण्हइ मेल्लइ तणु भिण्णु-भिण्णु ।
णवि को वि कासु मित्तु वि अणिट्ठु   दुह-सुह-कारणु वइरिउ वि इट्ठु ।

उक्तंच—सर्पभोगोपमा भोगा जीवितं बुद्बुदोपमम् ।
सन्ध्यारागोपमा स्नेहास्तारुण्यं कुसुमौपमम् ॥ १ ॥

पावज्जलेमि हउँ एत्थ अज्जु   तुह भद्द जाहि णियगेहि सज्जु ।
पाणिग्गहणहो मइँ किय णिवित्ति   गिण्हेमि दिक्ख इउ भावि चित्ति ।
सव्वाहँ खमिउँ मइँ खमहु मज्झु   जं कियउ पाउ तं होउ वंझु ।
एणालावहि लज्जियउ सो वि   थिय गेहहो[3] चाउ करेवि दोवि ।
मुणिवरहु णविवि पयपंकयाइँ   सिरि-लोउ करिवि धारिय वयाइँ ।
रयणहिँ लंकिय आहरण वित्त   ते उत्तारिवि महियलि णिहित्त ।
अण्ण वि छव्वीस महाणरेस   तवि सठिय ते सहु चइवि वेस ।
गुणसागर-मुणिहु सयासि थक्क   पज्जंकासणि संगेण मुक्क ।
विवणम्मण [4]णयपुरि के वि पत्त   कण्णाइ सुणिय पुणु तं वि वत्त ।

घत्ता—णियभायहो सोएणा हविउ एसा वि विरत्त स चित्तिवरा ।
घरमोहु विहंडिवि अक्खइँ दंडिवि कंतिय जाया सीलधरा ॥ ३५ ॥

---

१. क. ख. मणोदउ । २. क. ख. आसु । ३. क. ख गेहि । ४. क. ख. णियपुरिं ।

हो जाती है।" यह सुनकर वज्रबाहु बोला—"हे मित्र (मनोहर), तुम्हारे कथनसे ही (अब) मैं पवित्र दीक्षा ग्रहण करता हूँ।" यह कहकर (वज्रबाहुने अपने) सुन्दर वस्त्राभूषण उतार (-फेंक) दिये, और (इस प्रकार) जन-मनको क्षुब्ध कर दिया। उन वस्त्राभूषणोंको देखकर त्रस्त हुए मनोहरने (वज्रबाहुसे) कहा—"हे स्वामिन्, मैंने तो आपके साथ (मात्र) हँसी ही की थी, (यथार्थतः) व्रत ग्रहण करनेका यह अवसर है ही नहीं। (अतः) हाथीकी सूँड़के समान बाहुओं-वाले हे नाथ, (आप शीघ्र हो) मेरे साथ (—घर) चलें।" (मनोहरका) यह कथन सुनकर मुनि-दीक्षाके ग्रहण करनेमें कटिबद्ध वज्रबाहुने उससे कहा—"(हे भाई), तुम (सचमुच ही) मेरे कल्याणमित्र हो, जो (तुमने) मेरे साथ ऐसी हँसीका भाव प्रकट किया था।

घत्ता—भवकूपमें पड़े हुए तथा विषयासक्त मेरे लिये आपका करावलम्बन प्राप्त हो गया। आपके समान गुणाकर एवं शुभमतिसागर अन्य दूसरा कोई सुहृद नहीं हो सकता।" ॥ ३४ ॥

[३-६]

वज्रबाहुकी वैराग्यावस्था सुनकर राजकुमारी मणोदाका शीलव्रत धारण करना

"(इस संसारमें) बिजलीकी चमकके समान हो विषयसुख हैं। उसका सेवन कर नरकके दुख कौन सहेगा ? यहाँ उत्पत्ति बुढ़ापा एवं मरणसे क्षीण होनेवाला भिन्न-भिन्न प्रकारका शरीर ग्रहण करना एवं छोड़ना पड़ता है। न तो कोई किसीका मित्र ही है और न अनिष्टकारी शत्रु ही। वस्तुतः सांसारिक दुख-सुखके कारण ही बैरी अथवा इष्टजन बनते हैं। कहा भी गया है:—

'भोग-विलास सर्पके फणके समान है, जीवन जलके बुदबुदेके समान है, स्नेह सन्ध्याके रागके समान है तथा तारुण्यता पुष्पके समान है।'

"आज मैं यहाँ पापोंसे जल रहा हूँ। हे भद्र, तुम तत्काल ही अपने घर लौट जाओ। पाणि-ग्रहणसे अपनेको निवृत्तकर मैं दीक्षा ग्रहण कर लूँ। यही भाव मेरे मनमें उठ रहा है। सभीके लिये मैंने क्षमा कर दिया, मुझे भी सभी क्षमा करें। जो पाप मैंने किये हैं, वे सभी व्यर्थ हों।' इस प्रकारके आलापसे वह (मनोहर बड़ा) लज्जित हुआ और दोनों (मनोहर एवं वज्रबाहु)ने ही गृहत्याग करके, मुनिवरके पाद-कमलोंमें प्रणाम कर एवं सिरका केशलुञ्चन कर, व्रतोंको धारण कर लिया। अन्य छब्बीस महानरेशोंने भी अपना (राजसी—) वेश छोड़कर तथा रत्नोंसे अलंकृत दीप्त आभरणोंको उतार कर महीतल पर फेंक दिया। पुनः वे सभी पर्यंकासन पर स्थित एवं परिग्रहरहित गुणसागर मुनिके समीप गये और (वज्रबाहुके साथ ही) तपमें स्थित हो गये। उदासचित्त होकर कोई व्यक्ति नागपुर पहुँचा। (उसी समय) उससे कन्या मणोदाने भी उस वृत्तान्तको सुना।

घत्ता—अपने भाईके शोकसे व्याकुल होकर यह उत्तम कन्या भी अपने चित्तमें विरक्त हो गई। घरका मोह छोड़कर और इन्द्रियोंको दण्डित कर वह कान्ता भी शीलव्रत-धारिणी बन गई ॥ ३४ ॥

[३-७]

जयरहेण तं जि पुणु वत्त सुवा उज्झावरि सव्वहि पयड हुवा ।
अहो जाउ मउव्वु विवाहु तहिँ करि लग्गी मुत्ति-वरंग जहिँ ।
सोयाउरु सहहिँ णिसण्णु पहु पुणु सिरु धुणि जंपइ विजयरहु ।
अहो जोवहु पुत्तहो पुत्त-मइ हेलइ किय छिंदिय विसयरइ ।
बालत्तणि धारिउ तवहु भरु सो धण्णउ सव्वहँ एक्कु परु ।
हउँ पुणु थेरत्तणि विसयरउ अज्ज वि णउ धरमि परमतउ ।
हउँ लग्ग होणु मोहेँ गहिउ अच्छमि इह भोयासा-सहिउ ।
लोहग्गहि गहिउ ण मुणमि हउँ णिवसमि जमसीह[2]-चपेड[3]-भिउ ।

घत्ता—जंपइ अत्थाणहँ मज्झि सयाणहँ तणु बालत्तणि जेहउ ।
जोव्वणि हुव भुयबलु कइ इंदियबलु णउ पुणु विद्धहँ तेहउ ॥ ३६ ॥

[३-८]

दिणि-दिणि अण्ण-पयडि तणु पयडइ जीवहु मोहिवि दुग्गइ जगडइ ।
तण्हाछुहवस[4] जलु-बलु मग्गइ रत्ति सुवइ दिणि चंचलु जग्गइ ।
भोयण-ण्हाण-विलेवण-वत्थहिँ आहरणहिँ तंबोल-पसत्थहिँ ।
पोसिज्जंतु वि तह वि ण हिययरु रोय-सोय-दुक्खहिँ णिच्च जि घरु ।
अण्णु किलेसि वि जं तणु पोसिउ णिय-हिययरु मणि जि संतोसिउ ।
जीवहु संभिण्णउ इहु दीसइ इयर-परिग्गहु तणु किं सीसइ ।
तणु धणु कंचणु सयलु असारिउ पुत्त-मित्तु इह जं जि पियारउ ।
सरय घणागमि[5] जलबुब्बुव जिह संसारिय-संगइ सव्वइँ तिह ।

घत्ता—अद्धुवसंसारहो दुहसयसारहो णेहु काइ इह किज्जए ।
भवि जोउ असरणउ तमइअ-करणउ णउ केण वि रक्खिज्जए ॥ ३७ ॥

---

१. क. किमच्छिदिय ख. किम छिंदिय । २. क-ख. जम । ३. क. भिउ । ४. क. ख. वसु । ५ क ख. घणागमि ।

[३-७]

राजा जयरथकी वैराग्य-भावना

राजा जयरथने भी (अपने पुत्र मनोहरके दीक्षित होने-सम्बन्धी) उस बातको सुना। फिर अयोध्यापुरीमें सभीको वह प्रकट हो गई। (सभी कहने लगे कि) "अरे, यह तो अपूर्व विवाह हो गया, जहाँ मुक्तिरूपी अंगना हाथ लगी।" प्रभु जयरथ शोकातुर होकर राजसभामें बैठे थे। उन्होंने सिर धुनते हुए कहा—"अरे पुत्र (इन्द्रबाहु), पुत्र (वज्रबाहु)की बुद्धि तो देखो, उसने अनादरपूर्वक विषयरतिका छेदन कर दिया है। (एक ओर), वह धन्य एवं सभीमें एकोत्तम है, जिसने बालपनसे ही तपभार धारण कर लिया है। और (दूसरी ओर) मैं हूं, जो वृद्धावस्थामें विषयासक्त हूँ। आज भी मैं परमतपको धारण नहीं कर रहा हूँ। मैं [यहाँ] लगा हूं, मोहसे ग्रस्त हूँ, तथा भोगोंकी आशासे ही यहाँ रह रहा हूँ। लोभरूपी ग्राहसे ग्रस्त हूँ। मैं स्वात्मका ध्यान नहीं कर रहा हूँ। मैं यम सिंहके चपेटासे डर रहा हूँ।"

घत्ता—राजा जयरथने सभास्थलके मध्यमें कहा—"सयानोंका शरीर बालपनमें जैसा (सुकुमार) था, वही शरीर यौवनावस्थामें (दूसरे रूपमें) परिवर्तित हो जाता है और (यौवनावस्थामें प्राप्त) वही भुजबल एवं इन्द्रियबल वृद्धावस्थामें नहीं रहता॥" ३६॥

[३-८]

अनित्यानुप्रेक्षा

"दिन प्रतिदिन अन्नकी प्रकृतिसे शरीरकी प्रकृति प्रकट होती रहती है। जो जीवको मोहित कर उसे दुर्गतिसे लड़ाती रहती है। तृषा एवं क्षुधाके वशीभूत होकर जल एवं भोजन माँगता है। रात्रि भर सोता है और दिन भर चञ्चल रहता हुआ जागता रहता है। भोजन, स्नान, विलेपन, ताम्बूल तथा प्रशस्त वस्त्रों एवं आभरणोंसे पोषित किया जाता है तो भी (वह तन) हितकर सिद्ध नहीं (होता)। (क्योंकि) रोग, शोक एवं दुखोंका वह निरन्तर घर बना रहता है। दूसरोंको क्लेश देकर भी यदि तनको पोसता है तो वह भले ही स्वयंके लिये हितकर एवं मनको उससे सन्तोष (प्राप्त) हो, किन्तु वह तन जीवात्मासे भिन्न दिखता ही है। तब फिर (उसके) इतर परिग्रहोंका कहना ही क्या ? तन, धन, काञ्चन, पुत्र, मित्र (आदि) यहाँ जो कुछ भी प्रिय (वस्तुएँ) हैं वे सभी असार हैं। शरदुकालीन मेघोंके आगमनपर जिस प्रकार जलके (क्षणिक) बुदबुदे उठते हैं, उसी प्रकार संसारके समस्त परिग्रह भी (क्षणिक ही) हैं।

घत्ता—सैकड़ों दु:खोंके सारभूत इस अध्रुव संसारसे क्या स्नेह करना ? संसारमें यह जीव शरण रहित है। उसके ऐसा होनेके कारण वह किसीके भी द्वारा बचाया नहीं जा सकता॥" ३७॥

[३-९]

आउ गलंतो कोइ ण रक्खइ   जइ रक्खसि पुणु दिणि-दिणि भक्खइ ।
कालसमागमि फुरइ ण मंतु जि   भेसहु अमिउ रसायणु तंतु जि ।
आउ-समत्तइँ सयल-णिरत्थइँ   जइ भड रक्खहिँ समरि समत्थइँ ।
असि-पंजरि पायालि मयरहरि   जइ गोविज्जइ गिरि-सिहरोवरि ।
जणणि-जणय[1]-बंधव-सुहि-मित्तइँ   जइ पुणु कंवहिँ णेहासत्तइँ ।
कोइ ण सरणु जि मरणावत्थेहिँ[2]   असरणु मणि भावहु परमत्थहिँ ।
चउगइँ गइहिँ भमइ इक्कल्लउ   दुहहिँ खिण्णु कहि मि [ण हु] सुहिल्लउ ।
संसारणि[3] वि पडइ अयाणउ   सुगुरु ण तिहिँ कुइ लद्धु सणाणउ ।
एकल्लु वि गुणगणरयणायरु   कम्मिहिँ णियउ भमइ भवसायरु ।
चडइ पडइ दुहि सुहियउ एक्कु वि   आउ समत्तइ कोइ ण थक्कु वि ।
आरडंतु णउ केण धरिज्जइ   एकल्लउ जमदूवहिँ णिज्जइ ।
अण्ण सरीर अण्णु पुणु चेयणु   अण्णु अत्थि सयलु जि परियणु जणु ।
मे-मे-मे करंतु सुहि-सयणहँ   अण्णु ण जाणइ वियसिय वयणहँ ।
चेयण इयर पइत्थइँ अण्णइँ   खणि विणास-रूवइँ मणि मण्णइँ ।

घत्ता—जोणिउ अण्णण्ण जि अण्णइ[4] वण्ण[5] जि जणणि-जणय[6] अण्णण्णइ ।
तणु धावहि पोट्टलु अंतहि विट्टलु किं तहु गुणु वण्णिज्जए ॥ ३८ ॥

[३-१०]

जसु वण्णणि बहु लज्ज उवज्जइ   असुइत्तणु तहु केम कहिज्जइ ।
रइरसु तिय पुरिसहिँ मंथंतहँ   सुक्क सोणि-खेत्तहिँ मुच्छंतहँ ।
उवरमज्झि विउ कम्माइत्तउ   अद्धमासि सो अंडु पउत्तउ ।
बिहु पक्खहिँ पेवसिसमु जायइ   जणणिहि लालारसु बड्ढायइ ।

---

१. क. ख. जण्ण । २. क. मरणावच्छुहि ख. मरणावत्थुहिं । ३. क. ख. संसारण ।
४ क. ख. अन्नइ । ५ क. ख वन्न । ६. क. ख. जणणहु ।

[३-९]

अशरण, संसार, एकत्व एवं अन्यत्वानुप्रेक्षाएँ

"गलती हुई आयुको कोई (भी स्थिर) नहीं रख सकता। (हे सभासदो), यदि (क्षणिक रूपमें सुरक्षित) रखता भी हो, तो भी वह (आयु) दिन-प्रति दिन (जीवनका) भक्षण करती रहती है। कालके आ जानेपर मन्त्र-तन्त्र तथा अमृतरूपी रसायन भी लेशमात्र उसे स्फुरायमान नहीं कर सकते।

यदि कोई समर-समर्थ भट भी उसे लोहेके पिंजड़ेमें, पातालमें या मकरगृहमें सुरक्षित रखना चाहे अथवा यदि गिरिशिखरके ऊपर भी उसे छिपा दिया जाय, तो भी वह सब आयुके समाप्त हो जाने पर निरर्थक हो जाता है। जननी-जनक, बन्धु-बान्धव, एवं सुधी-मित्र स्नेहासक्त होकर यदि क्रन्दन भी करें (तो भी) मरणावस्थामें कोई भी शरण (प्रदान) नहीं कर (सकता)। इस प्रकार परमार्थके लिये अशरण-भावनाका मनमें ध्यान करना चाहिये।

चारों गतियोंमें जाकर (यह जीव) अकेला ही भटकता रहता है, दुखोंसे खिन्न रहता है और कहीं भी सुख प्राप्त नहीं कर पाता। संसारमें वह अज्ञानीके रूपमें पड़ा रहता है। वहाँ वह कोई ज्ञानी सुगुरु प्राप्त नहीं कर पाता।

गुणगण रूपी रत्नाकर भी अकेला ही होता है और अकेलाही कर्मोंके वशीभूत होनेके कारण भवसागरमें भटकता-फिरता है। यह प्राणी अकेला ही चढ़ता (उन्नति करता) है और अकेला ही पतित होता है। दुखी या सुखी भी अकेला ही होता है। आयुके समाप्त होनेपर कोई भी नहीं रह पाता। रोते हुए भी उसे कोई नहीं बचा पाता और यमदूतके द्वारा वह अकेला ही ले जाया जाता है।

शरीर अन्य है तथा चैतन्य अन्य, और समस्त परिजन-जन भी अन्य। 'मेरा' 'मेरा' मेरा' कहनेवाले प्रसन्नचित्त मित्र तथा स्वजन भी अन्य ही हैं। किन्तु (मोहवश मनुष्य) वह नहीं समझता। (वस्तुतः) चैतन्य इतर है और पदार्थ इतर। (पर-पदार्थ) क्षणिक विनाशरूप ही हैं, ऐसा (निश्चयरूपसे) मनमें मानो।

घत्ता—योनियाँ अन्य-अन्य हैं, वर्ण भी अन्य-अन्य हैं और जननी एवं जनक भी अन्य-अन्य हैं। यह तन धातुओंकी पोटली है, उसमें अपवित्रता भरी है, उसके दुर्गुणोंका वर्णन कैसे किया जाय?" ॥ ३८ ॥

[३-१०]

अशुच्यानुप्रेक्षा

"जिसके वर्णन करनेमें (भी) अत्यन्त लज्जा उत्पन्न होती है कि रति-रसके लिये स्त्रियाँ पुरुषोंके द्वारा मथितकी जाती हैं और शुक्र एवं शोणितके खेत (योनि)में वे मूर्च्छित रहते हैं। उनके शरीरकी अशुचिताके विषयमें क्या कहा जाय? हे पण्डित, गर्भके मध्यमें कर्म-पुद्गलोंको ग्रहण करता हुआ अर्धमासमें अण्डाकार रूप धारण करता है। दूसरे पखवारेमें वह ढोलके आकार-

[1]दुज्जइ मासि मंसरसपोट्टलु तियइ सिर-जंघरु हि विट्टलु ।
कीकसेहिँ तुरयहिँ पूरिज्जए संधि-णियरु णाडिहिँ बंधिज्जए ।
मज्जा-सुक्कहिँ पंचमि वट्टइ सासोसासहिँ ईसि पवट्टइ ।
छट्ठमि अंगोवंगेइँ[2] जायइँ अल्लचम्म सत्तिए पच्छायइँ ।
णववारहिँ संपुण्णउ सत्तमि वयण-णयण-सवणहिँ पुण्णउ कमि ।
अट्ठमिय उयरिवल फंदइ गब्भहिँ पडियउ णिग्घिणु कंदइ ।
णिग्गमयउ चिंता णवमइँ गहि- विविहपयार रोय-दुह सहियउ ।
दहमइँ जोणिवारसंकमियउ रुहिरवसाविलित्तु णिग्गमियउ ।
णिच्च अमेह-मज्झि वड्ढारिउ सुह-पएसु तहु कवणु वियारिउ ।
कामरसेण जि जोव्वणि भरियउ विद्धं भावि जर-भर-जज्जरियउ ।

घत्ता—एरिस-तणु-कारणि पाडिय भववणि णिंदकम्म आयरइ जणु ।
मिच्छत्त-पमायहिँ जोयकसायहिँ कम्मासउ भासियउ पुणु ॥ ३९ ॥

[३-११]

आसवेहिँ जीउ वि बंधिज्जइ तेण पुणु जि चउगइ भामिज्जइ ।
भवि भमणहँ पडियउ णउ छुट्टइ पुव्वकिकउ जावहिँ णउ फिट्टइ ।
इय जाणिवि आसवहु णिरोहणु संवरु चिंतिज्जइ पुणु सोहणु ।
जिणवरवयणु लहिवि मणु खंचइ दुट्ठासवहँ सचित्तु णिउंचइ ।
वय-तव-झाणहिँ संवरु वुत्तउ जेण सुसिय संसारावत्तउ ।
णिज्जर पुव्वंकिय णिद्धाडइ विसयकसायदोसयणु ताडइ ।
धम्म-सुक्क-झाणेँ णिवसंतहु तेरहविहु चारित्तु वसंतहु ।
णिज्जर[3] कम्महँ भासइ जिणवरु मोक्खु पुणु वि पावइ बहुसुहयरु ।

घत्ता—छह दव्वहिँ भरियउ केण ण धरियउ हरिउ ण पालिउ तह वि पुणु ।
ठिउ सुद्धायासहिँ मज्झि पएसहिँ चउदहरज्जूडत्ततणु ॥ ४० ॥

[३-१२]

ठिउ पुरिसायारेँ लोयठाणु सत्तेक्क पणेक्क तिलोयमाणु ।

---

१. क. ख. दूज्जइ । २. क. अगेबंगइं । ३. क. णिज्झर ।

का हो जाता है (और) माताके मुखकी लारसे वर्द्धित होता (रहता) है। दूसरे मासमें (वह) माँस-रसकी पोटलीके समान एवं तीसरे मासमें (उसके) भद्दे सिर, जंघा, एवं उरु बनते हैं। चौथे मासमें (वह) हड्डियोंसे पूरित होता है और (उसका) सन्धि-समूह नाड़ियोंसे बँध जाता है। पाँचवें मासमें मज्जा एवं शुक्र उत्पन्न होता है और कुछ-कुछ श्वासोच्छ्वास चलने लगता है। छठवें मासमें अंगोपांगादि उत्पन्न होते हैं और सशक्त आर्द्र-चर्मसे आच्छादित होने लगते हैं। सातवें मासमें (वह) क्रमशः वदन, नयन, श्रवण आदि सम्पूर्ण नौ द्वारोंसे पूर्ण हो जाता है। आठवें मासमें उदरके बलसे गर्भमें फाँदने लगता है और पड़ा-पड़ा वह निर्घिण्य क्रन्दन करता रहता है। नौवें मासमें वह विविध प्रकारके रोग और दुःखोंसे सहित होकर (गर्भसे) बाहर निकलनेकी चिन्तासे ग्रस्त रहता है। दशवें मासमें (वह) योनिद्वारसे संक्रमित होकर रुधिर एवं वसासे लिप्त होकर निकलता है (जो) निरन्तर विष्ठा आदि अमेध्य वस्तुओंके मध्यमें बढ़ता रहता है। उसके शुचि-प्रदेशत्त्वका वहाँ विचार ही कौन ? यौवनावस्थामें कामरति से भरा हुआ रहता है और वृद्ध होकर जराके भारसे जर्जरित रहता है।

घत्ता—प्राणी ऐसे ही (अपवित्र) शरीरके लिए भववनमें पड़कर निन्दनीय कर्म किया करता है। पुनः मिथ्यात्वादि प्रभावों तथा योगादि कषायोंसे कर्मास्रव (का होना) कहा गया है" ॥ ३९ ॥

[३-११]

आस्रव, संवर एवं निर्जरानुप्रेक्षा

"आस्रवोंके द्वारा जीव भी बाँध लिया जाता है। उस आस्रवके कारण ही प्राणी चतुर्गतिमें भटकाया जाता है। भवभ्रमणमें पड़ा हुआ जीव उससे तब तक नहीं छूट पाता, जबतक कि पूर्वकृत कर्म नष्ट न हों। यह जानकर आस्रवका निरोध कर पुनः शोभनीय संवर (अनुप्रेक्षा)का चिन्तन करना चाहिये। दुष्ट आस्रवोंसे अपने चित्तको मोड़ना चाहिए और जिनवरके वचनोंको ग्रहणकर मनको एकाग्र करना चाहिए।

व्रत, तप एवं ध्यानोंसे संवर (का होना) कहा गया है, जिससे कि संसारावर्त्त सुखाया जाता है। निर्जरा पूर्वकृत (कर्मों) को निकालती है और विषय-कषाय आदि दोषोंको तोड़ती (नष्ट करती) है। धर्म एवं शुक्ल ध्यानमें रहता हुआ तथा तेरह विध चारित्र (के पालन)में (तत्पर) रहता हुआ जो कर्मोंकी निर्जरा करता है उसे जिनवरने 'निर्जरा' कहा है। पुनः वह बहु सुखकारी मोक्ष पाता है।

घत्ता—(यह लोक) छह द्रव्योंसे भरा हुआ है, तथा किसीके द्वारा (भी) धारण किया हुआ नहीं है। वह न (तो किसीके द्वारा) हरा जा सकनेवाला है और न पाला (ही) जा सकनेवाला। (वह) शुद्ध आकाशमें मध्यप्रदेशमें स्थित है जो ऊँचाईमें चौदह राजू है" ॥ ४० ॥

[३–१२]

लोकानुप्रेक्षा (नरक वर्णन)

"तथा वह लोकस्थान पुरुषाकारमें स्थित है। उस त्रिलोकका मान (पूर्व-पश्चिममें नीचेको

वेसासणयारे णरय विट्ठ णारय जहिँ णिवसहिँ दुह-किलिट्ठ ।
खर-पंक-तोय-धर-तलिय उत्त सत्त वि णरयालय दुक्खतत्त[1] ।
माणंति जीव पंच जि पयार दुक्खइँ तत्थ जि वइकिरिय सार ।
तेतीसोवहि आउस-पमाण सव्वहँ तणु हुंडायार-ठाण ।
धणु सत्त[2] ति कर वि छंगुल पमाउ तह दूणु-दूणु णारयहँ काउ ।
पुणु उप्परि महि असुरिंद थंति णारयगणाहँ जे दुक्ख दिंति ।
पुणु खरधराहिँ थिय भावणिंद णवविह भासिय आयमि फणिंद ।
पुणु उप्परि चित्ता भणिय खोणि तिरियहँ मणुवहँ जम्म-जोणि ।
जोयण सहासु तहि पिंडुरुंदु ....

घत्ता—जंबूदीवपहिल्लउ सो लवणसमुद्दिं तोयरउद्दिं वेढिउ णं सोहिल्लउ ।
[× × × × × × × × × × × × ×] ॥ ४१ ॥

[३-१३]

तहु दूण-दूण दीवोवहीस ते पुणु असंख जंपहिँ जईस ।
गिरिरायोप्परि ठिउ अंडु विमाणु मज्झिमलोयहु सरिसउ पमाणु ।
तहु उवरि-उवरि पुणु सग्गवास अट्ठह दूणिय णिच्च जि पयास ।
सोहम्माइँ जि सुरवरहँ ठाणु मणिगणिहिँ जडिय पुणु बहु विमाणु ।
पुण्णेण जीव बहु तत्थ जंति णिच्च जि मणइच्छिय सुहरमंति ।
वे-सत्त-दह जि चउदह ससुक्ख पुणु बिण्णि-बिण्णि बड्ढइँ पयक्ख ।
बावीस उवहिँ कप्पंत जाम पुणु एकु-एकु-णव-गावि ताम ।
णवणुत्तरेहिँ सायरहु तीस सव्वट्ठसिद्धि पुणु तिण्णि[3]-तीस ।
बारह जोयण तह गयण लंघि सासउ पउ संठिउ सुहमणग्घि ।
लोयहु सिरि अजरामरु पवित्तु णरलोयसमाणउ सिद्धिखेत्तु ।
णउ सोउ भोउ णउ रोउ दुक्ख णउ णिद-तण्ह-छुह-देह-सुक्ख ।
तहिँ पत्त ण संसारिहिँ भमेइ स-सरूवि सुक्खि णिच्च जि रमेइ ।

---

१. क. ख. चत्त । २. क. ख. वय । ३. क. ख. तिन्नि ।

ओर) सात राजू (अनुक्रमसे घटता-घटता मध्यमें) एक राजू (फिर ऊपरकी ओर अनुक्रमसे बढ़ता-बढ़ता ब्रह्म स्वर्ग तक) पाँच राजू और (बादमें घटते-घटते अन्तमें) एक राजू है।

वेत्रासनके आकारके क्लिष्ट-दुखोंसे व्याप्त नरक कहे गये हैं, जहाँ नारकी लोग निवास करते हैं। खर, पंक एवं तोय पृथिवीतल प्रभृति दुखोंसे व्याप्त सात नरकालय हैं। वहाँ वैक्रियक शरीरके कारण जीव पाँच प्रकारके दुखोंका अनुभव किया करते हैं। आयु प्रमाण तेतीस सागर तथा सभीका शरीर हुण्डाकार संस्थानवाला होता है। शरीरकी ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ एवं छह अंगुल प्रमाण है तथा आगेके नारक-शरीर दूने-दूने हैं। पुनः इसकी ऊपरी पृथिवीपर असुर (जातिके देव) रहते हैं। जो नारकगणोंको दुःख देते रहते हैं। पुनः खर पृथिवीपर फणीन्द्र आदि नौ प्रकारके भवनवासी देव स्थित हैं, ऐसा आगममें कहा गया है।

इसके ऊपर चित्रा पृथिवी कही गई है, जो तिर्यञ्चों एवं मनुष्यकी जन्म-योनि है। जहाँ सहस्र योजन [नीचेकी ओर व्यन्तरोंके आवास हैं और दो हजार योजन जाकर अल्पऋद्धिके धारक भवनवासी देवोंके] भवन हैं।

घत्ता—प्रथम जम्बूद्वीप है, वह रौद्रजलवाले लवण-समुद्रसे वेढ़ित है, मानों उस (जम्बूद्वीप) का वह शृंगार ही हो [× × × × × × × × × × ×] ॥ ४१ ॥

(३-१३)

लोकानुप्रेक्षा (मध्यलोक वर्णन)

उसके बाद दूने-दूने (प्रमाणवाले) श्रेष्ठ द्वीप एवं समुद्र हैं। योगीशोंने उन्हें असंख्य कहा है। गिरिराज सुमेरुके ऊपर मध्यलोकसे सरसोंके प्रमाण (प्रतीत होनेवाला) अण्डाकार विमान स्थित है। पुनः उसके ऊपर-ऊपर स्वर्गावास हैं। जो द्विगुणित आठ (अर्थात् सोलह भेदवाले) कहे गये हैं। वे सौधर्म आदि सुरवरोंके मणिगणोंसे जटित अनेक विमानवाले स्थल हैं। पुण्य करनेसे अनेक जीव वहाँ जाते हैं और निरन्तर मन इच्छित सुखोंका भोग करते हैं। उनकी सुखपूर्ण (उत्कृष्ट) आयु दो, सात, दस तथा चौदह सागर प्रत्यक्ष है। उस (चौदह)में दो-दो अधिक (अर्थात् सोलह, अठारह एवं बीस) एवं अन्तिम कल्पमें बाइस सागर तथा उस (बाइस)में भी एक-एक (अधिक) जोड़कर नौ नव ग्रैवेयक तक (अर्थात् तेईस, चौबीस, इस प्रकारसे इकतीस तक) तथा नौ-अनुत्तरोंमें बत्तीस सागर एवं सर्वार्थसिद्धिमें तेतीस सागर है। वहाँसे बारह योजन प्रमाण आकाश लाँघकर अनर्घ्य सुखोंका आगार, लोकके लिये श्रीके समान अजर, अमर, पवित्र, नरलोकके समान (विस्तृत) तथा शाश्वत-पदवाला सिद्धक्षेत्र स्थित है। वहाँ न शोक है, न भोग (की स्थिति) और न रोग एवं दुख ही, तथा न नींद, प्यास, भूख या देह-सुख ही है। वहाँ पहुँचकर फिर संसारमें भटकना नहीं पड़ता और वह वहाँ (मोक्षमें) स्व-स्वरूपी सुखोंमें निरन्तर रमण करता रहता है।

घत्ता—इय लोय तिभेयहिँ वज्जिय छेयहिँ भमइ जीउ जिणसुत्त विणु।
णहु थक्कइ कहमवि हिंडइ भवि-भवि जिम रवि-ससि णहि रयणि दिणु ॥ ४२ ॥

[३-१४]

भवकोडिहिँ दुल्लह परमबोहि भवि-भवि संपज्जउ दुहणिरोहि।
सयलहँ जम्महँ णरभउ दुलंभु तह पुणु दुल्लहु सो विगय-दंभु।
तत्थ वि उत्तमकुल दुलहु वुत्तु अह कुल णउ मण्णइ जिणहु सुत्तु।
जिणसुत्तु स लहिवि णउ तत्थ रत्तु रयणत्तउ दुल्लहु तह ण एत्तु।
कहमवि जइ तं पावियउ एत्थु को हारइ रयणु व पुणु करत्थु।
बे अट्ट-रउद्द झाणइँ चएवि विसयहँ पसरंतउ मण धरेवि।
णिग्गंथ-पंथि अणुसरहि धीरु वयभरु पालहि पुणु जणण भीरु।
रयणत्तय-बोहिसमाहि-जुत्तु सिवपउ लहि इम जिणेण वुत्तु।

घत्ता—इय बोहहिँ कारणु दुग्गइ-तारणु धम्मु अहिंसा पाणिधरु।
रयणत्तय जुत्तउ धम्म पवित्तउ वत्थु-सहाउ वि धम्म परु ॥ ४३ ॥

[३-१५]

दहलक्खणं वि धम्मु मुणिज्जइ रिसिवरेहिँ तं पुणु साहिज्जइ।
अरि उवसग्गहु दोसु ण दिज्जइ[1] उत्तमखमगुण खित्ति धरिज्जइ।
दुज्जउ[2] माण-कसाउ चइज्जइ तं मद्दउ गुणु बीयउ गिज्जइ।
मायावज्जिउ जं आयरणउ जोयत्तउ सरलत्तणि धरणउ।
सो अज्जउ गुणु सव्वहियंकरु तीयउ मुणि भणंति सुक्खायरु।
भणइ सच्चु सव्वु जो मणि भावइ गुणचउत्थु सो धण्णउ पावइ।
जो पय संजमु सुद्धउ पालइ सील-सलिल अप्पउ पक्खालइ।
आवंतउ भवमलु पुणु रुज्झइ सो सउच्चु पंचमगुण बुज्झइ।
जो पंचेंदिय-विसय णिरोहइ थावर-तस-जीवहु ण विराहइ।
अप्पा भावि अणुरत्तउ णिवसइ सो संजमु गुणु सच्चउ ववसइ।
बारहविहु जं तउ पालिज्जइ सो सत्तमउ अंगु भाविज्जइ।
जो पुणु तिविह-पत्ति णियसत्तिए दाणु देइ पयडिवि बहुभत्तिए।
अट्ठमंगु सो चाउ पउत्तउ णवमउ परिगहु-चाउ जि वुत्तउ।

---

१. क. ख. किज्जइ। २. क. ख. अज्जउ।

घत्ता—इस प्रकार लोकके तीन भेद (कहे गये) हैं, जो विद्वानोंके द्वारा वर्ज्य (कहे गये) हैं। जिन-सूत्रोंके (अध्ययनके) बिना यह जीव उनमें भ्रमता रहता है और उसे कभी भी विश्राम नहीं मिलता। भव-भवमें (जन्म लेता हुआ वह) उसी प्रकारसे भटकता-फिरता है, जिस प्रकारसे आकाशमें रात-दिन चन्द्र एवं सूर्य ॥ ४२ ॥

[३-१४]

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

दुःखका निरोध करनेवाली तथा भवकोटिमें दुर्लभ परमबोधि भव-भवमें प्राप्त हो। समस्त जन्मोंमें नरभव दुर्लभ है, यदि वह प्राप्त हो भी गया तो उसमें दम्भरहित होना कठिन है। उसमें भी उत्तम-कुलकी प्राप्ति दुर्लभ कही गई है। यदि (उत्तम) कुल प्राप्त हो भी गया, तब वह (नर) जिन-सूत्र नहीं मानता। जिनसूत्र भी उपलब्ध कर वह उनमें अनुरक्त नहीं हो पाता तथा वह दुर्लभ रत्न-त्रय भी प्राप्त नहीं कर पाता। इस भवमें यदि कभी उसे (रत्नत्रयको) प्राप्त कर भी लिया, तो हाथमें आए हुए रत्नको कौन हारेगा ? अतः हे धीर, हे जन्मभीरु व्यक्ति, आर्त्त एवं रौद्र इन दोनों ध्यानोंका त्यागकर तथा विषय वासनाओंकी ओर लगे हुए मनको रोककर निर्ग्रन्थ-पन्थका अनुकरण करो तथा व्रतका पालन करो। बोधि-समाधिसे युक्त रत्नत्रयसे शिवपद प्राप्त करो, ऐसा जिनेन्द्रने कहा है।

घत्ता—इस प्रकार (पूर्वोक्त) दुर्लभ-बोधिके समस्त कारण दुर्गतिसे तारनेवाले और प्राणोंको धारण करानेवाले हैं। अहिंसा ही धर्म है। रत्नत्रयसे युक्त धर्म पवित्र है तथा वस्तुका स्वभाव ही श्रेष्ठ धर्म है ॥ ४३ ॥

[३-१५]

धर्मानुप्रेक्षा

दशलक्षण-धर्मका भी चिन्तन करना चाहिए। ऋषि-श्रेष्ठों द्वारा उसकी साधनाकी जाती है। उत्तम क्षमा-गुणको चित्तमें धारण कीजिए और उपसर्गोंके लिये शत्रुको दोष मत दीजिए। दुर्जय मानकषायका त्याग करना चाहिए। उसे ही दूसरा मार्दव-गुण कहा गया है। मायासे रहित तथा योगत्रिक--मन-वचन एवं कायकी प्रवृत्तियोंको रोककर सरल आचरण करनेको ही मुनियोंने सर्वहित-कारी तथा सुखकारी आर्जवगुण कहा है। जो सबके मनको अच्छा लगनेवाला सत्य बोलता है, वह धन्य है, उसे चतुर्थ 'सत्यगुण' प्राप्त होता है। जो शुद्ध संयमपद पालता है, शीलरूपी सलिलसे अपने आत्माका प्रक्षालन करता है (और जिससे) आता हुआ भवरूपी मल रुक जाता है, वह शौच नामका पाँचवाँ गुण समझना चाहिए।

जो पंचेन्द्रिय विषयोंका निरोधक है, स्थावर एवं त्रस जीवोंका घात नहीं करता है तथा आत्मभावमें जो अनुरक्त होकर निवास करता है, सो वह संयमगुण (के पालन) में सचमुच व्यस्त रहता है। जो बारह प्रकारके तपका पालन करता है, वह सातवें अंग (तप) का भावन करता है। जो पुनः अपनी शक्तिपूर्वक त्रिविध पात्रोंको बहुभक्तिपूर्वक प्रकट

णवविह बंभचरिउ जो पालइ सो धम्महु गुण वहमु णिहालइ ।

घत्ता—एयइँ अणुवेक्खइँ मुणिवि पयक्खहिँ वोदहाइँ जयरहु जि णिउ ।
चिंतिवि णिव्विण्णउ मणेण सउण्णउ जिणदिक्खहिँ संण्णद्धु पियउ ।। ४४ ।।

[३-१६]

णियणत्तिउ रज्जि[1] थवेवि तेण णामेण पुरंदर जयरवेण ।
अप्पुणु सहु पुत्तेँ वणिहिँ पत्तु णिव्वाणघोसु तहिँ मुणि तिगुत्तु ।
वंदिवि पडिगाहिय परमदिक्ख पंचेंदिय-विसयहँ किय उवेक्ख ।
वर घोर वीर-तव तावेण तत्तु आउक्खयं पुणु परलोय पत्तु ।
एत्तहिँ वि पुरंदरु णिवहु पुत्तु कित्तिधरु जाउ पुणु कमलवत्तु ।
लक्खणलक्खंकिउ विणयजुत्तु जोव्वणसिरि सो कालेण पत्तु ।
अण्णहिँ दिणिँ अण्णहु णिवहु पुत्ति सहदेवी णामा पणयमुत्ति ।
परिणाविवि ताएँ णियकुमारु पुणु दिण्णउ[2] सुबहु वि रज्जभारु ।
अप्पुणु [3]तवयरणहिँ ठिउ णिरीहु इंदिय-गय-भड[4]-णिद्दलण सीहु ।
वणि णिवसइ मासोवासखीणु चेयणसरूवि अप्पम्मि लीणु ।

घत्ता—कित्तिधरु णरेसरु जुव्वणसिरिधरु सहदेवी-भज्जइ सहिउ ।
इंदियसुह विलसइ वइरि किलेसइ पुव्वज्जिय[5]-पुण्णेँ अहिउ ।।४५।।

[३-१७]

दाणेँ सम्माणेँ बुहहँ चित्त रंजइ परिपालइ णिच्च मित्त ।
अरिरायसिरोमणि बलपयंडु णिय-[6]जसेण दिसामुह किय जि पंडु ।
इक्खाग-वंस-गिह-सिहर-कुंभु जिणमग्गि रत्तु मणि विगयदंभु ।
सामंति-मंति-परियरिउ संतु वर-सहहिँ णिसण्णउ[7] गुणमहंतु ।
अण्णहिँ दिणि जा सत्तंगु रज्जु परिपालइ लालइ सो सभज्जु ।
ता विसउ णियंति दिट्ठु तेण उक्का-णिहाउ पुणु तक्खणेण ।
तं पेच्छिवि चिंतिउ तं मणेण संवेयारूढ वियक्खणेण ।

१. क. ख. रज्जिय २. क. ख. दिन्नउ ३. क. ख. तवणरहि ४. क. ख. पड
५. क. ख. पुव्वजिय ६. क. ख. जि सैण ७. क. ख. णिसन्नउ ।

रूपमें दान देता है सो (वह) त्याग नामका आठवाँ अङ्ग कहा गया है। नवमाँ अंग परिग्रह-त्याग कहा गया है। नवविध ब्रह्मचर्यको जो पालता है, सो वह धर्म नामक दसवें गुणसे निहाल हो जाता है।

घत्ता—इसप्रकार नृप जयरथ बारह अनुप्रेक्षाओंका प्रत्यक्ष मनन एवं चिन्तन कर वैराग्यसे भर गया तथा पुण्यवान् पिता (विजयरथ) ने भी मनमें जिन-दीक्षाकी तैयारी की ॥४४॥

[३-१६]

राजा पुरन्दरका वैराग्य एवं उनके पुत्र कीर्तिधर द्वारा राज्य-संचालन

जय-जय रवके साथ 'पुरन्दर' नामक अपने नातीको राज्य (गद्दी) पर बैठाकर तथा स्वयं अपने पुत्र (जयरथ) के साथ वह (विजयरथ) वनमें वहाँ पहुँचा जहाँ निर्वाणघोष नामके त्रिगुप्तिधारी मुनि (विराजमान) थे। उन्हें वन्दन कर (उन्होंने) पञ्चेन्द्रिय विषयोंकी उपेक्षा की और परम दीक्षा ग्रहण कर ली। उस वीरने घोर तपसे तप्त होकर आयु-कर्मका क्षय किया और परलोकको प्राप्त हुआ।

इधर पुरन्दर नृपको कमलके फूलके समान (सुन्दर) कीर्त्तिधर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। (देहके) लक्षणोंसे लक्षांकित, विनयगुण युक्त वह (कीर्त्तिधर) कालक्रमसे यौवनश्रीको प्राप्त हुआ। अन्य किसी दिन अन्य किसी नृपकी प्रणय-मूर्त्तिके समान सहदेवी नामकी पुत्रीके साथ (पुरन्दर नृपने) अपने उस कुमार पुत्र (कीर्त्तिधर) का पाणिग्रहण कराकर अपना समस्त राज्यभार उसे (कीर्त्तिधरको) दे दिया और इन्द्रिय-गजरूप भटोंके निर्दलनके लिये सिंहके समान वह (पुरन्दर) स्वयं निरीहावस्थाको प्राप्तकर मासोपवासके कारण क्षीण-देह, किन्तु चैतन्यस्वरूपी आत्मामें लीन रहता हुआ वनमें निवास करने लगा।

घत्ता—यौवनश्रीधारी कीर्त्तिधर नरेश्वर बैरियोंको क्लेश देते हुए तथा पूर्वार्जित अनेक पुण्यकर्मोंके कारण (अपनी) भार्या सहदेवीके साथ इन्द्रिय-सुखोंका विलास करने लगे ॥ ४५ ॥

[३-१७]

राजा कीर्त्तिधरको वैराग्य एवं राज्यमन्त्रीको राज्यभार सम्हालनेका आदेश

(वह राजा कीर्त्तिधर) दान एवं सम्मानसे बुधजनोंके चित्तका रंजन करता था। (इष्ट) मित्रोंका निरन्तर परिपालन करता था, बलमें प्रचण्ड वह शत्रु-राजाओंके लिये शिरोमणि था। अपने यशसे उसने दिशामुखोंको पाण्डुर-वर्णका बना दिया था। इक्ष्वाकुवंशरूपी गृह-शिखरके लिये स्वर्णकुम्भके समान, जिन-मार्गमें रत, मनमें दम्भरहित, सामन्त एवं मन्त्रियोंसे परिचरित तथा गुणोंमें महान् वह राजा श्रेष्ठ-सभामें बैठता था।

अन्य किसी दिन जब वह सप्ताङ्ग राज्यका अपनी भार्याके साथ लालन-पालन कर रहा था, उसी समय उसने दिशाओंका निरीक्षण करते समय एक उल्कापात देखा। पुनः उसे देखकर तथा

धी-धी संसारु खणेक्क दिट्ठु जिम उडु आयासहो पडिवि णट्ठु ।
खणि-खणि आउसु अलु परिगलेइ विसयंधु ण णियमणि तं कलेइ ।
इय चिंतिवि तिं चिय मंतिविंदु कोक्किवि वुत्तउ बुद्धहिँ अणिंदु[1] ।
इय रज्जु कुलक्कमु लोयसारु णिव्वाहणिज्जु तुम्हेहिँ भारु ।
मइँ पुणु गिण्हमि[2] दिक्खवत्थ बज्झब्भंतर छंडिवि पयत्थ ।

घत्ता—तहु वयणु सुणेप्पिणु चित्तवहेप्पिणु मंतिसत्थु आलविउ पुणु ।
भो राय धुरंधर आहव-सिरिवर विणत्ति अम्ह णिसुणु ॥४६॥

[३-१८]

तुम्हहिँ विणु महि णिव रज्जभरु को णिव्वाहइ पुणु अण्णु परु ।
ससमुद्द-वसुंधर-महिलकस्सु[3] पइँ[4] मुइवि ण[5] अण्णहु होइवस्सु ।
तं सुणि जंपइ णिउ विगयमउ महि-रज्जु ण कासु-वि सत्थु[6] गउ ।
स-सरीरु वि होइ ण हियउ जह तह घरु पुरु परियणु एत्थु[7] कह ।
दुग्गइ-संवलु इंदियहँ सुहु सेविवि कोवि सहइ गरुउ दुहु ।
अप्पउ अजरामरु णाणमउ पायडु करेमि धारेवि तउ ।
रायहु मणु विसय-विरत्तु मुणि पडिजंपइ ता मंती सुगुणि ।
भो राय णिसुणि अरिलच्छिहरा विणु राएँ णासइ णीय परा ।
विणु राएँ धम्मु होइ खउ णउ कोइ वि मण्णइ कासु भउ ।
अह पुव्व-अणुक्कमु करहि णिव जिह तुव जणणेँ तउ विहिउ तव ।
विणु पुत्तेँ कुलभरु को धरइ इह णीय-पवट्टण को करइ[8] ।
पुत्तहु जम्मणि गिण्हियहु तउ जिम लोए पवट्टइ वंस-धउ ।
इय मंतिहिँ भासिउ सुणिवि पुणु पडिजंपइ राणउँ लद्धगुणु ।
सुवदंसणमत्तेँ तह[9] करमि णउ रज्जभारु णियमिउ धरमि ।
इय लियउ अवग्गहु चित्त मएँ रइसुहहु णिवित्ति पुत्त भएँ ।
पडिवण्णउ मंतिहिँ तहु वयणु णिय-णिय गिहि पत्तउ पुणु सयणु ।

---

१. क. ख. अणंदु । २. क. ख. गिण्हेमि । ३. क. ख. °कंपु । ४. क. ख. पिइ ।
५. क. ख णवि । ६. क. सच्छु ७. क. एच्छु । ८. क. ख. करए । ९. क. ख. तउ ।

वैराग्यसे परिपूर्ण होकर उस बुद्धिमानने अपने मनमें चिन्तन किया—'इस संसारको धिक्कार है, जो (मात्र) एक क्षणके लिये दिखाई देकर आकाशमें प्रकट हुई जुगनूकी चमकके समान नष्ट हो जाता है। क्षण-क्षणमें आयुरूपी जल परिगलित होता रहता है। विषयान्ध होकर (मनुष्य) अपने मनमें उसका विचार (भी) नहीं करता।' यह विचार कर उसने बुद्धिमें अनिन्द्य (अपने) मन्त्री-वृन्दको बुलाकर कहा—'लोकमें सारभूत इस राज्य एवं कुलक्रमके भारका तुम्हें ही निर्वाह करना है। बाह्याभ्यन्तर-पदार्थोंको छोड़कर मैं दीक्षावस्था ग्रहण कर रहा हूँ।'

घत्ता—उस (राजा कीर्त्तिधर) के वचन सुनकर, (उन्हें) चित्तमें धारण कर मन्त्रियोंने मधुर वाणीमें कहा—'हे राजन्, हे धुरन्धर, हे युद्ध लक्ष्मीके स्वामिन्, हमारी (भी) विनती सुनें।' ॥ ४६ ॥

[३-१८]

वैराग्योन्मुख राजा कीर्त्तिधर, मन्त्रीकी सलाहसे पुत्र-जन्म तक अपनी दीक्षा स्थगित रखता है

—"हे नृप, तुम्हारे बिना पृथिवीके राज्यभारका अन्य दूसरा कौन निर्वाह करेगा? हे राजन्, समुद्रपर्यन्त वसुन्धरारूपी महिला आपको छोड़कर अन्य किसी दूसरेकी कैसे वश्य होगी?" यह सुनकर नृप विगत-मद होकर बोला—पृथिवीका राज्य किसीके भी साथ नहीं गया। इस संसारमें जब (अपना) शरीर भी अपना नहीं होता, तब घर, पुर, परिजन कैसे (अपने) हो सकते हैं? दुर्गतिका सम्बलरूप इन्द्रिय-सुखोंका सेवन कर प्रत्येक प्राणी भारी दुःख सहता है। आत्मा अजर-अमर एवं ज्ञानमयी है। अतः अब तपको धारणकर उसे प्रकट करता हूँ।"

'राजा अपने मनमें विषय-विरक्त हो गया है।' यह जानकर सद्गुणी मन्त्री प्रत्युत्तरमें बोला—"शत्रुओंकी लक्ष्मीका हरण करनेवाले हे राजन्, (मेरी बात) सुनें। राजाके बिना श्रेष्ठ-नीति नष्ट हो जाती है। राजाके बिना धर्मका क्षय हो जाता है। कोई भी किसीका भय नहीं मानता। अतः हे नृप, आप पूर्वानुक्रमके अनुसार ही (उसी प्रकार कार्य) करें, जिस प्रकार कि आपके पिताने तप किया था। बिना पुत्रके कुलके भारका वहन कौन करेगा? इस राज्यकी नीतिका प्रवर्त्तन कौन करेगा? अतः पुत्र-जन्मपर ही तप ग्रहण कीजिए, जिससे लोकमें वंशकी ध्वजा भी फहराती रहे।"

इसप्रकार मन्त्रीके कथनको सुनकर गुणग्राही राजाने पुनः प्रत्युत्तरमें कहा—'पुत्रके दर्शन-मात्रके लिये तो तुम्हारा कथन मानता हूँ। किन्तु (अब) राज्यका भार नियमतः मुझे धारण नहीं करना है। ऐसा निश्चय मैंने अपने मनमें कर लिया है, रति-सुखसे भी निवृत्त हूँ। हाँ, पुत्रप्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहूँगा।'

राजाके वचन सुनकर मन्त्रियोंने उसे स्वीकार कर लिया और स्वजनों सहित वे अपने-अपने घर चले गये।

घत्ता—उज्झाउरि राणउँ णीइ-सयाणउँ[1] रज्जु भोउ विलसंति थिउ ।
सहदेवी-सहियउ गुणगण-अहियउ भवभमणहो मणि तत्थु[2] थिउ ॥४७॥

[३-१९]

इच्छिय काम-भोय भुंजंतहु जिणवरभणिउ धम्मु पालंतहु ।
अरियणमाणसिहा मइलंतहो णियमाणिणि सहु केलि करंतहो ।
गमइ कालु जा ता अण्णहिँ दिणि सहदेवी वि लक्ख पुत्तत्थिणि ।
अहणिसु मणि तप्पंती जूरइ जोव्वण-कुसुम-फल आस ण पूरइ ।
ताहि मुहारविंदु[3] जोएप्पिणु पियसहि जंपइ सासु मुएप्पिणु ।
सामिणि अज्जु काइँ विवणम्मण दीसहिँ जिह वल्ली इह गयकण ।
वियसहि रमहि ण सहरिसु जंपहि हियय-गुज्झु किं मह ण समप्पहि ।
तं णिसुणिवि सहदेवी भासइ णियमणि चिंता ताहि जि सासइ ।
हे सहि जा-जा तिय पुरि मह सम ता-ता सयल पसूव मणोरम ।
हउँ जि एक्क णंदणहँ विहूणी तिं कारणि इह अच्छमि दीणी ।
ताहि वयण सुणि पुणु सा जंपइ एक्कु उवाउ अत्थि सहि संपइ[4] ।
जिणवरभवणि जाइ मुणिसारउ पणविवि पुच्छिज्जइ[5] गुणधारउ ।
ते सचराचरु जाणहिँ णाणेँ जे अप्पमत्त थक्क गुणठाणेँ ।
अत्थि-णत्थि ते अम्हहँ भासहिँ संसयसल्ल सयल णिण्णासहिँ ।

घत्ता—तं वयणु सुणेप्पिणु सहिउ मुणेप्पिणु गय साजिणहरि ताइ सहु[6] ।
तहिँ मण-वय-काएँ पयडिय-राएँ वंदिउ जिण तिल्लोयपहु ॥४८॥

[३-२०]

सम्मज्जणु करि पुज्जेवि णाहु पुणु पणमिउ तहिँ जि तिगुत्तु साहु ।
बइसिवि पुच्छिउ ताइ जि मुणीसु बहुभत्तिए धरणहिँ धरिवि सीसु ।
सामिय मह चित्तु विसयरत्तु खणु एक्कु[7] ण[8] चिंतइ परमतत्तु ।
णउ ठाइ जिणहु पयकमलि भत्तु विहलउ हारइ पुणु इह-परत्तु ।

---

१. क. समाणउँ । २. क. तच्छु । ३. क. सुहारविंदु । ४. क. जंपइ । ५. क. ख. पुंछिज्जइ । ६. क. ख. सहुं । ७-८. क. ख. एक्कणु ।

घत्ता—नीतिमें सयाना, गुणगणोंका स्वामी अयोध्यापुरीका वह राजा (कीर्त्तिधर) सहदेवी (भार्या) के साथ (पुनः) राज्यभोगका विलास करता हुआ तथा भवभ्रमणसे मनमें त्रस्त रहता हुआ रहने लगा ॥ ४७ ॥

[३-१९]

सन्तानविहीन एवं निराश महारानी सहदेवी अपनी सखीके आग्रहसे मुनिराजके पास जाती है

इच्छित काम-भोगोंको भोगता हुआ, जिनवर द्वारा कथित धर्मका पालन करता हुआ, अरिजनोंकी मानरूपी शिखाको मलिन करता हुआ, अपनी मानिनीके साथ केलियाँ करता हुआ, जब (वह कीर्त्तिधर अपना) समय व्यतीत कर रहा था, तभी अन्य किसी एक दिन उसकी एक अन्तरंग सखीने पुत्रार्थिनी सहदेवीको देखा कि वह अहर्निश मनमें सन्तप्त रहती हुई झूर रही है, उसके यौवनरूपी द्रुमके फल-प्राप्तिकी आशा पूर्ण नहीं हो रही है। अतः उसने उसके मुखारविन्दको देखकर और निःश्वास छोड़कर पूछा—'हे स्वामिनि, आज विवर्ण-मन (उदास) क्यों हो ? आधार (वृक्ष) रहित वल्लीके समान दिखाई दे रही हो। न हँसती हो, न रमण करती हो और न ही हर्ष पूर्वक वार्तालाप कर रही हो। हृदयका गुह्य (रहस्य) मुझे क्यों नहीं सौंप देती ?' यह सुनकर सहदेवी, अपने मनकी जो चिन्ता थी, उसे बताकर बोली—'हे सखि, इस नगरमें जो-जो भी मेरे साथकी स्त्रियाँ हैं, उन-उन सभीने मनोरम सन्तानको प्रसूत किया है। किन्तु एक मैं (अभागिन) हूँ, जो नन्दनविहीन हूँ, इसी कारण मैं दीन-हीन अवस्थामें रह रही हूँ।'

उसके वचन सुनकर वह सखी (रानी सहदेवीसे) पुनः बोली—'हे सखि, अब एक ही उपाय है कि जिनवर-भवनमें (स्थित) एक गुणधारी श्रेष्ठ मुनिके पास जाकर तथा प्रणाम कर उनसे (कुछ) पूछा जाय। क्योंकि वे सदा आत्मचिन्तनमें संलग्न तथा गुणस्थानोंमें स्थिर रहते हैं तथा चराचरको अपने ज्ञानसे जानते हैं। (सन्तान होगी या नहीं, इस विषयमें) वे 'हाँ' अथवा 'नहीं' में उत्तर दे देंगे और (हमारा) संशयरूपी समस्त शल्य दूर कर देंगे।'

घत्ता—उस सखीके वचन सुनकर तथा (उससे) अपना हित जानकर (वह) उसी सखीके साथ जिनगृह गई। वहाँ मन, वचन और कायसे अनुराग प्रकटकर (उसने) त्रैलोक्यनाथ जिनवरकी वन्दना की। ॥ ४८ ॥

[३-२०]

मुनिराज त्रिगुप्तकी भविष्यवाणी सत्य हुई और महारानी सहदेवीने गर्भ धारण किया

(सहदेवीने जिनेन्द्र) नाथका प्रक्षालन और पूजन कर पुनः वहाँ स्थित त्रिगुप्त साधुको प्रणाम किया, बहुभक्तिपूर्वक पृथिवीपर शीश धरकर तथा वहीं बैठकर उसने उन्हीं मुनीशसे पूछा—'हे स्वामिन्, मेरा चित्त विषयासक्त है (मैंने) एक भी क्षण परमतत्त्वका चिन्तन नहीं किया। न जिनेन्द्रके पद कमलोंमें भक्तिपूर्वक (कभी) बैठी और इस प्रकार विफल होकर इस लोक एवं

गेहासम दुग्गइ-गमण-वारु विणु पुत्तें को तहु वहइ भारु ।
महु णत्थि सो वि तिं कारणेण खणि-खणि चिंता वट्टइ मणेण ।
किं अत्थि णत्थि महु कहहु सामि जिं चित्तह सल्लु खएवि थामि ।
तं णिसुणिवि जंपइ मुणिवरिंदु सुर-णर-विसहर-थुव पइ अणिंदु ।
णिवपत्ति णिसुणि तुअ गब्भि पुत्तु होसइ वंजण-लक्खणहिँ जुत्तु ।
परकारणु सो मुणिदंसणेण वयभरु गिण्हेसइ तक्खणेण[1] ।
पुत्तहो जम्मणि पुणु तुज्झ णाहु तउभरु लेसइ सो दीहबाहु ।
इय णिसुणिवि हरस-विसायपुण्ण मुणि वंदिवि गेहि समाय धण्ण ।
ण उ रायहु अक्खिय ताइ वत्त णाहें सहु विलसइ रायरत्त ।
कालेण ताहि हुउ गब्भभाउ कमि-कमि पुण्णु[2] सो पयडु जाउ ।

घत्ता—सज्जण-सिय दंसणि रोर-विहंसणि जिहँ दुज्जणु[3] हुउ किण्हमुहु ।
तिहँ पर[4]-संतावणु मणदुहवावणु थणजुवलउ तहि विट्ठु इहु ॥ ४९ ॥

[३-२१]

अण्ण जि पंडुरु वयणारविंदु णं सरिणि पइट्ठउ ताहि चंदु[5] ।
राहहु भएण अह तहु पयाउ णंदणहु सुजसु णं पयडु जाउ ।
पुण्णेण पुण्णु तहि गब्भवासि सुउ जाय सड्ढइँ णवइँ मासि ।
लक्खण-लक्खंकिउ गुणपसत्थु जण-मणवल्लहु णं वरपयत्थु ।
सव्वह गोविउ सो बालु ताइ णिय णाह-विउय-भयाउराइ ।
णउ कासु वि अक्खिउ पुत्तजम्मु णउ किं पि विहिउच्छाह-कम्मु ।
सहियणु विणिवारिउ गायमाणु णंदणु रक्खिउ एयंतठाणु ।
बाहिर जणु कोइ ण मुणइ गुज्झु का जाणइ तियसाहसु असज्झु[6] ।

घत्ता—कइवय दिण छम्मे[7] वज्जिय धम्मे[8] गय ता अण्णहिँ वासरि ।
सहियइँ णियणाहहु रमणुच्छाहहु कहियउ गुज्झु जि सयणहरि ॥ ५० ॥

---

१. क. ख. तक्खणेण । २. क. ख. पुण्णे । ३. ख. पुज्जणु । ४ क. ख. परिसंतावणु ।
५. क. ख. चंडु । ६. क-ख. असग्घु । ७. क. ख. छम्मो । ८. क. ख. धम्मो ।

परलोक दोनोंको हार गई हूँ। गृहस्थाश्रम दुर्गति-गमनका वारक है, किन्तु पुत्रके बिना उसके भारका वहन कौन कर सकता है? मुझे (उस) पुत्रको प्राप्ति नहीं हुई, अतः इसी कारणसे मेरे मनमें प्रत्येक क्षण चिन्ता बनी रहती है। हे स्वामिन्, मुझे उसको प्राप्ति होगी या नहीं, यह मुझे बतावें, जिससे चिन्ता-शल्यको त्यागकर मैं रह सकूँ।'

उसे सुनकर सुर, नर एवं विषधर द्वारा स्तुत्य एवं अनिन्द्य मुनिश्रेष्ठ बोले—'हे नृपपत्नि, (मेरी) बात सुनो, तुम्हारे गर्भसे व्यञ्जन-लक्षणादि युक्त पुत्र (तो) होगा, (किन्तु) परोपकारके हेतु वह मुनिराजके दर्शनमात्रसे तत्क्षण ही व्रतभार ग्रहणकर लेगा और पुत्रके जन्मते ही तुम्हारा दीर्घबाहु पति भी तपभार ग्रहणकर लेगा।'

यह सुनकर हर्ष एवं विषादसे भरकर वह धन्या मुनिकी वन्दना कर घर आई। उसने वह बात राजाको न कही और उनके साथ रागरक्त होकर विलास करती रही। कालक्रमसे वह गर्भवती हुई। वह गर्भ क्रमशः पूर्ण होकर प्रकट हो गया।

घत्ता—सज्जनोंकी श्री-शोभाके दर्शन एवं दरिद्रोंकी (उन्मुक्त) हँसीसे जिस प्रकार दुर्जनोंका मुख कृष्णवर्णका हो जाता है, उसी प्रकार उस रानी सहदेवीका स्तनयुगल भी (उभरकर कृष्ण-मुख) दिखाई देने लगा, जो दूसरों (प्रेमीजनोके हृदयों) को सन्ताप देनेवाला तथा मनमें चुभन उत्पन्न करनेवाला था। ॥ ४९ ॥

[३-२१]

महारानी सहदेवीको पुत्र-प्राप्ति तथा अपने पतिसे उस वृत्तान्तको छिपाये रखना

और भी कि—उसका मुखकमल पाण्डुर-वर्णका हो गया था, मानों राहुके भयसे चन्द्रमा ही सरोवरमें प्रविष्ट हो गया हो अथवा मानों उस (गर्भस्थ—)पुत्रका प्रताप एवं सुयश ही उस रूप में प्रकट हो रहा हो।

पुण्यसे उसका गर्भ पूर्ण हो गया और साढ़े नौवें मासमें पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अनेक (शुभ लक्षणों) से अंकित, गुण-प्रशस्त, (एवं) जन-मन-वल्लभ था। अपने नाथके वियुक्त होनेसे भयातुर उस (सहदेवी) ने किसी श्रेष्ठ पदार्थके समान ही उस बालकको सभीसे गोपनीय रखा। उसने न तो किसीसे भी पुत्र-जन्म (के विषयमें) कहा और न किसी प्रकारका उत्सव ही किया। (बधाई-गीत) गानेवाली सखियोंको भी रोक दिया। नन्दनको एकान्त स्थानमें सुरक्षित रखा। बाहरी कोई भी जन इस गूढ़-रहस्यको न जान पाया। ठीक ही कहा गया है कि त्रियाके असाध्य-साहसको जान ही कौन पाया है' ?

घत्ता—(इसीप्रकार) छद्मपूर्वक (तथा) धर्मसे वर्जित रहते हुए कितने ही दिन व्यतीत हो गये। अन्य किसी दिन (सहदेवीकी अन्य किसी) सखीने रमण-उत्सवके समय शयन-कक्षमें अपने नाथसे वह गोपनीय वृत्तान्त कह दिया॥ ५० ॥

[३-२२]

तं वयणु सुणिवि तिं सुप्पहाए जाएप्पिणु सिग्घें णिवसहाए ।
[1]दुव्वंकुरुहत्थें राउ तेण वद्धाविउ खणि पणविय सिरेण ।
सहदेवी-देविहिँ पुत्तु जाउ इक्खाइँ वंसि संजणिय-राउ ।
तहु वयणु सुणिवि संतुट्ठु राउ देप्पिणु तहु धण-कण-मणि-णिहाउ ।
पुणु जयसरु वट्टिय रायगेहि आणंदु पयट्टिउ देहि-देहि ।
धण-धण्णु-सुवण्णु-अणंतु दिण्णु जाचयजणाण दालिद्दु छिण्णु ।
पुणु गेहंतरि णिववरु पइट्ठु तहिँ पुत्तहु मुहु णेहेण दिट्ठु ।
विण्णाणकुसलु जाणेवि तेण किउ कोसलु णामु सपरियणेण ।
राएण विउप्पिवि सकिय कज्जु डिंभहु जि समप्पिउ सुकिय-रज्जु ।
बंधेवि पट्टु सिरि दिण्णु छत्तु मंतिहु पुच्छेवि विरायचित्तु ।
खिम सव्वु[2] करिवि सव्वहँ जणाहँ अंतेउरस्स विवणम्मणाह ।
सहदेवी-देविहि गेहभारु देप्पिणु णिवेण बुहसारवारु ।

घत्ता—उववणि जाएप्पिणु रज्जु मुएप्पिणु विणयंधरु पणवेप्पिणु ।
तवभरु तिं धारिउ संगुस्सारिउ ठिउ वणि मुणि होएप्पिणु ॥ ५१ ॥

इय सुक्कोसलचरिए णिरुवम-संवेयरसणसंभरिए सिरिपंडिय-रइधु-विरइए सिरिमहाभव्व-आणासुत-रणमल्ल-अणुमण्णिए कोसलजम्मुच्छववण्णणं णाम तीउ-संधी-परिच्छेउ सम्मत्तो । संधि ॥ ३ ॥

●

---

१. ख दुव्वउ कुरुरत्थें । २. क. किम । ३ क ख. तव्वु ।

[३-२२]

राजा कीर्त्तिधरने नवजात पुत्रका 'कोशल' नामकरण कर उसका तत्काल ही राज्याभिषेक किया और दीक्षा धारण कर ली

(अपनी प्रियतमा) के वचन सुनकर उसका प्रियतम प्रभात होते ही तत्काल नृपसभामें गया। उसने सिर झुकाकर तत्क्षण ही दूर्वांकुर आदि पदार्थोंके साथ राजा कीर्त्तिधरको बधाई दी (और कहा)—"हे राजन्, सहदेवी महारानीको, इक्ष्वाकुवंशमें राग उत्पन्न करनेवाला पुत्र उत्पन्न हुआ है।" उसके वचन सुनकर राजा सन्तुष्ट हुआ और उसे धन, सोना एवं मणिसमूह (भेंटमें) प्रदान किया। राजगृह (राजभवन) में जय-स्वर हुआ और प्रत्येक देही (प्राणी) आनन्दसे भर गया। याचकजनोंको अनन्त धन-धान्य एवं सुवर्णदान देनेसे उनकी दरिद्रता छिन्न हो गई। वह नृपवर घरके भीतर प्रविष्ट हुआ और स्नेहपूर्वक अपने पुत्रका मुख देखा। परिजनों सहित उसने उसे विज्ञान-कुशल जानकर उसका नाम 'कोशल' रखा।

राजाने भी अपना कार्य पूर्ण हुआ जानकर अपना पुण्यार्जित राज्य पुत्रको सौंप दिया तथा मन्त्रीसे पूछकर, (नवजात-) पुत्रको (राज्य-) पट्ट बाँधकर, (उसके-) सिर पर छत्र तान दिया। पुनः सभी लोगोंको क्षमाकर तथा सभी लोगोंको विवर्णमन (शोकाकुल) एवं अनाथ बनाकर वह राजा दुःखके सारभूत घर-द्वारका भार महारानी सहदेवीको सौंपकर—

घत्ता—तथा राज्य-पाटका त्यागकर, उपवनमें जाकर, विनयधर (मुनि) को प्रणामकर, और स्वयं मुनि बनकर वनमें ही स्थित हो गया एवं उसने स्वर्ग प्रदान करनेवाले तपभारको धारण किया ॥५१॥

इसप्रकार श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित, श्री महाभव्य आणाके पुत्र रणमल द्वारा अनुमोदित, अनुपम संवेगरूपी रससे परिपूर्ण 'सुकौशलचरित' मे 'कोशलका जन्मोत्सव-वर्णन' नामक तृतीय सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ।

[४-१]

घत्ता—णिववरु पव्वइए रइवइ महिए ता सहदेवीयए
सोयाणलतत्तइ पिय वणि पत्तइ थिय गिहि सावज्जिय [1]हियए ॥ छ ॥

संकेयवयणु भणिवि सचित्ति .... ।
मुणिवरहु पवेसु स-णयरि ताइ वारियउ झत्ति णेहाउराइ ।
पडिहउ देवाविउ पुरिहिँ मज्झि सज्जणजणेहिँ तं चरिउ बुज्झि ।
णियमणि जूरिउ हा-हा अकम्मु राणिए विहियउ इहु काइ छम्मु ।
जवि मुणिवर तवलच्छी-[2]सणाह दीसंति ण अहणिसु वि गयबाह ।
तं पुरु मेच्छावासहँ समाणु मुणि-झाणेँ विणु गिहु पुणु मसाणु ।
किं रज्जेँ धम्मविवज्जिएण किं रूवेँ सीलविभंजिएण ।

उक्तं च—[3]महिला जत्थ पहाणा बालो-राओ णिरक्खरो मंती ।
अच्छउ ता धणरिद्धी जीवं रक्खह पयत्तेण ॥ १ ॥

इय चिंतिवि पुरयणु धुक्कु तत्थ भावंतउ णियमणि णव पयत्थ ।

घत्ता—कोसलु णिय-जणणिए मुणिगण-हणणिए वड्ढारिउ लालियउ तहिँ ।
कालेँ सो धण्णउ सिरि-संपुण्णउ आरूढउ जोव्वण-सरिहिँ ॥ ५२ ॥

[४-२]

बत्तीस णराहिव-पुत्तियाउ परिणाविउ तिय-गुण-जुत्तियाउ ।
मणि-गण-णिबद्ध-ससि-सुब्भवेह बत्तीस वि कुमरहु सयणगेह ।
गेहब्भंतरि सहयाणु रम्मु .... ।
बाविउ सर-वण तहु कीलणत्थि काराविय तत्थ जि तुरय-हत्थि ।
धयवडउ भूय वि जिणबिहार जिणपडिमालंकिय दुरियहार ।
गेहहु बाहिर णिग्गमणु तासु णउ देइ कहमि सामिय सु-वासु ।
सो रमइ-भमइ तत्थ जि सुहेण सत्थत्थ पयासइ सहु बुहेण ।

---

१. क. ख. सियए । २. क. सण्णाह । ३. क. ख. मणिलाजत्थपहाणा ।

[४-१]

रानी सहदेवीने अपने नगरमें श्रमण-मुनियोंका प्रवेश निषिद्ध कर दिया

नृपवर (कीर्त्तिधर) के प्रव्रजित होकर वनमें चले जानेपर, रतिपति (कामदेव) से मथित वह रानी सहदेवी शोकानलसे तप्त हो गई और सावद्य-हृदया होकर घरमें ही रहने लगी। (मुनि द्वारा कथित भविष्यवाणी सम्बन्धी) संकेत-वचन अपने मनमें रखकर उसने पुत्रके स्नेहानुरागके कारण अपनी नगरीमें (दिगम्बर) मुनिवरोंका प्रवेश निषिद्ध कर दिया तथा इसका नगरीके मध्यमें (उसने) ढिंढोरा (भी) पिटवा दिया। सज्जनोंने उस (रानी) के इस आचरण (के रहस्य) को समझ लिया और अपने मनमें झूरते हुए वे हाहाकार करने लगे कि—"रानीने यह दुष्ट छद्म क्यों किया? यदि तपोलक्ष्मीसे सनाथ एवं गजबाहुओंवाले मुनिवरोंके अहर्निश दर्शन न हों, तब वह नगरी म्लेच्छावासके समान तथा मुनिराजको दान दिये बिना (गृहस्थका) घर श्मशानके समान हो जाता है। धर्म-विवर्जित राज्य (में रहने) से और शीलभ्रष्ट सौन्दर्यसे क्या लाभ? (कहा भी गया है—

कहा भी गया है—"महिला जहाँकी प्रधान हो, राजा बालक हो, एवं मन्त्री निरक्षर, तब व्यक्तिको चाहिए कि वहाँ (उस राज्य) की धन-ऋद्धिसे दूर ही रहे। (वहाँ तो) अपने जीवनका ही प्रयत्नपूर्वक संरक्षण करना चाहिए।"

इस प्रकार विचारकर पुरजन कम्पित हो उठे और अपने मनमें (जीवादि) नौ पदार्थोंका भावन करने लगे।

घत्ता—वह सुकौशल मुनिजनोंका हनन करनेवाली अपनी माता द्वारा लालित(-पालित) एवं बृद्धिगत होने लगा। समय आनेपर वह सुखसम्पन्न-महाभाग यौवन-श्रेणी पर आरूढ़ होने लगा॥ ५२॥

[४-२]

राजा सुकौशलका विवाह एवं विविध मनोरंजन

उस नराधिप (कौशल) का, महिलोचित गुणोंसे युक्त बत्तीस राज-पुत्रियोंसे परिणय-संस्कार कर दिया गया। उस राजकुमारके मणियोंसे जड़े हुए, शशिके समान शुभ्र देहवाले बत्तीस (पृथक-पृथक) शयनगृह थे। विविध (मनोरंजन हेतु) सुन्दर सहयान (रथ-आदि), घोड़े, एवं हाथी घरके भीतर ही (उपस्थित) थे। क्रीड़ाओंके निमित्त वापिकाएँ, सरोवर एवं वन-उपवन भी भवनके भीतर बनवा दिये गये थे। प्रचुर ध्वजा-पताकाओंसे युक्त तथा जिन-प्रतिमाओंसे अलंकृत तथा पापनाशक जिन-बिहारका निर्माण भी वहीं करा दिया गया था और (इस प्रकार) सुन्दर-भवनके स्वामी उस कौशलको (उसकी माँ सहदेवी) कभी भी घरके बाहर नहीं निकलने देती थी।

वह राजकुमार भी वहाँ सुखपूर्वक रमण एवं भ्रमण किया करता था तथा बुधजनोंके साथ

पहरेक्कु पयासइ जिणहँ पूय जल-चंदणाइँ वसुविहसरूय ।
पुणु दंसइ लोयहँ रायलील अविसिट्ठइ[1] णोइ[2] पालइ सुसील ।
पुणु भोयण-वेल्लइ दिव्व-भोज्जु भुंजइ सइचछमण जणिय-चोज्जु ।

घत्ता—पुणु मणि अणुरायउ मयणुम्मायउ चित्तसालि धवलहरि ठिउ ।
मणि-दीउज्जोयहिँ कामुक्कोवहिँ पियवयणहिँ रंजिय तिउ ।।५३।।

[४-३]

सविलास-हास[3]-रइ-रस-विचित्त परसप्पर दंसणि रत्त-चित्त ।
बहुहाव-भाव-विब्भम कुणंति सकडक्ख-तिक्ख-सर आहणंति ।
[4]अद्धंचल-थणहर दक्खवंति अइमम्मण महुरइँ सरभणंति ।
कामिणि कामाउर थरहरंति रूवेँ णियणाहहु मणु हरंति ।
तंबोल-माणु-सम्माणु-दाणु अणुराएँ अप्पहिँ अहरपाणु ।
णवतरुणि पढम-संगमि तसंति करगाढालिंगण कसमसंति ।
रइकलहिँ सरसु हुंकार दिंति भमरिव रसलुद्धी रुणुरुणंति ।
णहर-पहर-पसय सिक्कारवंति सामिय भुय-पंजरि पुणु विसंति ।
अण्णोण्णइँ रइबंधण कुणंति कामोप्पायण-वयणइँ भणंति ।
वरगंधविलेवण परिमलंति [5]पेमाणुरत्त विहडिवि मिलंति ।
[6]एमाइँ विविह-कीला-विणोय सहु जुवयहिँ माणइँ दिव्वभोय ।
णं सग्गि सुरेसर पुण्णमुत्ति को वण्णइ पुणु तहु तवहु सत्ति ।

घत्ता—तहु केलि करंतहो जणु पालंतहो पेच्छिवि मायरि भणइ परा ।
जसुएहउ णंदणु वइरि-णिकंदणु हउँ सकियत्थी एत्थ धरा ।।५४।।

१—२. क. ख. अविसिद्ध हणइ । ३. ख. हासइरस० ।
४. क. ख. अद्धचल । ५. क. ख. पोमाणुरत्त । ६. क. ख. इए माइ ।

शास्त्रार्थ प्रकाशित किया करता था। प्रथम पहर में वह जल-चन्दनादि अष्ट प्रकारसे जिनेन्द्र भगवानकी पूजा किया करता था। पुनः वह सुशील राजकुमार लोककी राजनीतिको देखता था और इस प्रकार अविशेष रूपसे न्याय नीति पूर्वक (प्रजाका) पालन करता था। पुनः भोजनकी बेलामें वह अपने मनकी इच्छाके अनुसार तथा आश्चर्योत्पादक दिव्य-भोजन करता था।

घत्ता--पुनः मनमें अनुरागसे भरकर एवं मदनोन्मत्त होकर वह (कोशल) अपने धवल-गृह स्थित चित्रशालामें जाता था और मणि-दीपोंके प्रकाशमें कामजन्य कोपवाली प्रियतमाओंका प्रियवाणीसे मनोरंजन करता था॥ ५३॥

[४-३]

राजा सुकौशलकी काम-क्रीड़ाएँ

विलासपूर्ण हास्य-विनोद, एवं रति-रसोंसे विचित्र, परस्पर दन्तक्षतोंमें आसक्तचित्त वे प्रेमी-प्रेमिकाएँ विविध हाव-भाव एव विभ्रम करती थीं। वे नववधुएँ कटाक्षरूपी तीक्ष्णवाणोंसे अपने प्रियतमको आहत करती थीं। अर्द्धांचलसे (अर्थात् आँचलको खिसका-खिसकाकर अपने) पयोधर दिखाती थीं, अत्यन्त मार्मिक एवं मधुर स्वरमें बोलती थीं। कामातुर होकर वे कामिनियाँ (रोमाञ्चित एवं–) कम्पित हो रहीं थी और (अपनी इस–) सौन्दर्य-मुद्रासे नाथ (कौशल) के मनका हरण कर रही थीं। (कभी) ताम्बूल प्रदान कर (तो कभी) रूठकर या सम्मान देकर अनुराग पूर्वक (अपना—) अधरपान समर्पित करती थीं।

वे नव-तरुणियाँ (जीवनके सर्व—) प्रथम समागममें ही संत्रस्त थीं, (प्रियतमकी) भुजाओंके गाढ़ालिंगनके कारण कसमसा जाती थीं। रतिकलहमें वे सरस हुंकार भरती थीं तथा भ्रमरीके समान रसलुब्ध होकर वे (अपने) प्रियतम (रूपी पुष्प) पर रुनझुन कर रही थीं। नख-प्रहारोंसे पसीना-पसीना होकर यद्यपि वे सीत्कारें भर रही थीं, फिर भी अपने स्वामीके भुजपाशमें बँधे रहनेमें ही विश्रान्तिका अनुभव कर रही थीं। परस्परमें वे रतिबन्धन करती थीं। और कामोत्तेजक वचन बोलती थीं। (परस्परमें) श्रेष्ठ सुगन्धित विलेपन आदि मलती थीं और प्रेमानुरक्तिवश पृथक्-पृथक् होकर पुनः-पुनः मिलती थीं, आदि-आदि। इस प्रकार उन युवतियोंके साथ विविध क्रीड़ा-विनोद करता हुआ वह कौशल दिव्य-भोगोंका अनुभव करता था। (ऐसा-प्रतीत होता था) मानों वह स्वर्गके सुरेश्वरकी पुण्य मूर्ति ही हो। उसके (पूर्वभवकी—) तपकी शक्तिका वर्णन कर ही कौन सकता है?

घत्ता—(इस प्रकार—) क्रीड़ाएँ करते हुए, तथा प्रजाको पालते हुए उस राजकुमारको देखकर उसकी माता (सहदेवी) कहा करती थी कि—"शत्रुओंका संहार करनेवाला यह (कौशल) जिसका पुत्र है, वह मैं (यथार्थ ही) इस पृथिवी-मण्डल पर कृतार्थ हो गई हूँ।॥ ५४॥

[४-४]

धरायलि धण्णउ कोसलु राउ   सु अण्णहि वासरि णिम्मलभाउ ।
गिहोवरि थक्कउ गेहिणि-जुत्तु   सभाय सपरियणु वियसवत्तु ।
णिएइ गवक्खि विसालइ भव्वु   सुपट्टणु खणि-खणि जोवइ सव्वु ।
समागउ तावहिँ मुणिवरु तत्थ   वियारिय जि मणि णिच्च पयत्थ ।
दुव्वासहिँ आसहिँ बंधणचुक्कु   कसाय-चउक्क सहिँ दोसहिँ मुक्कु ।
णियंतु धरंतिहि चरिय फिरेवि   अलद्ध सुभिक्खइँ चलिउ वलेवि ।
सुकोसलि दिट्ठउ ताम मुणिंदु   पुणु-पुणु पेच्छिवि भणइ णरिंदु ।
पयासहि अम्मि णिरंबरु एहु   छुहा-तिस-वेयण सोसिय-देहु ।
अमाणु अकोहु अलोहु भमेइ   ण दीणु वि कासु जि वयणु भणेइ ।
महापहवंतु ण इच्छइ अत्थु   पलंभु भुआवर वज्जिय वत्थु ।
ण[1] पेच्छइ लोइय भोज्ज-विणोय   सुपंथु णियच्छइ वज्जिय-भोय ।
ण दिट्ठउ कह वि एहउ लोइ   एहासहि अंबि पउत्तरु कोइ ।
सुणावि सपुत्तहु वयण-विलास   पकंपिय तक्खणि चित्ति सतास ।
विणट्ठउ कज्जु ण पूरिय आस   पकंपइ[2] सोसि ण णिग्गइ भास ।
मुणीसहिँ आसि जु पयडिउ कज्जु   णिमित्तु जि तं इहु जायउ अज्जु ।
णिरत्थु मइँ पुणु बद्धउ पाउ   वरत्तु परत्तु ण किंपि वि जाउ ।

घत्ता—जइ ससि [3]उण्हउ इह रवि सीयलु तिह सुरगिरि जइ पुणु टले-टलए ।
ता भवि-भवि अज्जिउ इह असहिज्जउ कम्मु सुहासुहु णउ चलए ।।५५।।

[४-५]

किसिमुह वंसंति[4] विवणम्मणिया   इय चिंतिवि सहएवी भणिया ।
णिद्धणु णिक्कप्पडु खीणत्तणु   सुहि-सयण-विवज्जिउ गहिलयणु ।
दुक्खेच्छित्तउ गिहि-गिहि भमए   पावहु फलु अहणिसु अणुहवए ।
तं सुणिवि कोसलु पुणु चवए   इहु गरुउ को वि रंकु ण हवए ।
लक्खणहिँ अलंकिउ तेयधरु   किं भक्खहँ हिंडइ घरहँ परु ।

१. क. णे । २. क. ख. एकंपइ । ३. क. ख. ण्हउ । ४. क. ख. संति ।

[४-४]

राजा सुकौशल द्वारा दिगम्बर-मुनि-दर्शन एवं अपनी मातासे उनका परिचय पूछना

अन्य किसी दिन धरातलपर धन्य भाग एवं निर्मल भावों वाला वह राजा कौशल अपनी माता, स्वजनों एवं कमलमुखी गृहिणोके साथ अपने घरकी छत पर बैठा था। (जब वह) भव्य गवाक्षोंसे दशों दिशाओंका निरीक्षण कर रहा था और क्षण-क्षणमें समस्त पट्टनकी ओर देख रहा था कि तभी वहाँ एक (ऐसे) मुनिवर पधारे, जो नित्य ही अपने मनमें नव-पदार्थोंका चिन्तन करते रहते थे तथा जो दुर्वासनाओं एवं (भौतिक—) आशाओंके बन्धनोंसे दूर, कषाय-चतुष्कके दोषोंसे मुक्त एवं जो ईर्या समितिपूर्वक फिर-फिरकर चर्या धारण करने वाले थे। सुभिक्षाके प्राप्त न होनेपर वे लौटकर जा रहे थे। सुकौशल नरेन्द्रने उन मुनीन्द्रको देखा और पुनः-पुनः देखकर (अपनी माँसे) पूछा—'हे अम्मा, बताइये कि निरम्बर (वस्त्रहीन), क्षुधा एवं तृषाकी वेदनासे शुष्क देह, मान, क्रोध एवं लोभरहित तथा दीन यह कौन घूम रहा है ? यह किसीसे कोई बात भी नहीं कर रहा है। महातेजस्वी इस (साधु)की कोई भी इच्छा नहीं प्रतीत होती, वह वस्तु विवर्जित भुजाओंको लटकाए हुए है, लोकके भोजनादि विनोदोंको नहीं देख रहा है (बल्कि) भोगोंको त्यागकर सुपन्थकी इच्छा कर रहा है। इन्होंने इस लोककी ओर (लालचभरी दृष्टिसे) कभी देखा भी नहीं। हे अम्ब, इसका उत्तर दो कि ये कौन हैं ?"

अपने पुत्रका यह वचन विलास सुनकर वह तत्क्षण ही अपने चित्तमें त्रस्त होकर प्रकम्पित हो (कह) उठी कि—'कार्य (उद्यम) विनष्ट हो गया, (मेरी) आशा पूर्ण न हो सकी।" उसका (माताका) माथा काँपने लगा, उसके मुखसे वाणी भी न निकल सकी। वह विचार करने लगी कि—'मुनिवरके द्वारा जो कार्य (भविष्यवाणी) कहा गया था, आज वही निमित्त यहाँ आ गया है। निरर्थक ही मैंने अपना पाप बढ़ाया है, किन्तु (मेरी इच्छानुसार) कुछ भी (अन्यथा) नहीं हुआ।'

घत्ता—'इस संसारमें यदि चन्द्रमा उष्ण एवं रवि शीतल हो जाए, उसी प्रकार यदि सुर-गिरि भी अपने स्थानसे टले तो (भले ही) टल जाय। किन्तु भव-भवमें अर्जित तथा इस जन्ममें असहनीय कर्मफल (कभी भी) विचलित नहीं हो सकता।' ॥५५॥

[४-५]

सुव्रता धायने सुकौशलके लिये मुनिराजका यथार्थ परिचय दिया

कीर्त्तिधर (—अपने पति-मुनि)के मुखको देखते ही विवर्णमन हो सहदेवीने इस प्रकार विचार कर उत्तर दिया—'(यह एक) निर्धन, कपड़ोंसे रहित, क्षीणतन, मित्रों एवं स्वजनों द्वारा त्यक्त एवं पागल (व्यक्ति) है, (जो) दुःखोंसे विक्षिप्त होकर घर-घरमें भटक रहा है और पापोंके फलका अहर्निश अनुभव कर रहा है।' माताका कथन सुनकर वह राजपुत्र सुकौशल गम्भीर स्वरमें पुनः बोला—'यह (तो) कोई महान् व्यक्ति (प्रतीत होता) है, रंक नहीं। (श्रेष्ठ शारीरिक) लक्षणोंसे अलंकृत (यह कोई) तेजस्वी है, क्या भिक्षाके निमित्त यह दूसरोंके घरों-घरोंमें भटक

इहु को वि जयत्तय अहिणउरु णउरं कुमार गंभीरसरु ।
ता भणइ जणणि पुण्णेण विणु किं किज्जइ सुव बि लक्खणगणु ।
मग्गंतउ भिक्खय भिक्खु[1] इहु दीसइ दालिद्दभरु जिणिय[2] वुहु ।
ता सुव्वयाइँ धाइए भणिउ राणिहिँ वयणुल्लउ अवगण्णियउ ।
जि इंद-णरेंद-अहिंद-थुवा तित्थयर वि जे णिग्गंथ हुवा ।
छक्खंड-धरायलु चइवि खणि जे चक्कवट्टि जाया वि मुणि ।
पच्छेँ वणयरि सिरिरामु णिउ थिरु भिक्खु भडारउ होइ ठिउ ।
अण्ण वि जे अगणिय णरपवरा महि छंडिवि जाया मुणिपवरा ।
ते पुण्णहीण किहँ देवि भणु मा जंपहि इह णिंदावयणु ।
ता देवीएँ करसण्णाहरा[3] बोल्लंती वारिय धाइवरा ।
तक्खणि सूयारु पराइयउ कर भालि णिहि सिरु णावियउ ।

घत्ता—भो कुल-णह-भायर गुण-रयणायर भोयणवेला जाय णिव ।
बहुविजणजुत्तउ सुरसपवित्तउ हुय रसोइ बहुवा णिव ।।५६।।

[४-६]

ता तहिँ अवसरि बोलइ कुमारु तावहिँ हउं गिण्हमि णउ अहारु ।
वित्तंतु सयलु जाव ण सुणेमि को एहु गयउ किं पुरि भमेवि ।
ता भणइ तलया वि सच्चु सुक्कोसल णिव बुज्झहि पवंचु ।
इहु कित्तिधवलु णामेँ णरिंदु तुव जणणु सगोत्तंवरि दिणिंदु ।
तुव जम्मणि तिं चिंतियउ कज्जु मुणि जाउ तुज्झु देप्पिणु स-रज्जु ।
एक्कल्ल विहारी तवेण खीणु गिरि-कंदरि वसइ मुणि पवीणु ।
सु इहु जईसु भामरिहिँ आउ तुव जणणिए बद्धउ गरुउ पाउ ।
वारियउ णयरि रिसिबर-पवेसु कोइ ण पडिगाहइ इहु वि[से]सु ।

घत्ता—ता वयणु सुणेप्पिणु सिरु विहुणेप्पिणु जंपइ हा-हा जणणि किह ।
पइँ इहु आयरियउ कलिमलभरियउ णिंदकम्मु णरजम्मि इह ।।५७।।

---

१. क. ख. पक्खु । २. क. ख. जणिय । ३. क. ख. करसनाइपरा ।

रहा है ? (प्रतीत होता है जैसे) तीन लोकमें यह निश्चय ही कोई नया गुरु है ।' तब माता बोली—'हे पुत्र, पुण्यके बिना शुभ लक्षणोंका क्या होगा ? दरिद्रताका मारा हुआ तथा दुखोंसे जर्जर यह कोई भिक्षुक भीख माँगता हुआ दिखाई दे रहा है।'

तभी सुव्रता नामकी धायने रानीके कथनकी अवहेलना करते हुए कहा—'इन्द्र, नरेन्द्र एवं फणीन्द्रोंसे स्तुत्य जो तीर्थंकर हैं, वे पूर्वमें निर्ग्रन्थ मुनि ही हुए थे, जो चक्रवर्त्ती थे, वे भी छह खण्डों-वाली पृथिवीको क्षण भरमें छोड़कर मुनि ही हुए थे, बादमें श्रीराम नृप भी वनवासके समय चिर-काल तक भिक्षु-भट्टारक होकर रहे। अन्य भी जो अगणित नरश्रेष्ठ थे, वे भी पृथिवी को छोड़-कर मुनिश्रेष्ठ बने थे। तब क्या ये सभी पुण्यहीन थे ? हे देवि, उत्तर दो। (मुनिके प्रति तुम) इस प्रकारके निन्दा-वचन मत कहो।' तब देवी (रानी)ने हाथके संकेतसे (अर्थात्—ओंठ पर हाथकी अंगुली रखकर आगे बोलनेसे रोकनेकी मुद्रामें) बोलती हुई धायको रोका। उसी समय सूपकार (रसोइया) आया और हाथोंको माथे पर रखकर उसने सिर झुकाया (और कहा)—

घत्ता—'हे कुलरूपी आकाशके भास्कर, हे गुणरत्नाकर, हे नृप, भोजनकी बेला आ गई है। हे नृप, अनेक प्रकारके व्यञ्जनोंसे युक्त तथा सुस्वादु रसोंसे भावित, पवित्र रसोई तैयार हो गई है' ॥ ५६ ॥

[४-६]

सुकौशल द्वारा अपनी माँकी भर्त्सना

तब उसी अवसर पर कुमार (कोशल) बोला—'मैं तब तक आहार ग्रहण नहीं करूँगा, जब तक कि समस्त वृत्तान्त नहीं सुन लूँगा कि नगरमें घूमकर यह कौन और क्यों लौटा जा रहा है।' तब (उस) सेविका (सुव्रता)ने सच-सच बतला दिया और कहा कि हे सुकौशलनृप, यह प्रपंच इस प्रकार समझो कि—'ये कीर्तिधवल नामक नरेन्द्र, तुम्हारे पिता हैं, जो अपने कुल-गोत्ररूपी अम्बरके लिये दिनेन्द्रके समान हैं। तुम्हारे जन्म लेने पर उन्होंने अपना कार्य सिद्ध समझा और अपना राज्यभार तुम्हें देकर वे मुनि बन गये। ये मुनि बड़े प्रवीण हैं, अकेलेही विच-रण करते हैं, तपसे क्षीण हैं और गिरि-कन्दरामें निवास करते हैं। ये योगीश चर्या-हेतु भ्रमण करते हुए यहाँ पधारे हैं। तुम्हारी माताने महान् पापका बन्ध किया है, जो इस नगरमेंऋषिवरों का प्रवेश-विशेष निषिद्धकर दिया है, (इसी कारण—) इन्हें (मुनि श्रेष्ठकोयहाँ नगरमें) कोई भी नहीं पडगाह रहा है।'

घत्ता—उस सेविकाके वचन सुनकर (तथा) अपना सिर धुनकर वह कौशल बोला—"हाय-हाय, हे जननि, तुमने इस मनुष्य-जन्ममें कलिकालके पापमलसे भरा हुआ यह कैसा निन्द-नीय कार्य किया है ?" ॥ ५७ ॥

[४-७]

जंपियउ पुण वि कोसलणिवेण   [1]जीमिव्वउ मइँ हुइ तारिसेण।
संसारण्णव मज्जंतु संतु   मइँ पोउ लद्धु पुणु इह महंतु।
मंती जणेहिँ विण्णविउ राउ   कर जोडिवि विसय-विरत्त-भाउ।
तुम्हह कुलि इहु कमु भो णरेस   सुव रज्जु देवि हुव णिव असेस।
तुहु[2] पुणु णियपुत्तहु देवि रज्जु   चिंतिज्जहि णिव परलोयकज्जु।
ता भणइ राउ मइँ लिय णिवित्ति   दिक्खइ सहु आहारहु पवित्ति।
इय भणिवि चित्तमाला तियाहि   णिव पट्टु णिबद्धु सगब्भियाहि।
जणणि वि पलवइ हा सुव अणाह   मा मइँ मेल्लिवि गच्छहु[3] सुबाहु।
तुव उप्परि वट्टइ गरुउ मोहु   वासमि तुव आसए पुत्त गेहु।
अवगणिवि मायहि चलिउ धीरु   चलणहिँ जाइवि णिब्भयसरीरु।
उववणि जा वंदइ मुणिवरासु   तिपयाहिण देप्पिणु णियपियासु।
तावहिँ चिरभउ सुमरियउ तेण   पुणु-पुणु चिंतइ विंभियमणेण।

घत्ता—मलयायलि भूयलि विझवणंतरि करि होंतउ मयभिंभलु।
मलया पोमावइ करिणिहिवइ दोहिमि सरिसु महाबलु ॥५८॥

[४-८]

बिण्णि वि करिणिहिँ सहुँ गयपहाणु   जा णिवसइ गिरि-सिरि कीलमाणु।
अण्णहि दिणि पोमावइ समाणु   करि कीलंतउ रइ-बद्ध-ठाणु।
मलया पिच्छिवि ईसावसेण   पव्वयहु पडिवि मुव तक्खणेण।
इह अंगदेसि चंपाउरीहिँ   धण-कणय-पुण्ण-जण-सुहयरीहिँ।
सिरिदत्तु सेट्ठि तहिँ सिरिणिवासु   णं सावयवयहँ वि थत्ति वासु।
सिरिदत्ता पिय तहु ताहि गब्भि   वरससिलेहा णं सरय-अब्भि।
णामेण सुकेसी पुत्ति जाय   मलया-करिणी लक्खणसहाय।

---

१. ख. जो मिव्वउ। २. क. ख. तहु। ३. क. ख. गच्छइ।

[४-७]

सुकौशल द्वारा गर्भस्थित अपने पुत्रको नृप-पट्ट बाँधना एवं अपने पूर्वभवोंका स्मरण करना

यह कहकर पुनः कौशल नृपने कहा—'मुझे भी उन मुनिके सदृश बनकर ही जीमना चाहिये। संसारार्णवमें डूबते हुए मैंने इस महन्तरूपी पोतको प्राप्त कर लिया है।' तब मन्त्रीजनोंने हाथ जोड़कर विषयोंसे विरक्त भाववाले उस राजासे विनय की कि—'हे नरेश, आपके कुलकी यह परम्परा है कि अपने पुत्रको राज्य देकर ही समस्त नृप वैराग्यको प्राप्त होते रहे हैं, (अतः) हे नृप, आप भी अपने पुत्रके लिये राज्य देकर परलोकके कार्यकी चिन्ता करें।' तब राजा बोला—'मैंने पवित्र निवृत्ति ले ली है और (अब) साधु-आहार (की विधि)के साथ ही दीक्षा-ग्रहण करना है।' यह कहकर उसने अपनी गर्भवती पत्नियोंमेंसे चित्रमाला नामकी पत्नीके गर्भस्थित बच्चेको नृपपट्ट बाँध दिया।

यह देखकर जननी (सहदेवी) विलाप करने लगी, और बोली—हे सुबाहु सुत (कौशल), मुझ अनाथिनीको (इस प्रकार अकेली) छोड़कर मत जा। तेरे ऊपर (मेरा) महान् मोह-ममत्व है। हे पुत्र, तेरी आशा पर ही मैं इस घरमें रहती रही हूँ।' किन्तु माता (के करुण-क्रन्दन)की अवगणना करके भी वह धीर चल पड़ा। निर्भय शरीरवाले उसने पैदल चलकर और उपवनमें पहुँचकर उन (अपने पिता—) मुनि-श्रेष्ठकी तीन प्रदक्षिणाएँ करके उनकी वन्दना की। उसी समय आश्चर्यचकित मनसे वह पुनः-पुनः अपने पूर्वभवोंका स्मरण करने लगा—

घत्ता—मलय पर्वत पर (स्थित) विन्ध्यवनके मध्यमें एक मदोन्मत्त हाथी निवास करता था। वहीं पर मलया एवं पद्मावती नामकी दो हथिनियाँ भी रहती थीं। दोनों ही समान महा-बलशालिनी थीं॥ ५८॥

[४-८]

पूर्वभव-स्मरण—मलया करिणीका सुकेशीके रूपमें जन्म लेना

दोनों हथिनियोंके साथ वह गजराज गिरिशिखरपर क्रीड़ाएँ करता हुआ निवासकर रहा था। अन्य किसी एक दिन पद्मावतीके साथ क्रीड़ा करता हुआ जब वह रतिबद्ध स्थित था, तभी मलया उसे देखकर ईर्ष्या-वश पर्वतसे गिरकर तत्क्षण मृत्युको प्राप्त हो गई।

इसी अंगदेशमें धन, स्वर्ण, पुण्यजन एवं सुखोंसे युक्त चम्पानामकी नगरी थी। वहाँ श्री का निवास-स्थल श्रीदत्त नामका एक सेठ निवास करता था, वह मानों श्रावक-व्रतका ही वास-स्थल था। उसकी श्रीदत्ता नामकी प्रिया थी। मलया नामकी (पूर्वोक्त) हथिनी मरकर श्रीदत्ताके गर्भसे शुभ लक्षणोंसे युक्त सुकेशी नामकी पुत्रीके रूपमें उत्पन्न हुई, जो मानों शरद्कालीन मेघोंके मध्य चन्द्ररेखाके समान सुशोभित थी।

सा अण्णिहिँ दिणि गय जिण-णिवास सहियणहिँ समाणी रूवरासि ।
वसु-भेय-पूज पयडेवि जाम गिहि आवंती पहि णिवेण ताम ।
दिट्ठी सा लक्खण-रूव-खोणि गुणरयणहँ णं उप्पत्तिजोणि ।
पुच्छिय णिवेण[1] ता मंति कासु इह पुत्ति कहइ पुणु मंति तासु ।
वरयत्त[2] वणीसहु सुव गुणाल सुकुमारि णरेसर एह बाल ।
तं सुणिवि राउ गउ गेहि आसु कण्णा वि पत्त णिय-जणण पासु ।
जिणवरगोवा सोस विण्ण तायहु वि झत्ति चिंता उवण्ण ।
सवियार-सलज्ज णिएवि कण्ण कहु देमि धूव जोव्वण पवण्ण ।
इय चिंतइ मणि सेसेवि जाम रायहु जि दूउ तहिँ पत्तु ताम ।

घत्ता—तिं सविणय वाएं सरलसहावेँ णेहु पयासिवि वणिवरहो ।
पुणु कज्जु जि भासिउ सवणसुहासिउ कण्ण देहि णिय णिववरहो ॥५९॥

[४-९]

मंतिहु भासिउ णिसुणेवि सिट्ठु[3] तक्खणि जाया मणिँ गरुव हिट्ठु ।
वणिवरु जंपइ हउँ धण्णु अज्जु सहलउ जायउ चिंतियउ कज्जु ।
पडिवण्णु वयणु दिण्णु कुमारि रूवेण राय-मण-मोहयारि ।
गउ मंति णिवहु आखियउ कज्जु परिणिवि जा णिववर करइ रज्जु ।
ता किंकरेहिँ विण्णत्तु राउ मयभिभलु थक्कउ देव णाउ ।
अद्धपहि ण आवइ णयरि केम मुणिवरमणि पावहु लेसु जेम ।
तं सुणिवि राउ चल्लिउ तुरंतु सुक्केसी पिययम सहु रमंतु ।
जाइवि जा कुंजरु णियउ तत्थ ता सुक्केसिहिँ जाया अवत्थ ।
भउ सुमरिवि मुच्छिय[4] सा खणम्मि हाहारउ वट्टिउ ता जणम्मि ।
राएण वि चिंतिउ ता मणम्मि किं जाउ कज्जु इहु अंतरम्मि ।

घत्ता—चमराणिलतोएँ विहियपओएँ उम्मुच्छिय जा देवि वरा ।
ता पुच्छिय राएँ सरलसहाएँ देवि जाय किं मुच्छ परा ॥६०॥

---

१. क. ख. णिवेन । २. क. ख. वइरत्त । ३. क. ख. सेढि । ४. क. ख. मण्णि ।
५. क. ख. मुछिवि ।

अन्य किसी एक दिन वह रूपराशि सुकेशी, अपनी सखियोंके साथ जिन-मन्दिर गई। अष्टविध पूजा कर घरकी ओर आती हुई सुलक्षणी, रूपकी खानि तथा गुण रूपी रत्नोंकी उत्पत्ति-योनिके समान उस कन्याको राजाने मार्गमें देख लिया। उसने किसी मन्त्रीसे पूछा—'यह किसकी पुत्री है।' तब मन्त्रीने उसके विषयमें कहा—'हे नरेश्वर, सुकुमार एवं गुणोंकी राशि स्वरूपा यह श्रीदत्त नामक वणिक्-श्रेष्ठकी पुत्री है।' यह सुनकर वह राजा तत्काल ही अपने घर गया। इधर वह सुकेशी कन्या भी अपने पिताके पास पहुँची। उसने जिनवरका गन्धोदक (पिताके) माथेपर लगाया। कन्याको सविकार, एवं सलज्ज देखकर पिता तत्काल ही मनमें चिन्तित हो गया कि 'यौवनयुक्त इस कन्याको किसको दूँ?' इसप्रकार जब वह वणीश्वर अपने मनमें चिन्ताकर रहा था कि तभी राजाका दूत वहाँ आया।

घत्ता—उस दूतने विनय पूर्ण वाणी एवं सरलस्वभावसे स्नेह व्यक्त कर वणिक्वरसे, कानोंको सुख प्रदान करनेवाला अपना (आगमनका) प्रयोजन (इसप्रकार) कहा—'(हे वणिक्वर, आप कृपया) अपनी कन्या राजाके लिये दे दें।' ॥ ५९ ॥

[४-९]

पूर्वभव—सुकेशीका राजाके साथ विवाह

मन्त्री (—राजदूत)का कथन सुनकर सेठ (श्रीदत्त) तत्क्षण ही अपने मनमें अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। (वह) वणिक्वर बोला—'आज मैं धन्य हो गया, क्योंकि मेरा चिन्तित-कार्य सफल हो गया है।' (यह कहकर) उसने मन्त्रीका कथन स्वीकार कर लिया और अपने सौन्दर्यसे राजाके मनको मोहित करनेवाली उस कुमारीको (राजाके लिये) समर्पित कर दिया। मन्त्री भी वापिस लौट गया और वह वृत्तान्त राजासे कहा। नृपवरने जाकर परिणय किया और अपना राज्य-कार्य करने लगा।

कुछ समयके बाद किंकरोंने राजासे विनती की कि हे देव, एक मदोन्मत्त नाग (नगरके) आधे मार्गमें पहुँच गया है। जिस प्रकार मुनिवरके मनमें पापका लेशमात्र भी प्रवेश नहीं कर पाता, उसी प्रकार नागरिक-जन किसी भी प्रकारसे नगरमें निकल नहीं पा रहे हैं।' यह सुनकर राजा अपनी प्रियतमा सुकेशीके साथ रमण करता हुआ तुरन्त (उस ओर) चला। वहाँ सुकेशी जब कुंजरके समीप जा रही थी तभी उसे (अपनी) पूर्वावस्थाका ज्ञान उत्पन्न हो गया। भव-स्मरण कर वह तत्क्षण ही मूर्च्छित हो गई। इससे लोगोंमें हाहाकार मच गया। राजाने मनमें चिन्तन किया कि 'इस (प्रियतमा) के अन्तर्तममें यह क्या हो गया है'?

घत्ता—चँवरोंकी वायु एवं जलविधिके प्रयोगसे जब उस देवीकी मूर्च्छा दूर हुई तब राजाने सरल स्वभावसे पूछा—'हे देवि, मूर्च्छित क्यों हो गई थी? ॥ ६० ॥

[४-१०]

तं कारणु महु अक्खहि सु-पिए   तं सुणिवि कवड्डु चिंतियउ तिए।
हउँ आसि जम्मक्खेयरहु सुवा   विज्जाबलेण अच्छरिय भुवा।
णहि हिंडंति मइँ मलयगिरि   विट्ठउ होंतउ अइगरुउ करि।
तं सुमरिवि मुच्छिय राय हउँ   मिच्छत्तरु करि रंजिउ व पिउ।
राएँ गिहि पेसिय भज्ज पुणु   सइँ करि साहंतउ थक्कु वणु।
अइचवलु थूलु उत्तुंगतणु   ससि-णिह-पंडुर मुहिवर डसणु।
तं साहिवि राणउँ हरिसियउ   राणिहिँ वद्धावउ पेसियउ।
तिं जाइवि अक्खिउ रण्णियहिँ   [1]करि णव-सुमरण विद्धाणिएहि।
राएण पसाहिउ करिपवरु   तं सुणवि देवि जंपेइ सरु।
किं साहसु जं बप्पुडउ इहु   करि साहि जि हरिसिउ चित्ति पहु।
जो सिंधुरु[2] मलयगिरिहिँ वसए   णियबलेण [3]हि सो[4] करिवर[5] तसए।
जइ पुणु णरेसु तहु वसि करइ   ता सच्चउ जइसिरि सो वरइ।

घत्ता—वद्धावउ तक्खणि गउ वयणइँ सुणि अक्खियउ गंपि णरेसरहो।
तं णिसुणिवि राणउ मणि विद्दाणउ चलउ पुणु मलयहि लहु ॥६१॥

[४-११]

तहिँ जाइवि विट्ठउ सो करिंदु   णं थूलदेहु बीयउ गिरिंदु।
वेढिउ चउरंगि णिवबलेण   कहमवि ण वि साहिउ जा छलेण।
ता करिहेँ[6] मारावउ णिवेण   तहु दंतमुसल गिण्हिवि खणेण।
पुरि आवेप्पिणु णियरण्णियाहिँ   अप्पियइँ णिवे गिहि संठियाहिँ।
इट्ठिवि ताइँ वि आलिंगिऊण   मुय तक्खणि हा-हा जंपिऊण।
राणउँ अंतेउरि पिडवासु   विंभियमणु आयउ ताहि पासु।
णहिँ[7] मरणावत्थ णिएवि राउ   ठिउ सोउ करंतउ मणि अमाउ।

१. क. ककरिनब। २. ख. सिंधु। ३. क. ख. दि। ४. क. ख. सा.। ५. क. ख. करिअर। ६. क. ख. केहे। ७. क. ख. नहि।

[४-१०]

पूर्वभव स्मरण—राजा का मलय-हाथीके वधके लिये मलयाद्रि पर जाना

'हे प्रियतमे, मुझे उसका कारण कहो।' उसे सुनकर उस सुकेशीने कपट करनेका विचार किया। (उसने कहा)—'पूर्व जन्ममें मैं खेचर पुत्री थी और विद्याबलसे अप्सरा हुई। (उसी समय) आकाश मार्गमें भ्रमण करते हुए मैंने मलयगिरिपर एक अति विशाल हाथी देखा था। हे राजन्, उसीका स्मरण हो आनेसे मैं मूच्छित हो गई थी। (मूर्च्छावस्थामें ही) मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे हाथीने प्रियतमके समान (मुझे) रंजित किया है।' (यह सुनकर) राजाने भार्या सुकेशीको तो घर भेज दिया और स्वयं उस हाथीको खोजता हुआ वनमें जा पहुँचा।

अतिचपल, स्थूल, उत्तुगतन, शशिके समान पाण्डुर एवं मुखमें श्रेष्ठ दाँतोंवाले उस हाथीको खोजकर राजा हर्षित हुआ। उसने रानीके पास एक वर्धापक भेजा। उस वर्धापकने (पूर्वभवके स्मरणसे) बिधी हुई रानीसे जाकर कहा—'नवकार-मन्त्रका स्मरण कीजिए, क्योंकि राजाने करिप्रवरको वशमें कर लिया है।' उसे सुनकर देवी सुकेशीने कहा—'इसमें साहसकी क्या बात हे, जो उस बेचारे हाथीके शरीरको वशमें कर लिया और जिसके कारण प्रभु हर्षित हो उठे हैं। (उनका साहस तो उस समय प्रशंसनीय होगा जब) मलयगिरिपर जो महागज निवास करता है, और जो अपने बल-पराक्रमसे श्रेष्ठ हाथियोंको भी त्रस्त करता रहता है। यदि वह नरेश उसे अपने वशमें कर ले तभी वह सच्ची जयश्रीका वरण कर सकेगा (अन्यथा नहीं)।'

घत्ता—रानीका कथन सुनकर वह वर्धापक तत्क्षण ही (वहाँसे) लौट गया और जाकर वह (कथन) राजाको कह सुनाया। उसे सुनकर राजाका मन बड़ा विदीर्ण हो गया और शीघ्र ही वह मलयाद्रिपर जा पहुँचा ॥६१॥

[४-११]

राजा द्वारा मलय हाथीका वध एवं श्रेष्ठि-पुत्री कीर्तिका प्रियदर्शनके साथ विवाह

वहाँ जाकर राजाने उस हाथीको (इस प्रकार) देखा मानों स्थूल देहवाला वह दूसरा गिरीन्द्र ही हो। जब राजा उसे पकड़नेमें किसी भी प्रकार सफल नहीं हुआ तब उसने छल-बल के द्वारा उसे चारों ओरसे आ घेरा। तब कहीं वह राजाके द्वारा तत्काल मारा जा सका। उसके दन्तमुसल लेकर राजा नगरमें आया तथा राज्यभवनमें स्थित अपनी रानीको वह समर्पित किया। उसका स्पर्श पाकर तथा आलिंगन कर वह सुकेशी रानी हाहाकार करके तत्क्षण ही मृत्युको प्राप्त हो गई।

राजा विस्मित मनसे अन्तःपुरमें उसके शवपिण्डके पास आया। मरणके योग्य अवस्था न होनेपर भी उसे मृत देखकर निश्छल वह राजा अपने मनमें शोक करता हुआ खड़ा रह गया।

तहि[1] अवसरि जसहरु मुणि समाउ तहु वंदणहत्तिए पत्त राउ ।
पणविवि[2] पहुणा पुच्छियउ णाहु सुक्केसी जंम्मंतरइँ णाहु ।
अक्खइ इह कंचीपुरु विसालु सुदंसणु वणिवरु तहिँ गुणालु ।
वीरसिरि भज्ज तहि उवरि जाउ पियदंसणु सुउ जण-दिण्ण[3]-राउ ।

घत्ता—तहि पुरवरि अण्णु वणि धणपुण्णु अइहव भामिणि तासु पुणुउ[4] ।
किती णामा वर[5]-जोव्वण-जुव परिणिय पियदंसणेण सुउ ।। ६२ ।।

[४-१२]

भोयाणुरत्त वासर गमंति मणइच्छियसुह बिण्णि वि[6] रमंति ।
अण्णहिँ दिणि वणि गय कीलणत्थि तरु ताइहिँ झंपिय रवि-गभत्थि ।
तहिँ भमिवि रमिवि सुहिच्छंति जाम करि करिणि रमंतउ दिट्ठु ताम ।
पुणु-पुणु णिएवि मणि बद्धु राउ मरिऊण मलयगिरि हत्थि जाउ ।
तहु भज्जा करिणी मलय णाम हुअ तत्थ जि पुणु तहु चित्त राम ।
चिरजम्मसणेहेँ एय सत्थ हिंडंति बे णिवसंति तत्थ ।
पोमावइ वीई करिणि अण्ण[7] तहु करिहु वि जाया भज्ज धण्ण ।
बहु-करिणि-समाणउ णायराउ जा णिवसइ ता तहिँ मुणि समाउ ।
अवहीसरु चारणरिद्धि-जुत्तु णिक्कारण-मित्त समाहिगुत्तु ।
जि अप्पसरूवि णिचित्तु चित्तु करिणिहिँ सहु पिच्छिवि करि महंतु ।
रिसि जंपइ भो करि काइँ मूढु मोहंधउ अक्खरसेणि छूढु ।
सो हुं णंदणु तुहुँ आसि हुंतु पियदंसणक्खु कित्तीहिँ कंतु ।
गयदंसणि पइँ बद्धउ णियाणु मरिऊण सभज्जु सचित्ति जाणु ।
मलयायलि हुउ तिरियंचराउ मलयक्खु तुहुँ जि मलयासहाउ ।
एव्वहिँ लइलइ पावहु णिवित्ति जिणवयणु भव्व भावेहि चित्ति ।
मुणिवयण सुणिवि तिं सरिउ जम्मु रिसि पणमेवि तं सावहु [सु] धम्मु ।
गिण्हिवि सभज्जु णिवसइ वणम्मि मुणिवरजुउ गउ खणि णहम्मि ।

---

१. क. ख. तदि । २ क. ख. पणवि । ३. क. ख. दिण । ४. ख. पुणु । ५. क. ववर । ६. क. खे. । ७. क. ख अन्न ।

उसी अवसर पर यशोधर मुनि पधारे। उनके वन्दनार्थ राजा वहाँ पहुँचा। प्रणाम करके उसने भक्तिपूर्वक मुनिनाथसे सुकेशीके जन्मान्तर पूछे। मुनिराजने भी उत्तरमें कहा—'यहीं काञ्चीपुर नामक एक विशाल नगर है। वहाँ गुणों की राशिके समान सुदर्शन नामक एक वणिक्-श्रेष्ठ रहता था। उसकी वीरश्री नामकी भार्या थी। उससे, लोगोंके हृदयोंमें रागभाव उत्पन्न करने-वाला प्रियदर्शन नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

घत्ता—उसी नगरीमें धनपुण्य नामका एक अन्य वणिक् भी निवास करता था, जिसकी (बिजलीके समान) अति चपल पुण्या नामकी भामिनी थी। उसको कीर्ति नामकी श्रेष्ठ एवं युवावस्थाको प्राप्त एक कन्या थी, जिसका परिणय प्रियदर्शनके साथ हो गया ॥६२॥

[४-१२]

कीर्ति एवं प्रियदर्शनकी निदान पूर्वक मृत्यु एवं हाथी एवं हथिनीके रूपमें उनका जन्म

वे दोनों भोगोंमें अनुरक्त होकर समय व्यतीत करने लगे तथा मनकी इच्छानुसार सुखपूर्वक रमण करने लगे। अन्य किसी दिन (वे दोनों) क्रीड़ा हेतु (उस) वनमें गये, जहाँ वृक्षोंसे रविकिरणें अवरुद्ध थीं। जब वे वहाँ स्वच्छन्दता पूर्वक घूम-फिर रहे थे, तभी (उन्होंने) एक हाथी एवं हथिनीको रमण करते हुए देखा। उसे बारम्बार देखकर वह प्रियदर्शन मनमें बद्धराग हो गया। (निदान स्वरूप) वह मरकर मलयगिरि पर हाथीके रूपमें उत्पन्न हुआ।

तुम्हारी भार्या मरकर मलया नामकी हथिनी हुई। वहाँ भी पुनः वे सुखका अनुभव करने लगे। पूर्वजन्मके स्नेहसे वे दोनों (इस समय भी) एक साथ रहते हैं और दोनों ही साथ-साथ घूमते-भटकते हुए रह रहे हैं।

पद्मावती नामकी जो दूसरी हथिनी थी, वह भी उसी हाथीकी दूसरी भाग्यवती भार्या बनी। वह नागराज कई हथिनियोंके साथ जब वहाँ रह रहा था, तभी वहाँपर अवधीश्वर, चारण-ऋद्धिसे युक्त एवं (सभीके लिये) निष्कारण मित्र रूप एक समाधिगुप्त नामके मुनि पधारे, जो आत्मस्वरूपके चिन्तनमें दत्तचित्त रहते थे। हथिनियोंके साथ उस महान् हाथीको देखकर वह ऋषि बोले—'हे गजराज, मोहान्ध होकर तथा ज्ञान-चेतनासे विहीन रहकर मूढ क्यों हो रहे हो? मैं ही तुम्हारा प्रियदर्शन नामका पुत्र एवं कीत्तिका पति हूँ। गजदर्शनके समय तुमने अपने मनमें निदान बांधा था और भार्यासहित मरकर मलय पर्वतपर मलय नामक तिर्यञ्चराज हुए। तुम्हारी (पूर्वजन्मकी वह) भार्या भी (मरकर) तुम्हारी मलया नामकी पत्नी हुई। अब इस समय तुम पाप छोड़ो और हे भव्य, अपने चित्तमें जिनवचनोंका ध्यान करो।' मुनिवचन सुनकर उस हाथीको पूर्वजन्मका स्मरण हो आया। ऋषिवरको प्रणाम करके उस हाथीने मलया नामकी अपनी भार्याके साथ श्रावकधर्म ग्रहण किया और वनमें निवास करने लगा। वह मुनियुगल उसी समय आकाश मार्गमें चला गया।

घत्ता—सो करिवरसारउ अणुवयधारउ बिहुँ करिणिहिँ अणुरत्तमणु ।
ता अण्णहि वासरि णेहाउरु करि पोमाकरिहिँ रूढु पुणु ॥ ६३ ॥

[४-१३]

मलयाण्णि[1] पवित्तं रुट्ठचित्ति   असहंति सवत्तिहिँ णेहवित्ति ।
पव्वयहु पडिवि ईसावसेण   मुय मलया करिणी तक्खणेण ।
संजाय सुकेसी तुज्झ भज्ज   सिरिदत्त वणीसहु पुत्ति सज्ज ।
करि त धण्ण[2] णिएवि मुच्छिय दवत्ति   हुइ जाईसर भउसरिउ चित्ति ।
मलयायलि मलउ करिंदु आसि   तहु भज्ज करिणि हुउ राह-णेसि ।
पोमावई जो बोई कणिट्ठ   अज्ज जि ति सहु सा रमइ दुट्ठ ।
हउँ पडिवि मरिवि पुणु एत्थु आय   इम सरिवि णिसण्णो मलिणकाय ।
पइ पुच्छिय किं पिए मुच्छ जाय   तं कारणु अक्खहि कणयछाय ।
मिच्छुत्तरु दिण्णउ रहिवि गुज्झु   हउँ खेयरिहो ती भणि खणेण [तुज्झु]
तुहुँ पत्तिण्णउँ सा गय गिहम्मि   गयवरु पुणु साहिउ पइँ वणम्मि ।
वद्धावउ गउ राणियहि जाम   ताइ जि पच्चेलिउ भणिउ ताम ।
किं साहसु इहु वोक्कडु समाणु   बप्पुडउ जु बंधिउ कीलमाणु ।
मलयायलि जा मलयक्खु हत्थि   पोमावइ करिणी भमइ सत्थि ।
सो जइ साहिवि आणेइ राउ   ता [3]साहसु मण्णमि[4] तहु अमाउ ।
पडिआविवि तुम्ह हंकरिउ तेण   मलयायलि तुहु पुणु गउ खणेण ।
तहि दिट्ठु णाउ अइथूलकाउ   सक्किउ ण साहि णिहणिउ वराउ ।
तहु डसणइँ गिण्हिवि राणियाहिँ   पइँ पेसिय णिव णेहासियाहिँ ।
सा पिच्छिवि ताइँ विसण्णचित्त   खणि महियलि णिवडिय सोयछित्त ।
हा-हा णिवसंतु सुहेण णाउ   चिरभउ पिउ णेहासत्तभाउ ।
पावइँ मइँ माराविउ अवोसु   हा-हा हउँ णिग्घिण करिवि सेसु ।

---

१. क. ख. मलयाणि ।   २. क. ख. धणु ।   ३. क. ख. सहसु ।   ४. क. ख. मणम्मि ।

घत्ता—सारभूत अणुव्रतोंका धारी वह गजश्रेष्ठ अपनी दोनों हथिनियोंके साथ अनुरक्त मनसे रहने लगा। तभी अन्य किसी दिन स्नेहातुर होकर वह हाथी पद्मावती नामक हथिनीके साथ आनन्द-भोग कर रहा था ॥ ६३ ॥

[४-१३]

सुकेशीका अपना पूर्वभव-स्मरण

मलय हाथीकी अन्य (हथिनी—पद्मावती) में स्नेह-प्रवृत्ति देखकर मलया हथिनी अपने मनमें बड़ी रुष्ट हुई। वह उसे सहन न कर सकी और ईर्ष्यावश पर्वतसे गिरकर तत्काल ही मृत्युको प्राप्त हो गई। वही (हथिनी) श्रीदत्त वणीश्वरकी सुन्दरी पुत्री एवं तुम्हारी भार्या सुकेशीके रूपमें उत्पन्न हुई। हाथीको देखकर वह धन्या (सुकेशी) तत्काल ही मूर्च्छित हो गई। उसे भी जातिस्मरण हो आया और अपने मनमें पूर्वजन्मका (इस प्रकार) स्मरण करने लगी।

'मलय पर्वतमालापर मलय नामका एक करीन्द्र था और राधाके समान स्वाभाविक सौन्दर्य-युक्ता एक हथिनी उसकी भार्या थी। उसकी पद्मावती नामकी दूसरी कनिष्ठा दुष्टा हथिनी थी, जिसके साथ आज भी वह रमण करता रहता है। मैं मरती-जीती पुनः यहाँ (इस योनिमें) उत्पन्न हुई हूँ।'

यह स्मरण कर (जब) मलिनकाय वह (रानी) बैठी थी तभी पतिने उससे पूछा—"हे प्रिये, तुम मूर्च्छित क्यों हो गई थी ? हे कनकवर्णी, उसका कारण बताओ।' तब उसने रहस्य छिपाकर तत्काल ही मिथ्या उत्तर दिया—'मैं पूर्वमें विद्याधर पत्नी थी।' आपने उसपर विश्वास कर लिया। वह तो अपने घर चली गई और आपने वनमें जाकर उस हाथीको पूर्ण रूपसे वशमें कर लिया। जब वर्धापक रानीके पास गया और जब विपरीत सुनकर वह वापिस लौटा और उसने राजाको (रानीका वह कथन) इस प्रकार कह सुनाया कि—'खेलते हुए कृशगात्रवाले तथा बकरे के समान उस हाथीको बाँध लेना कोई साहस है ? मलयपर्वतपर एक मलय नामका हाथी है, जो कि निरन्तर पद्मावती नामकी हथिनीके साथ भ्रमण करता रहता है, उसे यदि वह निश्छल-राजा वशमें कर ले आवे तभी उसे साहसी समझूँगी।' तब उस वर्धापकने तत्काल ही लौटकर तुम्हें हुंकारा (आवेशमें कहकर आवेशसे भर दिया)। तब तुम पुनः मलय पर्वतपर पहुँचे। वहाँ तुमने अत्यन्त स्थूलकायवाले नागराजको देखा। जब उसे वशमें न कर सके, तब तुमने उस बेचारेको मार डाला। उसकी खीसों (दन्तमुसलों) को निकालकर हे नृप, तुमने उन्हें अपनी स्नेहासक्ता रानीके पास भेजा। वह रानी उन [दन्तमुसलों] को देखकर विषण्णचित्त एवं शोक-संतप्त होकर 'हाय-हाय, पूर्वजन्मका वह मेरा प्रिय नाग स्नेहासक्त भावसे सुखपूर्वक निवास कर रहा था। उस निर्दोष गज-विशेषको मुझ अभागिन निर्घृण्य पापिनीने मरवा डाला।' इस प्रकार रुदन कर वह तत्क्षण ही पृथिवीपर गिर पड़ी।

घत्ता—पुणु उट्ठिवि तक्खणि ह [ा]-हा भणि वंतजुवलि आलिंगियउ ।
तक्खणि हियउल्लउ वेहेँ भल्लउ तुअ राणिहिँ फुट्टि[1] वि गयउ ॥ ६४ ॥

[४-१४]

मुणिवयण सुणिवि पुहईसरेण पुणु पुच्छिउ[2] रिसिवरु णयसिरेण ।
सो करिवरु [पिय] करिणी सुकेसि मरिऊण पत्त पुणु कवण देसि ।
मुणि जंपइ करि पइँ हणिउ राय पोमाकरिणी जा सुद्ध भाय ।
सण्णासेँ मुय सा पुणु वि तत्थ सुणि तिण्णि वि जाया राय जत्थ ।
सोरट्ठि वेसि गिरिणयरि रम्मि अयवलु राणउ जसु रइ सुधम्मि ।
तुहु पुत्ति मणोहरि णाम हूव तियलक्खणलंकिय सारभूव ।
तहु णिवहु पुरोहिउ विजयसेणु तहु पुत्तु जाउ करि विगयरेणु ।
कुव्वेरकंतु णामेण दच्छु तत्थ जि पुणु वणिवरु धण अतुच्छु ।
धणदत्तहो धणदत्ता पियासु पोमावइ मरि सुउ जाउ तासु ।
सो सिरिधरु णामेँ सुद्धचित्तु कुव्वेरकंतु तहु परममित्तु ।
बिण्णि[3] वि णेहेण[4] रमंति थंति चंदक्क समाण पुरि सहंति ।
अण्णहिँ दिणि सिरिहरु मलिणकाउ मित्तहु सयासि थिउ विगयराउ ।

घत्ता—तेण जि सो वुत्तउ काइँ दुचित्तउ[5] अज्ज जि दीसहि मित्त भणु ।
त वज्जिय-माएँ णेह-सहाएँ हरिसेणु वि तहु भणइ पुणु ॥ ६५ ॥

[४-१५]

तुअ तिय मणिकंबलु पंगुरेवि महु गेहि गया सा णाइँ देवि ।
महु पिय ईसावस तं णिएवि मुय गेहहु उप्परि खल पडेवि ।
इय मित्तहु वयण सुणेवि तेण हा-हा सरु मेल्लिवि तक्खणेण ।
गउ सिरिहर-गेहि सिट्ठु जाम भउ सुमरिउ तक्खणि तेण ताम ।
भो मित्त आसि हउँ करिपहाणु मलयाकरिणी सहु कीलमाणु ।
सा पुणु महु रूसिवि पडिय झत्ति पव्वयहु मुया चिरु जेम पत्ति ।

१. क. ख. पुट्टि० । २. क. ख. पुंछिउ । ३. क. ख. विणि । ४. क. ख. णेहेण ण । ५. क. ख. दुरि० ।

घत्ता—पुनः [सचेतन होकर] उठकर तत्काल ही 'हाय-हाय' कहकर उसने उस दन्त-युगलका आलिंगन किया। उसी समय तुम्हारी सुन्दर देह वाली उस रानीका हृदय फूट गया और वह मर गई ॥ ६४ ॥

[४-१४]

मलय हाथी मरकर कुबेरकान्त नामक पुरोहित-पुत्र उत्पन्न हुआ

मुनि द्वारा जन्मान्तर सुनकर उस पृथिवीश्वरने नतमस्तक होकर ऋषिवरसे पुनः पूछा—"वह गजश्रेष्ठ, वह हथिनी एवं सुकेशीके जीव मृत्युको प्राप्तकर पुनः किस देशमें उत्पन्न हुए ?" उत्तर स्वरूप मुनिने कहा—'हे राजन्, हाथीको तो आपने मार डाला था। पद्मावती नामकी वह हथिनी शुद्धभाव पूर्वक संन्यास लेकर मरी। हे राजन्, सुनो, वे तीनों किस प्रकार उत्पन्न हुए—

'सौराष्ट्र देशमें सुन्दरगिरि नामका नगर है। वहाँ अतिबल नामक राजा राज्य करता था, जिसकी रति नामकी सहधर्मिणी थी। उसकी महिलोचित लक्षणोंसे अलंकृत एवं सारभूत मनोहरा नामकी पुत्री हुई।

उस राजा अतिबलका, पापमलसे रहित विजयसेन नामका एक पुरोहित था। वह हाथी मरकर उसी पुरोहितके यहाँ कुबेरकान्त नामके एक चतुर पुत्रके रूपमें जन्मा।

उसी नगरमें धन-सम्पन्न धनदत्त नामका एक वणिग्वर भी निवास करता था। उसकी धनदत्ता नामकी प्रियतमा थी। वह पद्मावती हथिनी मरकर उसीके यहाँ श्रीधर नामके शुद्धचित्त वाले पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुई है।

वह कुबेरकान्त उस श्रीधरका परममित्र था। वे दोनों ही स्नेहपूर्वक खेलते रहते थे और नगरमें चन्द्र एवं सूर्यके समान सुशोभित होते थे।

अन्य किसी दिन श्रीधर मलिनकाय एवं निराशचित्त होकर अपने मित्रके समीप बैठा था—

घत्ता—तभी उसके मित्र कुबेरकान्तने उससे पूछा कि—'हे मित्र, आज तुम दुखी क्यों दिखाई दे रहे हो ? तब हरिषेण [श्रीधरसेन ?] ने भी बिना किसी दुराव-छिपावके स्नेहवश होकर कुबेरकान्तसे कहा—॥ ६५ ॥

[४-१५]

कुबेरकान्तकी पत्नीको रत्नकम्बल ओढ़े हुए देखकर ईर्ष्यावश श्रीधरकी पत्नीकी आत्महत्या

"तुम्हारी प्रियतमा रत्नकम्बल ओढ़कर मेरे घरमें इस प्रकार पहुँची थी मानों कोई अप्सरा ही हो। मेरी प्रियतमाने उसे ईर्ष्यावश देखा और घरके ऊपरसे गिरकर मृत्युको प्राप्त हो गई।"

मित्र श्रीधरका यह कथन सुनकर कुबेरकान्त [शोक-सन्तप्त होकर] उसी समय हाय-हाय करने लगा। वह श्रीधरके घर गया और जब [चिन्तित] बैठा था तभी उसने [अपने] पूर्वभवका स्मरण किया [और श्रीधरसे बोला]—"हे मित्र, मैं ही वह गजप्रधान हूँ। जो मलया नामकी हथिनीके साथ क्रीड़ाएँ किया करता था। पुनः वह मुझसे रूठकर पर्वतमालाके ऊपरसे गिर पड़ी थी, जिस कारण वह मृत्युको प्राप्त हो गई। हे श्रीधर, प्रासादोंमें प्रतिश्रुत रूप-सौन्दर्यसे युक्त उसे ही तू

तिम पव्वहि सिरिहर तुज्झ भज्ज पासायहु पडिय सुरूवसज्ज ।
इय मित्तहु कहि विमणे हवंतु होएवि गहिल्लउ बुद्धिवंतु ।

घत्ता—महिवीढि भमंतउ भज्ज णियंतउ गिरि गिरिनारहिँ पत्तउ ।
तहिँ खयरे केण वि णवियसिरेण वि दिण्णिय विज्जा बिण्णि तउ ॥ ६६ ॥

[४-१६]

मोहणिय विउव्वण लहिवि तेण आइवि राइंगणि धुत्तएण ।
णाडउ पारंभिउ हत्थिरूउ वक्खालिउ करिणीए सहुँ सरूउ ।
पुणु-पुणु गावइ तहु करिहु गीउ [1]मलयायलु भणि-भणि सो अभीउ ।
णिय तायहु पासि णिसण्णएण तं कोऊहल जोवंतियाइ [तेण]
संभरिउ सजम्मु मणोहरीए मुच्छिवि महि पयडिय मणोहरीए ।
हाहारउ रायत्थाणि जाउ जणु धाविउ ए विहिवर उवाउ ।
[2]उम्मुच्छिय [3]चमराणिलेण जाम उट्ठिय हा मलय भणंति ताम ।
राएँ पुच्छिय किं कारणेण तुव मुच्छ जाय अक्खहि सुहेण ।
ताइँ जि रायहु पच्छिलउ सव्वु अक्खिउ संबंधु वि सयलु भव्वु ।
जं गावइ णच्चइ णरु पहाणु तं चिरभउ महु णिव चित्ति जाणु ।
राएँ पुणु ताम कुबेरकंतु पुच्छिउ अणुराएँ गुणमहंतु ।
तें कहिउ आसि भवि हउँ करिंदु मरिऊण चित्ति झाइवि जिणिंदु ।
हउँ जाउ पुरोहिय पुत्तु एत्थु णउ जाणमि मलया पत्त केत्थु ।
ता भणइ मणोहर[4] हउँ सुसामि गिरि पडिवि मरिवि हुव एत्थु ठामि ।
इय भणिवि बे वि णेहाणुरत्त हुव तक्खणि कामरसेण मत्त ।
राएँ आसत्त मुणेवि कण्ण परिणविवि पुरोहिय[5] सुवहु दिण्ण ।

घत्ता—णिय तायहु मंदिरि णयणाणंदिरि दिव्व-भोय विलसंतु ठिउ ।
विज्जावल सहियउ पुण्णें अहियउ धम्मि लीणु उवमारहिउ ॥ ६७ ॥

---

१. क. ख. मयलायलु । २. क. ख. उमुच्छिय । ३. क. ख. चमरिलेण ।
४. क. ख. मणोहरु । ५ क. ख. परोहिय ।

अपनी भार्याके रूपमें प्राप्त करेगा।" इस प्रकार मित्र कुबेरकान्तके इस कथनसे वह बुद्धिमान श्रीधर दुखी हो गया तथा भ्रान्तचित्त होकर—

घत्ता—पृथिवीमण्डलपर भटकता हुआ, अपनी भार्याको खोजता-खोजता वह गिरिनगरके पर्वत-शिखरपर पहुँचा। वहाँ किसी एक खेचरने नमित सिर होकर उसे दो विद्याएँ प्रदान कीं ॥६६॥

[४-१६]

राजकुमारी मनोहरा एवं कुबेरकान्तके पूर्वभव

धूर्त्त श्रीधर सम्मोहनकी विक्रिया-ऋद्धि प्राप्तकर राजाके आँगनमें पहुँचा। वहाँ उसने हाथीका रूप धारण कर नाटक प्रारम्भ किया और अपना वह रूप हथिनीके सम्मुख दिखलाया। वह निर्भीक [मलय नामका हाथी] बार-बार उस हथिनीकी गर्दनके पास "भिन-भिन" कर गाता था।

अपने पिताके समीप बैठी हुई तथा उस कौतुहलको देखती हुई, जन-मनको हरण करने-वाली उस राजकुमारी मनोहराको [अचानक ही] अपना पूर्वजन्म स्मरण हो आया और वह मूर्च्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़ी। (इस कारण) राज-प्राङ्गणमें हाहाकार मच गया और उसके उत्तम उपचार करने हेतु लोग दौड़ने लगे।

जब चामरोंकी वायुसे वह सचेतन हुई तब उठकर 'हा मलय'—'हा मलय' चिल्लाने लगी : राजाने उससे पूछा कि—"किस कारण तुम मूर्च्छित हो गई थी ? मुझे शीघ्र कहो।" (तब) उसने राजासे अपना पिछला समस्त भव्य सम्बन्ध [आगन्तुक धूर्तके साथवाला पूर्वजन्मका वृत्तान्त] इस प्रकार कह सुनाया—"यह जो नरप्रधान नाच-गा रहा है, हे राजन्, उसे पूर्वजन्मका मेरा हृदय ही समझिए।'

राजाने अनुरागपूर्वक पुनः महागुणी कुबेरकान्तसे [इस विषयमें] पूछा। तब उसने कहा—"पूर्वजन्ममें मैं एक करीन्द्र था। फिर चित्तमें जिनेन्द्रका ध्यानकर और मरकर मैं यहींपर पुरोहितके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुआ हूँ। मैं नहीं जानता कि वह मलया हथिनी कहाँ उत्पन्न हुई ?" तब उस मनोहराने कहा—हे स्वामिन्, मैं ही वह मलया हथिनी हूँ, जो पर्वतसे गिरकर मर गई थी और यहाँ [मनोहराके रूपमें] जन्मी हूँ।' यह कहते ही दोनों तत्काल स्नेहासक्त तथा कामरससे मत्त हो उठे। राजाने भी अपनी कन्याको आसक्त जानकर उसका पुरोहित-पुत्रके साथ परिणय कर दिया।

घत्ता—नेत्रोंको आनन्द देनेवाले अपने पिताके राजभवनमें वे दोनों ही दिव्यभोगोंका विलास करते हुए रहने लगे। विद्याबलसे युक्त तथा पुण्यकी अधिकतासे (वे दोनों) इस प्रकार धर्ममें लीन हुए कि उसकी उपमा ही नहीं दी जा सकती ॥ ६७ ॥

[४-१७]

अण्णहिँ दिणि गिहसिहरोवरम्मि थक्कउ सभज्जु जोवइ दिसम्मि।
पावसकालहिँ लंबिय घणम्मि विज्जुलयए मारिय ता सिरम्मि।
जिणु जिणु भणंत बिण्णि वि मुवाइँ उत्तम भवि-भवि हुव लज्जवाइ।
खयरायलि चूलयापुरिहिँ राउ णामेण चंडवेउ जि अपाउ।
विज्जुलया हि सुउ असणिवेउ णामेण जाउ सो णाइ देउ।
तत्थेव मेहमालिणि खगासु मण्णोहरी विज्जु व पुत्ति तासु।
णामेण विरलवेया विणीय विज्जाबलसहिय सुवण्णणीय।
अण्णहिँ वासरि पुणु असणिवेउ गिहसिहरि णिसण्णउ कियविवेउ।
पेच्छेवि घणागमु सरिउ जम्मु हा कत्थ मणोहरि किय सुकम्मु।
इय चिंतिवि त्ति पण्णत्ति-विज्ज पेसिय अबलोयहु तेण सज्ज।

घत्ता—ताइ जि जाएप्पिणु तत्थ णिएप्पिणु विरलवेय ताइ जि भणिया।
तुहु आसि मणोहरि होंती संभरि तिय कुबेरकंतहु तणिया॥ ६८॥

[४-१८]

तहिँ असणिपहारेँ मरिवि आय तुह विरलवेय सा एत्थ जाय।
तुव वरु पुणु इह पुरि रायपुत्तु हुउ असणिवेउ णामेण जुत्तु।
तं वयणु सुणिवि तहिमि य असेसु बुज्झियउ जसु ठाणु सदेसु।
परिवारेँ मुणिवि चरित्तु ताहँ वोहिमि विवाहविहि किय जणाहँ।
परसप्परणेहारत्तचित्त अहणिसु सुहाइँ विलसंति रत्त।
णहजाणारूढ अकिट्टिमाइँ वंदंति नमंति जगुत्तमाइँ।
जिणभवण-सण्णि[1] जा ते णिसण्ण केण वि अरिणा ता वहिय धण्ण।
मरिऊण अउज्झहिँ विगयसंकु इहु कित्तिधवलु णिउ हुउ अकंपु।
सा विरलवेय सहएवि हूव इहु मज्झु मायगुणसार भूव।
मुणिणिंदाय णेहाणुरत्त मह-मोह-पिसाएँ जा पमत्त।

---

१. क. ख. सणि।

[४-१७]

पुरोहितपुत्र एवं मनोहराकी वज्रपात होनेसे मृत्यु तथा प्रज्ञप्ति-विद्या द्वारा मनोहराका पता लगाया जाना

अन्य किसी एक दिन वह पुरोहितपुत्र अपनी पत्नी मनोहराके साथ भवनकी ऊपरी छतपर बैठा हुआ दिग-दिगन्तकी ओर देख रहा था। वर्षाकालीन उमड़े हुए मेघोंमें से विद्युल्लताने उनके सिरपर चोटकी। 'जिन-जिन' कहते हुए वे दोनों ही लज्जालु मृत्युको प्राप्त हुए और उत्तम कुलोंमें जन्मे।

विद्याधर-भूमिकी चूलिकापुरीमें चण्डवेग नामका एक निष्पाप राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी विद्युल्लता (के गर्भ) से वह (पूर्वभवका) नागदेव अशनिवेग नामके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुआ।

वहींपर मेघमालिन नामक विद्याधरके यहाँ (वही मनोहरी) बिजलीके समान चपल विनीत, विद्याबल युक्त एवं प्रशंसनीय विरलवेगा नामकी पुत्री हुई।

अन्य किसी दिन वह विवेकशील अशनिवेग पुनः अपने गृह-शिखरपर बैठा था। बादलोंके आगमनको देखकर उसे पूर्वभवमें किये हुए अपने सुन्दर कार्योंका स्मरण हो आया (और चिल्लाने लगा)—"हे मनोहरी, तुम कहाँ चली गई ?" इस प्रकार चिन्तनकर उसने प्रज्ञप्ति-विद्याका सावधानी पूर्वक ध्यान किया और उसे मनोहरीके अवलोकनार्थ भेजा।

घत्ता—उस प्रज्ञप्ति-विद्याने जाकर तथा विरलवेगाको देखकर उससे कहा—"स्मरण करो तुम ही (पूर्वभवकी) कुबेरकान्तकी सुन्दर त्रिया थी" ॥ ६८ ॥

[४-१८]

अशनिवेग एवं विरलवेगा का विवाह एवं किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा उनका वध

"उस समय बिजलीके प्रहारसे मरकर ही तुम विरलवेगाके रूपमें यहाँ आकर जन्मी हो। पुनः तुम्हारा वर इसी नगरका अशनिवेग नामका राजपुत्र होगा।" उसके वचन सुनकर वहाँ समस्त मित्रोंने अपने उस प्रदेशको उनका जन्मस्थान समझा।"

"परिवारके चरितको जानकर उन लोगोंने इन दोनों का विधिवत् विवाह करा दिया। वे दोनों परस्परमें स्नेहासक्त चित्त होकर अहर्निश भोगादि सुखोंका विलास करने लगे। वे दोनों नभयानपर आरूढ़ होकर विश्वमें उत्तम अकृत्रिम चैत्यालयोंका वन्दन-नमस्कार करते थे। जब वे दोनों भाग्यशाली जिनभवनके समीप जाकर बैठे थे तभी किसी शत्रुके द्वारा उनका वध कर दिया गया। (फलस्वरूप) वह (अशनिवेग) मरकर निःशंक एवं निर्भीक कीर्तिधवल नामक राजा हुआ"।

"वह विरलवेगा भी (मरकर) इसी नगर (अयोध्या) के मध्यमें मायागुणकी सारभूत मुनि-निन्दा एवं स्नेह-ममतामें आसक्त महामोह रूपी पिशाचमें प्रमत्त सहदेवी (नामकी उनकी रानी) हुई।"

घत्ता—सिरिहरु वणिवरु सीलमहाघणु विज्जमालि पुणु गुणपउरु ।
पुणु चंदवेउ हुउ खगलच्छोजुव पुणु रविपहु रूवें स वरु[1] ॥ ६९ ॥

[४-१९]

पुणु हउँ सहुदेविहिँ गब्भि हुउ   सुक्कोसलु णिय महलच्छिउजुउ ।
इय जणण-वत्थ सरेवि मणि   रिसि कित्तिधवलु पणवेवि मुणि ।
उत्तारिवि वत्थाहरणवरा   गिण्हियइ तेण वय पंच परा ।
सयरें उप्पाडिवि सिररुहाइँ   णं पुणु संसारिय-दुहसयाइँ ।
बज्झब्भंतरसंगइँ चयाइँ   णिस्सारियाइँ मणगयमयाइँ[2] ।
णिग्गंथु जाउ सो खविय मलु   तवतेएँ सोसिय कायबलु ।
दुहु आसा-पास-बंधण-रहिउ   विहरइ महियलि गुरुणा सहिउ[3] ।
आयारंगु पवित्तु णिहालइ   तेरहविह[4]-चारित्तु भरु पालइ ।

घत्ता—पंचाचारु जि मुणि झावइ बहुगुणि दहविहु धम्मु समुद्धरण ।
आहारविसुद्धउ विहिणा लद्धउ असइ पक्ख-मासंत परण ॥ ७० ॥

[४-२०]

दुविहु वि संजमु तउ[5] परिपालइ   इंदिय-वज्जिउ अप्पु णिहालइ ।
भूमिसयणु तिणु-कट्ठ-सिलोवरि   वसइ मसाणि अहव गिरि-कंदरि ।
अण्हाणत्तु लोउ ठिदिभोयणु   णिच्चेलत्तु डसण-मलरक्खणु ।
सव्वभूययणि मित्ती भावइ   थुणइ सिद्ध गुण महुरालावइ ।
वंदइ जिणहु तिकाल सहावें   पडिकमणु वि किय वज्जिय गावें[6] ।
पच्चक्खाणउ संखाठाणउ   काउसग्गु विहिय थिरझाणउ ।
भावइ भेउ चित्ति अप्पापरु   अणसणु तउ बीयउ अवमोयरु ।
वित्तिसंख पयडइ अणुराएँ   देहु वि सोसइ रसपरिचाएँ ।
कायकिलेसि जोय दिसं ठिउ   बाहिरछव्विह-तव उक्कंठिउ ।
पायच्छित्त हुय दोस-णिउए   सोहइ मुणिवरु गुरुसंजोए ।
विणउ वि वज्जावच्चु गुरुक्कउ   सज्झायउ विहि सग्गु रयमुक्कउ ।
झाणि णिरंतरु अंतरजोएँ   गमइ कालु मुणिएण णिओएँ ।

---

१. क. ख. रूवेसभरु । २. क. मयइं । ३. क. ख. सहियउ । ४. क. ख. तेराहविहु । ५. क ख. बउ ।
६. क. ख. गावइ ।

घत्ता—"शीलरूपी महान्धनसे युक्त वह वणिग्वर श्रीधर तथा गुणप्रचुर विद्युन्माली पुनः विद्याधर लक्ष्मीसे युक्त तथा रूप-सौन्दर्यवाले चन्द्रवेग एवं रविप्रभुके रूपमें उत्पन्न हुए" ॥ ६९ ॥

[४-१९]

राजा सुकौशल की मुनि-दीक्षा

"पुनः मैं सहदेवी (रानी) के गर्भसे उत्पन्न हुआ। मेरा नाम सुकौशल नृप है, जो अपनी महालक्ष्मीसे युक्त है।" इस प्रकार जन्मावस्था मनमें स्मरण कर (उस सुकौशलने) कीर्तिधवल मुनिको नमस्कार किया तथा उत्तम वस्त्राभूषण उतार कर श्रेष्ठ पाँच व्रत ग्रहण कर लिये। उसने अपने हाथसे समस्त केश उखाड़ डाले, मानों संसारके समस्त दुखोंको ही खिसका दिया हो। बाह्याभ्यन्तर परिग्रहोंका त्याग कर दिया, मनमें समाई हुई माया आदि निकाल डालीं। वह निर्ग्रन्थ हो गया और कर्ममलको नष्ट कर दिया तथा तप-तेजसे कायबल सुखा दिया। आशा-पाश रूपी बन्धनके दुखोंसे रहित वह सुकौशल अपने गुरुके साथ पृथिवीतल पर विचरण करने लगा। वह पवित्र आचाराङ्गका निरीक्षण (अध्ययन) करता था तथा तेरह प्रकारके चारित्र पालता था।

घत्ता—अनेक गुणोंसे युक्त वह सुकौशल-मुनि अपने समुद्धारके लिये पाँच प्रकारके आचारों एवं दश प्रकारके धर्मोंका ध्यान करने लगा तथा पक्ष अथवा मासके अन्तमें (एक बार) उत्कृष्ट विधिपूर्वक उपलब्ध विशुद्ध आहार लेने लगा ॥ ७० ॥

[४-२०]

सुकौशल-मुनि के बाह्याभ्यन्तर तप

वह (सुकौशल मुनि) द्विविध संयम-तपका पालन करने लगा तथा इन्द्रिय-विषय छोड़कर आत्मनिरीक्षण करने लगा। वह भूमि, तृण, काष्ठ, अथवा शिलाके ऊपर शयन करने लगा। श्मशान अथवा गिरिकन्दरामें निवास करने लगा। अस्नान, केश-लुञ्चन, स्थितिभोजन, अचेलकता अथा दाँतोंके मलकी रक्षा (अदन्तधावन) करने लगा।

समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखने लगा। सिद्धोंकी स्तुति एवं गुणवानोंके साथ मधुरालाप करने लगा। त्रिकालोंमें भावनापूर्वक जिनवन्दन, (द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावमें—) किये गये दोषोंके परिमार्जन रूप प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान एवं कायोत्सर्ग करके स्थिर-ध्यान करने लगा।

वह सुकौशल अपने चित्तमें आत्मा एवं शरीर-भेदकी भावना भाने लगा, अनशन एवं दूसरा अवमौदर्य तप करने लगा। (उसका) अनुरागपूर्वक वृत्तिसंख्यान तप प्रकट होने लगा। रसपरित्यागसे देहको सुखाने लगा। त्रियोग सम्हालकर कायक्लेश एवं दिशाओंके अन्त (एकान्त स्थानों) में रहने लगा। इस प्रकार छह प्रकारके बाह्य उत्कृष्ट-तप तपने लगा।

उसके दोष-निन्हवोंका प्रायश्चित हो गया और गुरुके संयोगसे वह मुनिवर सुकौशल सुशोभित होने लगा। निष्कपट विनय, महान् वैयावृत्य, विधि पूर्वक स्वाध्याय तथा उत्सर्ग एवं ध्यानके समय निरन्तर आत्मनिरीक्षण करनेमें ही उस मुनि-सुकौशलका समय व्यतीत होने लगा।

घत्ता—सहएवी पुणु मुया अट्ट-झाण-जुय वग्घिणि हुय गय अण्णि गिरि।
खर-कुडिल-तिक्ख-णह रुहिरारुणमुह पावचित्त[1] घणघहिरसरि ॥ ७१ ॥

[४-२१]

सुक्कोसलु रिसि गुरुणा सणु ठिउ वरिसयालि वणि बद्धझाणु।
हुउ जो पुण्ण गय वरिसयालि सुक्कोसलु मुणि पारणय कालि।
गिरिउयरे वि जाणियइ मग्गु लंबियकरु तवय-विहि अभग्गु।
ता रुहिरारुणमुह तरलणेत्त रुंजंति छुहाउर[2] कोहलित्त।
सहएवी वग्घिणि पावचित्त मुणि लक्खिवि सम्मुह ढुक्क तत्त।
आवंती पेच्छिवि ताहि साहु ठिउ[3] तणुसग्गि तहिँ लंबबाहु।
आहार सरीरहु करिवि चाउ ठिउ अप्पसरूवहिँ सुद्धभाउ।
दाढाकराल वियरालवत्त मुणिणाह अंति स खणेण पत्त।
पयधरिवि खाहु पारद्धु ताइ रिसि लीणु जाउ णियसुद्धभाइ।
णहघाय-पहारइँ देहु तासु महियलि विलुलिउ सिरिमुणिवरासु।
अंतावलोउ तोडइ तडत्ति सोणिय जलु घुट्ट [उ] पाव झत्ति।
पाडेवि चम्मु पलु खाइ दुट्ठ सिरि उप्परि कम धरि खल णिविट्ठ।
सेणिय संसारावत्थ एह जाणहि अणंत दुहवासगेह।
जणणि जह पुत्तहु खाइ एत्थु को छुट्टइ भुवणि अण्णु तेत्थु।
अइयारु ण किज्जइ मोहु लोइ तहु फलु पयक्खु इहु राय जोइ।
समभावइ पूरिवि सुक्कझाणु सुक्कोसलु मुणि गउ मोक्खठाणु।

घत्ता—ता गुरुणा आएँ तवसिरिराएँ कित्तिधवलु णामेण तहिँ।
वग्घिणि खज्जंतउ कलिमलचत्तउ सुक्कोसल-तणु पडिउ जहिँ ॥ ७२ ॥

[४-२२]

ता मुणिणा अवहि-विलोयणेण वग्घिणि संभासिय तक्खणेण।
सहएवि धिट्ठि किं णउ सरेहि अप्पउ गुरु पावइँ मा करेहि।
इहु सुक्कोसलु मुणि तुज्झु पुत्तु संभरहि ण किं मह णेहजुत्तु।
तुहु वग्घिणि अट्टि मरेवि जाय किं सुवहु खायहि सुणि अम्ह वाय।

१, ख. वित्त। २, क, ख. दुहाउर। ३, क, ख. विउ।

घत्ता—पुनः (वह रानी) सहदेवी आर्त्तध्यान पूर्वक मरी और किसी दूसरे पर्वत पर बाघिनी (की योनिमें उत्पन्न) हुई। उसके कर्कश, टेढ़े एवं तीखे नख थे, रक्तके समान लाल मुँह था। वह पापचित्ता थी और मेघके समान गहरे काले रंगकी थी ॥ ७१ ॥

[४-२१]

बाघिन (पूर्वजन्म की माता सहदेवी) द्वारा सुकौशल-मुनिका भक्षण एवं सुकौशल के लिये मोक्ष-प्राप्ति

गुरुके आदेशसे सुकौशल-ऋषि उनसे पृथक होकर वर्षा कालके अवसर पर एक वनमें ध्यानबद्ध हुए। जब वर्षाकाल पूर्ण हुआ तब लम्बे हाथों वाले एवं तपविधिमें अभंग वे सुकौशल-मुनि पारणाके समय गिरि-कन्दराको मार्ग जानकर उसमें पहुँचे। तभी रुधिरके समान लाल मुँह एवं चपल नेत्रों वाली, क्षुधासे व्याकुल, क्रोधसे लिप्त, किड़मिड़ाती हुई वह पापचित्ता बाघिनी (सहदेवीका जीव) उन मुनि को देखकर उनकी ओर ढूँकी (घूरकर देखा)।

उसे अपनी ओर आती देखकर वे लम्बबाहु साधु-सुकौशल वहीं कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित हो गये। शरीरके लिये आहारका त्याग करके वे शुद्धभावसे आत्मस्वरूपमें लीन हो गये।

भयंकर डाढ़ों एवं विकराल मुखवाली वह बाघिनी शीघ्र ही मुनिनाथके समीप पहुँची। उसने पैर रखकर उनको खाना प्रारम्भ कर दिया। वे ऋषि अपने शुद्धात्मभावमें लीन थे। उसने नखोंका आघात करके प्रहार किये, जिससे मुनिवरका सिर महीतल पर लुढकने लगा। वह पापिनी बाघिन रक्त एवं जलमें लिपटी हुई उनकी अंतड़ियोंको तत्काल ही तड़-तड़कर तोड़ने लगी। वह निर्दया उनके सिर पर पैर रखकर बैठ गई और चमड़ी उपाड़-उपाड़कर वह दुष्टा उनका माँस खाने लगी।

हे श्रेणिक, संसारकी यही अवस्था है। इसे अनन्त दुखोंका निवास गृह समझो। इस संसारमें जब माता ही अपने पुत्रको खा जाती हो, तब अन्य दूसरा कोई तो छूट ही कैसे सकता है? मोह-ममता वश इस संसारमें अत्याचार नहीं करना चाहिए। हे राजन्, उसका प्रत्यक्ष फल यहाँ देख ही लिया गया है। समभावसे शुक्ल ध्यान पूर्ण कर वे सुकौशल मुनि मोक्षस्थल पहुँचे।"

घत्ता—तपश्रीके राजा कीर्त्तिधवल नामक वे गुरु वहाँ आए, जहाँ बाघिन द्वारा खाया हुआ कलिकालरूपी मलसे रहित सुकौशल-मुनिका शरीर पड़ा हुआ था ॥ ७२ ॥

[४-२२]

मुनि कीर्त्तिधवल का मोक्ष-गमन। भरत-वाक्य एवं गुरुस्मरण

मुनि कीर्त्तिधवलने तत्काल ही अवधिरूपी नेत्रके द्वारा बाघिनका पूर्वजन्म जानकर उससे कहा :—"हे धृष्ट सहदेवी, मेरी बात सुनो, क्या तुझे अपना भवस्मरण नहीं है? तुझे इतना महान् पाप नहीं करना चाहिये। यह सुकौशल मुनि तेरा ही स्नेह युक्त पुत्र था। क्या तुझे मेरा भी स्मरण नहीं है? तू आर्त्तध्यानसे मरकर बाघिन हुई है। तूने अपने ही पुत्रको क्यों खाया है?" मुनि-वाणी

आईसर हुव सा तं सुणिवि सम्मत्त लियउ मुणि-पय णवेवि[1] ।
सण्णासिं मुय गय सग्गठाणि सद्दंसण-फलु णिव चित्ति जाणि ।
सिरिकित्तिधवलु णिहणिवि कुकम्म भव्वहँ संभासिवि धम्म-कम्म ।
सो पत्तउ पुणु सासय-णिवासि जहिँ वसइ णिच्च वरसिद्धरासि ।
जं गण-मत्ता-हीणउ चरित्तु महँ भणिउ किं पि इहु गुणपवित्तु ।
तं कोसलमुहणिग्गयसुवाणि महु खमउ भडारी अत्थखाणि ।
बुहयण मा गिण्हहु किं पि दोसु सोहेज्जहु एहु चएवि रोसु ।
भवि भवि होज्जउ महु धम्मबुद्धि संपज्जउ तह दंसणविसुद्धि ।
भवि भवि दुल्लंभ समाहिबोहि संपज्जउ महु भवतम-विरोहि ।
राणउ णंदउ सुहि वसउ देसु जिणसासण णंदउ विगय-लेसु ।
सावययण णंदहु किय-सुकम्म जे वयभरु धारहिँ णट्ठ-छम्म ।
णंदउ रणमलु पुणु साहु धण्णु जिं चरिउ कराविउ इहु रवण्णु ।

घत्ता—मुणियण-सहसारहो तव वय-धारहो [2]कुमरुसेणु सामिहु तणउ ।
उवएसक्खरवरु णासिय-भवडरु महु मणि णिच्च ठिइ कुणउ ॥ ७३ ॥

[४-२३]

सिरिविक्कम [सुह] समयंतरालि वट्टं तइ दुस्सम-विसमकालि ।
चउदहसयसंवच्छरइँ अण्ण छण्णउव साहिय पुणु जाय पुण्ण ।
माहहु जि किण्ह दहमा दिणम्मि अणुराह-रिक्खि पयडिय सकम्म ।
गोवागिरि डुंगरणिवहु रज्जि पइ पालंतइ अरिराय तज्जि[3] ।
जिण-चरण-कमल णामिय-सरीरु सावय-वय-रह-धुर-धरण-धीरु ।
सिरिअइरवाल-कुलगयणचंदु संघवीरु [4]बुहजण-जणिय-णंदु ।
बे-पक्खुज्जल सा तणिय भज्ज अभणी नामा वय-सील-सज्ज ।
तहि उवरि उवण्णउ णरपहाणु अहणिसु भाविउ जिं धम्म-झाणु ।
महलगि-दिउ णामें साहु धण्णु णियजसेण जेण महिवीढछण्णु ।
तहु भज्जा दुत्थियजणजणेरि महसीलभारवहणेक्कधीरि ।
वीरो णाम्मा वरचायलीण गइ हंसिणीव सद्देण वीण ।

---

१. ख. पयणवि । २. क. मरुसेणु । ३. क. ख. तज्ज । ४. क. ख. वुध ।

सुनकर उस बाघिनको जाति-स्मरण हो आया और (उसने) मुनिके चरणोंमें प्रणाम कर सम्यक्त्व धारण कर लिया। संन्यास मरणकर वह स्वर्गको प्राप्त हुई। हे नृप, अपने मनमें सम्यग्दर्शनका यही फल मानो।"

श्री कीर्तिधवल मुनि भी कुकर्मोंको नष्ट कर तथा भव्यजनोंके लिये धर्म-कर्मका उपदेश देकर (उस) शाश्वत निवासस्थलमें पहुँचे, जहाँ नित्य सिद्धराशि निवास करती है।"

गण एवं मात्रासे हीन इस गुण-पवित्र 'सुकौशल-चरित' का मैंने जो कुछ भी वर्णन किया है, वह कुशल-मुख (गौतम-गणधर) से निर्गत सुवाणी (के अनुसार) ही है। हे शब्दार्थकी खानि भट्टारिका (सरस्वती), मुझे क्षमा करना। हे बुधजन, इस-(चरित-काव्य) से कुछ भी दोष ग्रहण मत करना, अपना रोष छोड़कर इस (चरितकाव्य) का शोधन कर लेना। भव-भवमें मुझे धर्मबुद्धि (की प्राप्ति) हो तथा दर्शनविशुद्धिकी संप्राप्ति हो। भव-भवमें मुझे भवतमकी विरोधिनी दुर्लभ समाधिबोधिकी संप्राप्ति हो। राजा आनन्दपूर्वक रहे, देश विघ्न-बाधा रहित होकर सुखी बना रहे और जिनशासन बढ़ता रहे। श्रावकजन नन्दित रहें, जो व्रतधारी हैं, वे छल-छिद्र रहित होकर शुकर्म करते रहें। जिन्होंने इस सुन्दर चरितकाव्यका प्रणयन कराया है, वे सौभाग्यशाली रणमल साहू भी आनन्दित रहें।

घत्ता—मुनिजनोंकी सभाके सारभूत एवं तपव्रतके धारी कुमारसेन स्वामीके संसारके डरको नष्ट करनेवाले महान् उपदेश-आदेश मेरे (रइधूके) मनमें निरन्तर स्थिर बने रहें॥ ७२॥

[४-२३]

ग्रन्थ समाप्तिकाल तथा आश्रयदाता-परिचय

श्री विक्रम-संवत्के अन्तरालमें (जो) विषम दुषमकाल रहा है, उसके १४०० वर्षोंके अनन्तर जब ९६ वर्ष अधिक पूर्ण हुए (अर्थात् वि० सं० १४९६ में) तब माघ कृष्णके दसवें दिन अनुराधा नक्षत्रमें मैंने अपनी इस रचनाको प्रकट किया है।

गोपगिरिमें प्रजापालन करनेवाले तथा शत्रु-राजाओंका तर्जन करनेवाले डूंगर नृपके राज्यमें, जिनेन्द्रके चरणकमलोंमें नमित शरीरवाले, श्रावक-व्रतरूपी रथकी धुरीको धारण करनेमें धीर-वीर, श्री अग्रवालकुलरूपी आकाशके लिये चन्द्रके समान, एवं संघवीर बोधा नामके साहू हुए, जो लोगोंको आनन्दित करनेवाले थे। उनकी दोनों पक्षों (पितृगृह एवं पतिगृहके यश) को उज्ज्वल करनेवाली तथा व्रत-शीलसे सुशोभित "अभनो" नामकी भार्या थी। उसके उदरसे अहर्निश धर्मध्यान करनेवाले, नर-श्रेष्ठ एवं सौभाग्यशाली महगलदेव नामक साहू उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपने यशसे पृथिवीतलको आच्छादित कर दिया। उनकी, दुखीजनोंके दुख-दारिद्र्यको दूर करनेवाली तथा महाशीलके भारवहनमें एक अद्वितीय धीर "वीरो" नामकी भार्या थी, जो उत्तम त्याग, व्रतमें संलग्न, गतिमें हंसिनीके समान तथा बोलनेमें वीणाके (मधुर) स्वरके समान थी।

तहु पुत्तु पढमु जिणपायभत्तु आणाहिहाणु गिहधम्म रत्तु ।
तहु घरिणि गुणायर सुद्धसील जिणधम्मरसायणि जाहि कील ।
वीधो णामा कुलगेहलच्छि चउविह संघहु दाणेण दच्छि ।

घत्ता—तहि उवरि उवण्णा गुणसंपुण्णा पुत्त तिण्णि लक्खणहिँ जुवा ।
ताहु जि पुणु पढमउ णं ससि पहमउ[1] पीथा णामेँ वीहभुवा ॥ ७४ ॥

[४-२४]

तासु पिया पियचित्तसुहायरि भणिय कुबेरदेवि[2] णं सुरसरि ।
बीयउ णंदणु पयडिउ[3] जसयरु णिय कुल-कमल-वियासण-भायरु ।
पल्हणसीहु विसणमणचत्तउ जिणवरणारविंदरयरत्तउ ।
कउरपालही तहु [पिय] भामिणि णाहहु चित्त णिच्च अणुगामिणि ।
तीयउ सुउ पुणु बहुलक्खणधरु जो आराहइ अहणिसु जिणवरु ।
देव-सत्थु-गुरु-पायहिँ लीणउ कहमवि वयणु ण जंपइ दीणउ ।
रणमलु णामु महिहि विक्खायउ जालपहि पियपम अणुरायउ ।
तिं सुक्कोसलचरिउ कराविउ णिच्च चित्ति पुणु तहु गुण-भाविउ ।

घत्ता—जा महि रयणायरु णहि ससि-भायरु कुलगिरिवर कणयद्दिवरा ।
तावइँ जंतउ बुहहिँ णिरुत्तउ चरिउ पवट्टउ एहु धरा ॥ ७५ ॥

इय सुक्कोसलमुणिवरचरिए णिरुवमसंवेयरयणसंभरिए सिरिपंडिय-रइधु विरइए सिरिमहाभव्व-आणासुत-रणमलणाम-णामंकिए सुक्कोसलस्स णिव्वाणगमणं णाम चउत्थी संधी-परिच्छेउ समत्तो ॥ छ ॥ संधि–४ ।

---

१. क. ख. पढमउ । २. क. ख. कुबेरदेव । ३. क. ख पडु ।

उसका जिनचरणोंका भक्त तथा गृहधर्ममें रत 'आणा' नामका प्रथम पुत्र हुआ। उसकी गुणोंकी खानि, शुद्धशीला, जिनधर्मरूपी रसायनमें क्रीड़ाएँ करनेवाली 'वीधो' नामकी कुलगृह-लक्ष्मी थी, जो चतुर्विध-संघके लिये दान देनेमें चतुर थी।

घत्ता—उसके उदरसे सुन्दर, शारीरिक लक्षणोंसे युक्त, सद्गुणोंसे परिपूर्ण तीन पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे दीर्घ भुजाओं वाला 'पीथा' नामका प्रथम पुत्र हुआ, जो मानों (सौम्यतामें—) चन्द्रमाकी छाया ही था ॥ ७४ ॥

[४-२४]

आश्रयदाता परिचय

उसकी प्रियतमके मनको सुख देनेवाली 'कुबेरदेवी' नामकी प्रिया कही गई है। जो मानों (साक्षात्) गंगा ही थी।

उसका चतुर, यशस्वी, एवं अपने कुलरूपी कमलको विकसित करनेके लिये भास्करके समान पल्हणसिंह नामका द्वितीय पुत्र था, जिसने हृदयसे व्यसनोंका त्याग कर दिया था तथा जो जिनेन्द्रके चरणरूपी कमलोंकी रज लेनेमें आसक्त रहता था। उसकी अपने पतिके मनका निरन्तर अनुगमन करनेवाली 'कुँवरपालही' नामक भामिनी थी।

पुनः उसका तीसरा पुत्र, जो अनेक सुलक्षणोंका धारी, अहर्निश जिनवरकी आराधना करनेवाला, देव-शास्त्र एवं गुरुके चरणोंमें लीन रहनेवाला है, जो कभी भी 'दीन-हीन-वचन' नहीं बोलता, पृथिवीपर विख्यात उसका नाम रणमल है। उसकी 'जालपा' नामकी प्रियतमा है। उसी रणमलने इस 'सुकौशलचरितकी रचना कराई है। वह निरन्तर अपने मनमें इस चरितके गुणोंकी भावना किया करता है।

घत्ता—इस पृथ्वीपर जब तक रत्नाकर है, आकाशमें चन्द्र एवं सूर्य हैं, एवं कुलाचलश्रेष्ठ कनकाद्रिवर उपस्थित है, तभी तक बुधजनों द्वारा निरुक्त (यह) चरित इस पृथिवी पर प्रवर्तित होता रहे। ७५।

इस प्रकार श्रीपण्डित रइधू द्वारा विरचित श्री महाभव्य आणासाहूके पुत्र रणमलके नामसे नामांकित, निरुपम, संवेगरूपी रत्नके लिये स्मरणीय 'सुकौशल चरितमें, सुकौशलके निर्वाणगमन नामका यह चतुर्थ सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ ॥। छ ॥ संधि-४।

अथ संवत्सरे श्री विक्रमादित्ये राज्ये संवत् १६३३ वर्षे ज्येष्ठ-वदि १ शनिवासरे श्री मध्य-देशे अर्गलपुर शुभस्थाने शाहि अक्कबर पातिसाहि-राज्य-प्रवर्त्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे भट्टारक श्री ६ गुणभद्रसूरि तत्पट्टे भट्टारक श्रीभानुकीर्त्ति तत् शिष्य आचार्य रत्न-कीर्त्ति तत् शिष्य ब्रह्म गढमलु............

अन्त्य पुष्पिका—(क प्रति)

श्री विक्रमादित्यके राज्यके वि० सं० १६३३व वर्षकी ज्येष्ठ वदी १ शनिवारको श्री मध्यदेशके अर्गलपुर शुभस्थानमें शाह अकबर बादशाहके राज्यकालमें श्री काष्ठासंघ, माथुरगच्छ पुष्करगणके भट्टारक श्री ६ गुणभद्रसूरि, उनके पट्टमें भ० श्री भानुकीर्ति, उनके शिष्य आचार्य रत्नकीर्ति, उनके शिष्य ब्रह्म गढमल............

अन्त्य पुष्पिका (ख प्रति)

यह प्रति सु० देहली खजूरकी मसजिद वाले नये पंचायती मंदिरमेंसे संवत् १९३३ विक्रमकी लिखी हुई प्रतिसे लिखी, जो कि बाबू देवकुमार जी द्वारा स्थापित श्री जैन सिद्धान्त भवन आराके लिये संग्रहार्थ विक्रम सम्वत् १९८७के मार्गशीर्ष कृष्णा १४ को लिखकर तैयार हुई। इति शुभम् ॥

[३]

सिरि-रइधु-विरइउ

धण्णकुमार-चरिउ

[१-१]

घत्ता—पणविवि सिरिवीरहो णाणसरीरहो कमजुउ धण्णकुमरचरिउ।
अक्खमि सुपसिद्धउ गुणगणरिद्धउ धम्मरसायणरसभरिउ ।। छ ।।

जे हूवा जे होसहिँ तित्थंकर   वट्टमाणु पणविवि सुहंकर।
सायवायवयणइँ वरिसंति   णय-पमाणविहि जा भासंती।
णिच्चमाइ सा देवि सरस्सइ   णविवि जेम मइ विउल पयासइ।
पुणु सुगोयमु ठाणेँ गणसारउ   जणण-समुद्द-पारउत्तारउ।
तह सुधम्म-पमुहाइँ जईसर   पणविवि भत्तिएँ वायभारधर।
ताहँ अणुक्कमि सूरिपहाणउँ   सहसकित्ति तव-वय-गुणठाणउँ।
तासु पट्टि णिरुवमगुणभायणु   जेँ भाविउ मणि णाणरसायणु।
सिरिगुणकित्ति विबुह-चिंतामणि   पणविवि तिरयणसुद्धिए बहुगुणि।

घत्ता—इय जिण-मुणिवरविंदु झाइवि मण-वय-काएँ।
पुणु पयडमि जणि सव्वु गुरुगुणकित्तिपसाएँ ।। १ ।।

[१-२]

अण्णहिँ दिणि जिण-गुण-सुविसालेँ   विहसिवि जंपिउ बुद्धिविसालेँ।
भो सद्दत्थ-रयण-रयणायर   मिच्छामयतम-णाणदिवायर।
रइधू-पंडिय सुणि णिम्मलवर[1]   बुहयण-जण-मण-रंजण कोव्वर।
जह[2] पइँ पासजिणेंदह केरउ   चरिउ रइउ बहुसुक्खजणेरउ।
पुणु बलहद्दपुराणु सुहंकरु   णेमिजिणिंदचरिउ विरयउ वरु।
रसाट्टल साहु णिमित्तेँ सुंदरु   जह[3] पइँ वड्डमाण भासिउ वरु।
तह सिरिधणकुमार पुण्णहँ फलु   महु वयणेँ पयडहि पुणु गयमलु।
ता गुरु भणियालाव सुणेप्पिणु   रइधू बुहु जंपइ पणवेप्पिणु ।।

घत्ता—तुम्हह[4] आएसेँ कव्वु विसेसेँ करमि ण संसउ धरमि मणि।
परकारणि वट्टइ चित्ति पवट्टइ सोयारु[5] ण कुवि णियमि जणि ।। २ ।।

---

१. क णिम्मव्वर। २–३ क जं हं। ४. क. अम्हह। ५ क सो योरु

[१-१]

कवि द्वारा गणधरों एवं सरस्वतीका स्मरण तथा प्रेरक-गुरु भ० गुणकीर्ति को प्रणाम

ज्ञानशरीरी श्री वीर प्रभुके चरण-युगलको प्रणाम कर सुप्रसिद्ध, गुण-गणोंसे समृद्ध, धर्मरूपी रसायनके रससे भरे हुए 'धन्यकुमार-चरित' का वर्णन करता हूँ।

जो हो चुके हैं, जो होंगे और (जो) वर्तमान हैं, उन सभी सुखकारी तीर्थङ्करोंको प्रणाम करके स्याद्वाद-वाणीको दर्शानेवाली तथा नय-प्रमाणविधिसे भाषण करने वाली उस आदि-सरस्वती देवीको नित्य नमस्कार करता हूँ, जिससे मेरी मतिका विपुल प्रकाश होता रहे। पुण्यके स्थानस्वरूप, गणधरोंमें श्रेष्ठ, संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाले गौतम-ऋषिको प्रणाम कर जिन-वाणीके भारके धारक सुधर्मा आदि प्रमुख यतीश्वरोंको (भी) भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

उन्हींके अनुक्रममें तप-व्रत एवं गुणोंके स्थानस्वरूप सहस्रकीर्ति नामके सूरि-प्रधान हुए। उनके पट्ट पर निरुपम-गुणोंके भाजन, जिन्होंने मनमें ज्ञानरसायनकी भावना की है और जो विबुध-जनोंके लिये चिन्तामणि स्वरूप हैं, उन अनेक गुणोंसे युक्त श्री गुणकीर्तिको त्रिकरण (मन, वचन, कायरूप) शुद्धिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

घत्ता—इस प्रकार जिनवृन्दों एवं श्रेष्ठ मुनिवरोंका मन, वचन एवं कायसे ध्यान कर गुरु गुणकीर्तिके प्रसादसे सभी जनोंके लिए (हितकारी) धन्यकुमारके चरितको पुनः प्रकाशित करता हूँ॥ १॥

[१-२]

ग्रन्थकारकी पूर्ववर्ती रचनाओंका क्रम

अन्य किसी एक दिन जिनगुणोंसे सुविशाल एवं गम्भीर बुद्धिवाले गुरु गुणकीर्त्तिने हँसकर कहा—"शब्द-अर्थ-रूप रत्नोंके समुद्र, मिथ्यामत रूप तमको नाश करनेके लिये ज्ञानसूर्य, मत्सर-रहित, बुधजनों और अन्य जनोंके मनका रंजन करनेमें कुशल, हे पण्डित रइधू "(मेरी बात) सुनिए। जिस प्रकार आपने अनेक सुखोंको देनेवाले 'पार्श्वजिनेन्द्रके चरित' की रचना की है, पुनः सुखकारी 'बलभद्रपुराण', तथा 'नेमिजिनेन्द्रके चरित' को रचा है, साहित्यिकरससे ओतप्रोत (तोसउ) साहूके निमित्त श्रेष्ठ 'वर्धमान-चरित' को आपने जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार पुण्यके फलस्वरूप तथा निर्मल श्री 'धन्यकुमारचरित' मेरेको कथनसे प्रकाशित कीजिए।" इस प्रकार गुरुके कहे हुए वचनोंको सुनकर तथा उन्हें प्रणाम कर रइधू बुध बोले—

घत्ता—"आपके आदेशसे काव्यविशेषको करूँगा। मनमें संशय नहीं धरूँगा जहाँ पर-कारण होता है—वहाँ ही चित्त प्रवर्तता है। किन्तु, नियमतः (आजकल) लोगोंमें कहीं भी श्रोता नहीं मिलते।"॥ २॥

[१-३]

तं सुणिवि भणइ गुणकित्ति एम   भो पंडिय [1]तुहु णउ मुणहि केम ।
गोवग्गिरि-णियड-पएसि धण्णु[2]   पुण्णपाल सेडु[3] णामेण मण्णु ।
इक्खाइ-वंसि तहिँ थिरु वणेंदु   अगणिय जाया पणविय जिणेंदु ।
असवालु जसायरु गुणमहउ   करमू पटवारि जणि महउ ।
तहु णंदणु णिरुवमु गुणणिवासु   अहणिसु जो अच्चइ जिणवरासु ।
चउविहसंघ विणयाणुरत्तु[4]   सिरि पूणउ साहु सधम्मिवत्तु ।
तहु भज्जा सीलगुणस्स खाणि   सव्वहिय णाइँ तित्थयर-वाणि ।
तिहुवणसिरिमुणियण-पय-विणीय   सिरिहरसिरि जिम राहवहु सीय ।
एयहिँ संजणिया चारि पुत्त   लक्खणलक्खंकिय विणयजुत्त ।
णिय कुलमयंकु पुणु पढमु ताहँ   भुल्लणु जि साहु पयडउ जणाहँ ।
बीयउ पुणु बुहयण-जण-निवासु   सिरिसूले णामेँ जसपयासु ।
तइयउ णंदणु मयणावयारु   सिरिकामराजु णामेण सारु[5] ।
चउथउ णंदणु आसा-णिवासु   आसलु णामेँ सो कुलपयासु ।
एयहिँ जो पढमउ गुणगरिट्ठु   सिरिभुल्लणु णामेँ साहु सिट्ठु ।

घत्ता—आरउण-पुरवरे सुहलच्छीघरे तहिँ पहु वइरिणिकंदणु ।
तोमरकुलमंडणु[6] अरिसिरिखंडणु सिरिगणेसणिव [7]णंदणु ॥ ३ ॥

[१-४]

जयसिरियंकिउ दुज्जण[8]-संकिउ   रायपुत्तु डुंगरु[9] णीसंकिउ ।
पिक्खेप्पिणु सोत्तेँ आणंदेँ   सज्जण-जण-मण-णयणाणंदेँ ।
भुय[10] विसालु गंभीरु वियाणिवि   थप्पिउ अप्पपासि सम्माणिवि ।
भो पंडिय सो सुयणु गुणायरु   [× × × × × × ×]
णिउरादे-पिययम-अणुरत्तउ   भावय पुणु मणम्मि रयणत्तउ ।
सत्थ-पुराण-भेय बहु जाणइ   करि कइत्तु सो [11]तुअ सम्माणइ ।
अविणोएँ किं णिय दिण गम्महि   णिय मइ थप्पहि कव्वि सुरम्महि ।
असहायहो जगि को वि ण मण्णइ   धम्मेँ राजु-भोउ धण-धण्णइ ।

१. क. उहु । २. क. धम्मु । ३. क. पुरुपालसंडु । ४. क. रउ । ५. क. साहु । ६. क. मंडल । ७. क. णंदणंदणु । ८. क. सुभजण । ९. क. राउ पत्तु णामें । १०. क. मय० । ११. क. उअ ।

[१-३]

आश्रयदाता भुल्लण साहूकी वंशपरम्परा एवं परिचय

रइधूका कथन सुनकर गुरु गुणकीर्तिने इस प्रकार कहा—"हे पण्डित, तुम क्या उसे नहीं जानते ? गोपगिरिके निकट प्रदेशमें धनी-मान्य पुण्यपाल नामका सेठ निवास करता था, जो इक्ष्वाकु-वंशमें प्राचीन-कालसे ही श्रेष्ठ वणिक् माना जाता रहा है और जिसने जिनेन्द्रकी अगणित प्रतिमाएँ बनवाई थीं। जैसवाल-जातिमें उत्पन्न यशके आकर एवं गुणोंमें महान् तथा लोगोंमें प्रसिद्ध करमू पटवारी नामका उनका पुत्र हुआ। उसका भी गुणोंका निवासभूत, अनुपम, रात-दिन जिनवरका पूजक, चतुर्विध संघकी विनयमें अनुरक्त तथा साधर्मियोंमें भक्त श्री पूनउ साहु नामका पुत्र था। उसकी शीलगुणकी खानि, सभीका हित करने वाली, मानों तीर्थंकरकी वाणी ही हो तथा त्रिभुवनके श्री-स्वरूप-मुनिजनोंके पदोंमें विनीता श्री हरश्री नामकी भार्या थी, मानों रामकी वधु सीता ही हो। इससे चार पुत्र उत्पन्न हुए। जो शुभ लक्षणोंसे अंकित, विनययुक्त तथा निजकुलके लिये चन्द्रमाके समान थे। पुनः उनमें जग-प्रसिद्ध भुल्लण साहु नामका प्रथम पुत्र हुआ। पुनः बुधजनोंके मनमें निवास करने वाला तथा प्रकटयश वाला श्री शूले नामका दूसरा पुत्र हुआ। तृतीय पुत्र मदनके अवतारके समान कामराज साहु नामका था। चौथा पुत्र आशाका निवासभूत आसलु नामका था, जो कुलप्रकाशक था। इन चारोंमेंसे गुणोंमें गरिष्ठ जो श्री भुल्लण साहु नामका प्रथम पुत्र कहा गया है—

घत्ता—वह, सुख-लक्ष्मीके गृह-स्वरूप आरौन नामके श्रेष्ठ नगरमें निवास करता था। वह बैरियोंका नाशक, तोमर-कुलका मण्डन एवं शत्रुओंके शिरका छेदक नृप श्रीगणेशका पुत्र (राज्य करता) था। जो—॥ ३ ॥

[१-४]

भुल्लणसाहू राजा डूँगरसिंहका सम्मानित सभासद था

जयश्रीसे सुशोभित, दुर्जनोंको शंकित करनेवाला एवं निर्भीक था। वह (जातिका) राजपूत था। उसका नाम डूँगरसिंह था। उसने आनन्दके स्रोत तथा सज्जन जनोंके मन एवं नेत्रोंको आनन्द प्रदान करने वाले उन भुल्लण साहूको देखकर (परीक्षाकर) तथा ज्ञान-गम्भीर जानकर और सम्मानित कर उन्हें अपने पास रख लिया। हे पण्डित रइधू, वह भुल्लण साहू सुन्दर एवं गुणाकर हैं, अपनी प्रियतमा णिउरादेवीमें अनुरक्त रहता है,। मनमें रत्नत्रयकी भावना भाता रहता है तथा वह विविध शास्त्र-पुराणोंको जानता है। अतः तुम (उसीके निमित्त) काव्य-रचना करो, वह तुम्हें सम्मानित करेगा। बिना काव्य-विनोदके अपने दिन क्यों गमाते हो ? अपनी बुद्धिको सुरम्यकाव्यमें स्थापित करो (क्योंकि) असहाय (निरुद्यमी) का जगत्में कोई मान नहीं होता। धर्मसे ही राज्य-भोग तथा धन-धान्य सभी मिलते हैं।"

घत्ता—सिरिगुणमुणिवयणइँ आयमणयणइँ णिसुणिवि बुहु संतुट्ठ मणि ।
तहु पय पणविवि पुणु जंपइ बुहु[1] गुण[2] सच्चउ सो पयडेइ जणि ॥ ४ ॥

[१-५]

ता जिण-पय-रय इंदिंदिरेण   आयम-पुराण-रस-मंडिएण ।
पद्धडिया-बंधें सद्धधामु   [3]सुय-भावणफलु धणयत्तणामु ।
किं विज्जए जा ण होइ सिद्धि   किं मणुएँ जें ण लद्ध लद्धि ।
किं धम्मरहियघर बहुधणेण   किं अवजसपूरिय पुणु जणेण ।
किं सुहडें रणमहिभज्जएण   किं तणएँ पियकुललज्जिएण ।
अविवेएँ किं पंडित्तणेण   किं अप्पें [4]अप्पुणु-कित्तणेण ।
किं बुहुएँ[5] जइ ण रइउ कव्वु   मुणि-दाणविवज्जिउ काँइ दव्वु ।

घत्ता—बहुसुयरयणायर तेएँ भायर जे कविइ हुव वट्टंति इह ।
ते महु अविणीयहु भवदुहभीयहु खमउ दोसु हउँ बाल जिह ॥ ५ ॥

[१-६]

इह सव्वहँ दीवहँ दीउ वरु   जंबूणामें पढमहु पवरु ।
तासु मज्झि सुदंसणु मेरु ठिउ   णं णियकरु ति उब्भियउ किउ ।
गयमंडलु वरकंकणघडिउ   परिहिउ णं तारय-मणि-जडिउ ।
णियहत्तिएँ[6] णं सो इम कहइ   मा अण्णु दीउ गारउ वहइ ।
महु संपयाइँ कोउ म करइ   अरु हउँ कासु सिरि संचरइ ।
इय [7]रायउ वि सो अज्ज थिउ   लवणंबुहि सेवइ णाइँ भिउ ।

---

१. क. बहु । २. क. गुणु । ३. क सुपभावण । ४. क. अपुणु । ५. क. बुधुए । ६. ज. सत्तिए । ७. क. राजउ ।

घत्ता—आगमनेत्र वाले श्री गुणकीर्ति मुनिके वचनोंको सुनकर पण्डित (रइधू) अपने मनमें बहुत सन्तुष्ट हुए। उनके चरणोंमें प्रणाम कर बुध (रइधू) ने भी पुनः कहा—"हे (गुरु—) गुणकीर्ति, आपने सच ही कहा है।" यह कहकर जनहितार्थ उसने (कविने) काव्य-रचना प्रारम्भ करदी ॥ ४ ॥

[१-५]

पूर्ववर्त्ती कवियोंका गुणानुवाद एवं आत्मनिन्दा

तदनन्तर, जिनेन्द्रकी पद-रजके लिये भ्रमरके समान तथा आगम-पुराण रूपी रससे मण्डित कविने श्रुत-भावनाके फलस्वरूप धनदत्त (धन्यकुमार) नामके शब्द-धाम—काव्य-बन्धकी पद्धडिया-छन्दोंमें रचना (प्रारम्भ) की।

(क्योंकि) उस विद्यासे क्या (लाभ), जिससे सिद्धि नहीं होती और उस मनुष्यसे क्या (लाभ) जिसने लब्धि प्राप्त नहींकी। धर्मरहित (किन्तु) विविध धन सहित घरसे क्या (लाभ)? पुनः अपयशोंसे पूरित लोगोंसे क्या (लाभ)? रणक्षेत्रसे भागने वाले सुभटसे क्या (प्रयोजन)? पिताके कुलको लज्जित करने वाले पुत्रसे क्या (लाभ)? विवेक रहित पण्डितपनेसे क्या (प्रयोजन? अपनेसे अपनी ही प्रशंसा कर लेनेसे क्या (लाभ)? मुनिदानसे रहित द्रव्य-धनसे क्या लाभ? तथा जिसने काव्य नहीं रचा, उस पण्डितके जन्म लेनेसे क्या (लाभ)?

घत्ता—अनेक शास्त्ररूपी रत्नोंके आकर तथा तेजस्वितामें भास्करके समान जो कविगण हो चुके हैं और वर्त्तमानमें हैं, वे मुझ जैसे अविनीत किन्तु भव-दुखोंसे भयभीत (जन) के दोषोंको क्षमा करें। उनके सम्मुख तो मैं मूर्ख जैसा ही हूँ ॥ ५ ॥

[१-६]

जम्बूद्वीप, अवन्तिजनपद एवं उज्जयिनी नगरीका परिचय

यहाँ समस्त द्वीपोंमें प्रधान 'जम्बूद्वीप' नामका महान् द्वीप है। उसके मध्यमें सुदर्शनमेरु स्थित है। (वह ऐसा प्रतीत होता है) मानों उस द्वीपने अपना हाथ ही ऊँचा कर दिया हो। अथवा मानों, उस जम्बूद्वीपका मेरु रूपी हस्त—गज-मंडल, गज-दंतरूपी वरकंकणोंसे घटित हो। अथवा, मानों, वह तारे रूपी मणियोंसे गोलाकार जड़ा हुआ हो। अथवा, मानों, वह (द्वीप) इस मेरुरूपी हस्तको उठाकर यह कह रहा हो कि 'अन्य कोई भी द्वीप गर्वको धारण न करे। 'मेरी सम्पदाकी बराबरी कोई न करे' और मैं (सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतः मैं) किसकी शोभाका अनुकरण करूँ'? इस प्रकारसे सुशोभित वह जम्बूद्वीप आज भी स्थित है। लवणसमुद्र उसकी भृत्यके समान सेवा करता है।

तहु दाहिणि दिसि भारहि विसए जणवउ जि अवंती तहिँ वसए।
जहिँ सरवर सरुरुह-अंकियए दीसंति सव्व णं बुह कियए।
पयवाहिणि जहिँ णं विउसकहा पक्खालिय रय-मल-सेयवहा।
जहिँ सालिखेत्त कण-भर-णमिया पावसकालि पुणु उग्गमिया।
जलु रसि वि धण सव्वय चरहिँ पामरयण सुक इव जहिँ सहहिँ।
जहिँ गावि-महिसि वणि रइ करहिँ गोरस-पूरिय णिच्च जि रहहिँ।

घत्ता—तहिँ णयरपसिद्धी धण-कण-रिद्धी उज्जेणी णामेँ भणिया।
वेसिय जण सुहयर बहुसोहायर कणयंकिय णं वर ठाणिया ॥ ६ ॥

[१-७]

बहुवाणियजुय णं मंवाइणि कुरुभूमि व सुणिच्च सुहवाइणि।
रंगभूमि णं णवरसपोसिणि जिणवाणि व सव्वहँ मणतोसिणि।
सायरपुत्ति व रयणहिँ लंकिय णं जसविति-बुह-गिह-पंकिय।
सइँ चित्तु व परणरहँ णर बुज्झइ जाहि णिएवि महामुणि लुब्भइ।
चउ-गोउर-दुवार लग्गंबरि णं पुरि कमलासणहु सहोयरि।
सालत्तयवेढिय वरभामिणि कणय-कलस-धणवट्ट-सुरासिणि।
परिहा-जलयर-जीव-सुहायरि आवट्टिय जहिँ लया बहुअरि।
किं वण्णिज्जइ जहिँ पुणु सुरवरु वंछइ णियमणम्मि जम्मण धरु।

घत्ता—तहिँ णीइ-सयाणउ बहुगुणठाणउ राणउ बलु पालंकु पुणु।
बे-पक्खहिँ णिम्मलु गयलंछणमलु सयलालउ सो णमिय-जिणु ॥ ७ ॥

[१-८]

णिम्मल-गुण-रयणोह-णिहाणु व णीइ-कला-वियार-विहि-ठाणु व।
विहलिय जणहँ णाइँ कप्पतरु करुणा-कमलिणीहिँ णं सरवरु।

उसके दक्षिणदिशा स्थित भरतक्षेत्रमें अवन्ती नामका जनपद बसा है। जिसमें चारों ओर कमलोंसे अलंकृत सरोवर दिखाई देते हैं। मानों, वे बुद्धिमानोंकी कृतियाँ ही हों। वहाँ अमृत-जल युक्त निर्मल नदियाँ प्रवाहित हैं, मानों, विद्वानोंकी अमृत-कथाएँ ही हों, जो कर्मरूपी रजोमलको प्रक्षालित किया करती हैं। जहाँ वर्षाकालमें स्वतः ही बार-बार उगने वाले धानके खेत बालोंके भारसे नम्रीभूत हैं, जलाशयोंके चारों ओर जहाँ गाय-बछड़े चरा करते हैं, जहाँ पामरजन शुकोंके समान (मधुरवाणी बोलते हुए) सुशोभित रहते हैं। जहाँ वनोंमें गाएँ-भैंसे क्रीड़ाएँ किया करती हैं और जो नित्य ही गोरस-दुग्धसे परिपूर्ण रहती हैं।

घत्ता—वहाँ प्रसिद्ध एवं धन-धान्यसे समृद्ध उज्जयिनी नामकी नगरी कही गई है। वहाँके निवासीजन बहुशोभायुक्त एवं सुखी हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानों, वह नगरी स्वर्णसे अंकित श्रेष्ठ इन्द्रपुरी ही हो ॥ ६ ॥

[१-७]

उज्जयिनी नगरीका वर्णन

वह नगरी विविध प्रकारके व्यापारियोंसे युक्त है, मानों जलबहुला मन्दाकिनी—गंगा ही हो। वह कुरु-भोगभूमिकी तरह नित्य सुखदायिनी है अथवा मानों, नवरसों को पोसने वाली नाट्यशाला ही हो। जिनवाणीके समान जो सभीके मनको सन्तुष्ट करने वाली है अथवा, मानों, रत्नोंसे अलंकृत सागरपुत्री—लक्ष्मी ही हो। अथवा, मानों, वह यशोवृत्ति वाले बुधजनोंके गृहोंकी पंक्ति ही हो। जहाँके व्यक्ति अपने चित्तके समान ही दूसरोंके चित्तको समझते हैं और जिसे देखकर महामुनि भी लुब्ध हो उठते हैं।

वह उज्जयिनी उत्तम चार गगनचुम्बी गोपुर-द्वारोंसे युक्त है। मानों, वह कमलासन—ब्रह्मा की नगरी की सहोदरी पुरी ही हो। वह विशाल तीन कोटोंसे वेष्टित है, मानों, कनक-कलश रूप गोल स्तनोंसे युक्त कोई सुरासिनी वरभामिनी ही हो। वहाँ जलचर-जीवोंको सुख प्रदान करने वाली परिखा है, जहाँ बहुत आवर्त्त और लताएँ हैं। उस नगरीका क्या वर्णन किया जाय, जहाँ इन्द्र भी जन्म लेनेकी इच्छा अपने मनमें धारण करता हो।

घत्ता—वहाँ नीति-निपुण, गुण-स्थान, प्रजापालक, दोनों पक्षोंसे उज्ज्वल (अर्थात् कुल-जातिसे उच्च) अपयश रूपी लांछन—मलरहित, सम्पूर्ण कलाओंके घरके समान तथा जिनदेवको नमस्कार करने वाला (अवनिपाल नामका) राजा राज्य करता था ॥ ७ ॥

[१-८]

उज्जयिनी नरेश अवनिपाल तथा वसुमति रानीका वर्णन

वह राजा अवनिपाल निर्मलगुणरूप, रत्नसमूहके निधानके समान तथा नीति एवं कलासम्बन्धी विचार-विधिके स्थानके समान था तथा जो दुःखी-जनोंके लिये कल्पवृक्षके समान,

परतिय-रयणि-रिक्क दोसायर ताहँ विहंडिय जि पुणु सिरकर ।
धम्मंकिय जो[1] विसयपरम्मुह दाणें माणें संतोसिय बुह ।
[2]जिणवर-पय-रय-इंदिंदिरु णियजसेण पूरिय गिरि-कंदरु ।
थिरमाणसु णावइ कणयायलु अरि-सिरि पसरिय अउलु-भुयाबलु ।
तहु पिय वसुमइ पियसुहदाइणि सील-विसुद्ध णाइँ मंदाइणि ।
सयलंतेउरि मज्झि पहाणी लक्खणलक्खंकिय णं कय-वाणी ।

घत्ता—तहिँ अत्थि वणीसरु सिरिकमलिणिसरु णिव्वाहिय जिणधम्मभरु ।
[3]सावय-वय-पुण्णउ दोस-णिसुण्णउ सिरिदत्तु जि णामेण वरु ॥ ८ ॥

[१-९]

मंदगइ-परज्जिय तियस-दंति रयणावलि जित्तिय दसण-पंति ।
गिह-भार-वहण परिवार-भत्त णं लच्छि पइड इह कमलवत्त ।
णामेण लच्छिदत्ता विणीय पणमिय अहणिसु जिण आयरीय ।
ता जि सहु विलसइ दिव्वभोउ सिरिदत्तु सेट्ठि संजणिय-मोउ ।
पुव्वंकिय णियपुण्णहु वसेण वसु पुत्त हूव ताहं जि सुहेण ।
सुरवल्लहु पढमु कलाणिवासु देविलु बीयउ णियकुलपयासु ।
सुरणंदणक्खु सुरचंदु अण्णु धणदत्तु धणेसरु धणउ मण्णु ।
अट्ठमउ उवण्णउ गब्भि जाम मायहि सुह-दोहल जाय ताम ।
देवाराहणि मह-मुणिहु दाणि मणु वट्टइ तित्थ पवट्ट ठाणि ।
सत्थत्थसवणि अणुराउ जाउ दुहियहँ पेच्छिवि कारुण्णु भाउ ।
सिरिदत्तें पूरिय सयल-इच्छ परिपुण्णहिँ दिवसहिँ सूय-सच्छ ।
लक्खण-वंजण-लंकिय सरीरु कल-गुण-भायणु सुर सिहरि धीरु ।
सयलहँ जणाहँ संतोसु जाउ गुरु-भायहँ जायउ मलिणभाउ ।
मंगलसरुवट्ठिउ सेट्ठि गेहि आणंदु जाउ पुणु देहि-देहि ।

---

१. क. जे । २. क. जिणवरपयपभवरयरायह इंदिदिरु । ३. क. सेवय ।

करुणा रूपी कमलिनीके लिए सरोवरके समान, परस्त्री रूपी रजनीसे रहित दोषाकर—चन्द्रके समान, दोषोंको खंडित कर सभीका शिरोमणि, धर्मसे भूषित एवं विषय-वासनाओंसे पराङ्मुख है तथा जो दान एवं सम्मानसे विद्वानोंको सन्तुष्ट करने वाला है, जो जिनवरके चरण-कमलोंमें उत्पन्न राग-रजका भ्रमर है, जिसने अपने यशसे गिरिकन्दराओंको भी पूरित कर दिया है, अपने स्थिर मानसे जिसने कनकाचल मेरुको भी नोचा कर दिया है, और जिसका अतुल भुजाबल शत्रुओंके सिर पर पसरता रहता है उसकी, प्रियतमको सुख देनेवाली तथा मन्दाकिनीकी तरह विशुद्ध शीलवाली वसुमती नामकी प्रिय रानी थी, जो समस्त अन्तःपुरकी रानियोंमें प्रधान थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी, मानों श्रेष्ठ लक्षणोंसे अलंकृत कवि-वाणी ही हो।

घत्ता—वहाँ श्रीरूपी कमलिनीके लिये कामदेवके समान, जिनधर्मके भारका निर्वाहक, श्रावक-व्रतोंसे परिपूर्ण एवं दोषशून्य श्रीदत्त नामका एक श्रेष्ठ वणीश्वर निवास करता था। ॥८॥

[१-९]

उज्जयिनी निवासी वणिक्श्रेष्ठ श्रीदत्त एवं सेठानी लक्ष्मीदत्ताका पारिवारिक परिचय आठवें पुत्रके गर्भमें आने पर सेठानीको दोहला होना

उस श्रीदत्त सेठकी लक्ष्मीदत्ता नामकी विनयशीला पत्नी थी, जो अहर्निश जिनदेवको आदरभक्ति पूर्वक प्रणाम करती थी। जिसने अपनी मन्दगतिसे देवगजको भी पराजित कर दिया था एवं अपनी दन्त-पंक्तिसे रत्नावलीको भी जीत लिया था, वह कमलमुखी गृहभारका वहन करनेवाली एवं परिवारभक्ता थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी, मानों लक्ष्मी ही प्रकट हुई हो। वह श्रीदत्त सेठ लक्ष्मीदत्ताके साथ दिव्य भोग भोगता था और इस प्रकार वह आनन्दपूर्वक रहता था।

पूर्वकृत अपने शुभ-पुण्यके फलस्वरूप उसके आठ पुत्र हुए। कलाके निवासके समान सुरवल्लभ नामका प्रथम पुत्र हुआ। निजकुलका प्रकाशरूप देविल नामका द्वितीय पुत्र हुआ। तृतीय पुत्र सुरनन्दन नामका था। चतुर्थ सुरचन्द्र, पाँचवाँ धनदत्त, छठा धनेश्वर एवं सातवाँ सम्मान-प्राप्त धनद नामका पुत्र हुआ।

जब आठवाँ पुत्र गर्भमें आया तब माताको शुभ-दोहला उत्पन्न हुआ, जिसके अनुसार देवोंकी आराधना, महामुनियोंके लिये दान, तथा तीर्थ-प्रवर्त्तनके स्थानोंमें उसका मन रहने लगा और शास्त्रोंके अर्थ-श्रवणमें अनुराग करने लगी। (इसी प्रकार उसमें) दुखियोंको देखकर करुण-भाव प्रगट होने लगा। श्रीदत्तसेठने उसकी इन सभी इच्छाओंको परिपूर्ण किया।

गर्भके दिनोंके पूर्ण होनेपर उसने सुन्दर पुत्र प्रसूत किया, जो व्यंजनोंसे अलंकृत शरीरवाला तथा कलागुणोंका भाजन और सुमेरुके समान धीर था। उसके जन्मसे सभी जनोंको तो सन्तोष हुआ, परन्तु बड़े भाइयोंका हृदय मलिन हो गया। (जन्मके अनन्तर ही शिशुके) घरमें मंगलस्वर होने लगा और प्रत्येक प्राणी आनन्दसे भर गया।

घत्ता—पुण्णाहिय आयहँ वट्टियरायहँ किम-किम[1] होइ ण एत्थु महि।
तें कारणि बुहयण मेल्लिवि धण-कण मण-वय-काएँ तं करहि ॥ ९॥

[१-१०]

तूर-सद्द-मंगल-रव-घोसें णारीयणु णच्चहिँ संतोसें।
बहुवासर गय सिरि-विलसंतें गेहंतरु दीविउँ तणु-कंतें।
हीण-दीण पूरिय धण-दाणें धणदत्ताभिहाणु[2] बहुदाणें।
वुत्तु जणहिँ असेसहिँ धण्णउ वड्ढइ बालु आसि कयपुण्णउ।
माय-पियरहो पेमु जणंतउ वियसियमुहु सयणिहिँ रंजंतउ।
कर[3]-कराउ जुवइहिँ णिज्जंतउ बालउ मायथणोवरि कीलंतउ।
चाडुव-वयणहिँ पुज्जिज्जंतउ अट्ठवरिस तणु कालें पत्तउ।
पुणु माया-पियरहिँ मंतेप्पिणु अइलाडणु बहु-दोसु मुणेप्पिणु।
विहि-पुव्वें सुमुहुत्ते जोएँ उज्झायहु जि समप्पिय वेएँ।
उज्झाएँ पुणु बहु-सुव-धामें पडिग्गहिउ सो जस-सिरि-कामें।

घत्ता—अ-क-च-ट-त-प-वग्गइँ ज-स-ह-समग्गइँ अक्खरभेउ पयाहियउ।
सक्कह-पाइय-विहि-देसि-सयलविहि गण-वित्थरु वि समासियउ ॥ १० ॥

[१-११]

गुरुणा उवएसिउ तहु सु-अंगु लक्खणु-लंकारु विहत्ति-लिंगु।
उवएसिय संधि-समास भव्व वायरण-भेय णाणा जि कव्व।
भासा-भेयइँ जाणियइ तक्कु जिह भमहिँ गयणि पुणु गहहँ चक्कु।
गुरु दावियाइँ जे परम सच्च छह-दव्व-पयत्थइँ सत्त तच्च।
जाणिय धणयत्तें तिण्णि वग्ग धम्मत्थकाम बे णय समग्ग।
आयम-सत्थइँ मणि-मंत-तंत भेसह अउव्व संजोय-जंत।
गंधव्व-गेय वण्णट्टभेय हय-गय-वाहण विहि पुणु अणेय।
एमाइँ सयल विज्जा [य] कोसु सिक्खविया आयउ गिहि विगयदोसु।

---

१. क. के के। २. क. धणदत्तहि विहिणु ३. क. करि।

घत्ता—पुण्याधिकारियोंके जन्म लेने पर अनुरागियोंके लिये इस पृथिवीतल पर क्या-क्या उपलब्ध नहीं होता ? इस कारण हे बुधजनो, मन-वचन-कायसे धन-धान्यको त्याग कर उस पुण्यको ही प्राप्त करो ॥ ९ ॥

[१-१०]

धन्यकुमारका जन्मोत्सव, एवं वय प्राप्त होने पर उपाध्यायके समीप शिक्षा-दीक्षा

तुरही आदि बाजोंके शब्द और मंगलध्वनिके घोषसे सन्तुष्ट होकर नारियाँ नृत्य करने लगीं। लक्ष्मीका भोग करते हुए बहुत दिन बीत जानेके बाद ही उस पुत्ररूपी दीपककी कान्तिसे गृहका अन्तर्भाग प्रकाशित हुआ था, अतः सेठने धनके दानसे हीन-दीन जनोंकी आशाको पूर्ण कर दिया। विविध दान देनेसे उस पुत्रका नाम भी 'धनदत्त' रखा गया। सभी लोगोंने 'धन्य' 'धन्य' (का मंगल-घोष) किया।

पूर्वकृत पुण्यके फलस्वरूप वह बालक बढ़ने लगा। वह माता-पिताके हृदयोंमें प्रेम उत्पन्न करता था तथा हँस-हँस कर स्वजनोंका मनोरञ्जन किया करता था। युवतियों द्वारा कभी-कभी तो वह बालक हाथों हाथ लिया जाता था और कभी माताके वक्षस्थल पर (बालसुलभ) क्रीड़ाएँ करता था। चाटुप्रिय वचनोंसे सम्मानित होता-होता वह कालक्रमानुसार आठ वर्षका हो गया। पुनः माता-पिताने (परस्परमें) मन्त्रणा कर 'अधिक लाड़ करनेमें बहुत दोष होते हैं' ऐसा मानकर विधि पूर्वक शुभमुहूर्त्तके योगमें जल्दी ही उपाध्यायको समर्पित्त कर दिया। पुनः विविध शास्त्रों के धाम स्वरूप उपाध्यायने यश और लक्ष्मीकी कामनासे उस धनदत्तके लिये अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया।

घत्ता—(उपाध्यायने सर्वप्रथम) क-वर्ग च-वर्ग ट-वर्ग त-वर्ग, प-वर्ग, य, स, ह आदि सम्पूर्ण अक्षरभेदोंको प्रकाशित किया (पढाया) फिर संस्कृत, प्राकृत एवं देश्य-भाषाकी सम्पूर्ण विधियाँ तथा गणविस्तार समझाया ॥ १० ॥

[१-११]

धन्यकुमार द्वारा विविध कला-विज्ञानोंका अध्ययन

तत्पश्चात् गुरुने उसे अंगशास्त्र, लक्षण (व्याकरण) अलंकार (काव्य) विभक्ति एवं लिंग-निर्णयके उपदेश दिये। उस धनदत्तने भी सन्धि, समास आदि व्याकरणके सभी भेदों, नाना काव्यों, भाषा-भेद और तर्क (इस प्रकार) पढ़े कि वे उसके मस्तिष्कमें इस प्रकार घूमने लगे, जैसे आकाशमें ग्रहोंके चक्र पुनः-पुनः घूमते रहते हैं। जो परम सत्य छह-द्रव्य, नवपदार्थ एवं सात तत्त्व हैं, उनको भी गुरुने पढाया। उस धनदत्तने धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग तथा दोनों नयोंको भी सम्पूर्ण विधिसे जाना। आगम-शास्त्र, मणि, मन्त्र, तन्त्र एवं अपूर्व-भैषज, संयोगी-यन्त्र, गन्धर्वगीत, उत्तमनृत्य-भेद, हय-गज (आदि) वाहनोंकी अनेक विधियाँ गुरुने उसे सिखा दीं। समस्त निर्दोष विद्याओंका कोष होकर वह अपने घर लौट आया।

घत्ता—पुव्वज्जियपुण्णें वज्जियदुण्णें पोढत्तणि आरूढ सिसु।
सो णंहासत्तहिँ समउ स-मित्तहिँ भमइ णयरि जणकियहरिसु ॥११॥

इय सिरिधणकुमारचरिए कयसुवभावणफलेण विप्फुरिए सिरिपंडिय - रइधु-विरइए सिरि-पुण्णपाल-सुत-साहु-सिरिभुल्लण-णामंकिए धणयत्तजम्मण-वण्णणो णाम पढमो संधि-परिच्छेओ समत्तो । १ । छ।

गुणकीर्त्तिपदाम्भोजं ध्यातं येनापि सर्वदा।
भ्रातृ-मित्रैः समं साधुर्नन्दताद्भुल्लणो भुवि ॥ छ ॥ छ । इत्याशीर्वादः १

घत्ता—पूर्वोपार्जित पुण्यके कारण दुर्नय (कुज्ञान) रहित वह धनदत्त प्रौढ़पनेको प्राप्त हुआ। वह स्नेहासक्त अपने मित्रोंके साथ जनोंको हर्षित करता हुआ नगरीमें घूमने लगा ॥११॥

इस प्रकार पूर्वमें की हुई श्रुतभावनाके फलसे स्फुरायमान, श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित श्री पुण्यपाल (द्वितीय) के पुत्र साधु श्री भुल्लणके नामसे अंकित 'श्रीधन्यकुमारचरित'में धनदत्तके जन्मका वर्णन करनेवाला यह प्रथम सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ ॥ संधि १ ॥ छ ॥

जिसने गुरु गुणकीर्त्ति के चरणकमलोंका सदा ध्यान किया है, वह भुल्लण साहू अपने भाई और मित्रोंके साथ इस भूमि पर आनन्द करे ॥ १ ॥

संधि—२

[२-१]

घत्ता—जण-मण-आणंदणु सेट्ठिहु णंदणु रमइ सइच्छइँ णयरि-वणि ।
सव्वहँ सुहवायणु बहुगुणभायणु जणइ णेहु पुर-लोय-मणि ॥ छ ॥

पुरवासिय वणिवर णिएवि तासु   मणि थप्पहिँ वरु णिय-णिय-सुयासु ।
तिययणु सलहहिँ पुणु तासु देहु   णं विहिणा णिम्मिउ रूवगेहु ।
धणि-[धणि] सिरिदत्ता जाहि पुत्तु   इहु सुब्भ-जसंकिउ गुणहिँ जुत्तु ।
हिंडइ पुरीहिँ णं सुरकुमारु   णं णरवइ-सुउ रूवेण मारु ।
अण्णहिँ भवि दिण्णउ मुणिहिँ दाणु   पडिगाहिवि भत्तिए करिवि माणु ।
अहवा पुणु किं सिद्धंत-अत्थ   णियमणि भाविय तच्चहिँ पयत्थ ।
अहवा पालिउ वउ सील सुद्धु   तिं पुण्णेँ हुउ इहु मइ-विसुद्धु[1] ।
इम णरणारिहिँ सलहिज्जमाणु   जा णिवसइ बालउ कीलमाणु ।

घत्ता—ता भायहिँ आविवि सिरि कर लाविवि जणणी-जणणहो भणिउँ पुणु ।
तुज्झहँ लहु णंदणु णयणाणंदणु अहणिसु हिंडइ वणु जि वणु ॥ १२ ॥

[२-२]

वणिवरहँ कुलागउ जं जि कम्मु   णउ मुणइ किं पि इहु णट्ठधम्मु ।
वणि-उववणि हिंडइ कीलमाणु   णउ जाणइ सो वावारठाणु ।
अइयारु म लाडहु पउरु दोसु   तुम्हहँ जण देसइ गरुउ दोसु ।
वय-भर-मुक्केँ किं मुणिवरेण   दाणेण रहिय पुणु किं घरेण ।
किं णीइ-विवज्जिय रायएण   किं सुहडेँ रणि कंपिय भएण ।
कोहाऊरिय पुणु किं तवेण   किं वेयविहोणेँ सरहएण ।
किं अवजस-पंकिय णरभवेण   किं धम्मेँ पुणु वज्जियदएण ।
किं सीलरहिय जुवइ-जणेण   वावारोज्झिय किं वणिवरेण ।

---

१. क. जि सुद्धु ।

सन्धि—२

[२-१]

धन्यकुमारकी लोकप्रियतासे बड़े भाई उससे ईर्ष्या करने लगते हैं

लोगोंके हृदयोंको आनन्दित करनेवाला वह श्रेष्ठिपुत्र धनदत्त (धन्यकुमार) स्वेच्छया नगर अथवा वनमें रमण करने लगा तथा सभीको सुख देनेवाला तथा अनेक गुणोंका भाजन वह, नगरके लोगोंके मनमें स्नेह उत्पन्न करने लगा ॥ छ ॥

पुरवासी वणिक्श्रेष्ठ उसे देखकर उसके प्रति अपनी-अपनी पुत्रियोंके वरके रूपमें अपने मनमें दृढ़ निश्चय करने लगे। त्रिया-समूह भी उसके शरीरकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा, (और कहने लगा कि ऐसा प्रतीत होता है) मानों, विधिके द्वारा उसे रूपका गेह ही बनाया गया हो। वह श्रीदत्ता माता धन्य है, जिसका शुभ्र-यशसे अंकित एवं गुणोंसे युक्त यह पुत्र उत्पन्न हुआ है। वह पुरीमें ऐसे घूम रहा है, मानों, कोई देवकुमार ही हो अथवा, मानों, रूपमें कामदेवके समान कोई नृपति-पुत्र ही हो। अन्य भवमें क्या उसने मुनियोंको भक्तिपूर्वक पडगाह कर तथा उनका सम्मान कर उन्हें दान दिया था ? अथवा, क्या सिद्धान्तके अर्थ, तत्त्वों एवं पदार्थोंकी अपने मनमें भावना की थी ? अथवा, क्या उसने शुद्ध व्रत शीलका पालन किया था ? जिनके पुण्य-फलसे ही यह मति-विशुद्ध हुआ है।' इस प्रकार नगरको नर-नारियोंके द्वारा श्लाघ्यमान वह बालक क्रीडा करता हुआ जब निवास कर रहा था—

घत्ता—तभी, बड़े भाइयोंने सिर तक हाथ लाकर और प्रणाम कर माता-पितासे कहा—'तुम्हारे नेत्रोंको आनन्दित करनेवाला (तुम्हारा) लघुनन्दन (धन्यकुमार), वन-वनान्तमें रात-दिन घूमता रहता है ॥ १२ ॥

[२-२]

बड़े भाइयों द्वारा अपने पितासे धन्यकुमार की निन्दा एवं चुगली

—"वणिग्वरोंका जो कुलागत कर्म है उसे, धर्मविहीन वह (धन्यकुमार) कुछ भी नहीं समझता। वन-उपवनमें क्रीड़ा करता हुआ घूमता रहता है, इस कारण वह व्यापार-स्थानों को भी नहीं जानता। (उस पर) अधिक लाड़-प्यार मत कीजिए (क्योंकि) उसमें बहुत दोष हैं। (धन्यकुमारके बिगड़ जाने पर) लोग आपको ही दोष देंगे। (कहा भी गया है कि) व्रत-भारसे चूके हुए मुनिराजसे क्या (लाभ) ? और दानसे रहित घरसे क्या (प्रयोजन) ? नीति रहित राजासे क्या (लाभ) ? और रणमें भयसे कम्पित सुभटसे क्या (लाभ) ? क्रोधसे भरे तपसे क्या ? कामसे पीड़ित हुए वेद-विहीन-नपुंसकसे क्या (फल) ? अपयशरूप पंकसे युक्त नरभवसे क्या (कार्य) ? दयारहित धर्मसे क्या ? शीलरहित युवतिजनोंसे क्या (शोभा) ? और इसी प्रकार व्यापार रहित वणिक्से क्या (प्रयोजन) ?"

घत्ता—ता भासिउ ताएँ पुलइयकाएँ णिसुणिवि पुत्तहँ वयणगइ।
तुम्हहँ लहुभायरु लच्छि-जसायरु रमउ सइच्छइ सुद्धमइ ॥ १३ ॥

[२-३]

आ-सिसु वावारहु कवण एहु तुम्हहँ पसाइ सुहि भमण देहु।
तायहु वयणें वुम्मिय-मणेहिँ परसप्परि चिंतिउ भायरेहिँ।
बहु खेउ करिवि पर-तीर जाइ पर-मणु रंजिवि णाणाविहाइ।
अम्हिहिँ विढविवि आणियइ दव्वु तं गिहि णिसण्णु इहु गमइ सव्वु।
तहँ पुणु वल्लहु जणणी-जणस्स महु अवगुण गिण्हहिँ ते अवस्स।
अम्हहँ विढविउ[1] लक्खहिँ ण चित्ति बालहु उप्परि अइ-णेहवंति।
इय मलिणभाव ते कयविरोह तहु पेक्खि ण सक्कहिँ बद्धकोह।
अण्णहिँ दिणि पियरें ताहँ चित्तु इंगिय-लिंगें जाणिउ विरत्तु।
सुह-दिणि ण्हाविवि भुंजावि बालु [× × × × × ×]।
पुणु जणणिए विहियउ तिलउ भालि धणु विढविएहि सुव अचिरकालि।

घत्ता—जणणें पुणु णेहें पुलइयदेहें पंचसयं दीणार तहु।
अप्पियइँ पयत्तें वियसियवत्तें बंधा सिरि बंधेवि लहु ॥ १४ ॥

[२-४]

पुणु सिक्खाविउ वाणिज्जवित्ति परलोयलाहु जे एत्थ कित्ति।
(उज्जम विणु सुव संपइ ण होइ किज्जइ ण विरुद्धउ एत्थ सोइ।
अलसत्तें होइ पयावभंगु) किज्जइ ण कहव पुणु पिसुण संगु।
णाएँ विढविज्जइ जं जि दव्वु तें पुण्णें विक्कइ किं पि भव्वु।
वय-वुड्ढ-जईसर-सुहियसत्थ बहिरंघहु हिय जे विगयअत्थ।
पीणिज्जहि तें विहवेण पुत्त सेविज्जहिँ रयणत्तय-पवित्त।
सुवि सच्च-सउच्च अमच्छरेण जण-मणु रंजिज्जइ पियसरेण।
रायहु विरुद्धु ववहारु लोइ णउ किज्जइ संचिज्जइ ण कोइ।
सलहिज्जइ पुणु-पुणु णियय वत्थु इउ मुणहिँ पुत्त ववहार-सत्थु।

---

१. क. विढउ।

घत्ता—तब पुलकित शरीर होकर पिताने पुत्रोंके वचनोंको सुनकर कहा—"यह तुम्हारा छोटा भाई है, लक्ष्मी तथा यशका आकर और शुद्धमति वाला है। अतः उसे स्वेच्छापूर्वक घूमने-फिरने दो" ॥१३॥

[२-३]

विवश होकर पिता धन्यकुमार को ५०० दीनारें देकर व्यापार-हेतु बाजार भेजता है।

"यह तो अभी शिशु है। अभी इसे व्यापारसे क्या प्रयोजन ? तुम लोग उस पर कृपाभाव रखो और उसे निश्चिन्त रहकर भ्रमण करने दो।" पिताके इन वचनोंसे दुखी मन वाले उन सब भाइयोंने परस्परमें विचार किया कि "बहुविध परिश्रम करके हम लोग परदेश जाते हैं और नाना प्रकारसे दूसरोंका मनोरंजन करके द्रव्यार्जन करते हैं और वह सब यह धनदत्त (धन्यकुमार) घरमें बैठा हुआ खा-उड़ा जाता है, तो भी वह माता-पिताका प्यारा बना हुआ है और हमारी सलाहको वे हमारे अवगुणके रूपमें ही ग्रहण कर रहे हैं। व्यापारमें हमने लाखों मुद्राओंका अर्जन किया, तो भी उसकी ओर उनका (माता-पिताका) ध्यान नहीं, (और हमें ही छोड़कर वे) उस बालकके ऊपर अतिस्नेह कर रहे हैं।" इस प्रकार उन भाइयों द्वारा विरोध (कलह) किए जाने तथा उनके क्रोधित बने रहनेसे स्वयं उनका हृदय इतना मलिन हो गया कि वे सभी उस (छोटे भाई) की ओर फूटी आँखों भी नहीं देख सकते थे।

एक दिन उन बालकोंके चित्तको संकेत-चिन्होंसे विरक्त जानकर माता-पिताने धन्यकुमारको शुभमुहूर्तमें स्नान-भोजन कराकर उसे अच्छे वस्त्र पहरा दिए। माताने उसके भाल पर तिलक लगाकर कहा—'हे पुत्र धन्य, अब तुम शीघ्र ही धनार्जन करो।"

घत्ता—पुनः स्नेहसे पुलकित-देह होकर पिताने मुस्कुराकर धन्यकुमारको ५०० दीनारें अर्पित कीं। उसने भी तत्काल सिर पर बंदा (साफा या पगड़ी) बाँध लिया (और चलनेको तैयार हो गया) ॥१४॥

[२-४]

पिता द्वारा धन्यकुमारको व्यापार-पद्धतिकी शिक्षा

माता-पिताने उसे उस वाणिज्यवृत्तिकी शिक्षा दी जो परलोकमें लाभ प्रदान करती है और इस लोकमें कीर्ति। उन्होंने बताया—"हे पुत्र उद्यमके बिना सम्पत्तिका संचय नहीं होता। अतः यहाँ उद्यम-विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। आलस्य करनेसे प्रतापका नाश होता है (अतः तुम कभी भी आलस्य मत करना) और कभी भी पिशुनों (बदमाशों) की संगति मत करना। न्यायसे जो भी द्रव्यार्जन किया जाता है, उसके पुण्यसे हे भव्य, कोई भी वस्तु बिकती रहेगी। उस वैभवसे हे पुत्र, तुम व्रतीजनों, बूढ़ों, यतीश्वरों, सुहृद-साथियों, बहिरों, अन्धो और जो भी धनहीन हैं, उनका पोषण करना। पवित्र रत्नत्रयका सेवन करना। हे पुत्र सत्य, शौच, अन्तर्बाह्यपवित्रता एवं निष्कपट प्रियवाणीसे जनोंके मनको रंजित करते रहना। लोकमें राजाके विरुद्ध न तो कोई व्यवहार करना और न किसी प्रकारका संग्रह ही करना। अपनी वस्तुओंकी (ग्राहकोंके सम्मुख) बार-बार प्रशंसा करना। हे पुत्र, इस प्रकार तुम व्यवहार-शास्त्रको समझना।"

घत्ता—णिय जणणहो भासिउ सवण-सुहासिउ णिसुणिवि तं खणि चलिउ सिसु ।
वंदिवि जिण-चलणइं - सुहसय - जणणइँ सयणहँ मणि उप्पय-हरिसु ॥ १५ ॥

[२-५]

गच्छंतहो तहो सम्मुहउ कुंभु तोएण पुण्णु वुहसयणिसुंभु ।
आयउ वरजुवइसीसि थक्कु णं पुण्णें तासु णिहाणु ढुक्कु ।
दाहिणउ करिवि तं चलइ जाम पुरमग्गि मुणीसरु दिट्ठु ताम ।
तहु वंदिवि पय-पंकयरुहाइँ आवणि गउ पुणु पयणिय सुहाइँ ।
तहिँ जा णिसण्णु धणयत्तु वीरु वण्णिज्जहु कज्जें थिरु सरीरु ।
ता धवलायट्टिउ णीयमाणु महकट्ठहिँ पूरिउ सयडु जाणु ।
तं पेच्छिवि धणयत्तेण वुत्तु रे सयड-सामि णिसुणहिँ णिरुत्तु ।
किं विक्कहि अहवा णउ भणेहि सेरिउ-सेरिउ किं पुरि भमेहि ।
तिं वयणें पामरु भणइ देव हउँ भुक्खउ बेचमि सयडु सेव ।
धणयत्तें पुच्छिउ मोलु तासु सो किं पि ण जंपइ बहुधणासु ।
तुव अत्थि दयावरु गुणविसालु दीसहिँ पसण्ण [सु] विसालभालु ।
जं रुच्चइ तुम्हहँ तं पि देहु इंधणु परिपुण्णउ हँसयड लेहु ।

घत्ता—तहु वयणु सुणेप्पिणु मणि पुलएप्पिणु सो माया-मय-मच्छररहिउ ।
भासइ रे पामर वरजट्ठीकर गरुउ वयणु जं पइँ कहिउ ॥ १६ ॥

[२-६]

वसहें सहु गड्डी देहु मज्झु दीणार-पंच-सय मज्झ संहु ।
गिण्हेहि मित्त जइ गमइ चित्ति [1]म हिंडहि घरि-घरि विगयसत्ति ।
महु पासि एत्थु पुणु अण्ण णत्थि लइ-लइ महु वयणें लग्गि पंथि ।
तहु वयणें तें गिण्हियउ सिग्घु दीणारह जो पोट्टलु अणग्घु ।
संतुट्ठ चित्ति गाडउ मुएवि गउ कत्थ लुक्कि णउ मुणहि के वि ।
परसप्पर सुणिवि [तं] भायरेहिँ लहु भाय हसिउ दूरत्थिएहिँ ।
धणयत्तें णिय किं कियउ वुत्तु इहु वाणिज्जु जाउ बहुलाहजुत्तु ।
सो पुणु विहसिउ णियमणि सुणेवि पुण्णहो पहाव णउ मुणहि के वि ।

---

१ क. महि ।

घत्ता—कानोंको सुख देनेवाले अपने पिताके वचनोंको सुनकर वह शिशु सैकड़ों सुखोंको देने वाले जिन-चरणोंकी वन्दना करके तत्काल चला गया। इससे स्वजनोंके मनमें हर्ष उत्पन्न हुआ ॥१५॥

[२-५]

मार्गमें जलपूर्ण कुम्भ-कलश एवं मुनीश्वरके दर्शनको धन्यकुमार शकुन मानकर आगे बढ़ता है।

मार्गमें चलते समय जलसे परिपूर्ण एवं सैकड़ों दुखोंके नाशक कुम्भको सिर पर रखे हुए एक सुन्दर युवती उस धनदत्तके सम्मुख आई। मानों, उस (धन्यकुमार) के पुण्यसे खजाना ही (उसकी ओर) ढूंकने (झांकने) लगा हो। उस कुम्भकी दाहिनी ओर (मुँह) करके जब वह आगे चला, तब नगरके मार्गमें उसने एक मुनीश्वरको देखा। उन्हें शुभ-शकुन जानकर तथा उनके सुखद चरण-कमलोंमें प्रणाम कर वह बाजारमें गया।

वहाँ वह वीर धनदत्त (धन्यकुमार) व्यापार-कार्यके लिए स्थिर-शरीर होकर जा बैठा। वहाँ धवल-बैलों द्वारा ले जाते हुए महाकाष्ठोंसे भरे शकट-यानको देखकर उस धनदत्त (धन्यकुमार) ने पूछा—'रे शकट स्वामी, मेरी बात सुन, बोल, यह गाड़ी बिकेगी या नहीं ? सरक-सरक कर नगरमें क्यों मारा-मारा भटकता-फिरता है ? धनदत्तके वचन सुनकर उस पामरने उत्तर दिया—'सभी लोगोंके द्वारा सेवित हे देव, मैं भूखा हूँ—पूरी गाड़ी ही बेचूँगा।' तब धनदत्तने उसका मोल पूछा। किन्तु उस गरीबने अधिक धनकी आशासे कुछ भी मूल्य नहीं बताया और बोला—'(हे देव), आप तो दयालु, सद्गुणी एवं चतुर हैं तथा प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं। अतः आपको जो रुचे, वही दें ओर ईंधनसे परिपूर्ण शकट ले लें'।

घत्ता—उसके वचन सुनकर एवं मनमें हर्षित होकर माया, मद एवं मत्सरसे रहित उस धनदत्त (धन्यकुमार) ने कहा—'हाथमें उत्तम लाठी लेकर चलनेवाले हे पामरजन, तूने जो कुछ कहा है, वह बहुत बड़ी बात है' ॥१६॥

[२-६]

धन्यकुमार सर्वप्रथम ईंधन सहित बैलगाड़ी और फिर उसके बदलेमें एक मेष खरीदता है।

'बैलोंके साथ गाड़ी मुझे दे। मेरे पास पाँच सौ दीनारें हैं। हे मित्र, यदि चित्तमें रुचे, तो उन्हें ले ले। घर-घर भटककर शक्तिका अपव्यय मत कर। यहाँ मेरे पास इतना ही द्रव्य है, और अधिक नहीं। मेरे कहनेके अनुसार ले और अपने रास्तेसे लग। धनदत्त (धन्यकुमार) के कहनेसे शकटवालेने शीघ्र ही अनर्घ्य दीनारोंकी पीटली ले ली। वह दीन सन्तुष्ट-चित्त होकर तथा गाड़ी छोड़कर, लुक-छिपकर कहाँ गया—किसीने भी नहीं जाना।

दूर स्थित भाइयोंने यह (लकड़ी-खरीद सम्बन्धी वृत्तान्त) सुनकर परस्परमें उस छोटे भाईकी हँसी उड़ाई। वे कहने लगे—'अपने धनदत्त (धन्यकुमार) ने यह क्या किया ? क्या उसने यह बहुत लाभयुक वाणिज्य किया है' ?

तक्खणि जि एक्क तहिँ मेसु आउ वियरालसिंग अइथूलकाउ ।
तं जोइवि पुणु गिण्हण मणेण तहु सामिहु भणियं तक्खणेण ।
विक्कोणहि किं णउ[1] एहु मेसु तं सुणिवि भणइ सो णवियसीसु ।
तुहुँ सेट्ठिहि णंदणु जयपसिद्धु तुव दंसणु मइ पुण्णेण लद्धु ।
विक्कणमि पसाएँ[2] जं जि देहि तं गिण्हमि हउँ कें बहुविहेहिँ ।
तें वयणें वयभावियमणेण सहु धवलें सयड वि तक्खणेण ।
तहु देप्पिणु गिण्हिउ सइँ जि मेसु संतुट्ठ चित्ति सो गउ गिहेसु ।
धणयत्तु पुणु वि जा तहिँ णिसण्णु वावारकज्जि णिवसइ सउण्णु ।

घत्ता—तावहिँ पट्टंबरु कंपियँ[3]-सिरु-करु जिण्णं[4]-देहु जर-दुह-भरिउ ।
मायंगु अपुण्णउ पयडियँ[5] दुण्णउ सेट्ठि-सुवहु दिट्ठिहिँ पडिउ ॥ १७ ॥

[२-७]

मलमलिणजूउ पल्लंकु वरु विक्कंतउ पिच्छिवि भणइ णरु ।
किं मंचहु विक्कइ मोल्लु भणु मायंगु ण बोल्लइ किं पि पुणु ।
तें मेसउ अप्पिउ गंपि तहु मंचहु सइँ गिण्हउ तेण लहु ।
लोयाहाणउ किं अलिउ होइ पुण्णहु अणुसारें सिद्धि होइ ।
कुम्हेडउ वुक्कड-वयणु किहं संमाइ लच्छि गयपुण्णि तिहं ।
धणयत्तें णियदासहु भणिउ मइँ वत्थु स-लाहें विक्किणिउ ।
एवहिँ जाइज्जइ णियभवणि बे पहर जाय रंजिय सयणि ।
इय जंपिवि मंचउ सीसि तहु थप्पेविणु आयउ गेहि लहु ।
गेहंगणि पल्लंकु वि धरिउ जणणी-जणणु जि रहसें भरिउ ।
वर अग्घु देवि गेहंति णिउ पुणु आसणि थप्पिवि तिलउ कउ ।
मंगलविहि पयडिय[5] जणणि[6] गुरु-भाय विसण्णा जाय मणि ।
पेच्छेहि विवेउ पियरहु जणहु जो णासु करइ अहणिसु धणहु ।
गेहहु देप्पिणु दीणारवर आणेप्पिणु कट्ठइँ णिह्यिघर ।
तो वि हु वल्लहु मायहु हुवउ अइमंगलु पयडिउ तास धुउ ।

घत्ता—अम्हइँ पुणु बहु धण विढविवि बहुगुण जइ आणहिँ ता पुणु जणणि ।
णउ कहव वि मंगलु पुणु तो मंगलु कहव वि णवि वियसइ वयणु ॥ १८ ॥

---

१. क केणउ । २ क. पासाए । ३. क. किंपिय । ४. क. किं ण । ५. क पयणिय । ६. क. ण, आणि ।

वह धनदत्त (धन्यकुमार) भी बड़े भाइयोंकी बात सुनकर अपने मनमें हँसा (और सोचने लगा कि) 'पुण्यके प्रभावको कोई भी नहीं जान पाया'। उसी समय वहाँ एक विकराल सींग एवं अत्यन्त स्थूल-कायवाला मेंढ़ा आया। उसे देखकर तथा उसे खरीदनेके मनसे उसने तत्क्षण ही उसके स्वामीसे पूछा—'यह मेष बेचेगा अथवा नहीं ?' यह सुनकर वह सिर झुकाकर बोला—'तुम जगप्रसिद्ध सेठके पुत्र हो, तुम्हारा दर्शन मैंने बड़े भाग्यसे पाया है। इसे मैं बेचूँगा और प्रसन्न होकर जो भी आप देंगे उसे मैं ग्रहण कर लूँगा। अधिक कहनेसे क्या लाभ ?' उसके वचन सुनकर दयाभावित मनसे (धन्यकुमारने) तत्काल ही उसे बैलों सहित गाड़ी देकर स्वयं उससे मेष ले लिया। सन्तुष्ट-चित्त होकर वह तो घर गया, किन्तु पुण्यात्मा वह धनदत्त (धन्यकुमार) वहीं बैठा रहा और जब वह व्यापार-कार्यमें लगा था—

घत्ता—उसी समय टाटके कपड़े पहिने हुआ, कम्पित सिर एवं हाथोंवाला, बुढ़ापेके दुःखसे भरा तथा ढीले शरीर वाला, पुण्यहीन तथा कुप्रसिद्ध अन्यायी एक मातंग उस सेठके पुत्रकी दृष्टि में पड़ा ॥१७॥

[२-७]

मेषके बदलेमें मातङ्गके मैले-कुचैले पलंगको खरीदकर धन्यकुमार घर लौट आता है।

उत्तम किन्तु मैले-कुचैले जुवे सहित पलंगको बेचते हुए देखकर धन्यकुमारने उस मनुष्यसे पूछा—'क्या मांचा (पलंग) को बेचेगा ? इसका मोल बता।' किन्तु वह मातंग कुछ नहीं बोला। तब धन्यकुमारने आगे बढ़कर उसे वह मेष दे दिया और स्वयं उससे मांचाको तत्काल ही ले लिया। यह लोकका अहाना (लोकोक्ति) क्या झूठ है कि—'पुण्य (भाग्य)के अनुसार ही सिद्धि (प्राप्त) होती है।' उस पुण्यात्मा धन्यकुमारके वचनसे वह पुण्यहीन पुरुष-मातंग क्रोधी, बकरेके समान मुखवाले तथा काले उस मेषको लेकर तथा (अदृष्ट) लक्ष्मी उसे सौंपकर कहीं चला गया।

धनदत्त (धन्यकुमार) ने अपने दाससे कहा—'मैंने अपनी वस्तु लाभ सहित बेच दी। दोपहर हो गई है, अतः अब अपने घर चलकर स्वजनोंका रंजन करना चाहिए।' इस प्रकार कहकर तथा उसके सिरपर मांचा रखवाकर वह धनदत्त (धन्यकुमार) शीघ्र ही घर आया। घरके आंगन में जब उस पलंगको रखा गया तो माता-पिता हर्षसे भर उठे। उसको उत्तम अर्घ्य देकर घरके भीतर ले गये और आसनपर बैठाकर तिलक किया। माताने मंगलविधि प्रकट की। किन्तु बड़े भाई मनमें विषण्ण हो उठे। वे कहने लगे—'माता-पिताका विवेक तो देखो, कि, जो रात-दिन धनका नाश किया करता है तथा घरकी अमूल्य दीनारें देकर उनके बदलेमें जो अपने घर यह काठ ला-लाकर रखता है, (इतने पर) भी वह तो (अपनी) माताका निश्चय रूपसे प्यारा हुआ और उसके प्रति अनेक मंगल प्रकट किए गए।

घत्ता—(किन्तु) हम लोग भी यदि बहुत अधिक धनार्जन कर तथा पुनः उसे भी अनेक गुना करके ले आवें, तो भी हमारी माँ हमें न तो कभी मंगल शब्द कहेगी, न कभी मंगलविधि करेगी और न कभी प्रसन्न मनसे बात ही करेगी' ॥१८॥

[२-८]

गुरुभायर णिवसहिँ मलिणमण धणयत्तेँ पणविय पियरजण ।
बंधवहँ वि पयडिउ विणयगुणु सव्वहिँ आसीसिउ भाइ पुणु ।
रयमलिणु णियच्छिवि जणणियए खट्टंगहँ सुव-गुण-गहणियए ।
पुत्तहो इमणु गोवंतियए जलबहलेँ पुणु धोवंतियए ।
अइमलणेँ सल्लु-विसल्लु हुउ पायहु अंतरि तक्खणेण धुउ ।
रयणाइँ पंच पह-विप्फुरिय सेट्ठिणियहि दिट्ठि समावडिय ।
तेँ गेण्हियाइँ ताइँ जि सयरि पुणु णियबुद्धिएँ उज्जोययरि ।
धारिवि पल्लंकहु पाय वर विसट्टिवि जोइय तहँ विवर
एक्केक्कहु तेसिय रयणगणु णीसरियउ जाम पहसियभवणु ।
पुणु बीयपत्तु वण्णहिँ सहिउ णं चिरपुण्णेँ लेहु जि पिहिउ ।

घत्ता—धणयत्तह मायरि सयण-सुहायरि गरुवहँ पुत्तहँ भणइ थिर ।
आवहु लहु भायहु पुण्णसहायहु जं विढत्तु तं णियहु किर ॥ १९ ॥

[२-९]

रयणइँ पिच्छिवि ते मणि तज्जिया पभणहिँ अम्हहँ पुण्णविवज्जिया ।
(पुण्णाहियहु सयल संपज्जइ तेँ विणु कर होंतउ पुणु भज्जइ ।
पुण्णेँ वावाराइँ सयलइँ परियणाइँ पुणु विहियमत्तइँ ।
पुण्णेँ विणु उज्जमइँ णिरत्थइँ तेँ विणु सुहु णउ लब्भइँ ।)
इय चिंतिवि पुणु तेहिँ पसंसिउ कलुसभाउ णउ तो वि विहंसिउ ।
रयणणिहाणु अणग्घु णिएप्पिणु बीयपत्तु पुणु तह वाएप्पिणु ।
पिउणा चिंतिउ लोहु ण किज्जइ लोहेँ इह-भउ पर-भउ हिज्जइ ।
जाव ण अक्खइ को वि णरेंदहु बुद्धवयणु अरि-तिमिर-दिणेँदहु ।
ताव हि गंपि तत्थ जाइज्जइ मणिगण-लेहेँ सहु तहु विज्जइ ।
इय चिंतिवि पहुडाइँ णवल्लइँ रयणइँ सव्वइँ लेप्पिणु भल्लइँ ।

घत्ता—गउ रायणिहेलणु सेट्ठि सपरियणु धणकुमार-सुपरियरिउ ।
पुणु णिववरु सारउ णीयवियारउ णमिउ तेहिँ बहुगुणभरिउ ॥ २० ॥

[२-८]

पलंगके पायोंको साफ करने पर माताको उनके भीतर अमूल्य-रत्नोंके साथ बीजक-पत्र प्राप्त होता है।

धन्यकुमारके सभी बड़े भाई मलिनमन हो गए। (इधर) धनदत्त (धन्यकुमार) ने माता-पिताको प्रणाम किया। पुनः भाइयों एवं बन्धुओंके प्रति भी विनयगुण प्रकट किया। सभीने उसे आशीर्वाद दिया।

पुत्रके गुणोंको ही ग्रहण करने वाली माताने रजसे मलिन खट्वांगों (पायों) को देखा, तो पुत्रसे छिपाकर, जलकी पर्याप्त-मात्रासे उन्हें धोया। अधिक मलनेसे वे (सालपाटी आदि) जब साफ हो गये, तभी उन पायोंके भीतर सुरक्षित एवं अपनी प्रभासे स्फुरायमान पाँच रत्नोंके ऊपर सेठानी की दृष्टि पड़ी। उसने अपनी चतुराईके साथ देदीप्यमान उन सभी रत्नोंको निकाल लिया। पुनः पलंगके चारों पायोंको उसने ध्यानपूर्वक देखा। उन पायोंके विवरोंमेंसे प्रत्येकमें उतने-उतने ही (पाँच-पाँच) रत्न निकल पड़े, जिस कारण वह भवन हँसता सा प्रतीत होने लगा। पुनः वर्णों सहित (लिखा हुआ) एक बीजक-पत्र भी मिला। मानों, पूर्वोपार्जित-पुण्यके फलसे उसका प्रच्छन्न-सौभाग्य ही प्रकट हो गया हो।

घत्ता—तब धनदत्त (धन्यकुमार) की, स्वजनोंको सुखकारी माताने अपने बड़े पुत्रोंसे कहा—'स्थिर बुद्धिसे आओ और पुण्यकी सहायतासे तुम्हारे छोटे भाईने जो धनार्जन किया है, उसे देखो' ॥१९॥

[२-९]

माता-पिताने धन्यकुमारके भाग्यकी सराहनाकर वे रत्न उसके बड़े भाइयोंको दिखाए।

रत्नोंको देखकर उन्हें मनमें ताज्जुब (आश्चर्य) हुआ और कहने लगे कि 'हम सब पुण्यहीन हैं। पुण्याधिकतासे ही सकलऋद्धियाँ सम्पन्न होती हैं। पुण्यके बिना हाथमें होनेवाली लक्ष्मी भी भाग जाती है। पुण्यसे ही समस्त व्यापार (सफल) होते हैं। और (पुण्यसे ही) परिजन आदि ममत्त्व रखते हैं। पुण्यके बिना (समस्त) उद्यम निरर्थक हो जाते हैं। उसके बिना (कोई) सुख नहीं मिलता।' इस प्रकार विचारकर (यद्यपि) बड़े भाइयोंने उस (लघु भाई) की प्रशंसा की। (किन्तु वे) कलुष भाव फिर भी नहीं छोड़ सके।

अनर्घ्य रत्नोंके निधानको लेकर तथा बीजकपत्रको बार-बार बाँचकर पिताने विचारा कि 'लोभ नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे यह भव और परभव दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। दुष्टवचन बोलनेवाला कोई (हमारा) शत्रु, अन्धकारके लिए दिनेन्द्रके समान (यहाँके) राजाको जाकर कह न सके और उसके पूर्व ही हमें राजाके पास चल देना चाहिए तथा लेख (-पत्र) के साथ ही यह मणिसमूह उसे दे देना चाहिए'। इस प्रकार विचार कर और भली नवीन-नवीन भेंटोके साथ रत्नोंको लेकर—

घत्ता—धन्यकुमार (धनदत्त) एवं अपने परिजनों सहित वह सेठ राजाके पास गया। (वहाँ) उन्होंने बहुगुणी एवं नीति-विचारक उस शिरोमणि राजाको नमस्कार किया ॥२०॥

[२-१०]

ठवेप्पिणु रायहु अग्गपएस   सुवण्णहँ भायणि वण्णविसेस ।
पदंसिउ रायहु मणिवरपुंजु   सलेहु वि णं महि उग्गउ सुज्जु[1] ।
णिएवि अणग्घइँ ताइँ जि राउ   सबीय अलंकिय भणइ सराउ ।
पइंपहु कारणि केण सपुत्त   ससाय बणीसर रयणज्जुत्त ।
सतेयहिँ णिज्जिय जेँ गहचक्कु   सबीजउ किं गुणु मणिहिँ थवक्कु ।
पयंपइ सेट्ठि णमंसिवि पाय   सुकारणु वट्टइ भो सुणि राय ।
पहु महु णंदण एह कणिट्ठु   [× × × ×]
रमइ[2] सइच्छइँ पुण्णवसेण   गया दिण के वि पसण्णमणेण ।
पुणु अण्णहिँ वासरि[3] अप्पिवि दव्वु   पएसिउ आवणि लोयहँ भव्वु ।
पयासिउ ता ववसाउ अणेण   पगिण्हिउ गड्डुउ सव्वघणेण ।
सुइंधणु पूरिउ वसहसमाणु   पुणो मणि चिंतइ धीरु सजाणु ।
सलाहु वणिज्जु जि जायउ एहु   पगच्छइ अग्गइ पुणु किय णेहु ।
पगिण्हिउ मेसु समप्पिवि तं पि   पुणो सु वि गच्छइ अग्गइ तं पि ।
तलारु मसाण-णिवासिउ को वि   सुपत्तउ मंचउ ता सिर लेवि ।
पयच्छिवि मेसउ तासु खणेण   सुदड्ढउ जुण्णउ गिण्हिउ एण ।
पुणो णियगेहि समायउ बालु   स उट्ठिय माय णिएवि गुणालु ।

घत्ता—णियपुत्तविढत्तउ चिरमलु लित्तउ पक्खालइ जा जणणि तहु ।
ता मंचय-पायहु लच्छि-सहायहु विवरट्ठमणिगणु पडिउ लहु ॥ २१ ॥

[२-११]

अण्णु वि बीयपत्तु अलंकिउ   दिट्ठउ चिरु णियणामालंकिउ ।
अम्हहँ मणि ता संक उवण्णी   णिवहु वत्थु किम गिण्हमि छण्णी ।
कारणु राय-राय इहु जाणहि   रयण स-लेहि णियय गिहठाणहिँ ।
अम्हइ तुव किंकरह समाणइ   एह लच्छि किम[4] पइसुइ माणइँ ।
सेट्ठिहु भासिउ णिउ णिसुणेप्पिणु   धणयकुमारह सम्मुहु णिएप्पिणु ।
स-करेँ बीउपत्तु धारेप्पिणु   अप्पिउ धणयहु पढहि भणेप्पिणु ।
तेण महापसाउ जंपेविणु   णियसिरि धारिउ लेहु णवेप्पिणु ।
तं णिएवि संतुट्ठउ राणउ   सेट्ठिपुत्तु तुव कलगुणठाणउ ।
पुणु पढणाढत्तउ णियवयणेँ   अत्थ-मत्त-सुद्धउ थिरणयणेँ ।

---

१. क. बिणामहि उग्गउ सज्जु । २. क. रमउ । ३. क. पुणाणहिं वासहि । ४. क. को ।

[२-१०]

उन रत्नोंको राज्य-सम्पत्ति मानकर पिता-पुत्र राजाको समर्पित करने दरबारमें पहुँचते हैं।

सुन्दर वर्णवाले स्वर्णके भाजनको राजाके आगे रखकर उसे सेठने बीजपत्र-लेख सहित वह मणि-पुञ्ज दिखाया। उनकी प्रभासे ऐसा प्रतीत होता था मानों (आकाशके बिना) महीमें ही सूर्यका उदय हो गया हो। बीजकपत्रसे अलंकृत उन अनर्घ्य-रत्नोंका अवलोकन कर राजा अनुराग-पूर्वक बोला—'हे वणीश्वर, पुत्रके साथ इस रत्नराशिको यहाँ ले आनेका क्या कारण है? उसे कहिए। इन रत्नोंने तो अपने तेजसे ग्रहचक्रको ही जीत लिया है। यह बीजक भी क्या मणियोंके साथ ही रखा था?' सेठ चरणोंमें नमस्कार कर बोला—

"हे राजन्, उसका जो कारण है, उसे सुनिए। हे प्रभो, यह मेरा कनिष्ठ पुत्र है [इसका नाम धन्यकुमार है]। उसने पुण्यके फलसे प्रसन्नमन होकर स्वेच्छया घूमा-घामीमें कितने ही दिन बिता दिए। किन्तु, अन्य किसी एक दिन मैंने लोकप्रिय इसको द्रव्य देकर बाजार भेजा। उसने उससे व्यवसाय किया और अपना समस्त धन देकर एक गाड़ी खरीदी। वह (गाड़ी) बैलों सहित इन्धनसे पूर्ण थी। पुनः धीर एवं जानकार उस (बालक) ने मन में विचारा कि 'यह लाभ-सहित (अच्छा) व्यापार हुआ। पुनः कृतस्नेही वह (धन्यकुमार) आगे जाता है। वहाँ भी वह उस गाड़ीको देकर एक मेंढ़ा ले लेता है और फिर वह वहाँसे भी आगे बढ़ जाता है। उसी समय कोई श्मशान-निवासी तलार (मातंग) मँचिया (पलंग) को सिरपर लेकर आ पहुँचा। उसी क्षण उसे यह मेंढा देकर उससे वह सुदग्ध एवं जीर्ण पलंग ले लिया। तत्पश्चात् यह बालक (उसे लेकर) अपने घर आया। उस गुणालय-पुत्रको देखकर उसकी माँ मंगल-विधि के लिए उठी।

घत्ता—उसने अपने पुत्रके द्वारा अर्जित, मंचा (पलंग) के पायोंमें चिरकालसे लिपे मैल को जब धोया, तभी उनके विवरोंसे लक्ष्मीके सहायक ये मणिगण दिखाई दिए" ॥२१॥

[२-११]

पलंगके पाएसे निकले हुए बीजकपत्रको धन्यकुमार पढ़कर राजाको सुनाता है।

और भी, "प्राचीन अपने-अपने नामोंसे अलंकृत (जब) यह सुन्दर बीजक-पत्र देखा, तब हमारे मनमें तत्क्षण (यह) शंका उत्पन्न हुई कि 'यह तो राजाकी वस्तु है, इसे मैं कैसे लूँ? हे राज-राजेश्वर, लेख सहित इन रत्नोंका अपने राजप्रासादमें आनेका यही कारण जानिए। मैं तो आपके किंकरके समान हूँ, आपकी इस लक्ष्मीको अपनी कैसे मान सकता हूँ?" राजाने सेठके वचनोंको सुन कर, धन्यकुमारकी ओर देखकर तथा अपने हाथमें बीजपत्र धारण कर 'इसे पढ़ो' यह कहकर वह उसे दे दिया। उस पुत्रने भी 'आपकी महान् कृपा है' यह कहकर तथा नमस्कार कर उस लेखको अपने सिरपर रख लिया। उसे देखकर राजा सन्तुष्ट हुआ और बोला—'हे सेठ, तुम्हारा यह पुत्र कला एवं गुणोंका स्थान है।' पुनः उस पुत्रने राजाके आदेशसे स्थिर-नेत्र होकर अर्थ और मात्राकी शुद्धि-पूर्वक उस लेखको पढ़ना प्रारम्भ किया। (उसमें लिखा था कि)—"इस नगरीमें पुराने समयमें एक

एत्थ णयरि चिरु राणउ हुंतउ णोइमग्गि पययणु थक्कंतउ ।
तिण[1] णिवेण णियगेहब्भंतरि धरियणिहाण-कलस-छण्णा करि ।
अण्ण वि णियसिज्जा-पायंतरि रयण-सबीजें णिहियइँ णियकरि ।

घत्ता—तं सुणिवि णरेसरु मणि विंभियपरु चिंतइ बालु पुण्णाहिउ ।
कहँ कणय-समप्पणु लक्कड-विक्कणु कहँ रयणहँ णिग्गमु कहिउ ॥ २२ ॥

[२-१२]

इय चिंतिवि णउ सामण्णु एहु चिरअज्जियपुण्णें लच्छिगेहु ।
सम्माणउ धणउ णरेसरेण वत्थालंकारें थुइगिरेण ।
स-करें गिण्हिवि[2] है रयणइँ णिवेण सहु बीएँ अप्पिय तहँ खणेण ।
लइ-लेहि वच्छ विलसेहि सव्वु चिरु गेहि णिहिउ लइ सव्वु दव्वु ।
कइपुण्णउ भासिवि जणहु तेण पुणु गयसिरि रोप्पिवि गउरवेण ।
राणउ भणइ हउँ धण्णु लोइ जसु रज्जें [सुह] णरु एम होइ ।
सेट्ठिहु भासिउ तुहुँ एत्थु धण्णु जसु पुण्णमुत्ति सुउ कुलि उवण्णु ।
बहु संसिवि पेसिउ गेहि सेट्ठि सहु पुत्तें सयणें जणिय हिट्ठि ।
गउ सावासहिँ वणिवर सणाहु धणउ वि सुह विलसइ जा अबाहु ।
अण्णहिँ दिणि तायहु पय णवेवि भासइ कयपुण्णउ मुहु णिएवि ।

घत्ता—चिरु णरवर-मंदिरि णयणासुंदरि जं णिहाण कसणइँ वरइँ ।
तं तुम्हाएसें ताय विसेसें कड्ढिवि आणमि णियघरइँ ॥ २३ ॥

[२-१३]

तं सुणिवि भणइ सिरिदत्तु सेट्ठि इहु वयणु ण महु मणि जणइ हिट्ठि ।
परयार-चोर जे पावकम्म तें णिउ घल्लावइ जहिँ सछम्म ।
कोइ वि जीवंतउ पुणु ण[3] एइ रक्खसु दुट्ठउ कु वि तहिँ गिलेइ ।
किह तुव पेसमि हउँ तत्थ पुत्त जम-विवरि सहत्थें अइपवित्त ।
तुह कुलमंडणु[4] महु भवणदीउ धणु अत्थि असंख[5] अवण्णणीउ ।
अइलोहें णासइ जसु सुधम्म अइलोहें णासइ सुहियकम्म ।
अइलोह ण किज्जइ सुव विणीय लोहें हवंति जण णिंदणीय ।
इय सुणिवि भणइ धणयत्तु तासु बिण्णि वि कर जोडिवि णियपियासु ।
उज्जम विणु णासइ घरहु लच्छि भणइ ण हु परिणिय तहु मयच्छि ।

---

१. क. तिणि । २. क. गिण्णिवि । ३. क. वि. । ४. क. मंडलु । ५. क. असंखउ वणणीय ।

राजा हुआ, जो नीति-मार्गसे प्रजाजनोंका पालन करता है। उसने अपने घरके भीतर निधानोंमे भरे हुए कलश छिपाकर रखे हैं। और भी कि—अपनी शैय्याके पायोंके भीतर बीज सहित रत्नोंको अपने हाथसे सुरक्षित रखा है।"

घत्ता—पत्र सुनकर नरेश्वरका मन बहुत विस्मित हुआ और विचार करने लगा—'यह बालक बड़ा पुण्यात्मा है। कहाँ तो स्वर्ण देकर लकड़ियोंका खरीदना तथा बेचना तथा कहाँ (मंचियाके पायोंसे) रत्नोंके निकलनेकी सूचना (यहाँ आकर) देना।' ॥२२॥

[२-१२]

जन-सामान्यने धन्यकुमारको 'कृतपुण्य' की उपाधिसे विभूषित किया।

'यह कोई सामान्य पुरुष नहीं है। चिरकालसे अर्जित पुण्यके फलस्वरूप यह लक्ष्मीका घर ही है।' इस प्रकार विचार करके उस नरेश्वरने धन्यकुमारका धन एवं वस्त्रालंकारोंसे सम्मान तथा वाणीसे संस्तुति की। उन रत्नोंको अपने हाथमें लेकर राजाने तत्काल ही उन्हें बीजकके साथ उस धन्यकुमारको अर्पित कर दिए। (और कहा—) 'हे वत्स, इन्हें ले लो तथा (बीजक पत्रानुसार) घरमें सुरक्षित समस्त खजाना लेकर चिरकाल तक उसका विलास करो।' उसने जनसमूहके सम्मुख उसे 'कृतपुण्य' की उपाधिसे विभूषितकर गौरवके साथ उसे हाथी पर बैठाया और कहा—"मैं इस संसारमें धन्य हूँ कि जिसके राज्यमें ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं।" फिर उसने सेठसे भी कहा—'इस लोकमें आप धन्य हैं, जिसके कुलमें ऐसा पुण्यमूर्ति सुत उत्पन्न हुआ है।" (इस प्रकार) राजाने हर्षित-मनसे अत्यन्त प्रशंसा कर पुत्र एवं स्वजनोंके साथ उस सेठको अपने घर भेजा। वह वणिक्वर सपरिवार अपने आवास गया और धन्यकुमार भी बाधारहित होकर सुखविलास करने लगा।

अन्य किसी एक दिन पिताके चरणोंमें प्रणामकर तथा उनकी ओर देखकर उस कृतपुण्य (धन्यकुमार) ने कहा :—

घत्ता—'नेत्रोंको असुन्दर (जीर्ण-शीर्ण) दिखाई देनेवाले प्राचीन राजभवन में निधान युक्त जो उत्तम कसेंडियाँ (कलश) गड़ी हैं, हे तात, उन्हें आपकी विशेष आज्ञा से काढ़कर (निकालकर) अपने घर ले आता हूँ।' ॥२३॥

[२-१३]

प्रच्छन्न-निधिको उखाड़ लानेके लिए धन्यकुमार पितासे आज्ञा लेकर प्रस्थान करता है।

पुत्रके उस कथनको सुनकर श्रीदत्त सेठ बोला (कि हे पुत्र)—'तुम्हारा कथन मेरे मनमें हर्ष उत्पन्न नहीं करता। (मैंने सुना है कि) जो परस्त्री-रत हैं, चोर हैं, पापकर्मी एवं छल-छिद्र करनेवाले है, उन्हें राजा उसी भवनमें (कैदकर) डाल देता है। वहाँसे कोई भी जीवित नहीं लौट पाता। कोई दुष्ट राक्षस उन्हें वहीं निगल जाता है। अतः हे अतिपवित्र पुत्र, तुम्हें मैं अपने हाथोंसे ही उस यमराजके विवरमें कैसे भेज सकता हूँ? तुम कुलके शृंगार हो, मेरे भवनके दीपक हो। हमारे यहाँ अवर्णनीय असंख्य धन है ही। हे पुत्र, अतिलोभसे यश और धर्मका नाश हो जाता है। अतिलोभसे हितकारी कार्योंका (भी) नाश हो जाता है। (अतः) हे विनीत पुत्र, अतिलोभ नहीं करना चाहिए। (क्योंकि) लोभसे व्यक्ति निन्दनीय हो जाता है।'

उज्जम विणु होइ ण का वि सिद्धि उज्जम विणु दुह-दालिद्द-विद्धि ।
जं उज्जमेण पावियइ दव्वु तं लोहु ण उच्चइ ताय भव्वु ।
परु वंचिवि जं अज्जियइ वित्तु तं लोहु भणइ जिणु णाण-णेत्तु ।
इय जाणिवि उज्जमु करिमि ताय भवियव्वु हवेसइ मण्णि वाय ।
इय वयण णिरोहिउ सेट्ठि तेण रायहु पुणु अक्खिउ सुहमणेण ।

घत्ता—राणउ पुरवर-जण कोऊहलमण धणयत्तु वि णिय-परियणेण ।
जय-जय-वरसद्दें तूरणिणद्दें णिहि-गेहासमि गयखणेण ॥ २४ ॥

[२-१४]

धणएँ ताम भुवण-भवतारउ[1] जिणु अंचिवि भवलक्खणिवारउ ।
जणणी-जणण णिवहु पय पणविवि पंचपरमगुरु णियमणि सुमरिवि ।
वसुणंदउ करवालु धरेप्पिणु सुहडु पइट्ठु गेहि विहिसेप्पिणु ।
पुरलोएँ[2] हा-हारउ मुक्कउ किहँ कयपुण्णउ कालें चुक्कउ ।
जणणी-जणणु मुच्छ-विहि पाविय रायपमुह बहुदुक्खें पाविय ।
तत्थ णिवासिय रक्खसु सुरवर भणिय गंपि तहु पुण्ण जईसर ।
उसणंजलिए[3] ण्हावइ जो वरवत्थइँ रयणाहरणइँ दिण्ण पसत्थइँ ।
पुणु णवेवि कर जोडिवि जंपिय तुव पुण्णें अम्हइँ चिरु थप्पिय ।
लइ णिहाण-कलसइँ गेहें सहु विलसहि सामि म संकहि इह कहु ।
तुहुँ पुण्णाहिउ साहसमंदिरु सुरवरणर पुणु णयणाणंदणु ।
इय जंपिवि वज्जंतहि तूरहिँ धणउ विसज्जिउ जयसरपूरहिँ ।
मिलिय गंपि णिय-सयणहँ विंदहु णविय पाय गुरु-जणहु रेहहु ।
आलिंगिवि सव्वेहिँ पसंसिउ पुण्णाहिउ देवेहिँ णमंसिउ ।
मंगलसद्दें गेहि पराणिउ कयपुण्णें भुवणयलहँ जाणिउ ।
धम्में रयणणिहाणइँ मंदिरि धम्में भउ णत्थि गिरि कंदरि ।
धम्में णमहिँ सुरासुर-विंतर धम्में होंति रयण-णिम्मिय-घर ।
जाणिवि एम धम्मु घर्णे[4]-संचहु मा कुडिलत्तु भणिवि परु वंचहु ।

---

१. क. भूवण वतारउ । २. क. परलोए । ३. क उसमंजलिए । ४. क. जण ।

यह सुनकर धनदत्त (धन्यकुमार) दोनों हाथ जोड़कर तथा प्रणामकर अपने पितासे बोला—'उद्यमके बिना घरकी लक्ष्मी नष्ट हो जाती है। परिणीताके लिये मृत्के नेत्रकी उपमा नहीं दी जाती। उद्यमके बिना कोई भी सिद्धि नहीं होती, उद्यम के बिना दुःख एवं दरिद्रताकी ही वृद्धि होती है। उद्यमसे जो भव्य-द्रव्य प्राप्त होता है, हे तात्, उसको लोभ नहीं कहा जाता। बल्कि, दूसरों को ठगकर जो धन कमाया जाता है, उसे ही ज्ञाननेत्र जिनेन्द्रने लोभ कहा है। ऐसा जानकर हे तात्, मैं उद्यम करूँगा। जो भवितव्य होगा सो होगा ही। अतः मेरी बात मानें (और मुझे जाने दें)' इस प्रकार पितासे अनुरोधकर उस धन्यकुमारने शुभमनसे (वही बात) राजासे कही।

घत्ता—राजा एवं नगरके लोगोंका मन कौतूहलसे भर गया। धनदत्त (धन्यकुमार) भी अपने परिजनोंके साथ जय-जय शब्दों तथा तूरके निनादके साथ उसी समय निधिपूर्ण उस घर की ओर चलनेकी तैयारी करने लगा ॥२४॥

[२-१४]

जीर्ण-शीर्ण भवनमें स्थित भयानक-राक्षस धन्यकुमारका स्वागतकर उसे प्रच्छन्न-निधि सौंप देता है।

भुवन-भ्रमणसे तारनेवाले तथा लक्ष-लक्ष भवोंका निवारण करनेवाले जिनेन्द्रकी अर्चना कर, माता-पिता और राजाके चरणोंमें प्रणाम कर एवं पच-परम गुरुका अपने मनमें स्मरणकर उस आठवें पुत्र सुभट धन्यकुमारने तलवार हाथमें लेकर हँसते हुए उस भवनमें प्रवेश किया। नगरके लोग हाहाकार करने लगे। (और प्रार्थना करने लगे कि)—"यह 'कृतपुण्य' किसी भी प्रकार काल-से छूट जाय।" माता-पिता मूर्च्छित हो गए और राजा आदि प्रमुख लोग भी बड़े दुखी हो गए।

उस जीर्ण-शीर्ण राजभवनमें निवास करनेवाला वह राक्षस तथा देव एवं यतीश्वर वहाँ आए और उन्होंने उस पुण्यात्माकी स्तुति की। उस राक्षसने धन्यकुमारको उष्णजल-से स्नान करा-कर उत्तम वस्त्र एवं प्रशस्त रत्नाभरण प्रदान किए। पुनः वह हाथ जोड़कर एवं नमस्कार कर बोला—'तुम्हारे पुण्यसे ही हमने इस भवनमें निधान-कलशोंको चिरकालसे सुरक्षित रखा है। तुम उन्हें ले लो और हे स्वामिन्, उनका भोग-विलास करो। यहाँ मनमें कुछ भी शंका मत करो। तुम पुण्या-धिप हो, साहसके मन्दिर हो। देवों एवं मनुष्योंके नेत्रोंको आनन्द देनेवाले हो।' इस प्रकार कह-कर (उस राक्षसने) तूर आदि बाजे-बजाते हुए जय-जय स्वरके प्रवाहसे युक्त धन्यकुमारको वापिस भेज दिया। वापिस लौटकर वह कुमार स्वजन-वृन्दसे मिला और गुरुजनोंके चरण-कमलोंमें नम-स्कार कर आनन्दित किया। पुण्यातिशयताके कारण देवों द्वारा नमस्कृत उस धन्यकुमारका सभीने आलिंगनकर प्रशंसा की। मंगल-शब्दोंके साथ उसे गृहप्रवेश कराया गया। पूर्वकृत पुण्यफलसे वह भुवनतलमें प्रसिद्ध हो गया। ठीक ही कहा गया है कि—'धर्म-फलसे घरमें ही रत्नोंके निधान मिल जाते हैं। धर्म-फलसे गिरि-कन्दरोंमें भी भय नहीं रहता, धर्म-फलसे सुर-असुर एवं व्यन्तर भी नमस्कार करते हैं। धर्म-फलसे रत्ननिर्मित घर भी बन जाते हैं।' इस प्रकार धर्म जानकर कुटिलता-पूर्वक बोलकर तथा दूसरोंको ठगकर धनका संचय मत करो'।

घत्ता—कयपुण्णउ[1] पुण्णें पाविउ पुण्णें भुंजइ सुहु सव्वहिँ अहिउ ।
सव्वहिँ पुरि वल्लहु रयणु व दुल्लहु णिवसइ जा परियणमहिउ ।। २५ ।।

इय सिरिधणकुमारचरिए कयसुअभावणविप्फुरिए सिरिपंडिय-रइधु-विरइए सिरिपुण्णपाल-सुत-साहु-सिरिभुल्लणणामंकिए धणकुमारणिहि-लाह वण्णणो णाम बीउ-संधि-परिच्छेउ समत्तो । संधि—२

यः श्री जायसवंसमण्डनरविः सत्पात्रदाने रतः,
दीनानाथ-दरिद्र-दुःख-दुखितां तेषां हि चिन्तामणिः ।
शत्रूणामभिमान-शेखर-शिखा येनात्र सम्मण्डिता,
सोऽयं काव्यरसायनैकरसिको भूनन्दताद्भुल्लणः ।। २ ।।

●

---

१. क. कयपुणिउ ।

घत्ता—कृतपुण्यने (अपने) पुण्यसे धन पाया। पुण्य-फलसे ही सबसे अधिक सुख भोगने लगा। वह पुण्यसे ही नगर भरमें सबका वल्लभ हुआ। वह रत्नकी तरह दुर्लभ एवं परिजनोंसे पूजित होकर रहने लगा ॥२५॥

इस प्रकारकी गई श्रुतभावनासे स्फुरायमान होकर, श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित श्री-पुण्यपालके पुत्र साहू भुल्लणके नामसे अंकित 'श्री धन्यकुमारचरितमें' धन्यकुमारका निधिलाभ-वर्णन करनेवाला दूसरा सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ। संधि ॥२॥

जो श्री जैसवाल-वंशका भूषण-सूर्य है, सत्पात्रोंको दान देनेमें रत है, जो दीन, अनाथ एवं दरिद्रों आदिके दुःखसे दुःखी हैं, उनके लिए जो चिन्तामणि है। शत्रुओंके अभिमानरूपी शेखरकी शिखाको जिसने शान्त कर दिया है, वह काव्यरूपी रसायनका अद्वितीय-रसिक भुल्लण साहू इस पृथ्वीपर आनन्दित रहे ॥२॥ (आशीर्वाद)

संधि—३

[३-१]

घत्ता—ता तासु सहोयर बहुमायायर चिंतहिँ अम्हहँ लहुउ इहु ।
जणि पायडि जायउ णरवइ रायउ जणणि-जणणहु जिणिय-विहु ॥ छ ॥

अम्हइँ पुणु को वि ण मुणइ णामु   धणउ वि सव्वहँ णयणाहिरामु ।
विणु णामेँ किं पुणु जीविएण   रंडत्तणि किं पुणु णिवसिएण ।
एयहु अग्गइ अम्हहँ पयाउ   णउ फुरइ कह वि जण-जणियराउ ।
इय चिंतिवि कियउ उवाउ तेहिँ   धणउ वि कोक्किउ बहुगउरवेहिँ ।
चल्लहु बाविहिँ जलकीलणत्थि   विलसहु अणुराएँ अम्ह सत्थि ।
इउ होउ भणिवि गय सयल तत्थ   उत्तारिय रयणाहरण-वत्थ ।
पोत्तइँ परिधाविवि ताइँ[1] कोल   आरंभिय णेहेँ चइवि वील ।
परसप्पर कं अंजलि छिवंति   जल-अंतरि थाय वि पय छिवंति ।
रगंति रगंति तरंति ण्हंति   करचरणहिँ जो डोहि विच्छण्ण हुंति ।
पुणु कूडमंतु धारेवि चित्ति   बाविहसिरि थाविवि ते ववत्ति ।
परसप्पर जंपिय दीहकालु   तोयंतरि थक्कइ जे गुणालु ।
दीणारलक्खु सो जिणइ कंतु[2]   अण्णु जि अम्हहँ सव्वहँ महंतु ।
णिसुणिवि भायहँ वयण तेण   इय होउ भणिउ कयपुण्णिएण ।
पुणि झंप विण्ण सव्वहिँ खणेण   ते पावइँ[3] चिंतहिँ ता मणेण ।

घत्ता—इहु अम्हहँ अवसरु पुण्णइ ण कुवि परु बाविह मह झंपु ण करिवि ।
अम्हहँ जाइज्जइ सुहि णिवसिज्जइ भुंजउ सो णियकम्म सरिवि ॥ २६ ॥

[३-२]

इय मंतु पमंतिवि पाविएहिँ   बावी-मुहु मुद्दिउ वरसिलेहिँ ।
गय गेहि ण धारिय चित्ति संक   लित्ता पाविय बहु पाव-पंक ।

---

१. क. तोइ । २. क. मंतु । ३. क. पीवइ ।

संधि—३

[३-१]

कपटी बड़े भाई धन्यकुमारको जलक्रीड़ा-हेतु बावड़ीपर ले जाते हैं तथा डुबकी लगाए हुए धन्यकुमारको उसीमें छोड़कर तथा वापीमुख बन्दकर चुपचाप घर आ जाते हैं।

तब उसके महान् मायाचारी समस्त सहोदर भाई अपने मनमें चिन्ता करने लगे कि—"हमारा लघु-भ्राता लोगोंमें प्रसिद्ध हो गया है, राजा उसे अनुराग करने लगा है तथा माता-पिता के लिए वह धैर्यका कारण बन गया है। ॥छ॥

"—और हमारे नामको कोई भी नहीं जानता। धनदत्त (धन्यकुमार) ही सबके नेत्रोंका प्रिय हो गया है। (किन्तु) प्रसिद्धिके बिना जीते रहनेसे लाभ ही क्या और रांडपनेमें जीवित रहनेसे क्या लाभ? इस लघु भाईके आगे हमारा प्रताप नहीं फुरेगा तथा कहीं भी लोगोंसे अनुराग नहीं बढ़ पायगा।" इस प्रकार विचार कर उन्होंने एक उपाय किया। धनदत्त (धन्यकुमार) को (उन्होंने) बड़े गौरवके साथ बुलाया (और कहा—) "जलक्रीड़ाके लिए बावड़ीपर चलो और अनुरागपूर्वक हमारे साथ विलास करो।" 'ऐसा ही होगा' कहकर सभी वहाँ (बावड़ीपर) गए, रत्नाभरण एवं वस्त्र उतारे और सभी बच्चे इधर-उधर दौड़ने लगे। इस प्रकार स्नेहपूर्वक तथा लज्जा छोड़कर (उन्होंने) जलक्रीड़ा आरम्भ की।

(कभी तो वे) परस्परमें जलको अंजलिसे छपछपाते थे, तो कभी जलके भीतर पैरोंसे थाँय (जमीनके पानीके) छूते थे और कभी रेंग-रेंगकर तैरते हुए स्नान करते थे, कभी हाथों एवं चरणोंसे डुबकी लगाकर छिप जाते थे। (अवसर पाकर) पुनः कूट-कपट-मन्त्रको मनमें धारण कर वे (कपटी बड़े भाई दबकर (छिपकर) बावड़ीके ऊपर खड़े हो गए और परस्परमें बोले—"हे कान्त, गुणोंका धाम जो भाई, पानीके भीतर बहुत कालतक ठहरेगा, वह एक लाख दीनार जीतेगा। और भी, कि वही हम सब लोगोंमें उत्तम माना जाएगा।" भाइयों का यह वचन सुनकर उस कृतपुण्य (धन्यकुमार) ने कहा—'ऐसा ही होगा' और उसी क्षण सभी भाइयोंने पुनः झाँप दी (कूद पड़े)। तभी मनमें वे (सातों कपटी भाई) प्रसन्न होकर विचारने लगे—

घत्ता—"यह हम सबोंके लिए सुअवसर है जो बाद में कभी नहीं आवेगा। अतः अब इस कृतपुण्यके सम्मुख (हम लोगोंमेंसे) कोई भी बावड़ीमें झाँप (कूँद) न करे। अब हम सब भागें, सुखसे रहें और वह अकेला ही अपने कर्मोंका स्मरण कर उन्हें भोगे।" ॥२६॥

[३-२]

बड़ी कठिनाईसे धन्यकुमार बावड़ीसे निकलता है और निराश होकर चुपचाप परदेश चल देता है।

इस प्रकार उन पापियोंने सलाह-विचार करके एक बड़ी शिलासे बावड़ीका मुख ढँक दिया तथा अपने-अपने घर चल दिए। (अपने चित्तमें उन्होंने) कोई शंका भी न की, (और इस प्रकार) उन

पत्तहिँ धणयत्तु वि पउरकालु कुद्दिवि उच्छलिय सु जा गुणालु ।
ता सिरि लग्गउ पाहाण-घाउ जाणिउ गुरुभायहु समल-भाउ ।
धीरत्तु धरिउ ता चित्ति तेण भवियव्वु संभालिउ सुहमणेण ।
फिट्टइ ण सुहासुहु विहिउ कासु महु जिण-चरण पुणु जि णवरासु ।
चउविह आहारहु[1] महु[2] णिवित्ति महु सरण चरण पुणु पवित्ति ।
इय पइजारूढु गुणालु जाम णिग्गमणु जलहु दरु सरिउ ताम ।
उग्घाडिउ कर-संचारएण जलपूरेसहु णिग्गउ खणेण ।
णम-सिद्ध भणिवि कोवीण-सेसु चिंतइ णउ गच्छमि गिह-पएसु ।
णिग्गयण णिहालइ पुणु-पुणु उला [× × × × ×] ।
जहिँ बंधव बुड्ढत्तणु वहंति तहिँ सुहु केरिसि गुणियण कहंति ।
ते सुह णिवसहु रंजिय जणाहँ मइँ खमिउ असेसहँ बंधवाहँ ।
जं सुह-दुहु णिम्मउ सइँ जिएण बिणु भंतिए भुंजिव्वउ सु तेण ।
इय चिंतिवि मणि एकल्लु भल्लु चल्लिउ परएसहु चइवि सल्लु ।

घत्ता—एकल्लु णिरु चिरु[3] वज्जिय संवरु गच्छइ खणि सरइ मणि ।
णिक्कारणि भायर हुय दोसायर मज्झु उवरि वज्जिय सयणि ॥ २७ ॥

[३-३]

परमत्थेँ कोइ ण सत्तु-मित्त एकल्लु णिरंजणु णाण-दित्तु ।
इय भाव णाय सहु गच्छमाणु जा गच्छइ ता बंभणु-किसाणु ।
हलु खेडंतउ तेँ दिट्ठु जाम कोऊहलु वड्ढिउ हियइ ताम ।
विण्णाणु अउव्वु जि एहु को वि ववसाइ बंभणु सहाउ होवि ।
जाइवि विप्पहु जंपियहु तेण सिक्खावहि मज्झु इहु थिरमणेण ।
कोऊहलु जं मयउव्वु[4] दिट्ठु तुव तुट्ठेँ जाणमि हउँ सुइट्ठु ।
इय सुणिवि[5] हलिणा हलु जि तासु धणयत्तहु करि दिण्णउ सपासु ।
तुहु[6] खेडहु हउँ आणेमि तोउ जिम बिण्णि वि भुंजहिँ जणिय-मोउ ।
इय भणिवि गयउ जा विप्पु संतु हलु वाहइ ता वणिवर महंतु ।
पुणु-पुणु खेडंति लग्ग-लग्गु संखुत्तउ णिहि-कलसहं[7] [सु] लग्गु ।
णउ चलहिँ वसह अइबल-पयंड णियबलिउ वि सो सइँ[8] जाम भंड ।

---

१. क. आरत्तु । २. क. मुहु । ३. क. चरु ।
४. क. जम्माउव्वु ५. क. चिंतिवि ६. क. तहु ७. क. संकलहं ८. क. सह ।

पापियोंने अपनेको अनेक प्रकारके पापोंसे लिप्त कर लिया। जब गुणोंके धाम उस धनदत्त (धन्य-कुमार) का बहुत काल बीत गया और वह कूदकर (पुनः) उछला, तब उसके सिरमें पाषाणसे चोट लग गई। उसी समय उसने अपने बड़े भाइयोंका समल-भाव (कलुषित हृदय) जाना। शुभ-मनवाले उस धन्यकुमारने मनमें धैर्य धारणकर अपने भवितव्यको सँभाला (स्मरण किया तथा विचारने लगा कि)—"किसीका भी शुभ-अशुभ कर्म नहीं टलता। जिनवरके चरण ही अब मेरी आशा हैं। चार प्रकारके आहारोंसे मैं निवृत्ति लेता हूँ। जिनवरके चरण ही मेरे लिये शरण हैं। उन्हींमें मुझे प्रवृत्ति करना है।" इस प्रकार प्रतिज्ञा करके जब वह गुणालय जलके भीतरसे निक-लनेके लिये छलांग मारता है तभी हाथके धक्केसे शिला हट जाती है और वह जल-प्रवाहके साथ तत्काल ही बाहर निकल आता है। अवशिष्ट कौपीनमात्र धारण किए हुए (उस धन्यकुमार ने) 'सिद्धोंको नमस्कार हो' कहकर विचार किया कि 'अब मैं घर नहीं जाऊँगा।' (वहाँसे) निकलकर पुनः-पुनः (वह, लोगोंको देखता है [× × × × ×]। गुणीजन (ठीक ही) कहते हैं कि "जहाँ बन्धु-बान्धव भी दुष्टता करते हैं, वहाँ सुख कैसा? वे मेरे सभी भाई सुखसे रहें तथा लोगोंसे अनुरंजित होते रहें। मैं अपने समस्त भाइयोंसे क्षमा चाहता हूँ। जिसने जैसा सुख-दुःख-कर्म बाँधा है, सो उसे बिना किसी भ्रान्तिके भोगना ही चाहिए।" ऐसा मनमें विचारकर वह भव्य अकेला ही सभी शल्योंको छोड़कर परदेश जानेका विचार करता है।

घत्ता—वह तत्काल ही बिल्कुल अकेला तथा चिरकालसे मिले हुए समस्त श्रेष्ठ वरदानोंको छोड़कर चलने लगता है और मनमें स्मरण करता है कि "अकारण ही मेरे भाई स्वजनोंको छोड़कर मेरे ऊपर द्वेष करनेवाले क्यों हुए"?॥२७॥

[३-२]

मार्गमें खेत जोतते हुए ब्राह्मण-किसानसे हल लेकर धन्यकुमार कुतूहलपूर्वक उसे चलाने लगता है। संयोगसे वह हल निधि-कलशसे टकरा जाता है।

"परमार्थतः (आत्माका) न तो कोई शत्रु है और न मित्र। वह (आत्मा) एक, निरंजन एवं ज्ञानदीप्त है।" इस भावनाके साथ जाते हुए जब वह (आगे) बढ़ता है, तब उसने एक ब्राह्मण-किसानको हल खेडते हुए देखा। उसके मनमें कौतूहल बढ़ा कि यह भी कोई अपूर्व-विज्ञान है, जिसका उद्यम ब्राह्मणका सहायक है। उसने जाकर विप्रसे कहा (—हे विप्र,) "स्थिर मनसे मुझे यह सिखा दो, क्योंकि मुझे इसमें अपूर्व-कौतूहल दिखाई देता है। तुम्हारे प्रसादसे मैं इस इष्ट-कार्यको जान सकता हूँ।" यह सुनकर किसानने उस धनदत्त (धन्यकुमार) के हाथमें अपना हल दे दिया और कहा—"तुम हल खेडो। मैं मधुर जलपान ले आता हूँ, जिसे हम दोनों खावेंगे।" यह कहकर वह महान् सन्त विप्र चला गया।

उधर वह वणिकश्रेष्ठ धन्यकुमार हल चलाने लगा। पुनः-पुनः खेडते-खेडते लगे-लगे पासमें ही वह हल एक धनके कलशसे जा टकराया। अति प्रचण्ड बली बैल भी आगे नहीं चल सके। उसने स्वयं अपना बल भी लगा दिया (फिर भी हल आगे न बढ़ा)। धनदत्त (धन्यकुमार) ने धन

आयस-संकल-जडिय-कंठु दिट्ठउ धणएण णिहाण-बंदु ।
चिंतइ मइँ कियउ अकम्म कम्मु विप्पि णियखेत्तहिँ णिहिउ छम्मु ।
णिय-बंधव-पुत्तहँ कारणेण तो मइँ किउ पयडु अकारणेण ।

घत्ता—इय चिंतिवि पुणु-पुणु संवेहिय-मणु हलु णिहिखुहिउ चएवि तहिँ ।
अप्पुणु सो चल्लिउ दुक्खेँ सल्लिउ परधणु मइ उक्खणिउ कहिँ ॥२८॥

[३-४]

एत्तहिँ जलु गिण्हिवि विप्पु आउ हा पंथिउ भुक्खिउ कत्थ जाउ ।
सइँ भुंजिवि जा हलु गहइ हत्थि ता दिट्ठी तेण जि णिहि पसत्थि ।
खेडंतएह महि गय सयाइँ [× × × × × ×] ।
भग्गी कक्किणिय ण कहव लद्ध किं अक्खमि णिहि पुणु कणयवद्ध ।
संवच्छर बहु गय एहु खेत्तु जोत्ति विधणइँ पाविउ[1] पवित्तु ।
मइँ[2] मुणिउ एक्कु देसियहु पुण्णु जं इह खेत्तंतरि आउ धण्णु ।
जहिँ-जहिँ पुण्णाहिउ जाइ लोइ तहिँ-तहिँ मणवंछियसिद्धि होइ ।
इम चिंतिवि धाविउ विउ तुरंतु गच्छंतु पंथि तेँ दिट्ठु संतु ।
कोक्किउ भो पंथिय थाहि-थाहि महु वयणु एक्कु भो णिसुणि जाहि ।
तहो हलिणा भासिउ मुणिउ तेण इहु आयउ दव्वहँ कारणेण ।
णिद्दोसहु किं खलयण करंति अह कम्म-विवाउ ण कि वि हरंति ।
इय चिंतिवि थिउ मग्गंतरम्मि विप्पु वि संपत्तउ तक्खणम्मि ।
बहुविणएँ भासइ भो गुणाल मइँ हलु खेडउ चिरवीहकाल ।
पाहणु वि ण णिग्गउ जित्थु खित्ति कह णिहि-दंसणु तहिँ फुरियवित्ति ।

घत्ता—तुव पुण्णेँ भायर गुणरयणायर पयड जाय णिहि भणमि सुणु ।
सा तुज्झु जि उच्चइ[3] महु मणि रुच्चइ आवहि गिण्हहिँ[4] मित्त पुणु ॥२९॥

[३-५]

विहसिवि जंपइ धणयत्तु तहु एयहु वित्तहु तुहुँ अत्थि पहु ।
तुव खेत्तंतरि जं किं पि पुणु तं तुज्झु सव्वु भो विप्पु सुणु ।
अण्णु वि मइँ दिण्णउ जाइ तुहुँ अणुराएँ भुंजहि लच्छि सुहु ।

---

१. क. वाविउ २. क. मय ३. क. तुच्चइ ४. क. गिण्हमि ।

से भरे हुए उस बंटा (भाण्ड)की गर्दनकी लोहेकी सांकलसे जड़ा हुआ देखा। तब वह विचारने लगा कि—"मैंने यह बिना कामका काम किया। इस विप्रके द्वारा अपने बन्धु-बान्धवों एवं पुत्रके लिए अपने ही खेतमें छिपाकर रखे गए धनको मैंने अकारण ही प्रकट कर दिया।"

घत्ता—"पर-धन मैंने क्यों उखेरा (उखाड़ा) ?" यही बारम्बार विचारकर सन्दिग्ध-मन से हल एवं खुदी हुई निधिको वहीं छोड़कर दुःखकी शल्यसे युक्त वह धनदत्त (धन्यकुमार) वहाँ से (चुपचाप) चला गया ॥२८॥

[३-४]

धन्यकुमारके चुपचाप चले जानेपर ब्राह्मण-किसान उसे बुलाकर लाता है और वह निधि उसे समर्पित करने लगता है।

इतनेमें ही जल लेकर वह विप्र वापिस आया। "अरे, वह पथिक भूखा ही कहाँ चला गया ?" यह कहकर तथा स्वयं खाकर जब वह हलको हाथमें ग्रहण करता है, तभी वह उस प्रशस्त-निधिको देखता है। (उसे देखकर, वह विचार करता है कि)—"इस पृथ्वी (खेत) को खेडते (जोतते) हुए सैकड़ों वर्ष हो गये, (× × × × ×)किन्तु कभी एक फूटी कौड़ी भी नहीं पाई गई पुनः इस कनक भरे निधि-पात्रको क्या कहूँ ? मैंने इस खेतको गत कई वर्षोंसे जोता है, किन्तु उसे धन- रहित ही पाया है। मैं उस एक पुण्यवान एवं परदेशीके लिए धन्य मानता हूँ, जो यहाँ मेरे खेतमें आया था। (और जिसके पुण्यसे यह कलश मिला है)। (सच ही है) लोकमें पुण्याधिप जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहीं मनवांछित सिद्धि होती है।" ऐसा सोचकर वह द्विज तुरन्त दौड़ा।

उस सन्तने मार्गमें जाते हुए उस कुमारको देखा और जोरसे पुकारा "अरे पथिक, ठहरो-ठहरो। हे भाई, मेरा एक वचन तो सुनते जाओ।" तब किसानकी बुलाहटसे उस कुमारने समझा कि "यह यहाँ द्रव्यके कारणसे ही आया है। (किन्तु) खल-जन निर्दोषका क्या कर सकते हैं ? अथवा पापकर्मका विपाक किसीको भी नहीं छोड़ता।" ऐसा विचारकर वह मार्गमें ही रुक गया। विप्र भी तत्क्षण वहाँ पहुँच गया। वह बड़ी ही विनयके साथ बोला—"हे गुणालय, मुझे गन्नेके उस खेतमें हल जोतते हुए दीर्घकाल बीत गया किन्तु एक पाषाण भी न निकला फिर चमकती हुई प्रकाशवाली निधिका तो दर्शन ही कहाँ ?"

घत्ता—"हे गुण-रत्नाकर, हे भाई, तुम्हारे पुण्यसे ही यह निधि प्रकट हुई है, अतः मैं (जो) कहता हूँ उसे सुनो, मेरे मनमें यह बात रुचती है कि वह निधि तुम्हें मिलना उचित है। हे मित्र, आओ और उसे ग्रहण करो ॥२९॥

[३-५]

धन्यकुमार उस सम्पत्तिको अपनी ओरसे किसानको अर्पितकर आगे बढ़ जाता है और एक मुनीश्वरसे बड़े भाइयोंद्वारा रखे गए बैरका कारण पूछता है।

तब धनदत्तने हँसकर कहा—"इस धनके स्वामी आप ही हैं। हे विप्र, सुनिए, आपके खेत में कुछ भी निकले, वह सब आपका ही है। यदि आप उसे मेरा ही समझते हों तो भी, मैंने वह सब आपको ही दिया, आप आनन्दपूर्वक उस लक्ष्मीको भोगें।" विप्रने उसका वचन मान लिया

विप्पें अणुमण्णिउ वयणु तहु तहु विणउ पयासिवि आउ लहु ।
धणयत्तु वि बहुविभय-भरिउ चिंतउ चलिउ पुण्णउ चरिउ ।
काकणयणउरि[1] उववणि पउरें तहिं पत्तु धणउ कीलिय खयरें ।
फासुयफलाइं तहिं असिवि जलु आसाइवि विभय विगयमलु ।
उववणु जोवइ जा विणय-घरु ता मुणि दिट्ठउ वय-भार-धरु ।
णाणत्तय-भूसिय णिहयसरु जें भाविउ अहणिसु परमपरु ।
तं मुणिवर वंदिउ धण्णिवरिण पुणु पुच्छिउ तें सो णविवि सिरिण ।

घत्ता—सामिय महु भायर गुरुदोसायर वइरु वहहिं किं कारणिण ।
मज्झुवरि अकारणु सुहगयवारणु तं अक्खहु पहु थिरमणिण ॥३०॥

[३-६]

तं सुणिवि भणइ पोसिय-स-पक्खु मण-संसय-फोडणु णाण-चक्खु ।
एत्थत्थि भरहि वरपुव्वदेसि मागहु जणवउ सव्वहं विसेसि ।
जहिं णिच्च हलाउह-सम किसाण सोहंति विगय-मय बद्ध-ठाण ।
तहिं कमवय-णाम णयरी सुसाल णं णवजोव्वणरुद्धी-सुबाल ।
जहिं वसइ महायणु धम्मि रत्तु जिणपय आराहइ विसइ-चत्तु ।
तहिं भोगरइ वणिवरु पहाणु चिरअज्जियपुण्णें विहव-ठाणु ।
भोगवइ तहु पिय अइगुणाल णवजोव्वण-सियलंकिय-सुबाल ।
सा पुत्तत्थिणि मढ-देउलेहिं जाइवि जक्खइ पुज्जइ फलेहिं ।
कु वि हुंतउ चिरु भवि तहिं पुरम्मि मढवइ वुच्चंतउ जणवयम्मि ।
जं वत्थु पयच्छइ किं पि लोउ पुज्जाकारणि मणजणियमोउ ।
तं सव्व जि भक्खइ पावकम्मु जण-मण रंजइ भासिवि सछम्मु ।
देवल-धणु भक्खिवि मरिवि पाउ भोगवइ-गब्भि सो पुत्तु जाउ ।

घत्ता—तहु उरि संकमणें विहडियसयणें मुवउ जणणु पुणु बुहुवरि ।
लच्छी खय पाविय जा सुह-दाविय हुउ दालिद्दु भरु पवरु घरि ॥ ३१ ॥

[३-७]

पाविय जीवागमि सुह ण गेहि णउ लाहु किं पि बुहु जणिय देहि ।
मह-सोएं पुण्णउ गब्भु ताहि दोहलउ उवण्णउ ससि-मुहाहि ।

१. क. काकणयणयरि ।

और उसके प्रति विनय व्यक्त कर शीघ्र लौट आया। पुण्यचरित वह धनदत्त (धन्यकुमार) भी बड़े आश्चर्यसे भर गया और विचारता हुआ (आगे) चला।

वहाँसे वह धन्यकुमार काकनयन नामकी नगरीमें पहुँचा, जहाँके उपवनमें अनेक विद्याधर क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। वहाँ (उपवनमें) प्रासुक-फलोंका आस्वादन कर एवं निर्मल-जल पीकर वह निर्भय एवं विनयगुणका धाम धन्यकुमार जब उपवन (का सौन्दर्य) देख रहा था, तभी उसने वहाँ व्रत-भारके धारी एक मुनिराजके दर्शन किए। वे मुनिराज काम-विजयी एवं तीन ज्ञानोंसे भूषित थे तथा निरन्तर परमात्माका ध्यान करते रहते थे। धनदत्त (धन्यकुमार) सेठने उन मुनिराजकी वन्दनाकी और सिर झुकाकर उनसे पूछा—

घत्ता—"हे स्वामिन्, प्रचुर दोषोंकी खानिस्वरूप मेरे (बड़े) भाई मुझसे अकारण ही शुभ-गतिको रोकनेवाला बैर धारण किये हुए हैं, इसका क्या कारण है? हे प्रभु, स्थिर-मनसे मुझे समझावें" ॥३०॥

[३-६]

पूर्वभव वर्णन—वणिक्श्रेष्ठ भोगरतिकी कथा आरम्भ

धन्यकुमारके प्रश्नको सुनकर स्व-आत्मपक्षके पोषक, ज्ञानचक्षु तथा मनके संशयको फोड़ने वाले वे मुनिराज बोले—"यहाँ भरत-क्षेत्रके पूर्व-देशमें सभी जनपदोंमें श्रेष्ठ मगध नामका जनपद है, जहाँ हलायुध—बलभद्रके समान हल-आयुधवाले, निरभिमानी एवं उद्यमशील किसान नित्य ही सुशोभित रहते हैं। उस मगध देशमें कोटोंसे घिरी हुई कमवय नामकी नगरी है। मानों, नवयौवनमें चढ़ी हुई उत्तम कन्या ही हो। जहाँ धर्ममें अनुरागी महाजन निवास करते हैं और जो विषय-वासनाओंको छोड़कर जिन-पदोंकी आराधना किया करते हैं।

वहाँ भोगरति नामका एक प्रधान वणिक्श्रेष्ठ रहता था, जो अपने चिर अर्जित पुण्यके कारण वैभवका स्थान ही था। अनेक गुणोंकी खानि, नवयौवन एवं शीलसे अलंकृत अप्रतिम सुन्दरी भोगवती नामकी उसकी प्रिया थी। वह पुत्रार्थिनी होकर मठों एवं देवालयोंमें जा-जाकर फलोंसे यक्षोंकी पूजा किया करती थी।

बहुत समय पूर्व उसी नगरीमें कभी एक (निन्दनीय) व्यक्ति रहता था, जो जनपद भरमें मठाधिपतिके रूपमें प्रसिद्ध कहा जाता था। लोग अपनी प्रसन्नतासे पूजाके निमित्त जो कुछ भी द्रव्य देते थे, उसे वह पापकर्मी, छल-कपटी लोगोंको फुसला-बहकाकर स्वयं खा उड़ा जाता था। (इस प्रकार) देवालयका धन पचाकर वह पापी मरा और पुत्रके रूपमें भोगवतीके गर्भमें आया।

घत्ता—उसके गर्भमें आते ही स्वजन विघटित हो गये—पुनः दुःखी होकर पिता भी मर गया। जो सुख देनेवाली लक्ष्मी थी, वह भी क्षयको प्राप्त हो गई और वह समृद्ध-भवन दरिद्रता से भर गया" ॥३१॥

[३-७]

भोगरतिके पुत्र अकृतपुण्यकी दुर्दशा—वह धान्यके खेतोंमें श्रमिकका कार्य करता है।

"उस पापी जीवके (गर्भमें) आनेपर उस घरमें सुख नहीं रह पाया, न कुछ लाभ ही हुआ। माताके शरीरमें दुःख-वेदनाएँ उत्पन्न हो गईं। महावेदनाके साथ जब उसका गर्भ पूरा हुआ, तब

महदुक्खें ताइँ जि जणिउ पुत्तु   मंगल-उच्छाहु ण किंपि वुत्तु ।
णउ कूर ण पाणी किं पि ताहि   णउ रोवइ पुणु वड्ढिय दुहाहि ।
पुण्णें विणु जाणिवि पुरजणेहिँ   किउ अकयपुण्णु तहु णामु तेहिँ ।
परगिह-पेसणेण जि खविय कालु   बालउ वढारिवि दिण्णराउ ।
पोसइ पालइ महहु वसेंण   णवि कहव विरत्ती हुव सुवेण ।
अण्णहिँ वासरि छुह-दुक्ख-खीण   सुव-जणणि पुरहो णिग्गय जिरीण ।
जीविज्जइ जहिँ सो पुत्त देसु   किं एत्थु सहिज्जइ दुह-किलेसु ।
जहिँ विलसिउ अखलिउ राजु-भोगु   तहिँ भिक्ख ण जुज्जइ चइवि सोगु ।
जा गच्छहि ता मग्गंतरम्मि   सा गामिहिँ विसमिय थिरमणम्मि ।
कइपुण्णिउ पामरु वसइ तत्थ   तहु खेत्तु लुणणु गउ बाल-सत्थ ।

घत्ता—कम्म-रय-णरहिँ सहु लुणिवि खेत्तु बहु अकयपुणु अमुणिय जि विहि ।
दिवसंतिहिँ सव्विहिँ विलसिय-गव्विहिँ कयपुण्णिउ पुणु णविउ तिहि ।। ३२ ।।

[३-८]

कम्माणुसारिसो ताहँ वित्ति   दितहँ संतहँ पयडिय[1] ममत्ति ।
एक्केक्कु पाथु धणयहु भरेवि   सयलहँ दिण्णउ ते गय धरेवि ।
सव्वंत थक्कु सो अकयपुण्णु   को तुहुँ कयपुण्णें भणिउ सुण्णु ।
ता अण्णें केण वि भणिउ तासु   इहु वहिउ सव्वु विणु जेम दासु ।
भोगरइ-वणिहु भो एहु पुत्तु   चिरपावें दालिद्दें ण मुत्तु ।
एयहु जि विसेसें देहि किं पि   इय वयणु सुणिवि सो भणइ गंपि ।
हा-हा संसारु धिगत्थु एहु   बहु दुक्ख[2]-अणत्थहँ[3] वासगेहु ।
एयहु जणण हउँ होउँ दासु   तासु जि पसाइँ महु होउ गासु ।
एवहिँ तहु णंदणु दुक्खरीणु   महु मुहु[4] अवलोयइ जेम दीणु ।
धी-धी महु धणु जं सामि-पुत्तु   महि[5] हिंडइ[6] दुक्ख-दलिद्द-भुत्तु ।
इय चिंतिवि कणयाहरण-वत्थ   णिय उत्तारिवि [तं] दिण्णइ पसत्थ ।
तक्खणि पावें इंगालि जाय[7]   धग-धग-धगंत जालंति काय ।

घत्ता—उत्तारिवि तक्खणि मुक्कइ दुहमणि भणइ काँइ भो दोसु मइ ।
इह तुज्झु पयासिउ जि संतासिउ भो कुडंबिउ हु मुणहि सइ ।। ३३ ।।

---

१. क. पयमिय । २. क. दुक्खहु । ३. क. अत्थहु । ४. म. महु । ५-६. क. जं हेमइ डइ ।
७. क. जाइ ।

उस चन्द्रमुखी (सेठानी) के दोहला उत्पन्न हुआ । बड़े कष्टसे उसने पुत्र जना । (किन्तु) कोई भी मंगल-उत्सव नहीं किया गया । न कूर (भात), न पानी, कुछ भी उसको नहीं रुचा । दुःखसे भरी हुई वह माता रोई नहीं । उस पुत्रको पुण्यहीन जानकर पुरजनोंने उसका नाम 'अकृतपुण्य रख दिया । दूसरोंके घरों में (भिक्षावृत्ति से) भोजन करके उसका समय कटने लगा और (इसी प्रकार) वह बालक दिन-रात बड़ा होने लगा । (यद्यपि) बड़े कष्टोंसे माता उसे पोषती-पालती थी । परन्तु पुत्रसे उसे कभी भी विरक्ति नहीं हुई ।

अन्य किसी एक दिन क्षुधाके दुःखसे क्षीण-जीर्ण काय, वह पुत्र एवं माता नगरीसे निकल पड़ी । (मार्गमें माँ पुत्रसे कहती है—) 'हे पुत्र' देश वही है, जहाँ रहकर जीवित रहा जा सके । इस नगरीमें रहकर कहाँ तक दुःख क्लेश सहें ? जहाँ हम लोगोंने बिना किसी कष्ट के सभी राजसी सुख-भोगोंका विलास किया है, वहींपर भिक्षा मांगना उचित प्रतीत नहीं होता ।' जब वह निश्चय-मनपूर्व मार्गमें जा रही थी तभी एक ग्राममें रुकी । वहाँ 'कृतपुण्य' नामका एक उदार-हृदय कृषक निवास करता था । उसका खेत काटनेके लिये अन्य बालकोंके साथ उसका बालक अकृतपुण्य भी चला गया ।

घत्ता—अकृतपुण्य यद्यपि विधि नहीं जानता था, तो भी उसने कर्मरत व्यक्तियों (मजदूरों) के साथ बहुत खेत लुना । फिर दिनके अन्तमें गर्वके साथ विलास करते हुए सभी कर्मकर (श्रमिकों) ने कृतपुण्यको नमस्कार किया" ।।३२।।

[३-८]

कृतपुण्य द्वारा प्रदत्त वस्त्राभूषण अकृतपुण्यके शरीरको जलाने लगते हैं

कर्म—परिश्रमके अनुसार (अर्थात् जैसा जिसका कर्म-श्रम था ।) (तदनुसार) ही वह कृतपुण्य उन्हें वृत्ति (मजदूरी) देते हुए बड़ा ममत्व प्रगट करता था । उसने सभीको एक-एक प्रस्थ चने भरकर दिए । वे सभी चने लेकर (अपने-अपने) घर चले गए । वह अकृतपुण्य सभीके अन्तमें चुपचाप खड़ा था । कृतपुण्यने उससे पूछा—"तुम कौन हो ?" तब अन्य किसीने उत्तर में कहा—'इसने भी अन्य दासोंके समान पूरे दिन काम किया है । हे प्रभु, यह वणिग्वर भोग-रतिका पुत्र है । चिरपापजन्य दरिद्रताने इसे भी नहीं छोड़ा । इसे कुछ विशेष दीजिए ।"

यह वचन सुनकर वह कृतपुण्य तत्काल बोला—"हा-हा-हा-हा, अनेक प्रकारके दुःखों एवं अनर्थोंके निवासगृह इस संसारको धिक्कार है । जब इसके पिताका मैं दास था, तब उन्हींकी कृपासे मुझे ग्रास (भोजन) मिलता था और उन्हींका यह पुत्र दुःखसे क्षीण है और दीन-भिखारीके समान यह मेरे मुखको देख रहा है । मेरे धनको धिक्कार है, जो, मेरा स्वामीपुत्र दुःख दरिद्रतासे मारा हुआ पृथिवीपर भटकता फिर रहा है ।" ऐसा विचारकर उस कृतपुण्यने अपने प्रशस्त-कनकाभरण एवं वस्त्र उतारकर उसे दे दिए । किन्तु पापके उदयसे वे सब अंगारे बन गए, जो धग-धगाते हुए उसके शरीरको जलाने लगे ।

घत्ता—अकृतपुण्यने तत्क्षण ही उन्हें उतारकर फेंक दिया और दुःखी मनसे बोला—'हे भाई, मेरा क्या दोष है ? जिस प्रकार मैं सन्त्रस्त हूँ, वह आपके लिए प्रकट ही है । अतः हे कृतपुण्य, अब आप स्वयं अपना ही कुटुम्ब देखें (और मुझे छोड़े)" ।। ३३ ।।

[३-९]

कयपुण्णें चिंतिउ भग्गहीणु इहु अत्थि ण सुहियउ होइ दीणु ।
सुहु-दुहु वेणहँ णउ को समत्थु मेल्लेवि सुहासुहकम्मु एत्थु ।
इय चिंतिवि चणयह पोट्ट बंधि तहु सिरि दिण्णिय णिग्गंत रंधि ।
एत्तहिँ तहु मायरि रुलु-घुलंति हिंडइ घरि-घरि सुव-सुव भणंति ।
हा सव्व कम्मयर गेहि आय महु सुवहु वेल कह दीह जाय ।
हा किम हुउ भुक्ख किहँ जामि अज्जु विणु पुत्तें विहि दइ मरणु सज्जु ।
इय कंदमाण तेण जि पहेण सा गच्छइ जि असहिय-दुहेण ।
ता जुण्ण-वत्थ-रंघहिँ खिरंत सिरि-पोट्टलु चणया विक्खिरंत ।
आवंतउ पेच्छिवि दुक्ख-खिण्ण धाविवि आलिंगणु सुवहु दिण्ण ।
अइगरुव-धाह मुक्की दुहेण जा सुणिवि परिवरु-पिय परेण ।
पुणु-पुणु[१] सा हारिवि लुहिवि णेत्त चिरु परियणु सरिवि दुहेण खित्त ।
सिरि चुंबिवि पुणु-पुणु भणइ तासु को सेविउ चणया लद्ध कासु ।

घत्ता—मायहु तें भासिउ सव्व-दुहासिउ जेम जाउ वित्तंतु तहिँ ।
आहरणइँ दिण्णइँ मणिगण-खिण्णइँ जिम इंगालइँ जाय जहिँ ॥ ३४ ॥

[३-१०]

मायरि णिसुणिवि पुणु दुक्खें सलिलय [?]पुरु चइवि पुणु जि पहि चल्लिय ।
बिण्णि वि जंत जंत पच्छिम-दिसि मालवि-देसि पवट्टिय वरविसि ।
सीसवागपुरि बहु-धण-धण्णी भोगवइ तहिँ जाइ पवण्णी ।
तत्थ कुडंविजणहँ सुक्खेसरु अत्थि[१] असोकु[२]णामु धण-कण-धरु ।
रिसि-संखा तहु सुय संजा[-य]इ कालें गसिय ताहँ सुव मा[-य]इ ।
भेय-विवज्जिय भोयवइ पुणु सहुँ सुवेण गय तहु गेहहिँ सुणु ।
पभणइ सा भो भायर वासउ देहि मज्झु सहु सुवेण णिवासउ ।
पहर चयारि रयण णिवसिवि इह पुणु पहाइँ गच्छमि अग्गइ जिह ।
विणयालाव ताहि णिसुणेप्पिणु हुय मणि दय जंपइ पुलएप्पिणु ।
णिसुणि बहिणि हउँ तुज्झु सहोयरु बहु-धण-कण-पूरिउ सव्वहँ वरु ।
मज्झु भज्ज कालेण विवण्णा ताहि गब्भि सुव सत्त उवण्णा ।
मइँ पुणु अण्ण-विवाह-परिग्गहु गहिउ णविवि मुणिवरु अपरिग्गहु ।

---

१. क. मुणु । १-२. क. अथिय सोकु ।

[३-९]

फटे वस्त्रमें चनेकी पोटली बाँधकर अकृतपुण्य माँके पास आता है

"कृतपुण्यने विचार किया कि 'यह बेचारा भाग्यहीन है। यहाँ इसका कोई मित्र नहीं। इस संसारमें शुभ-अशुभ कर्मोंको छोड़कर अन्य कोई भी सुख-दुख देनेमें समर्थ नहीं।' ऐसा विचारकर तथा चनेकी पोटली बाँधकर (कृतपुण्यने) अकृतपुण्यके सिरपर रख दी, किन्तु पोटली-के छिद्रोंसे चने गिरने लगे।

इधर उसकी माता रोती-कलपती हुई घर-घर (जाकर) 'पुत्र'-'पुत्र' पुकारती हुई भटकने लगी। "हाय सभी कर्मकर—सेवक अपने-अपने घर आ गए। मेरे पुत्रको इतनी दीर्घ-बेला कहाँ लग गई ? हाय वह कितना भूखा होगा ? अब मैं कहाँ जाऊँ ? पुत्रके बिना ही विधिने मुझे मरण-की सजा दे दी।" इस असह्य-दुःखसे दुःखी वह भोगवती क्रन्दन करती हुई उसी मार्गसे चली। इधर अकृतपुण्यके सिरपर जीर्णवस्त्रवाली पोटलीसे चने खिरते रहनेसे वह बिखरती जा रही थी। इस प्रकार दुःखसे क्षीण पुत्रको आते हुए जब उसने देखा, तो दौड़कर उसका आलिंगनकर लिया। (दूसरोंके द्वारा कथित) अपने परिवारकी प्रशंसा (अकृतपुण्यके मुखसे) सुनकर भोगवतीने दीर्घनिःश्वास छोड़ी। सूजी-गीली आँखोंवाली वह दुःख-सन्तप्त होकर पूर्वजनोंका बार-बार स्मरण करने लगी। अकृतपुण्यका बार-बार सिर चूमकर उससे पूछने लगी कि—"किसकी सेवा की, ये चना कहाँ से पाए ?"

घत्ता—मणिगणोंसे रचित जो आभरणादि दिए गए थे, वे किस प्रकार वहीं अंगारे बन गए वह तथा अन्य दुःखाश्रित समस्त यथार्थ वृत्तान्त उस अकृतपुण्यने अपनी माताको कह सुनाया"।।३४।।

[३-१०]

शीशबागपुरका नगरसेठ-अशोक भोगवतीको बहिन बनाकर अपने यहाँ रख लेता है

"यह सुनकर माता भोगवती पुनः दुखसे भर गई और पुनः उस नगरको छोड़कर चली गई। वे दोनों ही उत्तम दिशा—पश्चिम-दिशाकी ओर चले और चलते-चलते मालव-देशमें प्रवेश-कर वह अनेक प्रकारके धन-धान्यसे समृद्ध शीशबाग नामके नगरमें पहुँची।

उस शीशबागपुरमें अपने कुटुम्बी जनोंको सुख देनेवाले एवं धन एवं स्वर्ण से युक्त अशोक नामका एक सेठ निवास करता था। उसके ऋषि-संख्यक-सात पुत्र उत्पन्न हुए। उन पुत्रोंकी माताको कालने ग्रस लिया। यह (दुर्घटना) सुनकर भोगवती संकोच-भाव छोड़कर अपने पुत्रके साथ उस सेठके घर चली गई और बोली—"हे भाई, मुझे अपने पुत्रके साथ निवास-स्थान दीजिए। रात्रिके चार पहर यहाँ रहकर प्रातःकाल होते ही मैं पुनः अपने मार्गसे आगे चली जाऊँगी।" उसके विनयपूर्ण वचन सुनकर अशोकके मनमें दया उत्पन्न हो गई और पुलकित होकर बोला—"हे बहिन, सुनो, मैं विविध धन-धान्यसे पूर्ण एवं सभीमें श्रेष्ठ हूँ तथा तुम्हारे सहोदर-भाई के समान हूँ। मेरी पत्नी की मृत्यु हो गई है। उसके गर्भ से सात पुत्र उत्पन्न हुए थे। मैंने मुनिवर को नमस्कार कर अन्य-विवाह-परिग्रह के (त्यागरूप) अपरिग्रह-व्रत को धारण किया है। (अर्थात् दूसरा विवाह न करने की प्रतिज्ञा की है)"।

घत्ता—तुहुँ मज्झु सहोयरि मा चिंता करि णिवसहि पालहि मज्झु सुया ।
महु गेहहिँ णिवसहि दुहियण पोसहि मा हिंडहि महि विहल गया ॥ ३५ ॥

[३-११]

तं णिसुणिवि भणइ भोगवइ सच्छ महु वयणु एक्कु सुणि भाय दच्छ ।
तुव वयणेँ णिवसमि सुव समाण महु वयणु करहि जइ भो सुजाण ।
भिण्णासमु अम्हह करिवि देहि णउ णिवसहुँ बिण्णि वि तुज्झ गेहिं ।
भुंजावमि ण्हावमि तुज्झु पुत्तु जं किंचि देहि गुणरयणजुत्तु ।
तं णिय-गिहि थाइवि सुय समाण भुंजमि णिवसमि णियसिसु किय ठाण ।
इउ ताइँ जि भासिउ सुणिवि तेण सा सम्माणिय बहु गउरवेण ।
सच्चेँ कुलउत्ती सीलवंत णिद्दोस-गुणायर वय-पवित्त ।
काराविवि भिण्णकुडी स ताहि दिण्णी स-कयत्थेँ बहुगुणाहि ।
वच्छउलइँ अणहु हुडिवि तेण बहिणी-पुत्तहु अप्पिय खणेण ।
कय रक्खण पुणु विरइय मणेण णिवसणहँ लग्गु तहिँ भायरेण ।
भोगवइ पालइ सुय त्ति सत्त लालइ भुंजावइ कय-ममत्त ।
णिय-जणणिसमाणेँ ते गणंति णेहेँ ण दुरक्खर पुणु भणंति ।
णवि किंपि वियप्पु वि मणि करंति णउ सुकिय-माय ते पुणु सरंति ।
जावंति असणु कंदणु करेवि विहसिवि पायट्ठहि करि धरेवि ।
अइमोहु जणंति णमंति थंति सा गणइ पुत्तसम णत्थि भंति ।
भावेण जीव बंधंति कम्म भावेण समज्जहिँ पाणि धम्म ।

घत्ता—ता भावेँ सव्वहँ वियलिय गव्वहँ णेह पवट्टिउ तेत्थु भवि ।
परिणामु जि जीवहु हिम्मइ दीवहु कारणु भासइ भुवण-रवि ॥ ३६ ॥

[३-१२]

जिह जिह ते जंपहि माय-माय जिह जिह ते जंपहि णेह वाय ।
तिह तिह णउ सहइ अपुण्णु ताहँ मणि चिंतइ दुट्ठउ भाइयाहँ ।

घत्ता—"तुम मेरी सहोदर बहिन हो। चिन्ता मत करो, यहीं रहो और पुत्रों को पालो। मेरे घर में ही रहो। दुःखी-जनों को पोषो। अब बिह्वल होकर पृथ्वी पर मत भटको" ॥३५॥

[३-११]

माँ-बेटे दोनों ही अशोकके यहाँ कार्य करने लगते हैं

"अशोकका कथन सुनकर भोगवतीने स्पष्ट कहा—"हे चतुर भाई, मेरी भी एक बात सुन लें। हे सुजान, यदि आप मेरा वचन स्वीकार करेंगे तभी मैं आपके आदेशसे आपके बच्चोंके साथ रह सकती हूँ। आप हमारे लिये एक पृथक् आश्रम (घर) बनवा दें। हम दोनों (निश्चय ही) आपके साथ घरमें नहीं रहेंगे। मैं आपके पुत्रोंको खिलाऊँगी, नहलाऊँगी और हे गुणरत्न, (उसके बदलेमें) आप जो कुछ (मुझे) देंगे, उसे मैं अपने पुत्र सहित अपने उसी आश्रममें बैठकर खाऊँगी' और इस प्रकार अपने पुत्रका पालन-पोषण करूँगी।"

भोगवतीका यह कथन सुनकर अशोकने बड़े ही गौरवके साथ उसका सम्मान किया। सत्यनिष्ठ, शीलवान्, निर्देश-गुणाकर (आगम-कथित गुणोंकी खानि) एवं व्रत-पवित्र उस अशोकने अनेक सद्गुणोंसे युक्त उस भोगवतीको पृथक् कुटी बनवाकर प्रदान कर दी और अपनेको कृतार्थ किया।

इधर उसने अपने गायों के बछड़ों को एकत्रित कर तत्काल ही उस बहिन-पुत्र—अकृतपुण्य को (चराने हेतु) सौंप दिए और कहा—"खूब मन लगा कर इनकी रक्षा करना।" इस प्रकार वह भोगवती अपने भाई के यहाँ रहने लगी। वह अशोक के सातों पुत्रों को अपने ही पुत्र के समान पालने लगी, बड़े लाड-प्यार एवं ममता के साथ भोजन कराने लगी। वे बच्चे भी उसे माँ के समान आदर देने लगे। स्नेहवश वे कभी उसके लिए कर्कश-वचन नहीं बोलते थे। न ही वे अपने मनमें किसी प्रकार का विकल्प करते थे और अपनी सुकृता मृत-माता का भी वे स्मरण नहीं करते थे। कभी-कभी घुटनों पर हाथ रखकर, तो कभी रो-रोकर या हँस-हँसकर वे भोजन माँगते थे, तो कभी नमस्कार करते थे, कभी शान्त रहते थे। इस प्रकार वे बच्चे उसके मन में आनन्द उत्पन्न करते थे। वह भोगवती भी उन्हें अपने पुत्र के समान ही मानती थी। किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं करती थी। (ठीक ही कहा है—) 'भावों से ही जीव कर्म बांधते हैं और भावों से ही वे धर्मार्जन करते हैं'।

घत्ता—तब भावना-पूर्वक ही वहाँ सभी का निरभिमानी वृत्ति से स्नेह भाव बढ़ गया। परिणाम जीव को प्रतिभासित करने में उसी प्रकार कारण है, जिस प्रकार स्वर्ण को प्रतिभासित करने के लिये दीपक अथवा संसार के लिये सूर्य ॥ ३६ ॥

[३-१२]

सेठ अशोक के पुत्रों का अकृत् पुण्य के साथ ईर्ष्याभाव

जब-जब वे (सातों) पुत्र उस (भोगवती) को माँ-माँ कहकर पुकारते थे, तथा जब-जब भी वे उससे स्नेहपूर्ण वचन बोलते थे. तब-तब वह अकृतपुण्य उन्हें सहन नहीं कर पाता था। अपने मनमें वह उन भाइयोंके प्रति दुष्टता ही विचारता रहता था। वे भी जीमनेके समय उसे

ते जेमण-वेलइँ तहु सुभोज्जु   णउ देंति किंपि जं जणइ मोज्जु ।
जज्जाहि म जोवहि एयदिट्ठि   ऊसरु ऊसरु मा इह णिविट्ठि ।
तुव जोग्गउ भोयणु णत्थि एहु   जीमिज्जइ जाइवि णिययगेहु ।
दिण-दिण इम जंपइ तासु ते वि   पडिउत्तरु किं पि ण सकइ देवि ।
माय खिरइ [सुह] कोमल गिराइ   इहु तुम्हह लहुवउ अत्थि भाइ ।
उवहु सहु म जंपहु सुव दुबोल   बाहा जणंति तहु णाइँ सूल ।
तहि णवि णउ छंडहि वइरभाव   णउ ते सहंति तहु वयणवाउ ।
अण्णहिँ वासरि पायस रसोइ   भुंजंतइँ दिट्ठइँ णियड होइ ।
जोवंतह किं पि ण तासु दिंति   मायहि वयणु वि णउ ते करंति ।
णउ छंडिय भुंजिय णिरवसेस   मायरि संजाय मिलाणवेस ।
रोवंतु ण थक्कइ अकयपुण्णु   तक्खणि असोउ गेहहिँ पवण्णु ।
किं बहिणि रुवइ तुव पुत्तु भासि   तुहुँ पुणु मलिणाणणु मज्झु भासि ।
ताइँ जि भासिउ विसंतु तासु   महु सुउ मग्गइ खीरण्णु गासु ।
णिद्धाडिउ[1] तुम्हह णंदणेहिँ   णउ किंपि दिण्णु णिट्ठुर-मणेहिँ ।
इय णिसुणिवि सल्लिउ मासु चित्ति   णिसुणहि उवाउ बहिणि दवित्ति ।
तुव सुउच्छउ लइ जाहु-जाह   रक्खह हउँ भासमि ताह-ताह ।
तंदुलइँ सखीरे सुप्पहाइँ   आणिवि रंधिज्जहि किय सुहाइँ ।
इय भणिवि गयउ अत्थ-थाणि   सव्वाहँ पयासिय भाणिज्जि वाणि ।

घत्ता—जायहँ पुणु पसरइँ छँडिवि कसरइँ अकयपुण्णु गिहि थक्कउ ।
उप्पाहिहि बहु पउ पाविय मणि[2] भउ आउ सगेहि ववक्कउ ॥ ३७ ॥

[३-१३]

मज्जिवि चुल्ली[3] गेहिलि करेवि   खीरी रंधी चरुवउ भरेवि ।
पुणु पुत्तह जंपइ सा सुधीरि   बहु दिणहिँ अम्ह घरि जाइ खीरि ।
देप्पिणु कासु वि एक्कहु जणासु   पुणु भुंजहि सइँ सुव भुक्ख-णासु ।
तुहु पेक्खिज्जहि आवंतु को वि   घरि रक्खिज्जहि विणएण सो वि ।
हउँ आणमि सीयलु जाम तोउ   जो जणइ तिसाउर जणहँ मोउ ।
इय भणिवि गया सा जाम तेम   मासोउवासि मुणि णट्ठकाम ।

१. क. णिधामिउ ।   २. क. मण ।   ३. क. भुल्ली ।

मन में प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला थोड़ा-सा भी अच्छा भोजन नहीं देते थे (बल्कि वे उससे कहा करते थे-) "—जा-जा, इधर काक-दृष्टिसे मत देख, हट-हट, यहाँ मत बैठ। यहाँ तेरे योग्य भोजन नहीं बना है, जाकर अपने घरमें जीम।" दिन प्रतिदिन वे सब उससे ऐसा ही कहा करते थे, किन्तु वह (बेचारा अकृतपुण्य) उन्हें कोई भी प्रत्युत्तर नहीं दे पाता था। यद्यपि माता कोमल-वाणीमें उन्हें समझाया करती थी कि 'यह तुम्हारा छोटा भाई है, हे पुत्रो, उसके प्रति बुरे वचन मत बोलो, क्योंकि वे उसे शूलकी तरह कष्ट देते हैं।' (किन्तु इस कथनका भी कोई प्रभाव नहीं हुआ), उन्होंने बैर-भाव नहीं ही छोड़ा, वे उसके साथ वाद-विवाद भी सहन नहीं करते थे।

अन्य किसी दिन (उनके यहाँ) रसोई में खीर बनी। अकृतपुण्यने उन्हें समीप से खाते हुए देखा। देखते हुए भी उसे उन्होंने न तो खीर दी और न ही उन्होंने माँ की बात मानी। उन्होंने खीर न छोड़ी, सभी समाप्त कर दी, जिससे माँ म्लानमुख हो गई। अकृतपुण्य भी रोते-रोते न थका। उसी समय अशोक (सेठ) घर में आ पहुँचा और पूछने लगा—'हे बहिन, तुम्हारा पुत्र रो क्यों रहा है ? तुम भी म्लानमुख क्यों हो ? कारण मुझसे कहो।" यह सुनकर भोगवती ने उसे समस्त वृत्तान्त बताते हुए कहा—'मेरा पुत्र क्षीरान्न का ग्रास मांगता था, किन्तु निष्ठुर मनवाले इन बालकोंने उसे नहीं दिया और बदलेमें उसे धमकाकर भगा दिया।"

यह सुनकर मामा (अशोक) के चित्तमें शल्य उत्पन्न हो गई और भोगवतीसे तत्काल बोला—"हे बहिन, एक उपाय सुनो। तुम अपने पुत्रको यहाँसे ले जाओ और मैं जिस प्रकार कहता हूं, उसे वैसे ही रखो। सबेरे-सबेरे निःसंकोच दूध सहित चावल ले जाकर पका लेना।" इस प्रकार कहकर तथा 'यह मेरा भानजा है' इस प्रकार सभीको समझाकर अशोक अपनी दूकान पर चला गया।

घत्ता—वह अकृतपुण्य घर लौटा और पसरट चराने (वनमें) चला गया तथा गाय-बछड़ों को वहीं छोड़कर तथा बहुत दूध प्राप्तकर वह मनमें भयभीत हो गया और आकर घर में चला गया॥ ३७॥

[३-१३]

भोगवती एवं अकृतपुण्य द्वारा मुनिराज को पायसान्न का आहार देना

भोगवती ने घर के चूल्हे की लीपा-पोती कर चरुआ (घड़ा) भरकर खीर बनायी। पुनः उस धैर्यशालिनी ने अपने पुत्र अकृतपुण्य से कहा,—"हे पुत्र, आज बहुत दिन में हमारे घर खीर बनी है, अतः किसी एक अतिथि को खिलाकर ही हम लोग खावेंगे और अपनी भूख शान्त करेंगे। तुम विनयपूर्वक किसी आते हुए अतिथि को देखते रहना और घर की रखवाली करते रहना, तब तक मैं तृषातुरों को सन्तुष्ट कर देने वाला शीतल जल ले आती हूँ।" ऐसा कहकर जब वह गई, तब काम-विजयी, मासोपवासी एक मुनि उसके उस विशिष्ट गृह-प्रदेश में भ्रामरी (चर्या-आहार) के लिए पहुँचे। वह अकृतपुण्य (यह सोचकर) उनकी ओर देखकर दौड़ा कि,—"ये निर्ग्रन्थाचार्य,

भामरि पत्तउ तहु गिहपएसि पेच्छिवि धायउ सो पुणु विसेसि ।
इहु परम भिक्खु णिग्गंथचारि किम छंडमि आयउ सइँ जि वारि ।
इय चिंतिवि चरणोवरि सुसीसु धारिवि रक्खिउ तँ वरविसेसु ।
सामिय अम्हहँ घरि पायसण्णु सिद्धउ अच्छइ सव्वहँ रवण्णु ।
तुम्हहँ भुंजाविवि[1] सेसु किं पि हउँ भुंजमि णियमेँ सामि तं पि ।
सो मुणि सिंधुरु विणयंकुरेण रक्खिउ णिरोहि बहुगउरवेण ।

घत्ता—एत्तहिँ तहु मायरि आया णियघरि मुणि णिएवि संतुट्ठ मणि ।
सिर-कलसुत्तारिवि अइ ठक्कारिवि विहि पुव्वेँ थप्पिउ भवणि ।। ३८ ।।

[३-१४]

बहु सद्धा-भत्तिए मुणिवरिंदु भुंजाविउ पायसु तिं अणिंदु ।
मण-वय[2]-काएँ चिंतइ अउव्वु महु लाहु जाउ अज्जु सुभव्वु ।
ले-लेहु भणइ पउ पउरु अत्थि तुम्हहँ पसाइँ महु भुक्ख णत्थि ।
मुणि भुंजिवि अक्खयदाणु देवि वणि थक्कउ पच्चक्खाणु लेवि ।
एत्तहिँ भुंजाविउ स-सुउ ताइँ पुणु बंधव-सुव णिम्मलमणाइँ ।
अक्खीण-रिद्धि संपुण्ण णाणि जं भुंजइ तस्स ण होइ हाणि ।
आमंतिवि पुरवर सयललोउ भुंजाविउ ताइँ जि खीर-भोउ ।
मुणिदाणहु फलु सव्वेहिँ णाउ राणउ सपरिग्गहु तत्थ आउ ।
बिण्णि वि संसिय सव्वहँ जणेहिँ गय णिय-णिय गिहि हरसियमणेहिँ ।
इउ जाणिवि दिज्जइ दाणु लोइ जिम अण्णहु भवि संबलउ होइ ।

घत्ता—दाणेँ सुहु संपइ कुरुमहि वंसइ होंति सुदाणेँ भणहिँ मुणि ।
दाणेँ अरि-मित्तइँ विहिय-ममत्तइँ दाणु जि सव्वहँ अहिउ मुणि ।। ३९ ।।

[३-१५]

अण्णहिं दिणि सुहेण णिवसंतइ मामहु मंदिरि सुहु विलसंतइ ।
अण्णहिं दिणि वच्छउलइँ लेविणु अडविहिँ चारणत्थि भणिवि तिणु ।

---

१. क. भुंजिवि वि । २. क. वयण ।

परम भिक्षु हैं, जब ये स्वयं ही हमारे दरवाजे पर पधारे हैं, तब इन्हें कैसे छोड़ूँ ?" यह विचार कर उसने उनके चरणों पर अपना माथा रखकर उन श्रेष्ठ मुनिराज को रोक लिया (और बोला–) "हे स्वामिन्, हमारे घर पायसान्न बना है, जो पवित्र एवं सबके लिए मधुर है। हे स्वामिन्, उस विशेष भोजन का कुछ अंश नियम से आपको खिलाकर बाकी का मैं खाऊँगा।" इस प्रकार उस अकृतपुण्य विनयांकुर ने बड़े ही गौरवपूर्वक गजसमान (दृढ़ व्रती) उन महामुनि को रोक रखा।

घत्ता—इतने में ही उसकी माता आई और घर में मुनि को देखकर मन में सन्तुष्ट हुई। सिर से कलश उतार कर यतिराज को 'ठा'-'ठा' आदि विधिपूर्वक पडगाहकर अपने भवन में बैठाया। ॥३८॥

[३-१४]

आहार-दानका प्रभाव—पायसान्नकी वृद्धि

माँ-बेटेने उन अनिन्द्य मुनिवरेन्द्रको अनेक श्रद्धा-भक्ति एवं मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक उस पायसान्नका आहार कराया और मनमें विचारने लगे कि, "आज हमें सुन्दर अपूर्व-लाभ हुआ है। (उन्होंने पुनः मुनिराजसे कहा), "हे स्वामिन्, दूधकी मात्रा प्रचुर है, आप और ले लें। आपके प्रसादसे मुझे भूख नहीं है।"

वे मुनिराज भोजन कर 'अक्षयदान' (का आशीर्वाद) देकर तथा प्रत्याख्यान लेकर वनकी ओर चले गए। इसके बाद उस निर्मलात्मा भोगवतीने अपने पुत्रको भोजन कराया। पुनः भाई (अशोक) एवं उसके पुत्रोंको भोजन कराया। (ठीक ही कहा गया है कि यदि)—"सम्यग्ज्ञानी-मुनि घरमें आहार लेता है, तो ऋद्धि अक्षीण रहती है, दाताके यहाँ सम्पूर्णताकी हानि नहीं होती।' पुनः उसने नगरीके सभी लोगोंको आमन्त्रितकर खीर-भोगका भोजन कराया। सबने मुनिदानका फल जाना। राजा भी अपने परिवार-सहित वहाँ आया। सभी जनोंने दोनोंकी प्रशंसा की और हर्षितमन होकर सब अपने-अपने घर गए। ऐसा (फल) जानकर लोगोंको ऐसा दान देना चाहिए जो अगले भवका सम्बल (कलेवा) बन सके"।

घत्ता—"दानसे सुख-सम्पत्ति प्राप्त होती है तथा सुदानसे ही कुरुभूमि-भोगभूमिका दर्शन होता है—ऐसा मुनियोंका कथन है। दानसे शत्रु भी मित्रता एवं ममत्त्व करने लग जाते हैं। इसलिये दानको सर्वश्रेष्ठ समझो" ॥ ३९ ॥

[३-१५]

अनजानेमें बछड़ोंके भाग जानेपर अकृतपुण्य चिन्तित होकर जंगलमें ही रह जाता है और माँके अनुरोधसे अशोक उसे खोजने निकलता है

अगले दिनोंमें जब वह अकृतपुण्य सुख-विलास करता हुआ अपने मामाके घरमें प्रसन्नता-पूर्वक रह रहा था, तभी किसी एक दिन बछड़ोंको लेकर 'इन्हें घास चराने ले जा रहा हूँ' यह

गउ तहिँ अकयपुणु वडतरु तलि सुत्तउ णियवत्थंचलु संवलि ।
ता खर-पवण धाय घण-ताडिय विज्जुल-चल वेएँ विब्भाडिय ।
उच्छ पुच्छ वच्छ-उलइँ धाविवि णिय-णियगिहि पइट्ठ खणि आविवि ।
अकयपुणु उट्ठिवि जा पेच्छइ वच्छउ एक्कु ण तत्थ णियच्छइ ।
कंवइ हा-हा कहँ ते पावमि ताहँ धणिय किं णियमुहु दावमि ।
एत्तहिँ तेत्तहिँ जाइवि-थक्कउ गिहि ण एइ सो भएण वि लुक्कउ ।
एत्तहिँ तासु जणणि णेहाउर भायहु जंपइ सा पत्तक्खर ।
चंड वाउ घणमाला गज्जइ भायरु पच्छिम-उवहि णिमज्जइ ।
वच्छउलइँ आगइँ एकल्लइँ तुव भाणिज्जहु हुय गुरुवेल्लइँ ।
महु मणु तेँ कारणु बहु झूरइ पुत्तहु दंसणि आस ण पूरइ ।

घत्ता—सो कहि पुणु थक्कउ णेह-गुरुक्कउ आणहु जोइवि भायवर ।
सो ताहि जि वयणेँ पालिय-णयणेँ चलिउ मेल्लिवि णरपवर ॥ ४० ॥

[३-१६]

लउडि-खग्ग सव्वहिँ[1] करि धारिय भोगवइ चल्लिय विणिवारिय ।
दूरहु हुंति तेण णियच्छिय हक्क दिंत आवंत वि पेच्छिय ।
एयहु मारणत्थि इह आवहिँ वच्छउलइँ णउ कत्थ वि पावहिँ ।
इय मणि मंतिवि पुणु भयतट्ठउ पच्छउ वलिवि णिएवि वणि णट्ठउ ।
ते बोल्लावहिँ भो गिहि आवहि एहि-एहि मा भयवसु धावहि ।
वच्छउलइँ णियगेहि पराणिय तुहु इ थक्कु ण महुए[2] जाणिय ।
तुज्झु जणणि तुअ दुक्खेँ सल्लिय मा वणि जाहि मुइवि एकल्लिय ।
तह वि ण सो णियत्तु भयभीयउ मुणइ पवंचु सयलु इणु कीयउ ।
जाय रयणि ते सोह-भयाउर पल्लट्टिवि गय ते पुणु णियघर ।
तासु जणणि महदुक्खेँ तत्ती हुय णिरास खणि पगलियणेत्ती ।
हा-हा किह सुव-दंसणु होसइ बुट्ठ विहिहिँ पुणु-पुणु सा कोसइ ।
भाय-भाय हा किम जीवेसमि सुबाहु सुवत्तु किम पेच्छेसमि ।
हा-हा किं बंधव णिंचितउ महु सुउ विसमावत्थहिँ पत्तउ ।
हउँ तुव सरणि विएसेँ पत्ती करहि गंपि महु पुत्तहु तत्ती ।

---

१. क. सव्वेहि । २. क. पइए ।

कहकर घने जंगलकी ओर चला गया। वहाँ वनमें जाकर वह एक वटवृक्षके तले अपने वस्त्राञ्चल में समिटकर सो गया। उसी समय तीक्ष्ण आँधी चली। घन गरजने लगे। चपल-बिजली वेगपूर्वक चमकने लगी। उसी क्षण ऊँची-ऊँची पूँछ किए हुए सभी बछड़े भागकर अपने-अपने घरमें घुस गए। (इधर) अकृतपुण्य उठकर जब देखता है, तो एक भी बछड़ेको वहाँ नहीं पाता। तब वह हा-हा करता हुआ रोने लगता है कि "अब मैं उन बछड़ोंको कहाँ पाऊँगा ? उनके धनी (स्वामी) को अब मैं कैसे अपना मुख दिखलाऊँगा ?" इधर-उधर भटककर जब वह थक गया तब भी वह वापस घर नहीं आया और भयपूर्वक वहीं लुक (छिप) गया।

इधर उसकी स्नेहातुर माँ भाईसे कठोर वचनपूर्वक बोली—"भयंकर आँधी बह रही है, मेघमाला गरज रही है। भास्कर भी पश्चिमी-समुद्रमें डूब रहा है। बछड़े अकेले ही घर आ गए हैं, (किन्तु) तुम्हारे भानजेको (आनेमें) देर हो रही है। उसी कारण मेरा मन बहुत झूर रहा है, (क्योंकि) पुत्रके देखनेकी आशा पूरी नहीं हो रही है।"

घत्ता—इस प्रकार कहकर पुत्रके प्रति महान् स्नेह करनेवाली वह भोगवती चुप हो गई, पुनः बोली--'हे भाई, हे उत्तम भाई, उसे खोजकर ले आइए।' वह अशोक भी भोगवतीके कहनेसे तथा उसकी आँखोंका लिहाजकर कुछ प्रमुख लोगोंको लेकर (उसे खोजने) चला ॥ ४० ॥

[३-१६]

अकृतपुण्य के न लौटने पर माँ का करुण-क्रन्दन

सभी लोगों ने लकुटि एवं खड्ग हाथों में धारण कर लीं। रोके जाने पर भी भोगवती साथ में चली। अकृतपुण्य ने दूर से ही उन्हें पहचान लिया और हाँक देकर आते हुए उन्हें देख लिया। (वह मन में विचारने लगा कि)—"बछड़ों को कहीं भी न पाकर वे लोग मुझे मारने के लिए यहीं आ रहे हैं।" मन में इस प्रकार सोचकर भय से त्रस्त होता हुआ पीछे लौट-लौट कर वह देखता जाता है और वन में छिप जाता है। वे बुलाते थे कि-'हे बच्चे घर आओ। आओ-आओ। भयभीत होकर भागो मत। सभी बछड़े अपने घर पहुँच गए हैं। तुम यहीं रह गये थे, यह हमने नहीं जाना था। तुम्हारी माता तुम्हारे दुःख से दुखी हो रही है। उसे अकेली छोड़कर वन में मत जाओ।' यह सुनकर भी वह भयभीत अकृतपुण्य घर को नही लौटा। अशोक आदि ने अकृतपुण्य के द्वारा किए हुए प्रपञ्चों को समझ लिया।

(इतने में ही) रात्रि हो गई, सिंह आदि के भय से आतुर होकर वे सभी पलटकर अपने-अपने घर लौट आए। महान् दुःख से सन्तप्त उसकी माता निराश हो गयी। क्षण-क्षण में उसके नेत्र बहने लगे (और क्रन्दन करने लगी कि)—"हाय-हाय, मेरे पुत्र का दर्शन अब कैसे होगा ? वह अपने दुर्भाग्य को पुनः पुनः कोसने लगी (भाई की ओर देखकर पुनः बोली) हे भाई, हे भाई, मैं कैसे जीवित रहूँगी ? सुन्दर बाहुओं और सुन्दर मुखवाले पुत्र को कैसे देखूँगी ? हाय-हाय, मेरा पुत्र तो विषम अवस्था को प्राप्त हो गया है, फिर भी, हे बन्धु, आप निश्चिन्त क्यों हैं ? मैं विदेश में तुम्हारी ही शरण में पड़ी हुई हूँ (अब) जाकर ऐसा कीजिए कि मुझे पुत्र-तृप्ति हो।" इस प्रकार

महु मणु अच्छइ बहुदुक्खायरु इय कंदंति णिवारइ भायरु ।
अच्छहि कलुणु म कंदहि बहिणी पुर-सयासि सो णिवसइ रयणी ।

घत्ता—जि णियउरि धरियउ खीरें भरियउ परपेसणेण जि पोसियउ ।
महु-दुक्खें पालिउ देहें लालिउ तं वीसरइ केम हियउ ॥ ४१ ॥

[३-१७]

हा-हा अणचिंतउ दुक्खु आउ वणि किम होसइ सुउ सुद्धभाउ ।
एकल्ली किं मुक्किय[1] सुपुत्त तुव जीवें जीवमि णेहजुत्त ।
हा-हा किम जाय कुमइ तुज्झु किं महु[2] अक्खउ हउँ देसु गुज्झु ।
रलु-घुलइ सुसइ पुणु दिसि णिएइ जाणइ महु सुउ एव्वहिँ जि एइ ।
हा णिरवराह हउ दइय-दुट्ठु किं कारणि मारी वणि[3] णिकिट्ठु ।
विलवंत थक्क इम जणणि तासु णिसुणहु सुअ-भावण-फल-पयासु ।
अइ किण्ह-रयणि भय-भिण्णु मित्तु अडविहिं भमंतु गिरि-गुहहिँ पत्तु ।
सा कंपिय पिच्छिवि वारि थक्कु एक्कल्लउ उग्घाडणि असक्कु ।
गुह-अंतरि मुणिवर वीरसेणु सुउ तत्थ पढइ हय-पाव-रेणु ।
छद्दव्व पयत्थइँ पंचकाय आयम-पुराण मणजणियराय ।
तिल्लोय-सरूव णिरूवणाइँ अब्भासइ पुणु-पुणु भावणाइँ ।

घत्ता—गुहवारि णिसण्णें सुणियपसण्णें तेण जि भवदुहणासणइँ ।
मुणिवर मुह-वयणइँ आयम-णयणइँ सुहगइ-सुक्खपयासणइँ ॥ ४२ ॥

[३-१८]

काल-लद्धि संजोएँ पाविय एयग्गें मणेण पुणु भाविय ।
चिंतइ परमलाहु मइँ पाविय मरणह भउ परिहरिवि समाइय ।
जाम तेत्थु णिवसइ कयपुण्णउ ता गज्जंतु सिंहु कयदुण्णउ ।
आयउ पेच्छिवि चिंतइ[4] सुहयरु चउविह-असणहु महु णियमु वरु ।
सयलहँ जीवहँ सुह-परिणामें खमिवि खमाविवि सुह-गय-ठाणें ।
तक्खणेण तें पावें घायउ छुहवसेण खंडिवि[5] पुणु आयउ ।

---

१. क. किमु किय । २. क. सहु । ३. क. रणि । ४. क. वि तइ । ५. क, खंमिवि ।

क्रन्दन करती हुई भोगवती को भाई (अशोक) ने आश्वस्त किया कि—"हे बहिन रुको, करुण-क्रन्दन मत करो। अकृतपुण्य रात्रिमें नगरके पासमें ही कहीं रहेगा।' (यह सुनकर भोगवती बोली कि)

घत्ता—"मैंने जिसको अपने उदर में धारण किया, अपना स्तनपान कराकर जिसका पेट भरा। पर की सेवा करके जिसका भरण-पोषण किया, महान् दुःखों से पाला, देह का लालन किया, उसे अपने ही हृदय से कैसे भुलाया जाय?" ॥४१॥

[३-१७]

भयातुर अकृतपुण्य एक गुफा-द्वारपर पहुँचकर मुनिराज वीरसेन का उपदेश सुनता है।

"हाय-हाय, अनचिन्ता दुःख आ गया। वह शुद्ध भाव वाला पुत्र वन में कैसे होगा? हे सुपुत्र मुझे अकेला क्यों छोड़ दिया? हे स्नेह युक्त, तेरे जीवन से ही मैं जो रही हूँ। हाय-हाय, यह कुमति तुझे कैसे उपजी? (ऐसा) क्यों किया? मुझे बता, उस रहस्य को मैं (पूरा) करूँगी। रोती हुई, हींड़ती हुई, सिसकती हुई वह स्वयं बार-बार दिशाओं की ओर देखती थी और जानने का प्रयत्न करती थी कि मेरा पुत्र अब आ रहा है। (पुनः अदृष्ट से पूछती थी कि)—"हाय, निरपराध पुत्र, हाय निकृष्ट, दुष्ट दैव, हिंसक जन्तुओंसे युक्त मारीरूप वनमें जानेका क्या कारण है?" जब इस प्रकार अकृतपुण्यकी माता विलाप कर रही थी। तभी (इधर) उस पुत्र की श्रुतभावनाका प्रकट फल सुनो।

अत्यन्त अँधेरी रात्रि थी। भयके कारण मित्रोंसे विलग होकर वह अकृत-पुण्य अटवीमें घूमता हुआ एक पर्वतकी गुफामें पहुँचा। वह काँपता हुआ उस गुफाके दरवाजेको देखकर (दरवाजेपर) खड़ा रहा। वह अकेला ही द्वारको उघाड़नेमें असमर्थ था। उस गुफाके भीतर पाप-रजको नष्ट कर देने वाले मुनिवर वीरसेन थे, जो वहाँ (विराजकर) शास्त्र पढ़ते रहते थे तथा हृदयमें अनुराग उत्पन्न करनेवाले छह द्रव्य, नौ पदार्थ एवं पाँच अस्तिकाय सम्बन्धी आगम और पुराणोंतथा त्रिलोकके स्वरूपका निरूपण करनेवाली भावनाओंका पुनः-पुनः अभ्यास किया करते थे।

घत्ता—गुहाके द्वारपर बैठे-बैठे ही उसने प्रसन्नमनसे भवदुःखको नाश करनेवाली एवं शुभ-गतिके सुखोंको प्रकाशित करनेवाले मुनिवरके आगमनेत्रके सदृश शुभवचन सुनें ॥ ४२ ॥

[३-१८]

अकृतपुण्य प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होता है

संयोगसे उसने काललब्धि पाकर एकाग्र मनसे पुनः भावना भाकर यह विचार किया कि—"मैंने परमलाभ पा लिया है।" मरणका भय छोड़कर वह समभावको प्राप्त हुआ। जब वह अकृत-पुण्य वहाँ बैठा था, तब तक दुर्नय (हिंसा) कारी सिंह गरजता हुआ (वहाँ) आया। उसे देखकर वह विचार करने लगा कि—"मेरा चार प्रकार के आहार का सुखकारी उत्तम (त्याग) नियम है। शुभ गतिके स्थान स्वरूप शुभ परिणामपूर्वक मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूँ तथा (सभीसे) क्षमा चाहता हूँ।" उसी क्षण उस पापी सिंहने क्षुधाके वश झपटकर उसके खण्ड-खण्ड कर दिए।

अकयपुण्णु तणु छँडिवि सुहमणु मुणिवयणें संचिवि बहुसुह-धणु ।
पढमसग्गि उप्पण्णउ सुरवरु संजायउ सो बहु सोहाधरु ।
रयणाहरणविहूसियगत्तउ अच्छरगणु पणुवइ-ससिवण्णउ ।
जय-जय भणंति सेवय-सुर सग्गभूमि अवलोइवि सो किर ।
चिंतइ को हउँ के महु किंकर को पएसु इहु को जुवइवर ।
इय चिंतंतें अवहि उवण्णी जाणि सग्गभूमि इह धण्णी ।

घत्ता—ए सुरवर-किंकर ए अच्छरवर इहु विमाणु इह भूइपरा ।
मइ किं चिरु चिण्णउँ जं उप्पण्णउ आइवि अज्जु जि एत्थु धरा ॥ ४३ ॥

[३-१९]

हउँ होंतउ दुख-दालिद्द-जडिउ पुव्वक्किय दुक्कम्मेण णडिउ ।
णिद्धंधउ छुह-तिस-संभरिउ जणणिए सहु देसंतर फिरिउ ।
थक्कइ असोय-माम जि घरि हउँ अत्थि पवट्टिउ तहिं पवरि ।
मइ दाणु पदिण्णउँ मुणिवरहु सहु जणणिए णिहणिय भवसरहु ।
हउँ वच्छउलहँ रक्खणहँ गउ तहिं सुत्तउ जावहिं विगय-भउ ।
पवणाहय ते णिय आय घरि हउँ भयभीयउ कंदरि-विवरि ।
थक्कउ तहिं आयमु बहु सुणिउ संसार-सरूवउ वि चित्ति मुणिउ ।
जा णिवसमि ता सिंघेण हउ हउँ सुरवर जायउ चिय विवउ ।
मुणिवयणपसाएँ दुक्खभरु छिंदिवि खणि जायउ सुक्खधरु ।
एत्तहिं तह मायरि दुहभरिया महदुक्खें खविय विहावरिया ।
हुय सुप्पहाए सयल जि मिलिया सहुँ जणणिए तं जोयहुं चलिया ।
सव्वत्थ वणम्मि गवेसियउ मह सोएँ पुरजणु सोसियउ ।

घत्ता—तहुँ खोज्जु णियंतइँ जंतइँ संतइँ पत्तइँ गिरि-गुह-वारि पुणु ।
तहिँ तहु कर-चलणइँ बहु-दुह-जणणइँ दिट्ठइँ दहदिसि पडिय तणु ॥ ४४ ॥

[३-२०]

मुच्छाविय जणणि णिएवि ताइ सयल वि दुक्खाविय तेत्थु ठाइ ।
उम्मुच्छिवि मायरि मुइवि धाह रोवणह लग्ग हा हुय अणाह ।
हा-हा महु णंदणु हउँ सदुक्खि किं मुक्की णिक्कारणि उवेक्खि ।

वह अकृतपुण्य शुभमन पूर्वक मुनि के वचनों को धारण कर उनके सुखों के धनी शरीर को छोडकर प्रथम स्वर्ग में विविध शोभा धारी उत्तम देव हुआ। जहाँ उसका शरीर रत्नाभरणों से विभूषित रहता था, चन्द्रमुखी अप्सराएँ उसे प्रणाम करती थीं, सेवक-देव जय-जयकार करते थे। स्वर्गभूमि को देखकर वह सोचने लगा कि—"मैं कौन हूँ? ये मेरे सेवक कौन हैं? यह कौन सा स्थान है? ये सर्वश्रेष्ठ युवतियाँ कौन हैं?" ऐसा विचारते हुए उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। उसीसे उसने उस धन्य भूमि को समझ लिया कि:—

घत्ता—"यहाँके ये सब देव-किंकर, ये श्रेष्ठ अप्सराएँ, यह विमान, यह परमभूमि है। मैंने (ऐसा) कौन सा उत्तम कार्य किया था, जिसके फलस्वरूप आज इस पृथिवी पर उत्पन्न हुआ हूँ?" ॥४३॥

[३-१९]

शोक-विह्वल माता नागरिकों के साथ पुनः अकृतपुण्य की खोज में निकलती है।

"—मैं दु:ख-दारिद्र्यसे ग्रस्त था, पूर्वकृत दुष्कर्मके द्वारा नचाया गया था। उद्यमरहित क्षुधा-तृषासे पीड़ित होकर माताके साथ देशान्तरमें घूमता फिरा। फिर अशोक-माताके उत्तम घरमें आकर ठहरा। जब मै वहीं रह रहा था, तभी भवसमुद्रके नाशक एक मुनिवरको माताके साथ मैंने आहार-दान दिया। फिर मैं बछड़ोंको चराने एवं उनकी रक्षाके लिए वनमें गया। निर्भय होकर वहाँ वनमें जब सोया था तभी भयंकर आँधी से व्याकुल होकर वे सभी बछड़े अपने-अपने घर आ गए। किन्तु मै भयभीत होकर एक गुफाके द्वार पर पहुँचा। वहाँ बैठे-बैठे विविध आगमोंको सुना और मनमें संसारके स्वरूपका विचार किया।

जब वहाँ बैठा था, तभी सिंहके द्वारा मार डाला गया और वहाँसे चयकर मैं देव हुआ हूँ। मुनि वचनोंके प्रसादसे ही दु:खभारको नष्टकर क्षण भरमें मुझे सुखका घर (स्वर्ग) प्राप्त हो गया।

और इधर दु:ख भरी मेरी माताने महान् दु:ख पूर्वक रात्रि व्यतीत की। जब सवेरा हुआ, तब सब इकट्ठे हुए और माताके साथ उस पुत्रको खोजनेके लिये चले। उसके महान् शोकमें डूबे हुए नागरिकोंने भी समस्त वनमें उसे खोज मारा।

घत्ता—उसकी खोज करते-करते, देखते-देखते आगे बढ़ते हुए वे लोग पुनः गिरि-गुफाके द्वारपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने अत्यन्त दु:खजनक दृश्य देखा। उसके हाथ-पैर एवं शरीरांग दसों दिशाओंमें बिखरे पड़े थे ॥ ४४ ॥

[३-२०]

अकृतपुण्यका स्वर्गवासी जीव मायावी-पुत्र बनकर अपनी पूर्वभव की माताको सम्बोधित करने आता है!

उसे (उस स्थानपर पड़े हुए उसके शव-शरीरको) देखकर माता मूर्च्छित हो गई। साथके सभी लोग भी अत्यन्त दु:खी हो गए। मूर्च्छा दूर होनेपर माताने दहाड़ मारी और रोने लगी कि—"हाय, हे मेरे पुत्र, मुझ दु:खिनीको (अकेली) क्यों छोड़ दिया? अकारण ही क्यों उपेक्षित कर दिया?

वारंतहँ सव्वहँ गयउ काइ हा-हा किं णायउ गेह-ठाइ ।
किं कुमइ जाय तुव एह पुत्त जं वणि आवासिउ कमलवत्त ।
महु छंडि गयउ तुहु किं विएसि हउँ पाण चयमि पुणु इह पएसि ।
इय भणिवि चलण-कर मेलवेवि आलिंगइ जा णेहेण लेवि ।
ता सुरवरु चिंतइ सग्गवासि किम जणणि मज्झ हुव [1]सोक्खरासि ।
जाइवि संबोहमि ताहि अज्जु जिम सिज्झइ तहि परलोइ कज्जु ।
अण्णु वि णियगुरु-चरणारविंद पणमवि जाइवि गइमल अणिंद ।
इय चिंतिवि आयउ तहिँ सुरेसु मायइँ करेवि चिर-देह-वेसु ।
णियडउ[2] आविवि जंपिवि सुवाय किं कंदहि रोवहि मज्झु माय ।
हउँ जीवमाणु महु णियहि वत्तु हउँ अकयपुण्णु[3] णामेण पुत्तु ।
मोहाउर णिसुणिवि वयण सिग्घु णिच्छइ जाणिउ महु सुउ अणग्घु ।

घत्ता—मेल्लिवि कर-चरणइँ बहुदुहकरणइँ धाइवि आलिंगेहि तहु ।
ता सुरवरु सारउ वसु-गुण-धारउ पउ सरेवि थिउ सो वि लहु ॥ ४५ ॥

[३-२१]

जंपइ भो बुज्झहि जणणि सारु जिणवयणु दयावरु जणहँ तारु ।
को कासु णाहु को कासु भिच्चु जाणहि संसारु जि मणि अणिच्चु ।
मोहेँ बद्धउ मे-मे करेइ आउक्खए कु वि कासु ण धरेइ ।
अइआरु ण किज्जइ मोहु अंबि जिणधम्मु गहहि मा इह बिलंबि ।
जेँ लब्भहिँ इच्छिय सयलसुक्ख छेइज्जहिँ जेँ भवदुक्खलक्ख ।
खण भंगुरु सयलु म करहि सोउ महु पुणु पेच्छहि संजणिय मोउ ।
सद्दहहि जिणायमु सरिवि अज्जु हुउ पढम-सग्गि सुर देवपुज्जु ।
अवहिए जाणिवि हउँ एत्थु आउ तुव बोहणत्थि पयडिय-सुवाउ ।
इय वयणु सुणिवि उवसंतमोह कर-चरण मुइवि जाया सुबोह ।
देवेँ पुणु णिय-मुणिणाह पासि वरु गुह-अब्भंतरि वि गय तासि ।
ति पयाहिणि देप्पिणु गुरुपयाइँ देवेँ वंदिय ता गरहियाइँ ।

घत्ता—बहु थोत्तु पयासिवि चिरकह भासिवि तुम्ह पसाएँ देव पउ ।
मइँ पाविउ धण्णउ बहु-सुह-छण्णउ एम भणिवि पणवाउ कउ ॥ ४६ ॥

---

१. क. मोक्ख० ।   २. क. णियमउ ।   ३. क. अक्खउ पुणु ।

सभीके द्वारा रोके जानेपर भी (वनमें) क्यों गया था ? हा-हा, घरमें क्यों नहीं आ गया था, कमलमुख पुत्र, तुझे यह कुमति कैसे उत्पन्न हुई ? जो वन में ही रह गया था ? तू क्यों विदेश चला गया है ? मैं भी अब इसी स्थानपर अपने प्राण छोड़ती हूं ?" ऐसा कहकर उसके हाथों और पैरोंको मिलाकर जब वह स्नेह पूर्वक उनका आलिंगन करती है, तभी वह सुखको राशि-स्वरूप स्वर्गमें रहनेवाला देव विचारता है कि "मेरी माताको क्या हो गया है ? उसके पास जाकर आज मैं उसे सम्बोधित करूँ, जिससे उसका परलोकका कार्य सिद्ध हो। और भी, कि मैं जाकर अपने नष्टकर्म एवं अनिन्द्य गुरुके चरणारविन्दमें प्रणाम करूँ।"

इस प्रकार विचारकर वह मायावी पूर्व-देह बनकर महादेवी भोगवल्लीके निकट आकर मधुर-वाणीमें बोला—"हे मेरी माता, क्यों क्रन्दन करती हो, क्यों रोती हो ? मैं जीता हुआ हूँ। मेरा मुख देखो। मैं अकृतपुण्य नामका पुत्र हूँ।" मोहातुर माताने उन वचनोंको सुनकर शीघ्र ही निश्चय पूर्वक जान लिया कि—'यही मेरा पुत्ररत्न है।'

घत्ता—अनेक दुःखोंके कारणभूत उन (विकलांग) कर और चरणोंको छोड़कर और दौड़कर उसने उस मायामयी पुत्रका आलिंगन किया। तब स्वर्गकी सारभूत अष्ट ऋद्धियोंका धारी वह उत्तम देव भी (माताके) चरणोंका स्मरणकर तत्काल ही वहाँ स्थिर हो गया॥ ४५॥

[३-२१]

अपनी माताको सम्बोधित कर देव पुनः मुनिराजके पास जाकर कृतज्ञता ज्ञापित करता है

वह बोला—"हे माता, तुम सारभूत, दयापरक एवं लोगोंको तारनेवाले जिन-वचनोंको समझो। कौन किसका नाथ है ? कौन किसका सेवक है ? अपने मनमें संसारको अनित्य जानो। मोहसे बँधा हुआ यह जीव 'मेरा'-'मेरा' करता है, किन्तु आयुके क्षय होनेपर कोई भी किसीको पकड़ कर नहीं रख सकता। अतः हे माता, अब अधिक मोह मत करो, जिन-धर्म ग्रहण करो, उसमें विलम्ब मत करो। क्योंकि जिन-धर्मके पालनसे लाखों भवोंके दुःख नष्ट होते हैं और इच्छित मोक्षादि समस्त फल प्राप्त होते हैं। यह समस्त संसार क्षणभंगुर है, अतः शोक मत करो, मुझे देखो और प्रसन्न बनो। आजसे ही जिनागमका स्मरणकर श्रद्धान करो। (धर्मके प्रसादसे ही) मैं प्रथम स्वर्गमें देवपूज्य सुर हुआ हूँ। अवधिज्ञानसे जानकर मैं तुम्हें मधुरवाणीमें सम्बोधित करनेके लिये ही पुत्र-रूपमें यहाँ प्रकट हुआ हूँ।" यह कथन सुनकर माताका मोह शान्त हुआ। वह उसका हाथ-पैर छोड़कर सुबुद्ध हो गई। फिर वह देव उसी उत्तम गुफाके भीतर अपने मुनिनाथ (वीरसेन) के पास गया और गुरुचरणोंकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उसने गुरुवन्दना एवं (आत्म) गर्हा की।

घत्ता—बहुविध स्तुति-पाठकर उसने अपनी पूर्वकथा (इस प्रकार) सुनाकर, कि—"हे देव, आपकी कृपासे ही मैंने विविध सुखोंसे युक्त उत्तम देव-पद प्राप्त किया है।" पुनः प्रणाम किया॥ ४६॥

[३-२२]

तहु माइइ वंदिउ मुणिपुंगमु मामें भायहिँ पुणु गय संजमु ।
पुरलोएँ तह भावें वंदिउ णिय-कय-दुक्किय-कम्मु पुणु णिंदिउ ।
भोयवइए मुणि पणविवि भासिउ सामिय धम्मु भणहु गेहासिउ ।
केण विहाणें तं पुणु किज्जइ तं सुणेवि मुणिणा भासिज्जइ ।
सम्मद्दंसणु मूलु भणिज्जइ वउ-तउ तें विणु किंपि ण छज्जइ ।
देउ अरुहु पहु अण्णु जि मण्णइ णवइ तवसि खमगुण-संपुण्णइ ।
बज्झब्भंतरि-संगविरत्तइ अहणिसु झाइय मणि रयणत्तइ ।
जीवहँ रक्खणु धम्म पउत्तउ जह अप्पणु तह पर गुणजुत्तउ ।
संकाइय वसु-दोसहिँ चत्तउ संवेयाइँ गुणेहिँ पउत्तउ ।
इहु सम्मत्तु सव्व-सुह-कारणु धारिज्जइ दिढु दुग्गइवारणु ।

घत्ता—सायारधम्मु वि पुणु एवहि तुहुँ सुणु सुगइ-णिबंधणु जं जि इह ।
थावर-तस-भेएँ मण-वय-जोएँ रक्खइ धम्मिउ डिंभु जिह ॥ ४७ ॥

[३-२३]

सव्वहँ धम्महँ धम्मु पहाणउ दाण-चउव्विह तं गुणठाणउ ।
मुणि [1]तुव सावय-वयह पहिल्लउ सुहगइकारणु तं एकल्लउ ।
सुहुम-थूल जे जीव पउत्तइँ णाणागुणेण समाणइँ वुत्तइँ ।
जो कु वि ताहँ विणासइ पाणइ अइगइ सो णियमें माणइ ।
जो रक्खइ सो सव्व सुहंकरु सिद्धि-बहुल्लहि सो रुच्चइ वरु ।
सच्च वयइँ आयरइ सव्वु वि जणि सच्चउ उवएसइ भावइ मणि ।
एवमेव जो अलियउ भासइ मुक्कु होइ सो दुग्गइ फासइ ।
अलिय भासिइं परभउ हारिइ होइ पमाण ण सुह-गय-वारइ ।
गडिउ-पडिउ पहि परधणु पेच्छिवि लेइ न देइ परहु मणि वंछिवि ।
अण्ण दिणउ जो परधणु साहइ चोरु होइ सो णियकुलु दाहइ ।

१. क. तव

[३-२२]

मुनि वीरसेन द्वारा भोगवतीको श्रावकधर्मका उपदेश

अकृतपुण्यकी माताने भी मुनिपुंगव वीरसेनकी वन्दना की। अकृतपुण्यके मामा एवं भाइयोंने भी जाकर (उनसे) संयम ग्रहण कर लिया। नगरके लोगोंने भी उनकी भावपूर्वक वन्दना की और अपने द्वारा किए गए पाप-कर्मोंकी निन्दा की। भोगवतीने मुनिको प्रणामकर कहा—'हे स्वामिन्, मुझे गेहाश्रित गृहस्थ-धर्माचरण धर्म कहिए। किस प्रकारसे उसे किया जाय ?' यह सुनकर मुनिराजने कहा:—

"सभी धर्मोंका मूल सम्यग्दर्शन कहा गया है। उसके बिना कोई भी व्रत-तप सुशोभित नहीं होता। जो अरहन्तदेवको छोड़कर अन्य देवको नहीं मानता तथा क्षमा-गुण-पूर्ण एवं बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहसे मुक्त तपस्वी-गुरुको ही नमस्कार करता है तथा जो अपने मनमें अहर्निश रत्नत्रयका ध्यान करता है, वही सच्चा श्रावक है। जिस प्रकार अपने प्राण प्रिय होते हैं उसी प्रकार दूसरोंको भी। अतः जीवोंकी रक्षा ही गुणयुक्त धर्म कहा गया है। शंकादिक आठ दोषोंसे रहित तथा संवेगादिक (आठ) गुणोंसे पवित्र यह सम्यग्दर्शन सभी प्रकारके सुखोंका कारण है तथा दुर्गतिका वारण करता है अतः उसे दृढ़तापूर्वक धारण करना चाहिए।

घत्ता—सुगतिके बन्धके कारण रूप वह सागारधर्म इस प्रकार है, उसे सुनो। इस संसारमें स्थावर एवं त्रसके भेद वाले प्राणियोंकी मन-वचन-एवं कायसे धार्मिक-श्रावक अपने शिशुकी तरह रक्षा करता है" ॥ ४७ ॥

[३-२३]

अहिंसा, सत्य, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य-अणुव्रतोंका वर्णन

"सभी धर्मोंमें यह (अहिंसा) धर्म ही प्रधान है। चतुर्विध दानरूपी गुणका उसमें प्रथम स्थान है। उसे तुम पहला श्रावक-व्रत समझो। एकमात्र वही शुभगतिका कारण है। जो सूक्ष्म एवं स्थूल जीव कहे गए हैं, वे विविध प्रकारके होनेपर भी गुणोंमें समान हैं। जो कोई भी उनके प्राणोंका नाश करता है वह नियमसे नरकगति पाता है और जो उन जीवोंकी रक्षा करता है, वह सभीका सुखकारी है। सिद्धिरूपी बहूको ऐसा ही वर रुचता है।

जो सत्यवचनका आदर करता है, लोगोंमें सत्यका उपदेश करता है तथा अपने मनमें सत्यव्रतको भाता है। वह सत्याणुव्रती होता है। और जो झूठवचन बोलता है, वह गूंगा होकर दुर्गतिके दुःखोंमें फँसता है। असत्यभाषी परभवको हारता है (बिगाड़ता है)। उसकी प्रामाणिकता (मान्यता) कहीं नहीं होती। वह (निश्चय ही) शुभ-गतिका नाश करता है।

गड़े हुए अथवा मार्गमें पड़े हुए परधनको देखकर उसे स्वयं नहीं ले, न उठाकर दूसरोंको ही दे, मनमें भी परधन प्राप्तिकी वाञ्छा न करे। दूसरेके द्वारा दिए गए परधनको जो लेता है, वह चोर होता है तथा अपने कुलका दाह करता है। अतः परवस्तुको धूलिके समान जानो और उसके ऊपर नियमतः अपनी भावना मत रखो।

पर वसु धूलि समाणउ जाणइ णियमें तहु उवरि म संगणइ ।
वेसासत्तहु संगु ण किज्जइ वावारु वि आलाउ चइज्जइ ।

घत्ता—परजुवइ-संगम कइ दुग्गइ गमु सुहगय-वारणु[1] अवजस[2]-घरु ।
रावणु पयडउ जणि[3] परपियधर मणि णरए पवण्णउ पवरु णरु ॥ ४८ ॥

[३-२४]

परतिय दुग्गइ-गमणहु सहयरि परतिय अवजस-जलहु जि सुरसरि ।
परतिय-संगि मेरु-सम्माणउ तिणसमाणु भणिज्जइ राणउ
आयरु करिवि अण्ण तिय वज्जहु जिम सुहगइगमु णियमें सज्जहु ।
अइयारु जि मणि लोहु ण किज्जइ लोहें धम्मायरु णउ विज्जइ ।
लोहासत्तउ कासु ण मण्णइ गम्मागम्मु ण किंचि वि गण्णइ ।
अत्थ अणत्थ-परंपर-कारणु जाणिवि णरयदुक्ख-संधारणु ।
णियमु गहिज्जइ तण्हा छंडिवि मणु पसरंतउ धरइ विहंडिवि ।
दिसि-विदिसहिं गम-संखा-करणउ । पावसकालि गमणु विहरणउ ।
रक्खस-बब्बर-पुलिंद जहिँ णिवसहिँ जिणवरधम्मु णत्थि जहिँ देसहिँ ।
तहिँ णउ वसइ जत्थ साधम्मिउ भाउ वि णउ करइ सुहकम्मिउ ।

घत्ता—जे पावपरायण पाविय खलजण तिरियंच वि जे दुट्ठमणा ।
ते धरइ न पालइ कहव णियालइ मज्झत्थें अच्छहि सयणा ॥ ४९ ॥

[३-२५]

सामायउ किज्जइ एयचित्ति सव्वहँ जीवहँ धारेवि मित्ति ।
अट्ठमि-चउदसि पोसहु करेहि पसरंतउ णियमण संहरेहि ।
भोगोवभोगसंखाविहाणु किज्जइ संवरु सुहगयपहाणु ।
अतिहिहिं भोयणु जे मुणिहु दिंति ते भोयभूमि-सुहु णर लहंति ।
रयणिहिं भोयणु पर दुरिय-खाणि णउ भुज्जइ किंपि वि खाणि-पाणि ।
अणगलतीया सायणेण जीउ बहु-रोय[4]इ पीडिउ होइ कीउ ।

---

१. क. वाहणु । २. क. अज्जस० । ३. क. जाणि । ४. क. रोहइ ।

वेश्यासक्त पुरुषका संग मत करो। उसके साथ बातचीतका व्यवहार भी छोड़ देना चाहिए।

घत्ता—पर युवतिका संगम करनेसे दुर्गति-गमन होता है। वह (संगम) शुभगतिका वारण करने वाला एवं अपयशका घर है। मनुष्योंमें प्रधान रावणका दृष्टान्त लोगोंमें स्पष्ट है, जो अपने मनमें परप्रियाको धारणकर नरकगामी बना" ॥ ४८ ॥

[३-२४]

परिग्रहपरिमाणुव्रत तथा दिग्व्रत, देशव्रत एवं अनर्थदण्डव्रतों का वर्णन

"परस्त्री दुर्गतिगमनकी सहचरी है। परस्त्री अपयशरूपी जलकी गंगानदी है, सुमेरुके समान राजाको भी परस्त्रीके संगसे तृणसमान कहा गया है। परस्त्री (सेवन) का त्यागकर ब्रह्मचर्य-व्रतका आदर करो, जिससे निश्चय पूर्वक शुभगति प्राप्त कर सको।

मनमें थोड़ा भी लोभ नहीं करना चाहिए। किसी लोभ वश धर्मको आदर नहीं देना चाहिए। लोभासक्त पुरुष किसीको भी नहीं मानता। वह गम्य-अगम्यका भी कुछ विचार नहीं करता, अर्थ (परिग्रह) को अनर्थपरम्पराका कारण एवं नरकके दुःखोंका साधन जानकर तृष्णा छोड़ो और परिग्रह-त्यागका नियम ग्रहण करो तथा परिग्रहकी ओर दौड़ते हुए मनको डाँट कर रोको।

दिशाओं-विदिशाओंमें गमनकी संख्या (निश्चित) करना चाहिए। वर्षाकालमें गमनका त्याग करना चाहिए। राक्षस, बर्बर, एवं पुलिन्द जहाँ भी रहते हों, जिस देशमें जिनवरका धर्म नहीं हो, तथा जहाँ सहधर्मी-भाई कोई शुभ-क्रिया न करते हों वहाँ निवास न करो (ये क्रमशः दिग्व्रत एवं देशव्रत कहलाते हैं। श्रावकको इनका पालन करना चाहिए।)

घत्ता—जो पाप-परायण हैं, जो पापी-दुष्ट-जन हैं, उन्हें तथा दुष्ट मन वाले जो भी तिर्यञ्च हैं, उनको घरमें रखना, उनका पालन करना या उन्हें देखना भी नहीं चाहिए। स्वजनोंके मध्यमें निवास करना चाहिए" ॥ ४९ ॥

[३-२५]

सामायिक, रात्रि-भोजनत्याग एवं जिनगुण-सम्प्राप्ति-व्रतोंका वर्णन

सब जीवोंके प्रति मैत्री-भाव धारण करके एकाग्रचित्तपूर्वक सामायिक करना चाहिए। अष्टमी-चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करो। अपने चंचल-मनको रोको। भोग और उपभोगकी संख्याका प्रमाण करो। शुभगतिकी प्रधान संवरभावनाको भाओ। अतिथि-मुनिको जो व्यक्ति आहार देते हैं, वे भोगभूमिके सुखोंको पाते हैं।

रात्रिभोजन अनेक पापोंकी खान है; क्योंकि रात्रि (के खानपान) में कुछ भी नहीं सूझता। (प्राणी) अनछना पानी पीनेसे अनेक जीवोंका घात करता है और बहुत रोगोंसे पीड़ित होकर नपुंसक होता है। हे पुत्रि, इस प्रकार तुम सागारधर्म जानो। अनुरागपूर्वक इसे धारण करो, जिससे मुक्ति मिले।"

सायारधम्मु इहु मुणहि पुत्ति   अणुराएँ धरहि जि लहहि मुत्ति ।
सव्वेहि गहिउ तं णविवि साहु   मण्णिवि मणि भयउ अउव्वु लाहु ।
पुणु भोगवइ मुणिवरहु पाय   पणविवि जंपिय थिर विणयवाय ।
सामिय महु को वि विहाणु सारु   उवएसहु दुक्ख-किलेस-तारु ।
मुणिणा ताहि जि वयणइँ सुणेवि   सव्वहँ गरुवउ वउ मणि मुणेवि ।
जिणगुणसंपत्ति पवित्तणामु   भासिउ जइणा पूरिय सुकामु ।
छट्ठोववासु आरंभि होइ   अंतिहि पुणु तिम भासंति जोइ ।
एयंतरेण उववास तीस   किज्जहिं मण-गय छोडेवि रोस ।
उज्जवणु वि णियवित्ताणुसारि   किज्जइ तं पुणु पुण्णापयारि ।
वउ गिण्हिवि पणविवि मुणिवरासु   स ति वि गया पुणु णिय अवासु ।

घत्ता—सो सुरवरसारउ सुणिवि पियारउ मुणि पणविवि सम्मत्तु थिरु ।
गिण्हिवि गउ सुरहरि बहुसोहाघरि रमइ सइच्छइ देववरु ।। ५० ।।

[३-२६]

सावय-वय पालिवि भोगवइ   सम्मत्तें विणु सा सुद्धमइ ।
जं गहिउ विहाणु सु एयमणु   करि झाण विहिउ पुणु उज्जवणु ।
मुणिवरहो पयच्छिवि दाण वरु   इम णिक्खंकिउ ताइ जि भोयवरु ।
अण्ण भवियहु परिवारु वरु   महु होज्जउ अण्ण वि सग्गि सुरु ।
इय भणिवि मरिवि गय सग्गि सइ   सत्त वि सुव पुणु सो सुद्धमइ ।
तत्थ वि संपाइय णेहवास   तिं सहु ते सयल मिलिय सरास ।
णहजाणारूढ अकिट्टिमाइँ   वंदंति भमंति जि मणिमयाइँ ।
चिरकाल सुक्ख भुंजेवि तहिँ   आउक्खइ हुइ ते एत्थु माहिँ ।
सा जणणि जणणु सो णेहरउ   ते भायर पुणु संजोउ भउ ।
जो होंतउ पढमउ सग्गि सुरु   सो अप्पुणु भणिहि तुहु पवरु ।
धणयागमि [ध-] ण्णकुमार भणिउ   बीयउ जि णामु पहुणा भणिउ ।
कयपुण्णउ सव्वहँ सुहजणणु   चिरजम्मु मुणहि भो एयमणु ।
चिरदोसें भायर तुव उवरि   इहु दोसु वहहिँ मा संक करि ।
चिरभउ णिसुणिवि उवसंतमणु   कयपुण्णें मुणिवरु णविउ पुणु ।

घत्ता—आयमपयसुणणें कयमलधुणणें जाउ लाहु तुहु[1] इहु पवरु ।
पुणु तेण विहाणें उण्णयमाणें किं-किं सुहु णउ लहइ णरु ।। ५१ ।।

---

१. क महु

'आज हमें अपूर्व लाभ हुआ है', यह मानकर सभीने उन मुनिराजको नमस्कार कर उनसे सागारधर्मको ग्रहण कर लिया। पुनः भोगवतीने मुनिवरके चरणोंमें प्रणामकर तथा स्थिर मन होकर विनयपूर्वक कहा—"हे स्वामिन्, मुझे कोई ऐसे सारपूर्ण विधानका उपदेश दीजिए जो संसारके क्लेशोंसे पार करा दे।" परमयोगी मुनिराजने उस भोगवतीके वचन सुनकर और अपने मनमें कुछ विचारकर मनोकामनाको पूर्ण करने वाला, व्रतोंमे सर्वश्रेष्ठ एवं पवित्र 'जिनगुण सम्प्राप्ति' नामक व्रत (इस प्रकार) कहा—'हे पुत्र, योगियोने कहा है, कि वह 'जिनगुणसम्प्राप्ति-व्रत षष्ठोपवाससे आरम्भ होता है तथा उसका अन्त भी षष्ठोपवाससे ही होता है। उसमें मनोगत क्रोधादि छोड़कर एकान्तरसे तीस उपवास करना चाहिए। अपने धनके अनुसार उसे पूर्ण विधिपूर्वक उजैना (उद्यापन करना) भी चाहिए। इस प्रकार व्रत ग्रहण कर तथा मुनिवरको प्रणामकर भोगवती अपने आवासको लौट गई।

घत्ता—उस उत्तमदेवने भी मुनिके प्रिय वचनोंको सुनकर तथा उन्हें प्रणामकर सम्यक्त्वको स्थिरतापूर्वक ग्रहण किया और विविध शोभासम्पन्न अपने देवगृहमें वापिस लौट गया तथा स्वेच्छापूर्वक भोग विलास करने लगा" ॥ ५० ॥

[३-२६]

भोगवती एवं अशोकके सातों पुत्रोंकी प्रथम स्वर्गमें उत्पत्ति तथा वहाँसे चयकर सभीका एक ही परिवारमें जन्म

"शुद्ध मति वाली उस भोगवतीने सम्यक्त्वके बिना (रहकर) भी श्रावक व्रतका पालनकर जो व्रतविधान ग्रहण किया था, उसका एकाग्रमनसे ध्यानकर विधिपूर्वक उजैना (उद्यापन) किया। मुनिवरको उत्तम दान देकर वह उन उत्तम भोगादिसे निकांक्षित (निस्पृह) हो गई। 'अन्यभवोंमें मेरा उत्तम परिवार हो तथा स्वर्गमें उत्पन्न हुआ देव भी (अन्यभवमें) मेरा (पुत्र) हो' ऐसा कहकर तथा मरकर वह सती भोगवती स्वर्गमें गयी। शुभ मतिवाले वे सातों पुत्र भी स्नेहके निवासस्थान वही स्वर्गमें जा पहुँचे और उस अकृतपुण्यके जीव—देवके साथ जा मिले। वे सभी नभयान पर चढ़कर मणिमय अकृत्रिमादि जिनालयोंकी वन्दना-यात्रा किया करते थे। वहाँ चिरकाल तक स्वर्गके सुखोंको भोगकर तथा आयुके क्षय होने पर वे सब यहाँ भूमिपर उत्पन्न हुए। और ऐसा संयोग हुआ कि वही माता, वही स्नेहरत पिता और वे ही सब भाई (सम्बन्धमें) हुए।

जो प्रथम स्वर्गमें उत्तम देव हुआ था, तुम स्वयं वही हो। धनके आनेसे तुम्हारा नाम धन्यकुमार रखा गया। सभीको सुखप्रद होनेके कारण प्रभुने तुम्हारा दूसरा नाम 'कृतपुण्य' बतलाया। इस प्रकार (हे कृतपुण्य) तुम एकाग्र मनसे अपने पूर्वभवोंको समझो। पूर्वभवके दोषसे ही वे सातों भाई तुम्हारे ऊपर यहाँ द्वेष किया करते हैं। किन्तु उनसे शंका मत करो।" इस प्रकार शान्त मनसे अपने पूर्वभव सुनकर कृतपुण्यने मुनिवरको पुनः नमस्कार किया।

घत्ता—(मुनिराजने पुनः कहा—) "आगमके पद (वचन) सुनने तथा पूर्वकृत पापमलके नाश (का विचार करने) मात्रसे ही तुम्हें जब इतना अधिक लाभ हुआ। तब सम्पूर्ण विधि-विधान (पूर्वक व्रत) करनेसे व्यक्ति कौन-कौनसे सुख प्राप्त नहीं करेगा ?" ॥ ५१ ॥

[३-२७]

तें केम करमि ता मुणि भणइ पुलइय-मण धणकुमरु सुणइ ।
सावणहं मासि परिपुण्ण ससि उववासु गहिवि जग्गियइ णिसि ।
धोयंबर पहिरिवि एयमणु तच्चत्थ सुणइ धारिवि सवणु ।
एयंतरेण कीरइ सुविहि भावव-पुण्णिम जा जणिय-विही ।
अह आइ-अंत बिण्णि वि उवास अह पुणु एयासण चइवि आस ।
सव्वोत्तमु मज्झिमु जहण्ण उ जाणि तिहु भेय वउ भासंति णाणि ।
पुण्णिम-दिणि मंडलु पंचवण्णु मणिमयपुण्णें किज्जइ रवण्णु ।
मुत्ताहलमालइँ बारसंगु पुज्जिज्जइ कुसुमहिँ पुणु अभंगु ।
पट्टंबर कणयहु कुसुम लेवि पवयण-पुत्थउ अंचहु णवेवि ।
चउविह-संघहु आहारदाणु दिज्जइ किज्जइ विणउ जि पहाणु ।

घत्ता—कयपुण्णें वयविहि णिसुणिवि कय विहि मण्णिवि हउँ सकयत्थु णिहि ।
जइवर-पय वंदिवि अप्पउ णिंदिवि चलिउ गंपि भावंतु विहि ॥ ५२ ॥

[३-२८]

हरिस-विसाय-भरिउ पहि पच्छइ जहिँ रुच्चइ तहिँ सइं सो अच्छइ ।
जंतु-जंतु बहुदिवसहिँ पत्तउ रायगिहि णयरम्मि सुसत्तउ ।
उववणम्मि पिंडी तरुवरु-तलि खेय-खिण्णु सुत्तउ तहिँ सीयलि ।
तहिँ वणवालु ताम संपायउ णरु जोयउ अचलिय-तरुछायउ ।
मालायारें णियमणि णायउ इहु गरिट्ठु णरु कत्थहुँ आयउ ।
पुणु उट्ठाविउ विणयालावहिँ पुच्छिउ पहिउ तेण सुह-भावहिँ ।
कहि-हुंतउ तुहुं आयउ सुंदर एक्कल्लउ किं सुत्तउ इह धर ।
तें भासिउ उज्जइणी-णयरहो हउँ आयउ तुव वणि पिय खयरहो ।
खमहि तुज्झ आएसें विणु हउँ जं इह सुत्तउ छंडिवि मणि भउ ।
विहसिवि मालिउ तहु पुणु जंपइ महु गिहि आवइ भो णर संपइ ।
भोयणु अज्जु जि तेत्थु करिव्वउ मणि विसाउ णउ किं पि धरिव्वउ ।
इय भणिवि गउ तासु जि मंदिरि बहु अब्भागउ किउ तहिँ सुन्दरि ।
पुप्फवइ णिय-तायहु पुच्छइ को देसिउ इहु आणिउ सच्छइ ।
तेण भणिउ महु सस-उरि आयउ बहु दिवसहिँ सुव महु घरि आयउ ।

[३-२७]

उत्तम, मध्यम एवं जघन्य व्रत-भेद-वर्णन

कृतपुण्य (धन्यकुमार) ने पूछा—"व्रत किस विधिसे पालन करूँ?" तब मुनिराजने उत्तर दिया, जिसे पुलकित मन होकर धन्यकुमारने सुना। (उन्होंने कहा)—"श्रावणमासकी पूर्णमासीके दिन उपवासकर रात्रिमें जागरण करे। (फिर अगले दिन) धोए हुए वस्त्र पहिनकर एकाग्रमनसे सावधानी पूर्वक तत्त्वार्थको सुने। फिर धैर्य पूर्वक भाद्रपदकी पूर्णमासी तक या तो एकान्तरसे विधिपूर्वक एक पारणा व्रत का पालन करे अथवा आदि और अन्तमें दो उपवास अथवा आशाओंको त्यागकर एकाशन। (इस प्रकार) सर्वोत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्यके भेदसे व्रत-विधिके तीन भेद ज्ञानीजनोंने कहे है।

पूर्णिमाके दिन पाँचवर्ण वाले मणियोंसे सुन्दर मांडना बनावे, फिर मोतियोंकी मालाओं तथा अभंग-कुसुमोंसे द्वादशांग-जिनवाणीकी पूजा करना चाहिए। पुनः सुन्दर रेशमीवस्त्र तथा सोनेके पुष्पसे प्रवचन की जाने वाली पोथीकी पूजा कर उसे नमस्कार करे। चतुर्विध-संघको दानोंमें प्रधान आहार-दान देना चाहिए तथा उनकी विनय करना चाहिए।"

घत्ता—कृतपुण्यने यह व्रत-विधि सुनकर तथा धैर्य धारणकर ऐसा माना कि "मैं कृतार्थ हो गया।" यतिवरके चरणोंमें वन्दनकर तथा आत्मनिन्दाकर वह (कृतपुण्य) उस व्रत-विधिकी भावना करता हुआ वहाँसे चला ॥ ५२ ॥

[३-२८]

कृतपुण्य घूमता-घामता राजगृही पहुँचता है और वहाँका वनपाल आदरपूर्वक उसे अपने घर ले जाता है।

वह सात्त्विक स्वभावी कृतपुण्य हर्ष और विषादसे भरा हुआ मार्गमें जाता है और जहाँ रुचता है, वहींपर वह स्वयं ठहर जाता है। बहुत दिनोंतक वह चलते-चलते राजगृह नगरमें पहुँचा। थका-मांदा वह वहाँके एक उपवनमें अशोक-वृक्षके तले उसकी शीतल-छायामें सो गया। उसी समय वहाँका वनपाल वहाँ आया और उसने वृक्षकी अचलित-छायामें उस कृतपुण्यको देखा। उस मालाकार (वनपाल) ने मनमें विचारा कि 'यह महापुरुष कहाँसे आ गया?' पुनः उसने विनयालाप पूर्वक उस पथिकको उठाया और शुभभावना पूर्वक पूछा—'हे सुन्दर, तुम कहाँसे आए हो? यहाँ भूमिपर अकेले ही क्यों सोये हुए हो?" तब उस पथिकने कहा—"मैं उज्जयिनी नगरीसे विद्याधरोंके लिए भी प्रिय तुम्हारे इस सुन्दर उपवनमें आ पहुँचा हूँ। मुझे क्षमा कीजिए, जो मैं मनमें भय छोड़कर आपकी आज्ञाके बिना ही यहाँ सो गया।" माली हँसकर उससे पुनः बोला—"हे पथिक, अब आप मेरे घर आइए, आज वहीं भोजन कीजिए। मनमें कुछ भी विषाद मत धरिए।" ऐसा कहकर वह उसे अपने सुन्दर भवनमें ले गया, जहाँ उसने उसका अनेक प्रकारसे अतिथि-सत्कार किया। पुष्पवतीने अपने पितासे पूछा कि 'आप इस सुन्दरको किस देशसे लाए हैं?' तब उसने कहा—कि "यह मेरी बहिनका पुत्र है। हे पुत्री, बहुत दिनोंके बाद यह हमारे घर आया है।"

घत्ता—तायहु भासिउ मुणि वरु होसइ मुणि बहु गउखत्तु ताइ विहिउ।
वरण्हाणाहारें विविह-पयारें अणुराएँ णियघरि णिहिउ॥ ५३॥

इय सिरिधणकुमारचरिए कयसुअभावणफलेण विप्फुरिए सिरिपंडियरइधु-विरइए सिरि-पुण्णपालसुय-साहु-सिरिभुल्लणणामंकिए-धणयत्त-णियभववण्णणो णामं तीउ संधी परिच्छेओ समत्तो। सन्धि—३

प्रतापसिंहं जितवैरिसिंहं नरेन्द्रचन्द्रं खविधूतचन्द्रम्।
अहर्निशं येन निजं विभुं क्षितौ संसेवितं सो जयत्वत्र भुल्लणः॥ छ॥

घत्ता—पिताके वचन सुनकर 'वर होगा' यह जानकर उसने भी उसका बड़ा गौरवपूर्ण आदर किया। उत्तम स्नान तथा विविध-भोजन कराकर उसे अनुराग-पूर्वक अपने घरमें ही रखा ॥ ५३ ॥ १५

इस प्रकार की गई श्रुत-भावनासे स्फुरायमान होकर श्री पण्डित रइधू द्वारा विरचित, श्री पुण्यपालके पुत्र साहू श्री भुल्लणके नामसे अंकित श्रीधन्यकुमारचरित' में धन्यकुमारके जन्मान्तरोंका वर्णन करनेवाला तृतीय सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ।—सन्धि-३।

वैरी रूपी सिंहको जीतनेवाले, सिंहके समान प्रतापी, नभश्चन्द्रको निस्तेज करनेवाला, नरेन्द्रचन्द्र वे श्री भुल्लण अपने भृत्यों-सेवकोंके द्वारा सेवित होकर सदा विजयी हों ॥ ३ ॥ ५

सन्धि—४

[४-१]

घत्ता—वरकुसुम स-सुत्तइँ जणिय-ममत्तइँ धणयहु ताइ समप्पियइँ ।
तेँ कल-गुण-जाणेँ णिय-विण्णाणेँ ताणि[1]पयत्तेँ गुप्फियइँ ॥ छ ॥

त्ति कुसुमवइहेँ सा कुसुममाल — अप्पिय धण[2]-भमरहु मणरसाल ।
ताइ वि णिव-कण्णहु कारणेण — रावलि गय गिण्हिवि तक्खणेण ।
अप्पिय णिव[3] कण्णहि जा करेण — उव्विद्धी ता णंगहु सरेण ।
पुच्छिय कुसुमवइ अउव माल — किं णिग्गंठिय अज्जु जि कहहि बाल ।
ताइं जि जंपिउ पाहुणउ गेहि — महु जणण-बहिणि-उप्पण्णु-देहि ।
आयउ तिं णिम्मिय एह माल — णं कामणरेंद-णिवास-साल ।
पुणु ताहि भणिउ हे णिसुणि बालि — एहिय माला तुहुँ णिच्च कालि ।
आणिज्जहि जाहि सगेहि गंपि — गय सा पुणु घरि मण्णेवि तं पि ।
अण्णहिं दिणि पुणु गय ताहँ पासि — अप्पिय माला णं णंगपासि ।
ताहि जि जंपिय सा भणु मुणंगु — सो परिणउं पइं किं विहिउ संगु ।
कुसुमवइ पयंपइ कंजवत्तु — महु गय-पुण्णहे कह एहु कंतु ।
तुम्हहँ वरु होसइ धणउँ एम — पुण्णाहिउ मालिणि रमइ केम ।

घत्ता—पुप्फवइ-वयणिहिँ पोसिय-मयणहिँ णिव-सुवहि मुहु वियसियउ ।
पुणु सा णिय-मंदिरि गय मण-सुन्दरि भुंजाविउ तहिँ पवसियउ ॥ ५४ ॥

[४-२]

अण्णहिँ वासरि पुणु तेण विहाणेँ — गय सा णिव[5]गिहि पट्ठिय माणेँ ।
पुणु पुच्छिय णिव-कण्णह किं वरु — तुव जायउ हलि भासहि सो णरु ।
ताइ भणिउ धणसिरियहि वरु हुउ — सेट्ठि-सुवहि चिरकयपुण्णेँ जुउ ।
पच्चउ मिलिउ णिमित्तहु भासिउ — काकिणि विक्किवि दव्वु पयासिउ ।

---

१. क. ताय । २. क. मण । ३. क. णिय । ४. क. धमइ । ५. क. सिव० ।

सन्धि—४

[४-१]

धन्यकुमार मालिनकी बेटी—पुष्पवतीके आग्रहसे एक अपूर्व पुष्पहार गूँथता है, जिस-पर उस नगरकी राजकुमारी मोहित हो जाती है।

घत्ता—उस पुष्पवतीने धनदत्त (धन्यकुमार) को ममता-पूर्वक तागा सहित सुन्दर पुष्प समर्पित किए। कला-गुणोंके ज्ञाता उस धनदत्तने भी अपने विज्ञानसे प्रयत्नपूर्वक उन पुष्पोंको गूँथ दिया ॥ छ ॥

धनदत्तने मनरूपी भ्रमरको रसिक बनानेवाली वह पुष्पमाला (गूँथकर) पुष्पवती (मालिनकी बेटी) को दे दी। पुष्पवती भी नृप-कन्याके लिए भेंट करने हेतु उस पुष्पमालाको लेकर तत्काल ही राजप्रासाद गई। जैसे ही उसने वह (माला) नृप-कन्याको अर्पित की, वैसे ही वह कामवाणसे बिंध गई। उसने उस पुष्पवतीसे पूछा—"हे बाले, बताओ कि आज यह अपूर्व माला किसने गूँथी है ?" तब पुष्पवतीने कहा—"मेरे पिताकी बहनका पुत्र (अर्थात् मेरा फुफेरा भाई) पहुनईके लिए मेरे घर आया है, उसीने यह माला निर्मित की है (वह ऐसी प्रतीत होती है) मानों, कामदेवकी निवास-स्थल ही हो।" नृप-कन्याने पुनः आग्रह किया कि—"हे सखि, सुनो, तुम अपने घर जाकर निरन्तर इसी प्रकारकी माला लेकर आया-जाया करो।" वह पुष्पवती उस नृप-कन्याका आदेश मानकर अपने घर चली गई।

अन्य दूसरे दिन वह मालिन-कन्या पुनः उस नृप-कन्याके पास गई और उसे अनंगपाशके समान प्रतीत होनेवाली पुष्पमाला अर्पित की। तब वह नृप-कन्या बोली—"क्या वह गुणमूर्ति तुम्हारे संग परिणय कर रहा है?" (यह सुनकर) कमलमुखी वह पुष्पवती बोली—"वह (पाहुना धन्यकुमार) मुझ जैसी पुण्यहीनाका कान्त कैसे बन सकता है ? अतिशय पुण्यवाला वह धन्यात्मा (तो) आपका वर हो सकता है, एक मालिनके साथ वह कैसे रमण कर सकता है ?"

घत्ता—मदनको पोषित करनेवाले पुष्पवतीके वचनोंसे नृप-सुताका मुख विकसित हो उठा। पुनः कामदेवकी पत्नी—रतिके समान सुन्दरी वह पुष्पवती अपने भवनमें आई, उसने धनदत्तको भोजन कराया और बैठाया ॥ ५४ ॥

[४-२]

राजकुमार अभय धन्यकुमारके साथ राजकुमारीका विवाह करनेके पूर्व कठोर शर्त रखता है।

अन्य दूसरे दिन वह पुष्पवती पूर्ववत् ही (अर्थात् धन्यकुमारके द्वारा निर्मित सुन्दर पुष्पमाला लेकर) राजमहलमें गई और सम्मानपूर्वक बैठी। उस नृप-कन्याने पुनः उससे पूछा—"हे सखि, बोलो, क्या वह व्यक्ति तुम्हारा वर हो गया है ?" तब पुष्पवतीने कहा—"वह पूर्व-कृत पुण्यसे युक्त एक सेठकी पुत्री—धनश्रीका वर हुआ है। नैमित्तिकका कथन ही प्रत्यक्ष हो गया है (क्योंकि) उस (वर) ने कौड़ी बेचकर द्रव्यार्जन कर दिखाया है। अन्य दूसरे वणिग्वरने

अण्णें वणिवरेण गुणवइ सुव   तासु दिण्ण लक्खणरूवें जुव ।
हट्टि णिविट्ठु तासु जाइवि णरु   बहुलाहें संतोसिउ वणिवरु ।
पच्चउ मिलि तेण सा दिण्णी   अण्ण कहा पुणु एक्क उवण्णी ।
गउ जूवहँ फलि सामिणि सो वरु   तहिँ ति जियउ तुम्ह सहोयरु ।
हारियाइँ तुम्हइँ ति सयलइँ   अभयकुमारें णियमें अमलइँ ।
तुहुँ[1] मग्गंतहु सो ण समप्पइ   कुल-गोत्तु ण कुइ जाणइ संपइ ।
सो परिएसिउ कहइ णस्सइ पुणु   पुरवरि खोहु पवट्टइ इहु सुणु ।
रक्खस-भवणि पइसइ जइ इहु   कण्ण सयल देमि णियमें सहु ।
भणहि तुम्ह भायरु भो सहियरि   कल्लि पवेसु करेसइ सो घरि ।
णउ जाणमि तह किंकर होसइ   जम-मंदिरु तं पुरयणु घोसइ ।

घत्ता—तं महु मण झूरइ आस ण पूरइ तुम्हहँ अम्हहँ अणहँ वि ।
ता णिव-सुव जंपहि हियइ ण कंपहि मा भउ करहि बालि कहवि ॥ ५५ ॥

[४-३]

अण्णहिँ दिणि पुरयणु मिलिवि सव्वु   धणउ वि णिवकुमरें सहु अगव्वु ।
रक्खस-मंदिरि गय भणहिँ भव्व   मा पावें भज्जहु एहु[2] सव्व ।
परएसिहु णरु गुण-मणि-णिकेउ   णिक्कारिणि वहउ म कण्ण देउ ।
इहु रक्खस-गिहु सव्वहँ गसेइ   वणयरगणु पुणु एउ इह वसेइ ।
महु पाउ-पाउ इहु जण भणंति   कयपुण्णिह रोम वि ण उल्हसंति ।
ण्हाविवि परिहिवि ति सुब्भ वासु   मणि आराहिय पय जिणवरासु ।
जइ सच्चें जिणवर-चरण-लीणु   जइ सच्चें वय-पालण-पवीणु ।
जइ सच्चें वणिवर-कुलि उवण्णु   जइ सील विसुद्ध किय सुपुण्णु ।
ता भो रक्खस-गिह गिलहि मज्झु   अहवा जं रुच्चइ करहि तुज्झु ।
इय भणिय तहु पुणु पुरजणेण   तहि गिहि पइट्ठु सो तक्खणेण ।
हा-हा सरु मुक्कउ णायरेहिँ   कर-ताल दिण्ण बिहुणिय-सरेहिँ ।
मह-सोय-पूर भज्जिवि असेस   थिय गेहवारि वड्डिय-विसेस ।

घत्ता—णिस्संकु णिरालसु वज्जिय भय-रसु रक्खस-[3]गिहहिँ जिम पइसंतु चिरु ।
तिम सो आवंतउ वियसिय-वत्तउ पेच्छिवि तुट्ठउ खणेण सुरु ॥५६॥

---

१. क. तह । २. क. एथ । ३. क. स० ।

शारीरिक लक्षणों एवं सौन्दर्यसे युक्त उस वरको अपनी गुणवती नामकी कन्या समर्पित कर दी है, (क्योंकि) वह व्यक्ति उस वणिग्वरकी दूकानपर जाकर बैठ गया था और उसे बहुत लाभ कराकर सन्तुष्ट किया था। उस वणिग्वरको जब प्रत्यक्ष-फल मिल गया तभी उसने अपनी वह कन्या उसे दी है। पुनः हे स्वामिनि, एक अन्य दूसरी कथा (घटना) भी (इस प्रकार) कही जाती है कि वह वर जुएके एक फड़ पर गया और वहाँ उसने आपके सहोदरको भी जीत लिया। आपका सहोदर अभयकुमार आप सभी निर्दोषोंको (दाँव पर रखकर) नियमपूर्वक हार गया है। उन्होंने (अर्थात् वरने) अभी आपको माँगा था, तो भी आपके भाई अभयकुमारने समर्पित नहीं किया। कहता है कि 'वह परदेशी है, उस (वर) का कुल-गोत्र कोई नहीं जानता। वह भाग जाएगा। हाँ, यदि यह परदेशी राक्षस-भवनमें प्रविष्ट हो जाए, तब मैं नियम-पूर्वक कन्याके साथ सभी कुछ इसे समर्पित कर दूँगा। (अभयकुमारका) यह कथन सुनकर नगरमें बड़ा क्षोभ बढ़ रहा है। हे सहचरि, वह (परदेशी) कल उस राक्षस-भवनमें प्रवेश करेगा। मैं नहीं जानती कि वह राक्षस उस परदेशीका सेवक हो जाएगा या (उसे) यम-मन्दिरको भेज देगा। नागरिक-जन (भी) यही चिल्ला रहे हैं।"

घत्ता—"इसी कारण मेरा मन झुलस रहा है, आपकी, हमारी एवं दूसरोंकी आशा पूरी नहीं हो पा रही है।" यह सुनकर नृप-कन्याने कहा—"हे सखि, हृदयमें कम्पित मत हो, किसी भी प्रकारका भय मत करो।" ॥ ५५ ॥

[४-३]

प्रतिज्ञाके अनुसार धन्यकुमार राक्षस-भवनमें प्रवेश करता है

अन्य दूसरे दिन नगरवासी तथा निरभिमानी वह धनदत्त सभी मिलकर नृपकुमार—अभयके साथ राक्षस भवनमें गए। सभी (उपस्थित) भव्य (अभयकुमारसे) कहने लगे—"इसे (उस) पापी (राक्षस) से नष्ट मत कराओ। (यह) परदेशी व्यक्ति गुणरूपी मणियोंका निकेत है, अकारण ही (उसका) वध मत करो, उसे कन्या (नृप-पुत्री) समर्पित कर दो। यह राक्षस रूपी ग्रह सबको ग्रस लेता है फिर यहाँ वनचर समूह ही निवास करता है अतः यहाँ लोग 'मुझे बचाओ' 'मुझे बचाओ' ही चिल्लाया करते हैं।" (यह सब सुनकर भी) कृतपुण्य (धन्यकुमार) के रोंगटे खड़े नहीं हुए। स्नानकर तथा शुभ्र-वस्त्र पहिनकर उसने (अपने) मनमें जिनवरके चरणोंकी (इस प्रकार) आराधना की—"यदि यथार्थ रूपसे जिनवरके चरणोंमें लीन रहा होऊँ, यदि यथार्थ रूपसे व्रत-पालनमें प्रवीण रहा होऊँ, यदि सच्चे वणिक्कुलमें उत्पन्न हुआ होऊँ, यदि शील-विशुद्ध रहा होऊँ तथा सुपुण्य वाला होऊँ, तब हे राक्षस-ग्रह, (मेरी इच्छा पूर्ण करना, अन्यथा) तुम मुझे निगल जाना या तुझे जो रुचिकर हो, वही करना।" ऐसा कहते हुए उसे पुरजनोंने तत्क्षण ही उस राक्षस-गृहमें प्रविष्ट करा दिया। नागरिक जन हा-हाकार करने लगे और हाथोंकी ताल दे-देकर सिर धुनने लगे। महान् शोकके समस्त प्रवाहको भंगकर तथा विशेषताको बढ़ाता हुआ वह (धन्यकुमार) राक्षस-भवनके द्वार पर खड़ा हो गया।

घत्ता—निःशंक, निरालस एवं निश्छल वह धन्यकुमार जैसे ही चिरकालके बाद उस राक्षस-भवनमें प्रविष्ट हुआ, वैसे ही विकसित मुखसे आते हुए उसे देखकर वह देव (राक्षस) भी क्षणभरके लिये सन्तुष्ट हुआ ॥ ५६ ॥

[४-४]

छंडेप्पिणु रक्खस-भाउ दुट्ठु सम्मुहु आविवि जय-सद्द घुट्ठु ।
गिह-वारि कणय-मंडपु रवण्णु णिम्मविउ जेण गहमुहुच्छण्णु ।
तहिँ मज्झि रयण-विट्ठरु धरेवि तहु सिरि बइसारिउ कर करेवि ।
वर कणय कलस किय तित्थ-तोउ आणिवि सिरि ण्हावियउ तणिय मोउ ।
देवंगुहु वत्थहिँ पुणु कुमारु उम्मालिवि परिहाविउ सु सारु ।
पुणु सेहरु बंधिउ उत्तमंगि धम्महु फलु पेच्छहु विविह-भंगि ।
कडियलि कडिसुत्तु उरम्मि हारु करि कंकण-जुवलु वि रयण-फारु ।
सहुच्छरीयइँ पयइँ जुवम्मि रम्मु तहु देप्पिणु जंपु विगय-छम्मु ।
तुहु पुण्णमुत्ति अखलिय-पयाउ तुव विणउ करमि किम हउँ वराउ ।
आएसु पयच्छमि सव्वकाल अण्णु वि आयण्णहि भो गुणाल ।
रयणहँ णिहाण तुव कारणेण मइँ रक्खियाइँ भो थिरमणेण ।
एवहि लइ-लइ अप्पणिय वत्थु णिब्भारु जाउ हउँ गुण-पसत्थु ।
इय भणिवि समप्पिवि वि तेण पुणु कय कुसुमविट्ठु [1]विहि [2]सुरेण ।
गउ सुरवरु सो पुणु आउ तत्थ तग्गय-मण णायर-लोय जत्थ ।

घत्ता—सव्वेहिँ विसेसेँ पणविवि सीसेँ साहु-साहु पुण्णाहियउ ।
दुव्वक्खय हत्थइँ देविणु मत्थइँ कयपुण्णिउ णामु जि कियउ ।। ५७ ।।

[४-५]

किं विहिउ अण्ण भवि सुकिउ एण देवेँ पुज्जिउ पणवियउ जेण ।
किं तविउ अण्ण भवि घोरु वीरु किं जिणु अंचिउ पणविय-सरीरु ।
किं भविय भावण आयमासु किं दाणु विहिय चिरु मुणिवरासु ।
अह लिहिवि लिहाइवि सत्थ दिण्ण किं पडिम घडाविय कणयवण्ण ।
इम चिंतहिँ पुणु-पुणु णयर-लोय धम्मेँ संपज्जहिँ विविह-भोय ।
धम्मेण सुरासुर वरु जि दिंति इम मुणिवि भव्व तं आयरंति ।
पुणु धण्णउ वि पुज्जिउ णरवरेण वर-वत्थाहरणहिँ णियकरेण ।
विसंतु सुणिउ णिय-सुवहु तेण कण्णा सोलह पुणु सुहमणेण ।
तहु देप्पिणु रयउ विवाहु भव्वु संतुट्ठउ परियणु मणेण सव्वु ।

१. क. धहि । २. क. सरेण ।

[४-४]

राक्षसने धन्यकुमारको ससम्मान रत्नकोष भेंट किया तथा नागरिकोंने उसे 'कृतपुण्य'की उपाधिसे विभूषित किया

उस देवने राक्षसपनेके दुष्ट-भावको छोड़कर तथा उस (धन्यकुमार) के सम्मुख आकर 'जय-जय' शब्दका घोष किया। पुनः उसने अपने घरके दरवाजे पर रम्य, कनक-मण्डपका निर्माण किया जिससे गृहमुख या अंगण आच्छादित हुआ। उनके मध्यमें रत्न-सिंहासन धरकर उसपर उसे हाथों-हाथ लेकर बैठाया। पुनः तीर्थजलसे भरे हुए उत्तम-स्वर्ण कलश सिर पर ढोकर ले आया और मुदित होकर उसे स्नान कराया। देवदूष्य वस्त्रसे सौभाग्यशाली उस कुमार (के शरीर) को पोंछकर वस्त्र पहिनाए और विविध भंगिमाओं वाले उत्तमांग पर सेहरा (मुकुट) बाँधा। पूर्वकृत धर्मका फल तो देखो कि उसे कटिभागमें कटिसूत्र (करधना), उरस्थलमें रत्नोंसे स्फुरायमान हार, हाथोंमें कंकण-युगल तथा पद-युगलमें रम्य छर्र (कड़े) प्रदानकर निश्छल वह (राक्षस) बोला—"हे पुण्यमूर्ति, आप अस्खलित प्रतापवाले हैं, अतः मैं दीन-हीन आपकी किस प्रकार विनय करूँ ? मैं तो सर्वदा ही आपके आदेश पानेकी इच्छा करता हूँ। हे गुणालय, और भी सुनिए। हे भाई, रत्नोंका (यह) कोष मैं आपके निमित्त ही धैर्य-पूर्वक सुरक्षित किए रहा। गुणोंमें प्रशस्त अपनी वह वस्तु स्वीकार कीजिए, (जिससे) मैं भार-रहित हो जाऊँ।" यह कहकर तथा (उस रत्नकोषको) समर्पितकर उस देवने उसे पुष्पगुच्छ बनाकर दिया और चला गया। वह (धन्यकुमार) भी पुनः वहाँ आया, जहाँ उसीमें मन लगाए हुए नागर-लोग (उसकी प्रतीक्षामें खड़े) थे।

घत्ता—सभीने विशेषरूपसे माथा झुकाकर उस पुण्याधिपका साधुवाद किया तथा दूर्वा एवं अक्षत (उसके) हाथोंमें देकर तथा माथेपर (तिलक) लगाकर उसका 'कृतपुण्य' यह नाम रखा ॥ ५७ ॥

[४-५]

धन्यकुमारके विवाह एवं पितासे उसकी अकस्मात् भेंट

नागरिक लोग बार-बार विचारने लगे कि—"क्या इसने पूर्वभवमें सुकृत किया था, जिस कारण यह देव (राक्षस) के द्वारा पूजित एवं नमस्कृत है ? (अथवा) क्या पूर्वभवमें इस वीरने घोर-तप किया था, या शारीरिक विनम्रता पूर्वक जिनेन्द्रकी अर्चनाकी थी ? (अथवा) क्या इसने पूर्वभवमें आगम-शास्त्रोंकी भावना की थी या चिरकाल तक मुनिवरोंको दान दिया था ? अथवा क्या (स्वयं) लिखकर या लिखवाकर शास्त्र-दान दिया था, या क्या इसने कनक-वर्णकी प्रतिमा घड़वाई (निर्मित कराई) थी ? (यथार्थतः) धर्मसे ही विविध भोग प्राप्त प्राप्त होते हैं। धर्मसे सुर एवं असुर वरदान देते हैं। यही सोचकर भव्यजन धर्मका आचरण करते हैं।" नरश्रेष्ठोंने भी स्वयं अपने हाथों द्वारा श्रेष्ठ वस्त्राभूषणोंसे धन्यकुमारका सम्मान किया। जब नृप-पुत्र (अभयकुमार) ने यह वृत्तान्त सुना तब उसने भी शुभ मनसे सोलह कन्याएँ देकर उसका भव्य-विवाह रचाया। (यह देखकर) सभी परिजन हृदयसे सन्तुष्ट हुए। पुनः धनश्री एवं गुणश्री के

धणसिरि गुणसिरि परिणिय पुणो वि   अण्ण वि णरवर-सुव वरिउ के वि ।
सोलह मंदिर धण-धण्ण-पुण्ण   कयपुण्णहु पुणु राएण दिण्ण ।
देसइँ गामइँ दासा जणाइँ   अण्ण वि वर-वत्थइँ भूसणाइँ ।
देविणु रंजिउ तिं धणउ धणु   णं बीयउ राणउ कियउ छणु ।
[1]सुहि णिवसइ रंजइ णयरलोय   भुंजइ मणि-इच्छिय विविह-भोय ।

घत्ता—ता अण्णहि वासरि थक्कइ गिहसिरि बुड्ढउ णरु आवंतु पहि ।
तहु दिट्ठिहि पडियउ विहिणा णडियउ ओलक्खिउ णिय जणणु तहि ॥ ५८ ॥

[४-६]

उट्ठिवि सो बहु-किंकर-सहिउ   णिय-जणणहु ढुक्किवि[2] [3]तें कहिउ ।
ओलक्खहि किं णउ ताय महु   विहलिय-तणु किं गच्छेहि लहु ।
तं सुणिवि पलिउ जंपेइ तहु   तुव वक्करुज्जु जणं[4]गाहि पहु ।
तुहु पयपालउ[5] णिउ णीइजुउ   कह हुंतउ जाइउ मज्झु सुउ ।
महु जाण देहि पहि-दुहिउ हउँ   णउ विज्जइ[6] जोव्वण लच्छि मउँ ।
पुणु कयपुण्णिउ पणविवि चवइ   महु अलिउ वयणु ताय ण हवइ ।
तुव लहुउ पुत्त धणयत्तु हउँ   णिहि-लाहें महियलि लद्धउ[7] जउ ।
भायहँ असहंतें णीसरिउ   कइपुण्णें पुणु इह विप्फुरिउ ।
इय णिसुणिवि तायहु मण चलिउ   हा पुत्त पइँ[8] किं विच्छुडिउ ।
महु दिवसु अज्जु जायउ सहलु   जं दिट्ठउ सुव तुव मुहकमलु ।

घत्ता—सेट्ठि वि तहु भासइ स-कह पयासइ तुव विएसि बहु दुहु पवरु ।
जायउ धण-णट्ठउ पावें मुट्ठउ महु दलिद्दता-भरिउ घरु ॥ ५९ ॥

[४-७]

हउँ पुणु तुव मोहें संतत्तउ   तित्थ-खेत्त हिंडमि वंदंतउ ।
एव्वहिं एत्थु णयरि संपायउ   तुव दंसणु महपुण्णें जायउ ।
मज्झु बहिणि पुणु इह पुरि णिवसइ   सालिभद्दु तहु सुउ जणु घोसइ ।

---

१. क. सहि । २. क. ढुक्क वि. । ३. क. तो । ४. क. जइ० । ५. क. पालणु । ६. क कीजइ । ७. क. लधुउ । ८. क. पुत्त ।

साथ भी परिणय हुआ। (इसी प्रकार) अन्य श्रेष्ठ मनुष्योंकी पुत्रियोंके साथ भी उसने विवाह किया। राजाने धन-धान्यसे परिपूर्ण सोलह-भवन उस कृतपुण्य (धन्यकुमार) को भेंट किए तथा देश, ग्राम, दास आदि अन्न एवं उत्तम वस्त्राभूषण आदि धन देकर उस धन्यकुमारको प्रसन्न कर दिया (अथवा) मानों, क्षणभरमें ही (उसे) दूसरा राजा ही बना दिया था। वह (धन्यकुमार) सुखपूर्वक निवास करने लगा एवं नागरिक लोगोंका मनोरंजन करने लगा और अपनी इच्छानुसार विविध भोग भोगने लगा।

घत्ता—तभी अन्य किसी एक दिन जब वह अपने भवनकी छतपर बैठा था, तभी उसे विधि (भाग्य) के द्वारा नचाया गया एक वृद्ध मार्गमें आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। समीप आने पर उसने ध्यानसे देखा, तो वह उसका पिता था ॥ ५८ ॥

[४-६]

पिता-पुत्रका वार्त्तालाप

वहाँसे उठकर वह कृतपुण्य सेवकोंके साथ अपने पिताके पास गया और ढूँककर (झुककर) उनसे बोला—"हे पिताजी, क्या आपने मुझे नहीं पहचाना? विकल-शरीरी होकर शीघ्रतापूर्वक कहाँ जा रहे हैं?" कृतपुण्यका कथन सुनकर वह वृद्ध बोला—"आप तो लोगोंके हृदय-सम्राट्, प्रजापालक तथा न्याय-नीतिसे युक्त राजा वक्रऋजु हैं, आप मेरे पुत्र कैसे हो सकते हैं?" मुझे अपने मार्गसे जाने दीजिए, मैं तो (एक ऐसा) दुखिया हूँ, मेरे पास न यौवन है और न लक्ष्मीका मद ही।" पुनः कृतपुण्य प्रणामकर बोला—"हे तात्, मेरा वचन असत्य नहीं होता। धनदत्त (धन्यकुमार) नामका आपका लहुरा (छोटा) पुत्र मैं ही हूँ, निधियोंके लाभसे मैंने महीतलपर विजय प्राप्त की है। भाइयोंके (दुर्व्यवहारको) सहन न कर पानेसे (परदेश) निकल गया और पूर्वकृत् पुण्य (के प्रताप) से यहाँ (यशस्वी-बीरके रूपमें) चमक रहा हूँ।" यह सुनकर पिताका मन बदल गया (और कहने लगा)—"हे पुत्र, तुम क्यों बिछुड़ गए थे? आजका मेरा यह दिवस सफल हो गया, जो हे सुत, तुम्हारे मुखकमलका दर्शन हुआ।"

घत्ता—(श्रीदत्त) सेठ (वृद्ध) ने भी उसे अपनी कहानी सुनाई—"अत्यधिक दुःखी होकर तुम तो विदेश चले गए, (उधर हमारा) धन नष्ट हो गया, पापने हमें छल लिया और हमारा घर दरिद्रतासे भर गया ॥ ५९ ॥

[४-७]

पिता धन्यकुमारको परिवारिक करुण-वृत्तान्त सुनाता है

"उसके बादसे ही मैं तुम्हारे मोहसे संतप्त रहता हुआ तथा तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना करता हुआ भटक रहा हूँ। अब मैं इस नगरीमें आ पहुँचा हूँ और महापुण्यसे तुम्हारा दर्शन हो गया है। मेरी एक बहिन इसी नगरमें निवास करती है। उसके पुत्रको लोग 'शालिभद्र' इस नामसे पुकारते हैं।" आलस्यविहीन पिता द्वारा यह कथान्तर (वृत्तान्त) सुनकर वह दुःखी कृतपुण्य नतमस्तक हो गया। पुनः वह विशेष रूपसे प्रणामकर उन्हें अपने भवन ले गया। अपने प्रयत्नों पूर्वक प्राप्त

एम कहंतउ णिसुणिवि तायहु मणि दुहु वंचिउ णट्ठपमायहु ।
पुणु णियमंदिरि जणणु विसेसें णियउ तेण पणवेप्पिणु सीसें ।
जुवय सयल तहु पयसें पाविय णियय विहूइ सयल दिक्खाविय ।
पुणु वर-दव्वहिं तणु उव्वत्तिवि ण्हाविवि उण्ह-जलें पडिवत्ति वि ।
छहरस भुंजिवि बे वि पसण्णइँ वर सिज्जइं पुणु बे वि णिसण्णइँ ।
णिय-णिय सुह-दुह-वत्त पयासिय परसप्पर बिण्णि वि आसासिय ।
धणयत्तेण वुत्तु भो पिय सुणु वत्त पयासहि महु भायहिँ पुणु ।
भणइ ताव भो णंदण णिसुणहिँ सिद्धि[1] ण कहव होइ इह पिसुणहिँ ।
जइहु-हुंतउ तुहु गेहाउ जि णिग्गउ पुत्त हियइँ वइ दाहु जि ।
ता लगि दुक्ख-दलिद्दि पालिय णिवसहिँ छुह-वेयण उम्मालिय ।
जं धणु हुंतउ गेहि असंखउ जक्खें कियउ ताम सव्वहु खउ ।

घत्ता—तुव जणणि पुणु वि सुव महसोएँ जुव कहव-कहव णउ मुइय इहँ ।
सा पगलिय-णेत्ती मउलिय-वत्ती गय-तणु-कंती वसइ तहँ ।। ६० ।।

[४-८]

णिसुणिवि जणणि-वत्त दुह-सल्लिउ तायहु पणवेप्पिणु पुणु बोल्लिउ ।
जइ तुहु भणहि ताय आणावमि मायहिँ भायहँ सुहु भुंजावमि ।
तं सुव-भासिउ णिसुणिवि वणिवरु धण्ण धण्णु तुहुँ वंस-धुरंधरु ।
परिलारहु जि एक्कु उपज्जइ तसु पसाइँ परियणु सुहु भुंजइ ।
एहु मंतु किं महु सुव पुच्छहि जुत्ताजुत्तु तुहुँ जि सइँ पेच्छहि ।
जणणालाव सुणिवि णिय-किंकर भायहु कारणि तें पेसिय णर ।
हय गय-वाहण-वत्थ-सुवण्णइँ देप्पिणु तेण सणेहें पुण्णइँ ।
धणयकुमाराएसें ते णर गय[2] णेहें उज्जेणीवरपुर ।
तहिँ धणयत्तहु भाय णमंसिय थुइ-आलावहिँ पुणु जि पसंसिय ।
पुणु भायहु बहु-विणउ पयासिउ धणयकुमारहु चरिउ जि भासिउ ।
अम्हइँ तुम्ह णिमित्तें पेसिय तं णिसुणिवि भायर संतोसिय ।
पेसणयर णरेहिँ पुणु जंपिउ धणयकुमारें अम्ह पयंपिउ ।
हय-गय-वत्थ-कोसु गिण्हह इहु अम्हहँ सत्थें पुणु लहु चल्लहु ।
तहु गिह-किंकर अम्हह जाणहु किंपि वियप्पु मणिवि णउ ठाणहु ।

घत्ता—ते सत्त वि भायर हुय णेहायर जणणि-पुत्तु-पिय-परियरिय ।
हय-गय-जंपाणहिँ वड्ढिय-माणहिँ चल्लिय णिरु णेहें भरिय ।। ६१ ।।

---

१. क. सिधि । २. क. गययिणें.

सभी युवतियाँ तथा समस्त विभूतियाँ उन्हें दिखलाईं। पश्चात् उत्कृष्ट द्रव्योंसे उन (पिता)के तनका उबटनकर तथा उष्ण जलसे स्नान कराकर उन्हें तैयार किया। षट्रसयुक्त भोजन करके दोनों ही (पिता-पुत्र) प्रसन्न हुए और दोनों ही श्रेष्ठ शय्या पर बैठे और अपने-अपने सुखों-दुखोंकी बातें बतलाने लगे। इस प्रकार दोनों ही आपसमें आश्वस्त हुए। धनदत्तने कहा—"हे पिताजी, आप (हमारे) भाइयोंका भी वृतान्त सुनाइए।" तब पिताने कहा—"हे नन्दन, सुनो, इस संसारमें दुष्टोंको कभी भी सफलता नहीं मिलती। हे पुत्र, जबसे तुम हृदयमें दाह उत्पन्न करके घरसे निकले हो, तभीसे वे (तुम्हारे भाई) दुख-दरिद्रताको ही पालते रहे तथा भूख आदिकी बेदनासे आतुर होकर रहते रहे। (अपने) घरमें जो असंख्य धन था, यक्षने वह सभी नष्टकर दिया।"

घत्ता—"और हे पुत्र, तुम्हारी जननी भी महान् शोकसे ग्रस्त है। (तुम्हारा नाम) रटते-रटते ही वह किसी प्रकार मरी नहीं, उसके नेत्र बहते रहते हैं, मुख सूख गया है तथा कान्ति-विहीन शरीर लेकर वहीं रह रही है।" ॥ ६० ॥

[४-८]

धन्यकुमार सेवकोंके द्वारा अपनी माँ तथा भाइयोंको बुलवा लेता है

जननीकी दुखद अवस्थाको सुनकर वह अत्यन्त दुखी हो गया और पिताको प्रणाम कर बोला—"हे पिताजी, यदि आप आज्ञा दें, तो मैं माँ तथा भाइयोंको यहाँ ले आऊँ तथा सुखक भोग कराऊँ।" पुत्रका कथन सुनकर उस वणिग्वरने कहा—"हे धन्य (कुमार), तुम धन्य हो। तुम वंशके धुरन्धर हो। परिवारमें (कभी-कभी) ऐसा एक (भाग्यशाली प्राणी) उत्पन्न होता, है और उसके प्रसादसे परिजन लोग सुख भोगते हैं। हे पुत्र, तुम मुझसे यह सलाह क्या पूछते हो? तुम स्वयं भी तो युक्तायुक्तको देखते-समझते हो।" पिताका कथन सुनकर उस धन्यकुमारने भाइयोंको लाने हेतु घोड़े, हाथी, वाहन, वस्त्र तथा भरपूर स्वर्ण देकर स्नेहपूर्वक अपने सेवकोंको भेजा। धन्यकुमारके आदेशसे वे सभी व्यक्ति स्नेहसे युक्त होकर उज्जयिनीपुरी पहुँचे। वहाँ उन्होंने धनदत्त (धन्यकुमार) के भाइयोंको नमस्कार किया, संस्तुति-वचनोंसे उनकी प्रशंसाकी, पुनः भाई (धन्यकुमार) की ओर से विनय प्रकट की और उसका चरित्र भी कहा—'हम लोगोंको आपके निमित्त ही भेजा गया है।' सेवकोंसे यह सुनकर सभी भाई सन्तुष्ट हुए। प्रेषित सेवकोंने पुनः कहा—"धन्यकुमारने हमें यह कहकर भेजा है कि ये घोड़े, हाथी, वस्त्र, कोष, सभी (आपलोग) ले लें तथा हमारे साथ शीघ्र चलें। हमें उन्हींके घरके किंकर समझें तथा अपने मनमें किसी भी प्रकारका विकल्प न ठानें।"

घत्ता—(यह सुनकर) सातों भाई स्नेहसे भर उठे। माता अपने प्रिय-पुत्रों सहित घोड़े, हाथी, तथा पालकी पर सवार होकर मानपूर्वक तथा स्नेहसे भरकर चले॥ ६१ ॥

[४-९]

[1]अत्तहिँ अंतइँ रायगिहँ णयरि   पत्तइँ णंदणवणि रमिय-खयरि ।
धणयत्तेँ आवण-सोहा वर   काराविवि मेल्लिवि णयर-णर ।
उच्छवेण सम्मुहु जाएवि पुणु   भायहिँ पयलग्गउ लद्धगुणु ।
ताइ वि आलिंगिवि रइवि चिरु   चुंबिउ लहु-डिंभहु पुणु वि सिरु ।
गुरुभायर गुरु-भत्तिएँ णविया[2]   पुणु अत्थाणु[3] हयवरिण थविया ।
जय-जय सद्दे परसियइँ गेहि   पुरयणु परियण मणि जाय-दिहि ।
जणणिहु पेच्छिवि पायहि पडिय   आणंदरसेँ णयणइँ भरिय ।
णव बहुवहिँ सासुहिँ जेम विहि   किउ विणउ पयासिय परमदिहि ।
पुणु ण्हाविवि भुंजिवि सयलसुहि   विहसंति परोप्परु दुक्खु लुहि ।
भो भायहु किंपि म मणि धरहु   पुव्वंकिउ किंपि म संभरहु ।
तुम्हहँ णउ किंचि वि दोसु इहँ   सुहि णिवसहु भुंजहु भोय तहँ ।
तुम्महँ पसाइ मइँ एहु धणु   पावियउ एत्थु जं हरइ मणु ।
अज्जियउ सुहासुह चिरु जि मइँ   अणुहवियउँ तं पुणु इत्थु सइँ ।
इय भणिवि खमाविवि भायवर   णियभूइ पदंसिय तं पवर ।

घत्ता—पुणु सत्त जि भवणइँ मणसुह-जणणइँ काराविवि धण-कण पउरेँ ।
परिपुण्ण करेप्पिणु मणिगण देप्पिणु ते थप्पिय तेँ णविवि सिरेँ ॥ ६२ ॥

[४-१०]

धण्णेण पुण्णु परिपुण्ण जाउ[4]   रायगिहि णं बीयउ जि राउ ।
इय जाणिवि[5] मण-वय-काय सुद्धु[6]   आहार-समइ गिहि पत्तु लद्धु ।
छंडेवि लोहु तहु देहु दाणु   भावेँ विरएप्पिणु तासु माणु ।
अह बज्झब्भंतरि चइवि संगु   तउ तवहु पयत्तेँ पुणु अभंगु ।
अह पवर-विलेवण-चंदणेण   जिणवर-पय अंचहु थिरमणेण ।
आयम-सत्थहँ अब्भासु सारु   किज्जइ पुणु एत्थु भवण तारु ।
सव्वहँ जीवहँ रक्खण करेहु   मा कोहु माणु मच्छरु धरेहु ।
जइ वंछहु णर-सुर-पवर-सुक्खु   ता करहु धम्मु भवियहु समक्खु ।

घत्ता—जिणधम्मेँ विणु णरु गहि भवसरु लहइ ण सुहु भवि-भवि जि दुहु ।
तेँ कारण संगइ चइवि दुहंगइ एयचित्ति तं करइ बुहु ॥ ६३ ॥

---

१. क. जंतिहि । २. क. णविण । ३. क. अथुणु । ४. क. प्रतिमें इस प्रकारका पाठ है—पुण्णेण वि पुणु परिपुण्ण जाउ । ५. क. जा णविवि । ६. क. सव्वु ।

[४-९]

माँ एवं भाइयोंको पाकर धन्यकुमार प्रसन्न होता है तथा सातों भाइयोंको पृथक्-पृथक् विशाल-भवन प्रदान करता है।

यात्रामें राजगृह-नगरकी ओर जाते-जाते (वे सातों भाई) खेचरों द्वारा सेवित (रमिय) नन्दनवनमें पहुँचे। गुण-सम्पन्न उस (धनदत्त) ने बाजारोंकी उत्तम शोभा कराकर तथा नागरिकोंके साथ मिलकर प्रमोद-पूर्वक (भाइयोंके) सम्मुख जाकर उनके पैर छुए। भाइयोंने भी रुदनकर चिरकाल तक छोटे भाईका आलिंगन किया और उसके सिरका चुम्बन किया। फिर भाइयोंको अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कारकर पुनः वहाँसे उत्तम घोड़ोंपर बैठाकर जय-जयकारके साथ भवनमें प्रवेश कराया। (यह देखकर) पुरजनों एवं परिजनोंके मनमें बड़ा सन्तोष हुआ। माताकी ओर देखकर उसके नेत्र आनन्द रससे भर उठे और वह उनके चरणोंमें गिर गया। नववधुओं एवं सासोंकी जिस प्रकार की विधि होती है, उसी प्रकार नववधुओंने परम धैर्यके साथ उसकी विनय की और परम धैर्य प्रकट किया। पुनः सभी स्नान एवं भोजन कर सुखपूर्वक हँसते हुए परस्परके दुःखोंको भुलाने लगे। (धनदत्त उनसे बोला-) "हे भाइयो, अपने मनमें (पिछली) कोई बात मत रखें, पूर्वकृत कार्योंका कुछ भी स्मरण न करें। क्योंकि इसमें आप लोगोंका कोई भी दोष नहीं। आप लोग सुख-पूर्वक रहें तथा भोग-भोगें। आपकी कृपासे मैंने यहींपर यह मनोहारी धन प्राप्त किया है। पूर्वभवमें मैने जो शुभाशुभ कर्मोंका अर्जन किया था, उसका अनुभव मैंने स्वयं इसी जन्ममें कर लिया है।" यह कहकर तथा भाइयोंसे क्षमा-याचना कर उन्हें प्रवर-विभूति दिखलाई।

घत्ता—पुनः (सातों भाइयोंके लिए) धन-स्वर्णसे परिपूर्ण, मनमें सुख-सन्तोष उत्पन्न करने वाले सात भवनोंको बनवाकर तथा मणि-रत्नोंको प्रदानकर धनदत्त ने अपने सातों भाइयोंको नमस्कार कर उनमें ठहरा दिया॥ ६२॥

[४-१०]

सुपात्रको आहार-दानका फल

उस धन्यकुमारसे पुण्य भी मानों परिपूर्ण(परिपूर्णताको प्राप्त) हो गया था। वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों राजगृहका दूसरा राजा ही हो। यह जानकर मन-वचन एवं कायकी शुद्धिपूर्वक आहारके समय घरमें आए हुए सुपात्रका (शुद्ध-) भावपूर्वक आदर करना चाहिए तथा लोभ, लालच छोड़कर दान देना चाहिए। इसके बाद बाह्याभ्यान्तर परिग्रहका त्यागकर अप्रमाद-पूर्वक अभंग तप तपना चाहिए। तदनन्तर उत्तम विलेपन एवं चन्दनसे स्थिर मन पूर्वक जिनवरके चरणोंकी अर्चना करना चाहिए। इस संसारसे तारने वाले तथा सारभूत आगम-शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिए। समस्त जीवोंकी रक्षा करनी चाहिए। मनमें क्रोध, मान एवं मत्सर धारण नहीं करना चाहिए। यदि भविकजन मनुष्यगति एवं देवगतिके प्रवर सुख चाहते हैं तो धर्मका साक्षात्कार करना चाहिए।

घत्ता—जिनवरके धर्मके बिना मनुष्य संसाररूपी गम्भीर समुद्रको पाता है, सुख प्राप्त नहीं कर पाता, भव-भवमें दुःख ही प्राप्त करता है। इस कारण हे बुधजनो, दुख देने वाले परिग्रहका त्यागकर एकाग्रचित्त पूर्वक धर्म (धारण) करना चाहिए॥ ६३॥

[४-११]

रज्जु भोउ सिरि-सुहु विलसंतें णिय-परियणि [1]अणुराउ वहंतें ।
मणइंछिय माणणि माणंतें णिच्च तिकाल जिणेंदु थुणंतें ।
मुणियण-जणहँ दाणु सद्धि तें दुहियण-जणहँ उवयारु करेंतें ।
णिच्च[2] चित्ति णवयारु सरंतें पियरा-जणहु बहु विणउ करेंतें ।
जाइ कालु धणयत्तहु पुण्णें णिवसइ जा गिहि वज्जिय दुण्णें ।
धणभद्दु वि तहु णंदणु जायउ लक्खण-गुण-लक्खंकिय-कायउ ।
सो पुणु परिणिउ जणिया-माएँ सुह-दिणि उच्छवेण वरजाएँ ।
दीहु कालु गउ सुहु [3]भुंजंतहु दीण-हीण-दुहियण पोणंतहु ।

घत्ता—ता अण्णु कहंतरु जायउ मणहरु सालिभद्दु जो हुंतउ ।
धणयत्तहु सालउ सो णेहालउ जायउ विसय-विरत्तउ ॥ ६४ ॥

[४-१२]

गुणभद्दु सुवहु णियगेहु भारु अप्पिवि चिंतिउ तिं चरिउ-चारु ।
सइँ खमिवि खमाविवि णयरलोउ पसरंतु णिरोहिवि चित्त-जोउ ।
णरु एक्कु तेण धणयत्त पासि पेसियउ जि सालें सच्च-भासि ।
सो गयउ सुभद्दा-पियइ जत्थ एहाविज्जइ धणउ वि गेहि तत्थ ।
किंकारेण णविवि पुणु कहिउ तासु तुव सालएण हउँ तुम्ह पासि ।
पेसियउ वित्ते[4] कज्जु देव थिर कण्णु धरिवि तें विहिय सेव ।
उब्बुउ संसारु मुणिवि चित्ति किय सामिय तें विसयहँ णिवित्ति ।
घरु पुरु धणु परियणु सुवहु देवि बे राय-दोस सइँ परिहरेवि ।
छिंदेवि मोहहु पासु तेण खिम तव्वु विहिउ तें पुरजणेण ।
पव्वज्ज लेमि हउँ विसयहारि कय-मल-संथारणि सुक्खकारि ।
तुहुँ महु भायरसमु णेहवंतु अण्णु जि धम्मिउ ससवरु महतु ।
इय जंपिवि हउँ तें तुम्ह पासि पेसियउ पगच्छहु पुण्णरासि ।
इय णिसुणिवि जंपइ धणकुमारु सो धणु धणु भव्व विस्सु-सारु ।
अम्हइँ पुणु पाविय विसयरत्त मह-मोह-मूढ हारिय-परत्त ।

घत्ता—ता भणइ सुभद्दा सुणि पियसद्दा परउवएसहु को ण बुहु ।
किं सलहहि तहि पुणु तुहु जाणहि गुणधम्महो तणुउ ण काइ पहु ॥ ६५ ॥

१. क. अणु अणुराउ । २. क. णिव्व । ३. क. सभुजं । ४. क. पि ते ।

[४-११]

धन्यकुमारको पुत्र-रत्न-प्राप्ति तथा शालिभद्रको वैराग्य

जब वह धन्यकुमार राज्य-भोग तथा श्री-समृद्धिके सुखोंका विलास करता हुआ, अपने परिजनोंके प्रति अनुराग करता हुआ, मन-वाञ्छित सम्मानका अनुभव करता हुआ, नित्य ही प्रातः, मध्याह्न एवं सन्ध्या रूप त्रिकालोंमें जिनेन्द्र स्तुति करता हुआ, मुनिजनोंको श्रद्धापूर्वक दान देता हुआ तथा दुखीजनोंका उपकार करता हुआ, पुण्यविधिसे समय व्यतीत कर रहा था तथा अन्यायरहित होकर अपने भवनमें निवास कर रहा था, तभी उसका अनेक शारीरिक सुलक्षणोंसे अलंकृत धनभद्र नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। माता-पिताने उस धनभद्रका भी शुभ-दिवस पर उत्सवपूर्वक परिणय कर दिया। (उसका भी) सुख-भोग करते हुए तथा दीन-हीन तथा दुखीजनोंका पालन-पोषण करते हुए दीर्घकाल व्यतीत हो गया।

घत्ता—उसी समय एक अन्य मनोहारी घटना घटी। धनदत्त (धन्यकुमार) का उसके स्नेहके वास-स्थलके समान जो शालिभद्र नामका साला था, वह विषयोंसे विरक्त हो गया ॥ ६४ ॥

[४-१२]

शालिभद्रके वैराग्यका वृत्तान्त सुनकर तथा अपनी पत्नी सुभद्राके सम्बोधनसे धन्यकुमार भी निर्विण्ण हो जाता है।

अपने पुत्र गुणभद्रको गृह-भार अर्पितकर उसने चारित्रकी चारुताका चिन्तन किया। नागरिकोंको स्वयं क्षमाकर तथा उनसे क्षमा-याचना कराकर एवं चित्तयोगके प्रसारका निरोधकर उस साले (शालिभद्र) ने सत्यभाषी धनदत्तके पास एक (सन्देशवाहक) व्यक्ति भेजा। वह उनके भवनमें वहाँ पहुँचा, जहाँ प्रियतमा सुभद्राके साथ धनदत्त बैठा था। सेवकने नमस्कारकर धनदत्तसे कहा—"हे देव, आपके साले (शालिभद्र) ने मुझे आपके पास एक वृत्तान्त सुनानेके प्रयोजनसे भेजा है। अपने कानोंको स्थिर कर सुनिए—"मैंने (शालिभद्रने) (अभी तक) आपकी सेवा की है किन्तु अब संसारकी असारताका मनमें विचारकर हे स्वामिन्, उसने विषयोंसे निवृत्ति ले ली है। घर, नगर, धन, परिजन, पुत्रोंको सौंपकर, राग-द्वेष इन दोनोंका ही सदाके लिए त्यागकर, मोह-पाशको छेदकर, उसने पुरजनोंसे क्षमा-याचनाकर तप (ग्रहण) किया है। विषय-वासनाका अपहरण करनेवाला तथा पूर्वकृत पापमलको दूर करनेमें सुखकारी प्रव्रज्या ले रहा हूँ। आप मुझपर भाईके समान स्नेह करते रहे और भी, कि आप मेरी बहिनके महान् वर एवं सहधर्मी हैं। हे पुण्यराशि, इस प्रकारका सन्देश कहकर उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है (कि आप उनके पास) चलें।" यह सुनकर धन्यकुमारने कहा—"हे भव्य, वह धन्य है, धन्य है तथा विश्व में श्रेष्ठ है। मैं तो परलोकको हरने वाले विषयोंमें ही आसक्त हूँ, महामोहसे मूढ़ हूँ।"

घत्ता—धन्यकुमारके ये प्रिय शब्द सुनकर सुभद्रा ने कहा—"दूसरोंको उपदेश देनेमें कौन निपुण नहीं होता ? हे प्रभु, आप उस (साले) की प्रशंसा क्यों करते हो, क्या आप भी गुण-धर्मका मूल नहीं जानते ?" ॥ ६५ ॥

[४-१३]

तिय-वयणु सुणिवि पतुट्ठु खणे पइँ सच्चु वयणु जंपिउ[1] धणे ।
तुहु धणी पिए पइँ हउँ धरिउ संसारि भमंतउ[2] उद्धरिउ ।
एवहि बोहिउ हउँ भवदुहहो महु णियमु अत्थि इंदियसुहहो ।
सुह-गय-णिमित्त तुहुँ मज्झु हुया पइँ हउँ संबोहिउ ललिय-भुया ।
इय जंपिवि धणभद्दहु सुवहो कुल-लच्छि दिण्ण लक्खणजुवहो ।
पुणु सुव-विहाणु उज्जमिउ वरु जिम भणिउ जिणायमिइँ[3] तेम णिरु ।
पुणु रायहु भासिवि खमिवि सइँ सुउ तासु समप्पिवि चइवि रइ ।
पुणु परियणु सयल खमावियउ पुरयणेण वि तहु गुण भावियउ ।
तायहु मायहु भायहु वि तिण्ण पुणु पुणु कर जोडिवि सुह-मणिण ।
आएसु पमग्गि विणय सुवहु णम-सिद्ध भणिवि चल्लियउ लहु ।

घत्ता—गउ जहिँ णिय सालउ पवर जिणालउ भासिउ चल्लहि मित्त वणि ।
मुणिवर-पय वंदिवि अप्पउ णिंदिवि तवभरु गिण्हह एयमणि ॥ ६६ ॥

[४-१४]

बिण्णि वि सिविया-जाणेण रूढ सहु पुरयणेण तेएणरूढ ।
णिग्गय णयरहु छंडेवि भोउ णायरजणाहँ मणि जाउ खोउ ।
सलहंति परोप्परु भणिउ[4] ताहँ पेच्छहु-पेच्छहु णिम्मलमणाहँ ।
णवजोव्वणि छंडिवि विसयचिंत धण-परियणु पुत्त-कलत्त-मित्त ।
णिय-णरभउ सहलु करंति भव्व णिव्विण्णचित्तए विगय गव्व ।
जे हीण मत्त मह-लोह-खित्त मोहाउर कामसरेण भिण्ण ।
माया-मय-रस-वस-वसण-भुत्त गिहभार-विसम-दहि णिच्च खुत्त ।
पंचेंदिय विसयहँ गसिय दीण णउ चेयहिँ अप्पउ दुक्खरीण ।
ते दीसहिँ गिहि-गिहि णर असंक्ख भवि भमहिहिँ जे पुणु जोणि-लक्ख ।
दुल्लहु णरभउ पाविवि सुधम्मु जो ण करइ तहु इहु विहलु जम्मु ।
धण्णा सकियत्था वंदणिज्ज ए बिण्णि वि सुरहिँ पसंसणिज्ज ।
इय वण्णिज्जंतइँ पुणु पुरयणेहिँ ते गय खणेण ता उववणेहिँ ।

घत्ता—तह मुणिवरु सारउ मयण-वियारउ विणएँ वंदिउ तेहि तहिँ ।
पुणु विणएँ भासिउ सवण-सुहासिउ मा उवेक्ख सामिय करहिँ ॥ ६७ ॥

---

१. क. जंपियउ । २. क. पउंतउ । ३. क. जिय णामिइ । ४. क. वरिउ ।

[४-१३]

संसारसे उदास होकर धन्यकुमार शालिभद्र से भेंट करता है।

पत्नी सुभद्राका कथन सुनकर वह सन्तुष्ट हुआ और तत्काल बोला—"हे धन्ये, तुमने सत्य (ही) कहा है। हे प्रिये, तुम धन्य हो, जो मुझे धर्मोन्मुख किया और संसारमें भटकनेसे उबार लिया। अब मैं भवदुखसे भयभीत हूं तथा इन्द्रिय-सुखों (से दूर रहने) का नियम लेता हूँ। हे ललितमुखि, तुम मेरे लिए शुभगतिकी निमित्त हुई हो, क्योंकि तुमने मुझे सम्बोधित किया है।" इस प्रकार कहकर उसने सुलक्षणोंसे युक्त पुत्र धनभद्रको अपनी कुल-लक्ष्मी सौंप दी। पुनः जैनागमोंमें जिस प्रकार कहा गया है, तदनुसार ही उत्तम शास्त्र-विधान किया। फिर राजाको (अपना तप-सम्बन्धी विचार) कहकर तथा स्वयं उसे क्षमा प्रदानकर और मोह-ममता छोड़कर अपना पुत्र उसे समर्पित कर दिया। तदनन्तर समस्त परिजनोंने उसे क्षमा प्रदान की। पुरजनोंने उसके गुणोंकी प्रशंसा की। पिता-माता एवं भाई तीनोंसे शुभ मन पूर्वक बार-बार हाथ जोड़कर उस विनयी पुत्रने आज्ञा माँगी और 'णमो सिद्धं' कहकर तत्काल [घर त्याग कर] चल पड़ा।

घत्ता—वह उस विशाल जिनालयमें गया जहाँ उसका अपना साला (शालिभद्र ठहरा) था और उससे बोला—"हे मित्र, वनमें चलो। वहाँ मुनिवरके चरणोंकी वन्दना एवं आत्मनिन्दा कर एकाग्रमन से तपभार ग्रहण करें" ॥ ६६ ॥

[४-१४]

वैराग्योन्मुख शालिभद्र एवं धन्यकुमार वनमें एक मुनिके सम्मुख पहुँचते हैं।

तेजस्वी वे दोनों ही पुरवासियोंके सम्मुख शिविका-यानपर आरूढ हुए और भोगोंको छोड़कर नगरसे निकले। उनके जानेसे नागरिक जनोंके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। वे परस्परमें उनकी प्रशंसा-कर कहने लगे कि—"निर्मल मन वाले उन दोनों निरभिमानी भव्यजनोंको (तो) देखो, जो नव-यौवनमें भी विषय-वासनाकी चिन्ता, धन, परिजन, पुत्र, कलत्र, एवं मित्रोंको छोड़कर वैराग्य-चित्त-पूर्वक अपना मनुष्यभव सफल कर रहे हैं। जो विवेकहीन एवं महालोभसे ग्रस्त हैं, जो मोहातुर एवं कामबाणसे बिद्ध हैं, माया एवं मद-रसके वशीभूत तथा सप्त-व्यसनोंका सेवन करते हैं, जो गृहभार रूपी विषम समुद्रमें निरन्तर डूबे रहते हैं, पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे ग्रस्त हैं, दीन एवं दुखी रहते हैं तथा जो अपने आत्म-भावको जागृत नहीं करते, ऐसे व्यक्ति तो असंख्यात-मात्रामें घर-घरमें दिखाई देते हैं, जो संसारकी लाखों-लाख योनियोंमें भटकते रहेंगे। दुर्लभ नरभव पाकर जो सुधर्म-पालन नहीं करता उसका यह जन्म विफल ही रहता है। किन्तु ये दोनों ही देवों द्वारा प्रशंसनीय हैं, धन्य हैं कृतार्थ हैं एवं वन्दनीय हैं।" इस प्रकार पुरजनों द्वारा प्रशंसित वे दोनों शीघ्र ही उपवनमें पहुँचे—

घत्ता—तथा वहाँ उन दोनोंने मदन-विदारक, श्रेष्ठ मुनिवरकी विनयपूर्वक वन्दना की। पुनः कानोंको प्रिय लगने वाली विनय-युक्त वाणीमें उनसे निवेदन किया—"हे स्वामिन्, (अब) उपेक्षा (विलम्ब) मत कीजिए ॥ ६७ ॥

[४-१५]

जणण-समुद्द-पार-उतारी अम्हहँ दिक्ख देहि मुणि सारी ।
तुव पसाइँ णरभव सकियत्थइ करइ चइवि दुहइँ गिह-गंथइ ।
मुणिणाहेँ तं णिय-सुहयर दिण्णिइं ताइँ महव्वय दुद्धर ।
सिर-सेहर कर-कंकण कुंडल वर णेवत्थ कुसुम तणु-मंडण ।
उत्तारिवि खणेण महि मुक्कइँ णं गह-मंडल णहयलु चुक्कइँ ।
तणु-संसार-भोय-णिविण्णहिँ[1] पडिगाहिय स-दिक्ख ता धण्णहिँ ।
स यरेँ उप्पाडिवि सिरि-चिहुरइँ भणिवि पंचगुरु भय[2]-दुह-विहुरइँ ।
पंडवेहिँ पुणु जणणी भणणेँ वयसंगहियइँ मुणिवर-वयणेँ ।
संसारासारत्तु मुणेप्पिणु राणउ थिउ पव्वज्ज गहेप्पिणु ।
धणयत्तहु तिय-विदु पवज्जउ अज्जिय-वउ संखेवेँ सज्जिउ ।
अण्णेहिमि [3]महियउ सद्दंसणु मुणि पणविवि गहियउ मलफंसणु ।
केहिमि अप्पउ गरहिवि णिंदिवि गिहवय गिण्हियाइँ जइ वंदिवि ।
णिय-णिय सत्तिए वउ तहिँ लेप्पिणु गय सणिहेलणि मुणि पणवेप्पिणु ।
एत्तहिँ सिरिधणयत्तु मुणीसरु तउ तवेइ हुविहु जि खंडिय-सरु ।
घत्ता—जं तण उववासहिँ दु-ति-छम्मासहिँ सोसिज्जइ मणि दुह-रहिउ ।
अणसणु तं सुहयरु सोसिय-भवसरु तउ पहिल्लु मुणिणा कहिउ ॥ ६८ ॥

[४-१६]

सावयहु गेहि कालेण लद्धु तं असणु लेइ मुणिवरु विसुद्धु ।
आयम-भासिउ रसगिद्धि[4] चत्तु अवमोयरु गुणु तं बीउ वुत्तु ।
रसणेंदिय-पसर-निरोह होउ वत्थुहुँ[5] संखा जं करण भोउ ।
पसरंतउ वारइ सकयचित्तु तं वित्तिचाउ-तउ इहु पवित्तु ।
घय-पय-दहि-सक्कर पमुह दव्व तह णियमु करइ[6] मुणि विगयगव्व ।
छहरस णउ भुंजइ मुणिवरेंदु रसचाउ एहु तं वउ अणेंदु ।
अण्णहु सयणासणि थाणि जोइ णिवसइ वइसइ णउ भव्वु कोइ ।
परसप्पर लग्गहिँ अंग जत्थ सुक्कमहँ जीवहँ खंड होइ तत्थ ।
इय मुणेवि विवित्तासज्ज सार कीरंति जइसर दुरियवार ।
तरु मूलि सिलाइलि गिरि-वणंति णिय-तणु तिणि-सउ मुणिवर गणंति ।
रवि-कर-उण्हाइ सिसिर-सीउ तरु-तलि णिवसइ वरसंत जीव ।

---

१. क. भोयण विणहि । २. क. हय । ३. क. ग० । ४. क. गिद्धि । ५. क. वत्थहु । ६. क. करहि ।

[४-१५]

शालिभद्र एवं धन्यकुमारका प्रव्रज्या-ग्रहण तथा धन्यकुमार द्वारा घोर तप प्रारम्भ।

हे मुनिराज, हमें भव-समुद्रसे पार उतारने वाली सारभूत दीक्षा दीजिए, जिससे आपकी कृपासे घर-परिग्रह आदिके दुःखोंको छोड़कर अपने नरभवको कृतार्थ कर सकें। तब मुनिनाथने उन्हें आत्म-सुख देने वाले दुर्द्धर महाव्रत प्रदान किए। (उन दोनोंने भी) सिरसे सेहरा, हाथोंसे कंकड़, (कानोंसे) कुण्डल एवं तनका मण्डन करनेवाले बहुमूल्य वस्त्र, पुष्प (हार आदि) तत्काल ही उतारकर धरतीपर फेंक दिए, जो ऐसे प्रतीत होते थे मानों, ग्रह-मण्डल ही नभस्तलसे चूककर (-च्युत होकर) आ पड़ा हो। शरीर एवं संसार-भोगोंसे उदास होकर इन महा-(धण्ण) पुरुषोंने स्वयं ही दीक्षा ग्रहण की तथा भव-दुःखोंका हरण करने वाली पंचपरमेष्ठियोंका नाम लेकर उन्होंने अपने हाथोंसे ही मस्तकके केश उपाड़ दिए।

उसी समय पाण्डवोंने भी माताके आदेशसे तथा मुनिवरके उपदेशसे व्रत ग्रहण कर लिए। संसारकी असारता जानकर राजाकी पत्नी (रानी) ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। धनदत्तकी त्रियाएँ भी प्रव्रजित हो गईं और संक्षेपमें आर्यिका-व्रतसे अपनेको सुशोभित किया। दूसरोंने भी मुनिराजको प्रणामकर कर्ममलको नष्ट करनेवाला महान् सम्यग्दर्शन ग्रहण किया। किसीने यतिवरकी वन्दना करके आत्मगर्हा एवं निन्दा कर गृहस्थ-व्रत ग्रहण किए। (बाकी नागरिक) अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार व्रत-लेकर आत्म-निदा कर तथा मुनिराजको प्रणाम कर अपने-अपने घर लौट गए। इधर कामदेवको खण्डित करनेवाले श्री धनदत्त मुनीश्वर घोर-तप करने लगे।

घत्ता—मनमें बिना किसी दुःखका अनुभव किए दो माह, तीन माह अथवा छह माहके उपवासोंसे जब शरीर शुष्क कर दिया जाता है और भव-समुद्र सुखा दिया जाता है वह मुनिवर द्वारा सुखकारी प्रथम 'अनशन-तप' कहा गया है। (धनदत्तने उसी तपको किया) ॥ ६८ ॥

[४-१६]

धन्यकुमारके तपोंका वर्णन

समयपर श्रावकके घर जाकर आगम-भाषित तथा रस-गृद्धिसे मुक्त होकर मुनि जो विशुद्ध-अशन (आहार) लेता है, उसे गुणियोंने द्वितीय 'अवमौदर्य तप' कहा है। रसनेन्द्रियके प्रसारका निरोध होने, इन्द्रियोंका भोगोंकी ओर प्रसृत होनेसे रोकने तथा अपना चित्त वशमें करनेके लिए जो वस्तुओंकी संख्या (सीमित) की जाती है, वह संसारमें पवित्र 'वृत्तित्याग-तप' कहा गया है।

घी, दूध, दही तथा शक्कर जैसे प्रमुख द्रव्योंका मुनि गर्वरहित होकर (त्याग करनेका) नियम करता है तथा छह रसोंवाला भोजन नहीं करता अनिन्द्य मुनिवरोंने 'इसे रस-त्याग व्रत' कहा है।

और हे भव्य, जहाँ कोई रहता या उठता-बैठता न हो, तथा एकान्त स्थान ही शयनासनके लिए देखना चाहिए। क्योंकि परस्परमें जहाँ अंग लगते हों, वहाँ सूक्ष्म-जीवोंकी हिंसा होती है। यह विचारकर यतीश्वर पापनिवारक एवं सारभूत 'शय्यासन' नामक तप करते हैं। तरुमूल, शिलातल, गिरि एवं वनान्तमें मुनिवर अपने शरीरको तृणवत् मानते हैं। सूर्य-किरणोंकी उष्णता, शिशिरकालीन

दंडासणि मडयासणि असंकु वज्जासणि णिवसइ विगयपंकु ।
पोमासणि गोदोहासणम्मि छव्विहु बाहिरतउ[1] थिर मणिम्मि ।
धणयत्तु मुणीसर आयरेइ अब्भंतर-तउ पुणु सो धरेइ ।

घत्ता—विणु पायच्छित्तें मायाचित्तें तउ विसुद्धु णउ होइ इह ।
पुणु दंसणु णाणहु चरण-पहाणहु गुरु परमेट्ठिहु विणउ इह ॥ ६९ ॥

[४-१७]

गणहु गलाणहु पाट्ठय मुणिवर दहविह वइयावच्चु हय-सर ।
आयम-सत्थाब्भासु णिरंतरु करइ तं जि सज्झाउ दुरियहरु ।
तणु-चाएँ रयणत्तउ भावइ धम्म-सुक्क झाणइँ मणि झावइ ।
इय बारह-विह तउ पालंतउ पुव्वक्किय कल-मल खालंतउ ।
भव्वहँ धम्मपंथि लाएँतउ महि विहरइ तित्थइँ वंदंतउ ।
चारि णिओय चित्ति भावंतउ सुव-विहाणु लोयहु भासंतउ ।
विहरिउ दीहकालु एक्कल्लउ पुणु गिरि-सिरि थक्कउ गयसल्लउ ।
दहविहु धम्मु अखंडु वियाणिवि चेयण-गुण अप्पउ सम्माणिवि ।
पावपयडि कम्मइँ संघारिवि आसवदारागमणु णिवारिवि ।
आउसंति सण्णासु धरेप्पिणु पुणु पाउग्गह मरण मरेप्पिणु ।
सिरिधणयत्तु मुणि हु भडारउ हुउ सव्वट्ठसिद्धि-सुरु सारउ ।
अहमिंदहु सुह केम वणिज्जइ सिवसुखहु अणुहरु जं गिज्जइ ।
हत्थ-पमाणु काय सुहदायणु लहसइ ण रूउ सरीरहु लायणु ।

घत्ता—तेतीस जि सायर बहुसुक्खायर आउ अत्थि तहु तहिँ सुरहु ।
वसु-रिद्धिहिँ रिद्धउ गुणेण समिद्धउ णिवसइ तहिँ सो सुर-घरहु ॥ ७० ॥

[४-१८]

अण्णु वि तउ तवियउ घोरु वीरु सिरिभद्दु मुणिंदु जि मेरु धीरु ।
संणासें सो पुणु चइवि काउ तत्थ वि खणेण अहमिंदु जाउ ।
बिण्णि वि परसप्पर तच्च-लीण णिवसहिँ तत्थ जि णाणें पवीण ।
अण्ण जि पुणु णिय-णिय तव-बलेण सुहगइ संपाइय गयमलेण ।
तेतीसंबुहि सोक्खइँ रमेवि आउक्खइँ तत्थाउ वि चिवेवि ।

[1] क. वरिहत्तउ ।

ठण्ड एवं वर्षाके समय वे वृक्षके नीचे निवास करते हैं। वे निःशंक एवं निष्पाप मुनिवर दण्डासन मृतकासन एवं वज्रासनसे रहते हैं। पद्मासन (गवासन) एवं गो-दोहासन करके स्थिर-मनमें विचरण करते हैं। धनदत्त मुनीश्वरने आदर पूर्वक छह बाह्य तपोंको भी धारण किया। (क्योंकि)

घत्ता—प्रायश्चित्तके बिना इस संसारमें मायावी चित्तसे तपकी विशुद्धि नहीं हो सकती। (अर्थात् यही प्रायश्चित्त नामका प्रथम तप है) पुनः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र-प्रधान गुरु आदि पंचपरमेष्ठियोंकी विनय करना यह 'विनय तप' है॥ ६९॥

[४-१७]

घोर तपस्याके बाद धन्यकुमारका सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्गमें गमन

कामदेवको नष्ट करनेवाले गण, ग्लान एवं पाठक (संज्ञक) मुनिवरोंकी दस प्रकारकी वैयावृत्ति करना 'वैयावृत्त-तप' है। आगम शास्त्रोंका निरन्तर अभ्यास करना सो पापापहारी 'स्वाध्याय तप' है। शरीर छोड़ते समय रत्नत्रयकी भावना भाना सो 'व्युत्सर्ग-तप' तथा मनमें धर्म एवं शुक्ल ध्यानोंका ध्यान करना यह 'ध्यान तप' है।

इस प्रकार बारह प्रकारके तपोंका पालन करता हुआ पूर्वकृत कर्ममलको स्खलित करते हुए, भव्यजनको धर्म पन्थकी ओर उन्मुख करते हुए तथा तीर्थोंकी वंदना करते हुए वे धनदत्त-मुनि पृथिवीपर विचरण करने लगे। चार अनुयोगोंकी मनमें भावना करते हुए, शास्त्र-विधानके अनुसार लोगोंको उपदेश देते हुए निःशल्य होकर अकेले ही दीर्घकाल तक विहार करके पुनः पर्वत-शिखरपर पहुँचे। (वहाँ) दस प्रकारके धर्मको अखण्ड जानकर, चैतन्य-गुण स्वरूप आत्माका सम्मान कर, कर्मोंकी पाप-प्रकृतियोंका संहार कर, कर्मोंके आगमनके द्वार—आस्रवका निवारण कर, आयुके अन्तमें संन्यास धारण कर, पुनः प्रायोपगमन मरणको स्वीकारकर वे श्री भट्टारक धनदत्त-मुनि सारभूत सर्वार्थसिद्धि-स्वर्गमें अहमिन्द्र हुए। अहमिन्द्रके सुखोंका वर्णन कौन कर सकता है ? जो मोक्ष-सुखका अनुकरण करनेवाला कहा गया है। वहाँ सुखदायक शरीरका प्रमाण एक हाथ है। अन्य दूसरे शरीरके रूप एवं लावण्यकी वैसी दीप्ति नहीं देखी जाती।

घत्ता—अनेक सुखोंके आकर रूप उस स्वर्गमें तेतीस सागरकी आयु होती है। वह (धनदत्तका जीव) आठ प्रकारकी ऋद्धियोंसे भरपूर एवं गुणोंसे समृद्ध सुर-विमानमें निवास करने लगा॥ ७०॥

[४-१८]

शालिभद्र द्वारा सर्वार्थसिद्धि-स्वर्गकी प्राप्ति। ग्रन्थ-समाप्तिके बाद कवि द्वारा त्रुटियोंके लिए क्षमा-याचना।

उधर मेरुके समान धीर-वीर श्री शालिभद्र मुनीन्द्रने भी घोर-तप तपा। उन्होंने भी संन्यास-पूर्वक काया छोड़ी और अन्तर्मुहूर्त्तमें ही वे सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र देव हो गए। वहाँ ज्ञान-प्रवीण वे दोनों ही (धनदत्त एवं शालिभद्रके जीव) परस्परमें तत्त्वमें लीन होकर निवास करने लगे। अन्य दूसरे-दूसरे भी अपने-अपने तपके बलसे कर्ममल रहित होकर शुभगतिवाले हो गए।

वरणरभउ पाविवि तउ करेवि संसारु महण्णउ उत्तरेवि।
उप्पाइवि केवलु अखउ णाणु पुणु धणउ लहइ मोक्खठाणु।
होएसइ सिद्ध गुणोहरासि वरअट्ठगुणड्ढु लोयग्ग-वासि।
इउ जाणिवि लोइहु दाणु देहु अह जिण-आयम-सद्धा करेहु।
मइ अमुणंतें जं किंपि एहु विरयउ बुहयण-मण-जणिय णेहु।
तं खमउ सरासइ मज्झु दोसु बुहयण पुणु मा मणि करहु रोसु।
जं गण-मत्ता हीणउँ चरित्तु तं सोहिवि किज्जहु इहु पवित्तु।
भुल्लण-साहुहु विणयवसेण मइ कियउ पयासिउ बहुरसेण।
चिरकयपुण्णें परिपुण्ण सत्थु हूवउ णियमिं पयडिय-पयत्थु।
घत्ता—णंदउ जिणसासणु [1]दुरियविणासणु सुहसयसासणु गुणभरिउ।
अरु सत्थु समिद्धउ वण्णहिं सुद्धउ णंदउ महियलि इहु चरिउ ॥ ७१ ॥

[४-१९]

णंदउ महिवइ णाएँ पवीणु णंदउ सज्जणयणु भरिय-दीणु।
णंदउ सुधम्मु सिवसोक्खयारि णंदउ जइवर वय-भार-धारि!
इक्खायवंस-मंडलें-मयंकु सिरिपुण्णपाल-सुउ विगयसंकु।
णंदउ भुल्लणु णामेण साहु णिउरा वल्लहु दीहवाहु।
महु होज्जउ विमल-समाहिबोहि जा दुग्गइगमणदुहणिरोहि।
णियकालें वरिसउ मेहमाल गिहि-गिहि सम्मुहु मंगल-वमाल।
बहुअत्थ-समिद्धउ चरिउ एहु परिपुण्ण करिवि संवेय-गेहु।
पंडिएण समप्पिउ पावणासु भुल्लणहु हत्थि पयडिय-पयासु।
तेण जि णियसीसि चडाविऊण पुणु पंडिउ पुज्जिउ पणमिऊण।
लिहाविवि बहु पुत्थय जितेण महि वित्थारिउ पुण्ण-उस्सवेण।
घत्ता—गुण-मुणिहु पसाएं पयडिय राएं सिद्धउ कव्वरसायणु।
सो वाइजंतउ अत्थसयंतउ वट्टउ सुहसय-भायणु ॥ ७२ ॥

[४-२०]

घत्ता—जिणगुणगणराएं वज्जियमाएं चरिउ कराविउ एहु वरु।
तहु वंसु पसिद्धउ सुह जण रिद्धउ पयडमि जण-मण-सुक्खकरु ॥

१. क. दिरिय। २. क. मंडण।

तेतीस सागर तक सुख भोगकर, आयुके क्षय होनेपर, वहाँ से भी चयकर, पुनः नरभव प्राप्तकर और तपकर, संसाररूपी महार्णवको पारकर, अनन्त केवलज्ञान प्राप्त कर, वह धनदत्त मोक्षस्थानको प्राप्त करेगा। और वहाँ गुणोंकी राशिरूप लोकके अग्रभाग पर जाकर आठ गुणोंसे समृद्ध सिद्ध होगा।

यह जानकर सुपात्रोंको दान दो और जिनागमोंपर श्रद्धा करो। बुधजनोंके मनमें स्नेह उत्पन्न करनेवाले इस ग्रन्थमें यदि मैंने बिना सोचे-समझे कहीं कुछ लिख दिया हो तो हे सरस्वति, मेरे उस दोषको क्षमा करना। हे बुधजन, उन दोषोंके कारण मुझपर रोष मत करना। यदि (कहीं) गण, मात्रा आदिसे हीन यह चरित-ग्रन्थ लिखा गया हो, तो उसका शोधनकर उसे पवित्र (शुद्ध) बना लेना।

भुल्लण साहूकी विनयके कारणवश ही मैंने सरसता-पूर्वक इसका प्रकाशन किया है। चिरकृत पुण्यसे ही यह शास्त्र सम्पूर्ण हो सका है। वह नियमसे पदार्थोंका प्रकाशन करनेवाला होवे।

घत्ता—पापोंका विनाशक, सैकड़ों सुखोंका शासक. गुणोंसे भरपूर जिन शासन जयवन्त रहे और वर्णोंसे शुद्ध और समृद्ध यह प्रशस्त-चरित पृथिवी-तलपर जयवन्त रहे ॥ ७१ ॥

[४-१९]

भरतवाक्य तथा आश्रयदाता-परिचय

न्याय-प्रवीण महीपति आनन्दित रहे। दीनों का भरण-पोषण करने वाले सज्जन-जन आनन्दित रहें। शिव-सुखका करने वाला सुधर्म वर्धमान रहे। व्रत-भारके धारक यतिवर नन्दित रहें।

इक्ष्वाकु-वंश रूपी मंडलके मयंक, श्री पुण्यपालके पुत्र, निःशंक, दीर्घबाहु एवं निउरा-देवीके वल्लभ श्री भुल्लण साहू आनन्दित रहें। मुझे दुर्गति-गमनके दुःखका निरोध करनेवाली विमल-समाधि-बोधिकी प्राप्ति हो। मेघमाला अपने समयपर बरसे। घर-घर मंगल-सुखोंकी माला बनी रहे।

संवेगके गृह रूप, विविध अर्थोंसे समृद्ध, पापनाशक तथा प्रयासपूर्वक विरचित इस चरित (ग्रन्थ) को परिपूर्ण कर पण्डित (रइधू) ने भुल्लणके हाथोंमें समर्पित किया। भुल्लणने भी उस ग्रन्थको प्रणाम कर पुनः अपने शीर्षपर चढ़ाकर पण्डित (रइधू) की पूजा (सम्मान) की। उस भुल्लण साहूने पुण्य-उत्सव पूर्वक अनेक पोथियाँ (ग्रन्थ) लिखवाकर उनका पृथिवीपर विस्तार किया।

घत्ता—प्रकटित अनुराग वाले मुनि गुणकीर्त्तिकी कृपासे ही यह काव्य-रसायन सिद्ध हुआ है। जो वादियोंको जांतने (बुरी तरह दबा देने) वाला, शतान्त अर्थ-सम्पदा बढ़ानेवाला तथा सैकड़ों सुखोंका भाजन है ॥ ७२ ॥

धण-कण-जण-पुण्णउ सुहणिवासु पुरपालु संहु अरि-विहिय-तासु ।
तहिँ वणिवरु जिण-पय-चंचरीउ भव-भमणहु जो मणि णिच्च भीउ ।
करमू पटवारिउ गुणगरिट्ठु सेयंसु णाइँ मुणि-दाणे इट्ठु ।
तहु भज्जा रूवा रूवसार णं सील[1]वयहु पढमिल्लकार[2] ।
तहु णंदण णव णं णव पयत्थ गो-वच्छ णाइँ मणि मुणिय सत्थ
उद्धरणु पढमु उद्धरिय-दीणु साधारणु सावयधम्मि लीणु ।
तीयउ खम्हउ खमगुण-महंतु तुरियउ पुण्णउ पुण्णे महंतु ।
सक्कमुक्क मज्झि पंचमउ वुत्तु जो परियाणइ आयमु पवित्तु ।
रयणत्तय-भत्तउ रयणु साहु हरि मुत्तिहरु पुणु दीहबाहु ।
अट्ठमउ थिरराज गुणोहठाणु घूघलि णवमउ बुज्झिय-पमाणु ।
पुत्तहँ जि मज्झि चउथउ जि वुत्तु सिरि पुण्णपालु मणि मुणिय-सुत्तु ।

घत्ता—तहु पढमी भामिणि कुल-गिह-सामिणि तिहुवणसिरि णामे भणिया ।
बीई पुणु मणसिरि णं पीथउ[3]सिरि अह पवित्ति रूवहु भणिया ॥ ७३ ॥

[४-२१]

णंदण चयारि तहु विणयवंत अणंत-चउक्क जि जणि सहंत ।
ताहँ जि गुरुमंत तणि अमुल्लु सिरिभुल्लणु णामा णं जि अतुल्लु ।
तहु भज्जा चउविह-पत्त-भत्त णिउरादे णामा गिह महंत ।
बीयउ णंदणु सूले सुवाणि तहु भज्ज महासिरि णेह-खाणि ।
तहु तिण्णि पुत्त कुल-भवण-दीउ णं रयणत्तउ जायउ इह वण्णणीउ
कामदिउ अमरदिउ लाडमल्लु णं रयणत्तउ जायउ पयल्लु ।
तीयउ णंदणु पुणु कामराउ कल्लाणसिरि भज्जा सराउ ।
चउथउ सुउ आसलु विगयपाउ परिवारु पहु णंदउ सराउ ।

घत्ता—एयहँ सव्वहँ पुणु पयडिय बहुगुणु णंदउ भुल्लणु गुणभरिउ ।
धणयत्तकुमारहु सुहँ[3]फलसारहु काराविँउ[4] इहु चरिउ ॥ ७४ ॥

इय सिरिधणकुमारचरिए कयसुअभावण-फलेण विप्फुरिए सिरिपंडियरइधु-विरइए सिरि-पुण्णपाल-सुय-साहु-सिरिभुल्लण-णामंकिए भव्वजीवाण मण्णिए धणकुमार-णिव्वाण-गमण-वण्णणो णाम चउथी-संधी-परिच्छेउ समत्तो । सन्धि-४

इति श्री धणदत्तकुमार चरित्रं समाप्तम् । लिखितं मुनि श्री भारमल्ल लिखितं । श्रीरस्तु । कल्याणमस्तु ।

ग्रन्थाग्रा: श्लोका: ९००.

---

१. क. णेसाल २. क. पीयड ३. क. सय० । ४ क. कारिवउ ।

[४-२०]

आश्रयदाता-वंशपरिचय

घत्ता—जिनगुणसमूहके अनुरागी एवं माया-रहित जिस (भुल्लण साहू) ने (आश्रय देकर) यह चरित-ग्रन्थ लिखवाया है, उसके, शुभ जनोंसे समृद्ध, जन-मनके लिए सुखकारी एवं प्रसिद्ध वंशका कथन करता हूँ।

धन-धान्य एवं जनोंसे पूर्ण, सुखके निवास-गृह, शत्रुओंको संत्रस्त करने वाले पुरुपाल नामके नरव्याघ्र (संडु) हुए। उन्हींके यहाँ जिनचरणोंके चंचरीक, अपने मनमें भव-भ्रमणसे निरन्तर भयभीत, गुणगरिष्ठ एवं वणिक्श्रेष्ठ करमू-पटवारी हुए, जो मुनियोंको इष्ट-दान देनेमें मानों राजा श्रेयांसके समान ही थे।

उन करमू पटवारीकी सौन्दर्यकी सारभूत रूपा नामकी भार्या थी, जो मानों शीलव्रतकी प्रथम स्थान थी। उनके नौ पुत्र हुए, मानों जीवादि नौ पदार्थ ही हों। वे गो-वत्सके स्नेह तथा संगका स्मरणकर सदा (माता-पिताके) साथ-साथ रहते थे।

प्रथम पुत्र (का नाम) उद्धरण था, जो दीनोंका उद्धार करनेवाला था, (द्वितीय पुत्र) साधारण (नामका) था, जो श्रावक-धर्ममें लीन रहता था। तृतीय पुत्र खेमा (खम्हउ) था, जो क्षमा-गुणमें महान् था। चौथा पुत्र पुन्ना (पुण्यपाल) था, जो पुण्य-कार्योंमें महान् था। पाप-मलसे मुक्त पाँचवाँ पुत्र मल्हि नामका कहा गया है, जो पवित्र-आगमोंका जानकार था। रत्नत्रयका भक्त रत्ना साहू (नामका छठवाँ पुत्र) था। गुणरूपी मोतियोंका घर तथा दीर्घभुजाओंवाला हरि (नामका सातवाँ पुत्र) था। गुण-समूहका स्थान वीरराज नामका आठवाँ पुत्र था। प्रमाण-शास्त्रका ज्ञाता घूघल नामका नौवाँ पुत्र था। इन नौ पुत्रोंमेंसे मध्यवर्ती जो चतुर्थ पुत्र श्रीपुण्यपाल कहा गया है, उसने अपने मनमें सूत्रोंका चिन्तन किया था।

घत्ता—उस पुण्यपालके कुलगृहकी स्वामिनी त्रिभुवनश्री नामकी प्रथम भामिनी कही गई हैं और शीलसे पवित्र एवं रूपवती मदनश्री नामकी दूसरी भामिनी कही गई है, जो मानों पृथिवी-मण्डलकी सारभूत श्री—लक्ष्मी ही थी॥ ७३ ॥

[४-२१]

आश्रयदाता परिचय

उसके चार विनयी पुत्र हुए, लोगोंमें शोभायमान वे (ऐसे प्रतीत होते थे–) मानों अनन्त-चतुष्क ही हों। उनमें से महान्, मान्य, शरीर से मूल्यवान् (सुन्दर शरीरवाले) एवं अनुपम श्री-भुल्लण नामका प्रथम पुत्र हुआ। उसकी णिउरादेवी नामकी भार्या थी, जो चतुर्विध पात्रों की भक्ता एवं अपने घरमें महती (सम्मानित) थी।

दूसरा पुत्र सूले (नामका) था, जो मधुर-वाणी बोलने वाला था। उसकी भार्या का नाम

महाश्री था, जो स्नेहकी खानि थी। उसके कुलरूपी भवनके दीपकके समान कामदेव, अमरदेव एवं लाडमुख नामके तीन पुत्ररत्न उत्पन्न हुए, मानों उस (सूले) के यहाँ प्रत्यक्ष रत्नत्रय ही उत्पन्न हुआ हो।

जो तीसरा कामराज नामका (सभीके प्रति) अनुरागी पुत्र था, उसकी भार्या कल्याणश्री थी।

चौथा पुत्र आसलु (नामका) था, जो निष्पाप, स्नेही एवं परिवारका स्वामी था। वह प्रसन्न रहे।

घत्ता—उन सभी पुत्रोंके कारण प्रकटित पुण्यवाला एवं अनेक गुणोंसे समृद्ध (वह) मुल्लणसाहू आनन्दित रहे, जिसने शुभफलके सारभूत इस धनदत्तकुमारके चरितका प्रणयन कराया है ॥ ७४ ॥

इस प्रकार पूर्वकृत श्रुत-भावनाके फलसे विस्फुरित श्री पं० रइधू द्वारा विरचित श्री-पुण्यपालके पुत्र श्री मुल्लण साहूके नामसे अंकित भव्यजीवोंके लिए मननीय इस 'धन्यकुमार-चरित' में धन्यकुमारके निर्वाण-गमनका वर्णन करने वाला चौथा सन्धि-परिच्छेद समाप्त हुआ ॥ सन्धि—४ ॥

इस प्रकार पूर्वकृत श्री धनदत्तकुमार चरित्र समाप्त हुआ। मुनि श्री भारामल्लने इसकी प्रतिलिपि की। श्री सम्पन्न हो, कल्याण हो।

ग्रन्थाग्र श्लोका : ९००

●

पुष्पिका

संवत् १६३६ वर्षे फाल्गुनमासे शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ अर्ककवासरे श्रीजिनचैत्यादि-मूल-नायक-श्रीचन्द्रप्रभस्वामिविराजमाने मारवाडिदेशे श्रीमेढतीपुरवरे अन्याय-तिमिर-दिनकर-विधुरि जिनशरणसज्जनानन्दे नृपवर-लक्ष्मीवल्लभे राजश्री-पातिसाह्-श्री-अक्कबर-जल्लालदी-महंमद-राज्ये पायंदा महंमद षान (खान) राज्ये श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्द-कुन्दाचार्यान्वये उभयभाखा (भाषा)—प्रवीण भट्टारिक (भट्टारक) श्री श्री ६ पद्मनन्दिदेवा-स्तत्पट्टे सिद्धान्त-जल-समुद्र-विवेक-कला-कमलिनी-विकाशन-मार्तण्ड-भट्टारिक-श्रीशुभचन्द्रदेवा-स्तत्पट्टे विद्याप्रधान चारु-चारित्रोद्वहनभट्टारिक-श्रीजिनचन्द्रदेवास्तत्पट्टे वादीभकुम्भविदारणे केशरि-भट्टारिकश्रीप्रभाचन्द्र देवास्तद्द्वितीयशिष्य-दुर्धर-पञ्चमहाव्रतधारणैक-प्रचण्ड-श्रीमत् मण्डला-चार्य-श्रीरत्नकीर्त्तिस्तच्छिष्य-पंचाचारचरणचउरान् भेदाभेद-रत्नत्रयाराधकान् समर-सारंग-विदारणैक मृगेन्द्रान् श्रीमत्-मण्डलाचार्य-श्रीभुवनकीर्त्तिस्तच्छिष्य मण्डलाचार्य श्रीधर्मकीर्त्तिः भव्यकुमुद-विकाशनैकनिशाकर-द्वितीय-शिष्य-मण्डलाचार्य-श्रीविशालकीर्त्तिः तच्छिष्य दुर्द्धर-पञ्च-महाव्रत-धारणैक-प्रचण्ड-श्रीमत्-मण्डलाचार्यं श्रीलक्ष्मीचन्द्रः तदाम्नाये खण्डेलवालवंशे पहाड्या गोत्रे पूजा-पुरन्दरशाह फाल्हा भार्या फूलमदे पुत्र चत्वारि प्रथम पुत्र शाह चाहड द्वितीय पुत्र शाह ओधा तृतीय पुत्र शाह मन्ना चतुर्थं पुत्र शाह मेहाश्च तस्य तृतीय पुत्र शीलव्रतावगाढ परिपालन श्रीमत्सुदर्शनावतार शाह श्री लूणा तस्य भार्या लूणादे तस्य पुत्र शाह श्रीवंत भार्या सुहलालदे तस्या पुत्र द्वितीय शाह चिरंजीयात् वीदा द्वितीय पुत्र चिरंजीव धनराजेन शाह मन्ना भार्या मयणश्री पुत्र शाह श्रीलूणा। शाह श्रीलूंणाकेन पुण्यार्थेन पुस्तक-लिपि कारापितं। बाई श्रीकरमाईकेन घटापितम्। शुभं भवतु। कल्याणमस्तु।

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥ १ ॥

यावज्जिनस्य धर्मोऽयं लोकेऽस्तीति दयापरः
यावत्सुरनदीवाहस्तावन्नन्दतु पुस्तकम् ॥ २ ॥

संवत् १६३६ के फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी, रविवार को श्री जिन-चैत्यालय में (जब) आदि-मूलनायक श्री चन्द्रप्रभ स्वामी विराजमान हुए (तब), मारवाड़ देश के श्री मेदिनीपुर नामके श्रेष्ठ नगर में अन्यायरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्यरूप, जिनेन्द्र की शरण में आये हुए सज्जनों को आनन्दित करनेवाले, राजाओं में श्रेष्ठ, राज्यलक्ष्मी के अधिपति, राज्य के शोभा स्वरूप, पातिशाह (बादशाह) श्री अकबर जल्लालदी मुहम्मद के राज्य के अन्तर्गत पायंदा (प्यादा या सैनिक पदाधिकारी ?) मुहम्मदखान के राज्य में श्री मूलसंघ-नन्द्याम्नाय, बलात्कार-गण, सरस्वती-गच्छ एवं श्री कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में उभयभाषा-(संस्कृत एवं प्राकृत) प्रवीण श्री श्री ६ पद्मनन्दिदेव हुए।

उन (पद्मनन्दि) के पट्टशिष्य, सिद्धान्त-सागर-स्थित विवेक-कलारूपी कमलिनी को विकसित करने के लिए मार्त्तण्ड के समान भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेव हुए।

उन (शुभचन्द्र) के पट्टशिष्य, विद्याप्रधान एवं निरतिचारचारित्र के धारक भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेव हुए।

उन (जिनचन्द्र) के पट्टशिष्य वादीभरूपी हस्तिकुम्भ के विदारण में सिंहरूप भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेव हुए।

उन (प्रभाचन्द्र) के द्वितीय पट्टशिष्य, दुर्धर पञ्चमहाव्रतों के धारण में अत्यन्त प्रचण्ड श्रीमान् मण्डलाचार्य श्री रत्नकीर्त्ति हुए।

उन (रत्नकीर्ति) के शिष्य, पञ्चाचार-पालन में चतुर, भेदाभेद के ज्ञाता, रत्नत्रय के आराधक, समररूपी मृग को विदीर्ण करने वाले अद्वितीय सिंह के समान मण्डलाचार्य श्री भुवनकीर्ति हुए।

उन (भुवनकीर्ति) के (प्रथम) शिष्य भव्य-कुमुद के विकासन में कलाधर के समान, मण्डलाचार्य श्री धर्मकीर्त्ति तथा द्वितीय शिष्य मण्डलाचार्य श्री विशालकीर्ति हुए।

उन (विशालकीर्त्ति) के शिष्य, भीषण पञ्चमहाव्रत को धारण करने में परमप्रचण्ड, श्रीमान् मण्डलाचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्र हुए।

उनके आम्नाय में खण्डेलवाल-वंश के पहाड्या-गोत्र में पूजा-पुरन्दर शाह फाल्हा की पत्नी फूलमदे के चार पुत्र हुए, जिनमें प्रथम पुत्र शाह चाहड, द्वितीय पुत्र शाह जोधा, तृतीय पुत्र शाह मन्ना तथा चतुर्थपुत्र शाह मेहा हुए।

उस (शाह मेहा) का तृतीय पुत्र, शीलव्रतादि के परमपालक, श्रीमान्, सुदर्शनावतार शाह श्री लूणा हुआ, जिसकी पत्नी लुणादे थी।

उस (लूणा) का पुत्र शाह श्रीवन्त हुआ, उसकी पत्नी का नाम सुहलालदे था।

उस (सुहलालदे) से (प्रथम) अद्वितीय पुत्र, चिरंजीवी श्री शाह वीदा हुआ, द्वितीय पुत्र चिरंजीवी धनराज हुआ।

उस (धनराज) से शाह मन्ना नामक पुत्र हुआ जिसकी पत्नी का नाम मदनश्री था।

उस (मदनश्री) से श्री शाह लूणा का जन्म हुआ। इन्हीं शाह श्री लूणा ने पुण्यार्थ इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि करवाई तथा उसे श्री० करमाबाई ने प्रतिष्ठित (स्थापित) कराई। उनका शुभ हो, कल्याण हो।

दान देनेवाले और कथन करनेवाले चिरकाल तक आनन्दित रहें।

व्यक्ति ज्ञानदान के कारण ज्ञानी, अभयदान देने के कारण निर्भीक, अन्नदान के कारण दानी तथा औषधिदान से निरोग होता है ॥ १ ॥

इस संसार में जब तक जिनेन्द्र भगवान का यह दयाप्रधान धर्म (उपस्थित) है, और जब तक गंगा का यह प्रवाह (प्रवाहित) है, तब तक यह (धण्णकुमारचरिउ) ग्रन्थ (सभी को) आनन्दित करता रहे।

●

शब्दानुक्रमणिका

[ध्यातव्य—सन्दर्भित ग्रन्थोंके संक्षिप्त नाम ब्रैकेटमें दिए गए हैं]

अक्कबर–अकबर (बादशाह) अन्त्य-प्रशस्ति पृ० २६० (सु०)

अक्कालें–अकालमें ३।२२।५ (पा०)

अक्ककित्ति–अर्ककीर्त्ति (राजा) ३।१।१२ (पा०), ४।४।५ (पा०) ५।२।१ (पा०)

अक्कहु–सूर्यसे ५।२२।५,५ ५।२२।९ (पा०)

अक्ख–अक्षत् २।१३।१३ (पा०)

अक्खइ–कहा २।९।८ (ध०); ३।१७।३ (ध०) ३।११।१० (सु०), ६।१८।३ (पा०)

अक्खहूँ–इन्द्रियाँ–३।६।१६ (सु०)

अक्खयदाणु–अक्षयदान ३।१४।४ (ध०) ४।३।७ (पा)

अक्खपमाणु–अक्ष (बहेड़ा) प्रमाण ५।३०।१४ (पा०)

अक्खर–अक्षर, ३।२५।५ (पा०); ७।६।४ (पा०),

अक्खर भेउ–अक्षर भेद १।१०।११ (ध०)

अक्खमाला–अक्षमाला (रुद्राक्षमाला) ६।६।९ (पा०) १।१।२ (ध०) १।९।३ (पा०)

अक्खरा–अक्षर (वर्ण) २।१३।१४ (ध०), ५।१०।८ (पा०),

अक्खीण–अक्षीण ३।१४।६ (ध०)

अक्खंडरज्जं–अखण्ड राज्य ३।५।१० (पा०)

अ-ख-च-ट-त-प-वग्गइँ अ-स्वर, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, आदि, १।१०।११ (ध०)

अकज्जंतर–नीचकार्य ५।१०।१ (पा०)

अकम्म–बिना कामका ३।३।१३ (ध०)

अकम्मु–अकर्म, दुर्भाग्य ४।१।६ (सु०)

अकयपुण्णु–अकृतपुण्य, (व्यक्ति) ३।७।१३ (ध०); ३।१२।१३ (ध०) ३।१२।२१ (ध० ३।१५।३ (ध०)

अकारणु–अकारण ३।३।१४ (ध०); ३।५।१२ (ध०)

अकिट्टिम–अकृत्रिम २।९।१५ (पा०); ३।२६।७ (ध०) ४।१८।६ (सु०)

अकिलेव–क्लेदरहित ३।२२।४ (पा०)

अकुलीण–अकुलीन १।११।९ (सु०)

अकोहु–क्रोध-रहित ४।४।९ (सु०)

अकंपु–अकम्प १।२।११ (पा०), ४।१८।८ (सु०)

अखलिय–अस्खलित ४।४।९ (ध०)

अखलियसासण–अस्खलित शासन ४।१९।३ (पा०)

आखियउ–कहा ४।९।४ (सु०)

अखंड–अखण्ड १।१८।४ (सु०) ५।२६।१६ (पा०)

अखंडिउ–अखण्डित ६।२२।१२ (पा०) ५।३३।६ (पा)०

अखंड्–अखण्ड २।९।११ (सु०)

अग्ग–आगे सम्मुख ३।३।८ (सु०); ३।१०।८ (ध०) ४।१।२ (पा०); ६।६।६ (पा०)

अग्गदेसि–अग्रदेश १।७।३ (सु०)

अग्गपएस–अग्रप्रदेशमे २।१०।१ (ध०)

अग्गलपुरु-अर्गलपुर (नगर) पृष्ठ सं० २६०–२६१

अग्गि–अग्नि ७।४।११ (पा०)

अग्गिकुमार–अग्निकुमार (देव) ५।२०।२ (पा०) ७।४।११ (पा०)

अग्गेसरि–अग्रेसर ३।१।११ (सु०)

अग्घु–अर्घ्य २।७।१० (ध०)

अगणिय–अगणित ४।५।१३ (सु०) १।३।३ (ध०)

अगव्व–गर्वहीन २।७।३ (पा०) १।५।१ (सु०) ४।३।१ (ध०)

अगंजिउ–अपराभूत ४।१३।१० (पा०)

अगंथु–परिग्रहरहित ५।३।४ (पा०)

अच्च–पूजा १।३।५ (ध०), ३।१८।५ (पा०)

अच्चण–अर्चना १।७।६ (पा०)

अच्चुवसग्ग–अच्युत स्वर्ग ५।२६।३ (पा०), ६।१४।१० (पा०) ७।५।७ (पा०)

अच्छ–स्वच्छ २।१।२ (पा०)

अच्छ–रहना ३।२८।८ (पा०) ३।१८।१ (ध०) ३।१२।१० (सु०)

अच्छउ–रहे ४।१।११ (सु०)

अच्छरगणसद्द–अप्सरागणोंके शब्द २।११।४ (पा०) २।६।१२ (पा०) २।११।४ (पा०) ३।१८।९ (ध०)

अडविहिं–अटवीमें ३।१५।२ (घ), ३।१७।७ (घ)
अडिल्ल–अडिल्ल (छन्द) १।९।१० (पा०)
अढाइय–अढाई ५।२०।११ (पा०)
अण्ण–अन्य ३।६।१२ (सु०), ३।१०।१२ (ध०), ५।३३।१८ (पा०)
अण्णइ–दूसरा ३।९।१५ (सु०), ३।१८।२ (पा०)
अण्णखलिय–दूसरोंके द्वारा तोड़े हुए ६।१२।१० (पा०)
अण्णण्ण–अन्यान्य ५।४।५ (पा०) ३।९।१५ (सु०)
अण्णत्तणु–अन्यत्व (अनुप्रेक्षा) ३।१८।९ (पा०)
अणत्तु–अन्यत्व (अनुप्रेक्षा) ३।१७।९ (पा०)
अण्णभवि–दूसरे भवमें ५।५।७ (पा०)
अण्णवि–अन्यभी २।२।१२ (सु०), २।७।१६ (पा०)
अण्णहिंदिणि–दूसरे दिन १।१६।२ (सु०), ३।१५।२ (ध०), ४।४।१० (पा०)
अण्णाण–अज्ञान, अज्ञानीजन, ३।१२।४ (पा०)
अण्णाणत्तणु–अज्ञानत्व ३।१२।७ (पा०)
अण्णाय–अन्याय १।४।२ (पा०)
अण्णायतिमिर–अन्याय रूपी अन्धकार ३।१।९ (सु०)
अण्णासणि–दूसरे आसन पर २।१२।१२ (पा०)
अण्णि–दूसरे ४।८।८ (सु०) ४।२०।१३ (सु०); ६।१९।५ (पा०)
अण्णु–अन्य ४।४।१० (ध०), ४।११।१२ (सु०), ५।८।८ (पा०)
अण्णोण्ण–अन्यान्य, एक दूसरे का ५।१९।७ (पा०) ४।३।९ (सु०)

अण्हाण–अस्नान ४।२०।३ (सु०)
अणग्घ–अनर्घ्य, अनघ २।११।१ (पा०), ४।१९।२ (पा०), २।६।४ (ध०), २।१०।३ (ध०) १।१५।३ (सु०) ३।४।१४ (सु०)

अणगलतोया–अनछना पानी ३।२५।६ (ध०)
अणगालिउ–अनगालित, बिना छना हुआ ५।८।६ (पा०)
अणचिंतउ–बिना विचारा हुआ ३।१७।१ (ध०)
अणत्थ–अनर्थ ३।२४।६ (ध०), ५।११।१० (पा०)
अणत्थमूलु–अनर्थ का मूल, जड़ २।३।२ (सु०)
अणमिस–निर्निमेष २।७।५ (पा०)
अणुव्वयाइँ–अणुव्रतादि ७।२।२ (ध०)
अणसणविहि–अनशन विधि ६।१३।४ (पा०)
अणहवंति–अनुभव करते हैं ३।२०।१४ (पा०)
अणहँ–दूसरों की ४।२।१५ (ध०)
अणाह–अनाथ ३।२०।२ (ध०), ४।७।८ (सु०)
अणिच्च–अनित्य (अनुप्रेक्षा) २।३।३ (सु०)
अणिच्चु–अनित्य ३।१४।९ (पा०), ३।२१।२ (ध०)
अणिट्ठु–अनिष्टकारी ३।६।३ (सु०), ३।२।७ (पा०), ३।१२।६ (पा०), ४।८।८ (पा०), ४।८।११ (पा०)
अणियट्टिगुणि–अनिवृत्तिकरण गुणस्थान ४।१२।१३ (पा०)
अणिवित्तिकरणि–अनिवृत्तिकरण गुणस्थान ४।१२।५ (पा०)
अणु–और ५।३०।५ (पा०)
अणुक्कमि–अनुक्रमसे, परम्परया १।२।३ (सु०), १।१।८ (ध०), ७।८।३ (पा०), ३।१८।१० (सु०), १।२।३ (पा०), ४।१५।१८ (पा०)
अणुकंप–अनुकम्पा ५।२।१४ (पा०)
अणुगामणि–अनुगमन करनेवाली ४।२४।४ (सु०)
अणुच्च–गम्भीर १।३।१४ (पा०)
अणुत्तर–अनुत्तर विमान (स्वर्ग, ५।२३।७ (पा०)
अणुदिणु–प्रतिदिन २।९।६ (सु०), ३।२५।६ (पा०)
अणुदिसहिंमिंद–अनुदिश वासी अहमिन्द्र (देव) ५।२५।१२ (पा०)
अणुमण्णिउ–मान लिया ३।५।४ (ध०)
अणुमण्णिए–अनुमोदित ३।२२।१६ (सु०)
अणुमण्णिवि–अनुमति देकर ३।११।४ (पा०)
अणुरत्तउ–अनुरक्त १।४।५ (ध०), ३।१५।१० (सु०)
अणुरत्तचित्तु–अनुरक्त चित्त ३।१२।२ (पा०)
अणुरत्तमणु–अनुरक्तमन ४।१२।१८ (सु०)
अणुरंजणु–अनुरंजन ३।४।७ (पा०)
अणुराइय–अनुरागपूर्वक ३।४।११ (पा०), ३।४।१३ (पा०) ३।२५।७ (ध०), ४।१६।११ (सु०) १।१३।९ (सु०)

अप्पणु–अपना ३।२२।८ (ध०)
अप्पमत्त–अप्रमत्त ३।१९।१३ (सु०)
अप्पम्मि–अपनी आत्मामें (लीन) ३।१६।१० (सु०)
अप्पलीण–आत्मलीन १।१।५ (सु०)
अप्पपासि–अपने पास १।४।३ (ध०)
अप्पसत्ति–आत्मशक्ति २।१।९ (पा०)
अप्पसरूव–आत्मस्वरूप ६।१०।१२ (पा०)
अप्पसरूवहिँ–आत्मस्वरूपमें ४।२१।७ (सु०)
अप्पसरुवि–आत्मस्वरूप ४।१२।१० (सु०)
अप्पा–आत्मा ३।१५।१० (सु०), ५ ७।६ (पा०)
अप्पाडिउ–फट जाती है, उछल जाती है ६।१८।१३ (पा०)
अप्पाण–अपना ३।२२।१० (पा०); ६।१२।५ (पा०)
अप्पादंसण–आत्म-दर्शन ३।१९।९ (पा०)
अप्पापर–स्व-पर ७।७।४ (पा०) ४।२०।७ (सु०)
अप्पिउ–अर्पित १।१८।७ (सु०), २।७।११ (पा०), २।११।६ (ध०)
अप्पिय–अर्पित २।३।१२ (ध०), ४।१।५ (ध०); ७।१०।४ (पा०),
अप्पणु–स्वयं, आप ३।१६।९ (सु०), ३।२६।१०(ध०)
अपरिग्गहु–अपरिग्रह ३।१०।१२ (ध०)
अपवग्गउ–अपवर्ग, मोक्ष ५।१८।१३ (पा०)
अपाउ–निष्पाप १।५।८ (सु०) ४।१७।४ (सु०)
अपुण्णु–अपुण्य ३।१२।२ (ध०)
अपुण्णउ–पुण्यहीन २।६।१८ (ध०)
अब्भसिय–अभ्यास किया ६।२०।४ (पा०)
अब्भागउ–अभ्यागत ३।२८।१२ (ध०)
अब्भास–अभ्यास ३।१७।११ (ध०) ४।१०।६ (ध०)
अब्भि–मेघ ४।८।६ (सु०)
अब्भिड–भिड़ना १।३।११ (सु०)
अब्भिडि–सटा हुआ ५।३१।१ (पा०)
अबाहु–अबाधनाथ (वीर प्रभु) १।७।१८ (सु०) २।१२।९ (ध०)
अभक्खु–अभक्ष्य १।८।७ (पा०)
अभयकुमारें–अभयकुमार (राजा श्रेणिकका पुत्र) ४।२।९ (ध०)
अभग्गु–अभंग ४।२१।३ (सु०)
अभणी–अभणी (आश्रयदाताकी कुलवधू) ४।२३।७ (सु०)
अभिछण्णउ–आच्छादित ३।२४।४ (पा०)
अभिण्ण–अभिन्न ७।१।१० (पा०)
अभीउ–निर्भीक ४।१६।३ (सु०)
अभंगु–अभंग ३।२५।८ (ध०) ४।१०।४ (ध०)
अम्मि–अम्माँ, माँ ४।४।८ (सु०)
अम्मुत्तु–अमूर्त्त ५।७।५ (पा०)
अम्हु–हम ३।१३।२ (ध०), ३।१७।१४ (सु०), ४।२।१० (पा०)
अम्हइ–मैं २।११।४ (ध०)
अम्हहु–हमारे लिए ३।११।३ (ध०), ३।१९।१४ (सु०)
अम्हहँ–हमारे २।५।९ (सु०), ३।१।१४ (ध०), ६।२२।२ (पा०)
अम्होवरि–हमारे ऊपर २।५।२ (सु०)
अमल–निर्दोष ४।२।९ (ध०)
अमच्छर–मत्सरविहीन (वीतराग) १।११।११ (सु०) २।४।७ (ध०)
अमणु–मनरहित ४।१३।९ (पा०)
अमुत्त–अमूर्त्तिक ५।२६।१६ (पा०)
अमयणिवासउ–चन्द्रमाके समान २।६।६ (पा०)
अमयरसायणु–अमृत रसायन २।२।१२ (पा०)
अमयासण–देव ५।२५।९ (पा०)
अमर–अमर, देव १।७।८ (सु०) १।१७।७ (सु०) ४।१५।२५ (पा०)
अमर कुमार–अमर कुमार १।१८।१० (सु०)
अमर कोडि–अमर योनि ६।१३।५ (पा०)
अमरवणु–अमरवन ४।१२।१३ (पा०)
अमरिंदविंदु–देवगण ५।१।११ (पा०)
अमाउ–निश्छल ४।११।७ (सु०)
अमाणु–मान रहित ४।४।९ (सु०)

अवजसपावकलंघरु–अपयश-पाप एवं कलंक का घर ११०।१० (सु०)
अवजसपूरिय–अपयशोंसे पूरित १।५।४ (ध०)
अवरण्णदिसि–पश्चिम-दिशा ५।३२।७ (पा०)
अवण्णणो–अवर्णनीय २।१३।५ (ध०)
अवत्थ–अवस्था ४।९।८ (सु०)
अवमाणिय–अपमानित ६।२०।१ (पा०)
अवमोयरु–अवमौदर्य (तप) ४।२०।७ (सु०)
अवयीरउ–अवतीर्ण १।१०।४ (पा०)
अवयव–अवयव (गुप्तांग) ५।१३।८ (पा०)
अवर–अपर ५।१४।१८ (पा०)
अवरविदेह–अपर विदेह (क्षेत्र) ५।३२।७ (पा०) ६।१५।२ (पा०)
अवरु–दूसरा ४।१५।१० (पा०)
अवरुंड–आलिंगन १।३।१४ (पा०)
अवलोइय–देखा ६।३।५ (पा०)
आलोइवि–दर्शन करके ३।१८।१० (ध०), ५।१३।२ ६।५।४ (पा०)
अवस्स–अवश्य २।३।५ (ध०)
अवसरि–अवसर ३।५।१० (सु०); ४।६।१ (सु०); ६।११।९ (पा०) ३।११।७ (ध०)
अवसाण–अवसान २।३।५ (सु०) ३।१४।७ (पा०),
अवसु–अवश्य १।३।४ (सु०)
अवसप्पिणि–अवसर्पिणी (काल) १।९।२ (सु०)
अवहि, अवहिणाणु–अवधिज्ञान ३।२१।८ (ध०), ३।१८।१२ (ध०), २।५।७ (सु०) ४।२२।१ (सु०) २।१।२। (पा०), ५।१८।१ (पा०), ५।२५।१५ (पा०)
अवहीसर–अवधिज्ञानके धारक ७।२।८ (पा०), ४।१२।९ (सु०)
अवासु–आवास ३।२५।१६ (ध०)
अवाह–भवबाधासे रहित—१।७।७ (सु०)
अविग्घ–निर्विघ्न ७।५।४ (पा०)
अविणीय–अविनीत ६।८।१५ (पा०); १।५।९ (ध०)
अविणोएँ–काव्य:विनोद रहित १।४।७ (ध०)
अवियड्ढ–मूर्ख लोग १।७।१० (ध०)
अविरलवाएँ–अविरलवाणीमें १।३।२ (सु)
अविरलजलधारा–अविरलजल धारा ७।१०।९(पा०)
अविरुद्ध–अविरुद्ध ३।३।७ (सु०), ५।१४।१३ (पा०)
अविवेएँ–विवेकरहित १।५।६ (ध०)
अविसिट्ठइ–अविशेष ४।२।९ (सु०)
अविसिट्ठकम्म–अविशिष्ट कर्म (कामभोगादि) ५।८।५ (पा०)
अवंक–सीधा २।३।११ (पा०)
अवंती–अवन्ति (जनपद) १।६।७ (ध०) २।१।६ (पा०) ३।१।१ (पा०);
अस्ससेण–अश्वसेन (राजा) ३।४।८ (पा०)
असइ–अशन, आहार १।८।७ (पा०); ४।१९।१० (सु०)
असइमइ–असति मति ३।१४।४ (पा०)
असईव–असतियोंके समान ३।७।८ (पा०)
असक्कु–असमर्थ ३।१७।८ (ध०)
असच्चं–झूठ ६।४।७ (पा०)
असज्झु–असाध्य ३।२१।८ (सु०)
असण–आहार ५।८।१ (पा०) १।१२।१ (सु०); ३।११।१४ (ध०); ३।१८।४ (ध०)
असणिपहार–वज्र प्रहार ४।१८।१ (सु०)
असणिवेउ–अशनिवेग (विद्याधर) ४।१७।८ (सु०); ६।१४।१ (पा०)
असरण–शरणरहित ३।८।१० (सु०) ३।९।६ (सु०); ३।१५।८ (पा०)
असहाय–असहाय ३।१७।७ (पा०)
असहाय–असहन ३।२०।३ (पा०)
असहाय–असहाय, १।४।८ (ध०)
असह्य–असह्य ३।९।७ (ध०)
असहिज्ज–असहनीय ४।४।१८ (सु०)

आउ–आयु २।१।४ (सु०); ५।२२।१; (पा०)
आउक्खइ–आयु क्षय ३।२६।८ (ध०);
३।१३।१० (पा०); ३।२१।३ (ध०)
आउपमाणु–आयु-प्रमाण ५।२०।११ (पा०)
आउस–आयु ३।१४।२ (पा०) ३।१२।५ (सु०)
३।१७।९ (सु०)
आउसमाण–आयुका प्रमाण ७।३।२ (पा०)
आएसु–आदेश १।१४।६ (सु०) २।१४।१४ (पा०)
४।४।१० (ध०)
आकिट्टिमु–अकृत्रिम ५।१४।३ (पा०)
आजाणुबाहु–आजानुबाहु ४।१।४ (पा०)
आढत्तिय–प्रारम्भ की १।१८।३ (सु०)
आण–आन–प्राण ७।१।१६ (पा०)
अणणच्छि–ले आने हेतु ३।२।५ (सु०)
आणय–आनत (स्वर्ग) ५।२३।५ (पा०)
आणा–आणासाहू (आश्रयदाता) १।४।८ (सु०)
आणासुत–आणा साहू आश्रयदाता का पुत्र
२।११।१४, ३।२२।१६ (सु०)

आणाहिहाणु–'आणा' इस नाम से प्रसिद्ध
४।२३।१२ (सु०)

आणिउ–लाना १।१७।१ (सु०) ३।२८।१३ (ध०)
आणिज्जइ–लाया जाता है। २।१४।१० (पा०)
आणिय–आनीत २।३।४ (ध०)
आणेप्पिणु–ले आकर २।७।१३ (ध०)
आणंदपुंज–आनन्द का पुंज ४।१९।२ (पा०)
आणंदिउ–आनन्दित ७।१०।५ (पा०)
आणंदु–आनन्द ४।१८।४ (पा०) १।९।१४ (ध०)
आणंदु–आनन्द (अयोध्याका राजकुमार)
३।२२।५ (सु०) ६।१७।७ (पा०)
आतंकविहीणउ–आतंक विहीन ६।१७।२ (पा०)
आदणउ–दुःखोंसे पूर्ण ५।१६।९ (पा०)
आदसहाउ–आत्मस्वभाव ७।४।३ (पा०)
आमलय–आमलक ५।२९।८ (पा०)
आमंतिवि–आमन्त्रणकर ३।१४।७ (ध०)

आयउ–आया, पहुँचा ३।८।१२ (पा०) ४।१।८ (ध.)
४।११।६ (सु०)
आयट्ट–काटना ५।११।५ (पा०)
आयड्ढ–खींचना ३।६।३ (पा०), ३।७।१ (पा०)
आयण्ण–सुनो १।९।१ (ध०), ४।०।१० (ध०)
आयम–आगम (शास्त्र) १।२।२ (सु०),
३।१२।८ (सु०), ३।१७।१० (ध०),
३।१९।७ (ध०), २।१०।१३ (पा०),
५।१५।१० (पा०)
आयमणयण–आगमरूपी नेत्र १।४।९ (ध०)
आयमपय–आगमके पद ३।२६।१५ (ध०)
आयमरसरत्तउ–आगमरूपी रसायनमे आसक्त
१।५।११ (पा०)
आयमसत्थदत्थु–आगमशास्त्रमें दक्ष १।७।१ (पा०)
आयरइ–आचरण करता है ३।१०।१५ (सु०),
३।२३।६ (ध०), ६।५।२ (पा०)
आयरणउ–आचरण करना ३।१५।४ (सु०)
आयव–आतप २।१।३ (सु०)
आय–आकर २।१।२० (पा०)
आयस–लोहा ३।३।१२ (ध०)
आयसथंभालिंगण–लौह स्तम्भोंसे आलिंगन
५।१९।११ (पा०)
आयसु–आयु ६।१७।१ (पा०)
आयसुकेरउ–लोहेका ५।१९।४ (पा०)
आया–आया ३।१३।१३ (ध०), ४।९।९ (पा०)
आयाम–आयाम ५।३०।८ (पा०), ५।१४।१६ (पा०)
५।२८।६ (पा०), २।९।१२ (ध०)
आयारु–आचार १।१२।१ (सु०)
आयारंगु–आचाराङ्ग ४।१९।८ (सु०)
आयावणजोए–आतापन योग ६।११।७ (पा०)
आयास–आकाश ४।१६।८ (सु०), ४।१६।१० (पा०),
१।८।५ (सु०)
आरउण–आरौन (नगर) १।३।१५ (ध०)
आरडु–चिल्लाना ३।१२।१३ (पा०)

इअ–इस प्रकार ३।८।१० (सु०)
इउ–इस प्रकार २।३।८ (सु०); ३।११।६ (ध०), ३।६।७ (सु०); ३।१४।१०(ध०); ५।७।२ (पा०); ६।९।३ (पा०);
इक्कल्ल–अकेला ३।९।७ (सु०)
इक्खाइँ–इक्ष्वाकु (वंश) १।३।३ (ध०); ३।२२।३ (सु०)
इक्खाक्कु–इक्ष्वाकु (वंश) १।८।४ (सु०) २।११।३ (सु०)
इक्खाक्कुवंस–इक्ष्वाकुवंश २।११।३ (सु०)
इक्खाग–इक्ष्वाकु (वंश) ३।१।५ (सु०); ३।१७।३ (सु०)
इकतीस–इकतीस ५।२३।९ (पा०)
इकयालीस–इकतालीस ५।३४।८ (पा०)
इकवीस–इक्कीस १।१२।६ (सु०)
इकसठि–इकसठ २।९।८ (पा०)
इच्छ–इच्छा १।९।११ (ध०); ४।४।१० (सु०)
इच्छादाण–इच्छादान ७।१०।७ (पा०)
इच्छिय–इच्छित ५।६।१२ (पा०); ५।३२।२ (पा०) २।१।१० (सु०); ३।१९।१ (सु०); ३।२१।५ (ध०); ४।५।१४ (ध०),
इट्ठ–इष्ट २।१३।११ (पा०); ५।२३।४ (पा०)
इट्ठवासवासिया–मधुरसुगन्धसे सुवासित २।१३।६ (पा०)
इट्ठु–इष्टजन १।६।२ (सु०); ३।६।३ (सु०); ५।१।५ (पा०); ५।५।१० (पा०)
इणु–सूर्य ३।११।४ (पा०), ३।१६।८ (ध०)
इत्थच्छउ–यही रहो ३।५।४ (पा०)
इत्थु–इसी ४।९।१३ (ध०)
इत्थेव–यही ३।४।१८ (सु०)
इम–यह १।८।९ (सु०); १।१२।७ (सु०) १।१५।१५ (सु०); २।१।१० (ध०); ३।१२।६ (ध०) ३।१६।३ (ध०); ४।४।४ (पा०) ५।९।५ (पा०);
इमणु–इसने २।८।४ (ध०)
इय–इस प्रकार १।१८।६ (ध०); १।१८।१२ (सु०) ४।१०।९ (पा०), ५।५।१२;(पा०),
इयर–इतर ३।८।६ (सु०) ३।९।१४ (सु०), ३।१३।५ (पा०), ६।२०।१ (पा०)
इव–तरह १।६।११ (ध०) ३।३।६ (सु०); ३।४।२ (पा०), ५।३२।१५ (पा०); ६।१।८ (पा०);
इह–यहाँ १।४।५ (सु०); १।६।१ (ध०) १।१८।२ (सु०); ३।७।७ (सु०); २।१।५ (ध०), ३।४।६ (ध०),
इह–यह ३।८।९ (सु०); ६।७।११ (पा०). ६।७।१२ (पा०)
इहभवि–इस भवमे ३।२१।१० (पा०); ५।४।३ (पा०); ५।१२।१ (पा०)
इहु–इन २।५।१० (सु); २।१३।१ (ध); ४।८।१२ (पा०);
इंगाल–अंगार ३।८।१२ (ध०) ३।९।१४ (ध०)
इंगाल समाण–अंगारोंके समान ५।१९।११ (पा०)
इंगिय–इंगित २।३।८ (ध०)
इछियसुह–इच्छितसुख २।१।४ (सु०)
इंद–इन्द्र २।७।१५ (पा०); ३।९।४ (पा०) ३।२३।५ (पा०) ४।५।१० (सु०) ५।१।३ (पा०);
इंदउरु–इन्द्रपुरी १।३।१७ (पा०)
इंदभवण–इन्द्रभवन (स्वर्ग विमान) ३।१५।४ (पा०)
इंदाएस–इन्द्रका आदेश २।१।२०(पा०), २।७।७(पा०)
इंदिदिरु–भ्रमर १।५।१ (ध०), १।८।५ (ध०)
इंदिय–इन्द्रिय ३।१४।७ (पा०), ३।१६।९ (सु०), ३।२५।२ (पा०), ४।१८।१० (पा०), ४।२०।१ (सु०)
इंदियगय–इन्द्रिय रूपी गज ५।३।२ (पा०)
इंदियबलु–इन्द्रिय बल ३।७।१० (सु०)
इंदियभुवग–इन्द्रिय रूपी भुजंग ४।६।२ (पा०)
इंदियसुह–इन्द्रिय सुख ३।१४।४(पा०),६।१५।१(पा०) ३।१६।१२ (सु०)

ईंधणु–ईन्धन २।५।१२ (ध०)
ईसाणदिसासिय–ईशान दिशामें आश्रित २।१०।६ (पा०)
ईसाणसुरेंद–ईशान सुरेन्द्र २।७।१३ (पा०)
ईसाणि–ईशान (स्वर्ग) ५।२३।१६ (पा०)
ईसाणु–ईशानेन्द्र २।११।६ (पा०)
ईसावस–ईर्ष्यावश ४।८।३ (सु०), ४।१५।२ (सु०)
ईसि–कुछ-कुछ ३।१०।७ (सु०)
उअरि–उदर १।१५।१४ (सु०)
उइउ–उदित ३।११।४ (पा०)
उक्खणिउ–उखेरा (उघाड़ा) ३।३।१६ (ध०)
उक्का–उल्का ३।१७।६ (सु०)
उक्कंठिउ–उत्कण्ठित ४।२०।९ (सु०)
उक्किट्ठु–उत्कृष्ट ५।२१।१० (पा०), ५।२५।१५ (पा०)
उक्किट्ठाउसु–उत्कृष्ट आयु ५।१७।७ (पा०)
उक्किट्ठु–उत्कृष्ट ५।२५।५ (पा०)
उग्गमिय–उदित १।१६।७ (सु०), १।६।१० (ध०)
उग्गामिय कर-णहर–नाखूनवाले पंजोंको ऊपर उठाए हुए २।३।४ (पा०)
उग्घाउण–उद्घाटन ३।१७।८ (ध०)
उग्घाडिउ–उद्घाटित ३।२।९ (ध०)
उग्गिण्ण–उद्गीर्ण ४।१८।६ (पा०)
उच्च–ऊँचाई २।१०।११ (पा०), १।८।७ (सु०), २।११।२ (पा०)
उच्चारिउ–उच्चारित ३।८।३ (पा०)
उच्चावइ–उछालता है ३।९।२ (पा०)
उच्छलिय–उछला २।७।८ (सु०), ३।२।३ (ध०)
उच्छव–उत्सव ४।९।३ (ध०), ४।११।७ (ध०) ५।१।८ (पा०)
उच्छाडिउ–पोंछा २।१२।१२ (पा०)
उच्छाहु–उत्साह ३।७।३ (ध०)
उच्छंग–गोदी २।१५।५ (पा०), ७।९।१० (पा०)
उच्छिट्ठ–उच्छिष्ट ५।११।१४ (पा०)
उच्छिण्ण–उच्छिन्न २।१।४ (सु०), २।११।४ (सु०)
उज्जइणी–उज्जयिनी (नगर) ३।२८।८ (ध०)
उज्जम–उद्यम २।४।२ (ध०), २।१३।९ (ध०)
उज्जल–उज्ज्वल ५।२४।४ (ध०)
उज्जवणु–उजैना (उद्यापन करना) ३।२५।१५ (ध०), ३।२६।२ (ध०)
उज्जेणी–उज्जयिनी (नगर) १।६।१३ (ध०), ४।८।८ (ध०)
उज्जोएँ–प्रकाश ४।११।३ (पा०), ५।२२।८ (पा०)
उज्जोययारु–उद्योतित करनेवाले ३।१।५ (सु०)
उज्जोवयारी–प्रकाशित करनेवाला १।१५।८ (सु०)
उज्झ–अयोध्या (नयरी) १।८।१ (सु०)
उज्झा–अयोध्या (नगरी) १।१०।१० (ध०), १।१०।९ (ध०)
उज्झाउरि–अयोध्यापुरी (नगरी) १।१४।७ (सु०), १।१६।१४ (सु०), ३।१८।१७ (सु०), ६।१७।५ (पा०)
उज्झावरि–अयोध्यापुरी ३।२।६ (सु०) ३।७।१ (सु०)
उट्ठाविउ–उत्थापित ३।२८।६ (ध०)
उट्ठिउ–उठा १।६।७ (सु०)
उट्ठिय–उत्थित; उठा हुआ २।३।१२ (पा०) २।१०।१६ (ध०), ४।११।१० (पा०), ४।१६।७ (सु०)
उट्ठिवि–उठकर ३।१५।६ (ध०), ४।६।१ (ध०) ४।१३।२१ (सु०), ५।२।३ (पा०)
उड्डावइ–उड्डावित ६।९।१० (पा०)
उडु–जुगनू ३।१७।८ (सु०)
उडु–नक्षत्र ४।१४।५ (पा०)
उड्ढ–ऊर्ध्व (उद् + डी धातु) ५।२५।१४ (पा०)
उड्ढगया–ऊर्ध्वगत ५।२१।४ (पा०)
उड्ढत्तु–ऊर्ध्वत्व ३।२४।२ (पा०)
उड्ढलोउ–ऊर्ध्वलोक ५।२६।९ (पा०)
उण्णयमाण–सम्पूर्ण प्रमाण ३।२६।१६ (ध०)
उण्हु–उष्ण ४।४।१७ (सु० , ५।१९।१ (पा०), ५।१९।२ (पा०)
उण्हजल–उष्ण जल ४।७।७ (ध०)

उत्त–उक्त २।२५।१६ (ध०), ३।१२।३ (सु०), ५।३३।१९ (पा०)
उत्ती–कही गई ५।२८।१९ (पा०)
उत्तम–उत्तम ५।२६।३, ५।३३।१ (पा०)
उत्तमकुल–उत्तमकुल ३।१४।३ (सु०)
उत्तमखमगुण–उत्तम क्षमा गुण ३।१५।२ (सु०)
उत्तमंग–उत्तम-अंग (माथा) ४।४।६ (ध०), ६।५।१९ (पा०)
उत्तर–उद् + तृ धातुः २।५।१२ (ध०), ५।१४।१६, ५।२२।८, ५।२४।५ (पा०)
उत्तरकुरु–उत्तरकुरु (देश) ५।३२।३ (पा०)
उत्तरदिसि–उत्तर दिशा ५।२७।१० (पा०), ५।२८।२, ५।३०।११, ५।३१।५ (पा०)
उत्ताण–ऊपर ५।१०।४ (पा०)
उत्ताणछत्तयारी–सीधा छत्राकार ५।२६।१२ (पा०)
उत्तारिय–उतारदिया ३।१।८ (ध०), ३।५।८ (सु०)
उत्तारिवि–उतारकर ३।६।११ (सु०), ३।८।११ ध० ३।८।१३(ध०)
उत्तिणु–उत्तीर्ण ४।१८।४ (पा०)
उत्तु गतणु–उत्तुंगतन ४।१०।६ (सु०)
उद्देसु–उपदेश ५।४।४ (पा०)
उद्धपएस–उर्ध्व प्रदेश ५।१४।८ (पा०)
उद्धरसेनदेव–उद्धरसेन देव (भट्टारक)पृ० १६०, प० ६
उद्धरिउ–उद्धारक १।५।१२, १।५।१६ (पा०)
उद्धरिय–उद्धृत २।१४।३ (पा०), ३।३।१४ (सु०), ४।१८।८, ७।२।६ (पा०)
उद्धलोउ–उर्ध्वलोक ५।१५।३ (पा०)
उद्धहत्थु–ऊर्ध्वहस्त ६।६।७ (पा०)
उद्धु–उर्ध्व ५।१४।८ (पा०)
उद्धंस–ध्वंस ५।११।१६ (पा०)
उदयद्दिसिहर–उदयाचलका शिखर ४।१५।२३ (पा०)
उधरण–उद्धरण (आश्रयदाताके वंशका एक व्यक्ति) ७।९।१० (पा०)
उप्पज्जंत–उत्पन्न ५।३२।१४ (पा०)
उप्पण्ण–उत्पन्न १।१३।१, १।१६।७, ३।१६।७ (पा०) २।११।३ (सु०), २।१८।८ (ध०),
उप्पत्ति–उत्पत्ति १।१।५, १।१६।११, ३।६।२ (सु०), ५।२५।१६ (पा०)
उप्पत्तिखाणि–उत्पत्ति-खानि १।६।३ (पा०)
उप्पत्तिजोणि–उत्पत्तियोनि ४।८।१० (सु०)
उप्पय–उत्पन्न २।४।११ (ध०)
उप्परि–ऊपर २।३।६ (ध०), ३।१२।७ (सु०)४।७।९, ४।१५।२ (सु०) ५।२६।१०, (पा०)
उप्पाडिउ–उपाडा, उखाडा ६।५।८ (पा०)
उप्पाय–उत्पाद २।६।९ (सु०)
उपज्ज–उत्पन्न १।११।११ (सु०), ३।१६।३ (पा०) ३।१७।१ (पा०), ४।८।४ (ध०)
उपरिम–ऊपरी ५।२५।९ (पा०)
उम्माल–आतुर ४।७।१३ (ध०)
उम्मुच्छिय–उन्मूर्च्छित ४।९।११, ४।१६।७ (सु०)
उब्भड–उद्भृत ३।२।६ (पा०)
उब्भासिउ–प्रकाशित ५।१।५ (पा०)
उब्भिय–ऊर्ध्वीकृत १।६।२ (ध०)
उयरणिमित्त–उदर निमित्त ५।११।६ (पा०)
उयरिउ–उतरे ४।१।१३ (पा०)
उयारिवि–उतारकर ३।१०।२ (पा०)
उरउ–उरग ३।१२।१४ (पा०)
उरत्थ–उरस्थल १।४।३ (पा०)
उरयजुउ–उरगयुगल ३।१२।१६ (पा०)
उल्हस–रोमाचित होना ४।३।५ (ध०)
उल–समूह १।६।११ (सु०)
उव्वत्तिउ–उबटन २।१२।१० (पा०)
उव्विद्ध–बिंध गई ४।१।५ (ध०)
उव्वढप्प–अत्यन्त अभिमानी ६।२।७ (पा०)
उवएस–उपदेश ३।२३।६ (ध०), ५।५।२ (पा०)
उवएसक्खरु–उपदेशाक्षर ४।२२।१८ (सु०)
उवेक्खिव–उपेक्षित ३।२०।३ (ध०)
उवगूहण–उपगूहन (अंग) ५।२।११ (पा०)
उवज्ज–उत्पन्न ३।१०।१ (सु०)

एकल्लु–अकेला ३।३।१ (ध०), ३।९।९ (सु०)
एण–इस २।४।१० (सु०), ४।५।१ (ध०) ५।१३।१३ (पा०)
एणायारें–इसी प्रकारका ६।१०।३ (पा०)
एत्तडउ–इतना ७।७।८ (पा०)
ऐसु–ग्राम ३।१४।४ (सु०)
एत्थ–यहाँ ३।१२।१० (पा०), ४।१८।१ (सु०),
एत्थंतरि–इसी बीचमें २।१०।१ (सु०), ३।१३।२ (पा०), ४।६।१ (पा०)
एम–इस प्रकार १।६।१५ (पा०) १।५।२ (सु०), ४।२।६ (पा०), ४।७।४ (ध०)
एय–एक ४।१२।६ (सु०), ६।१८।१३ (पा०)
एयकला–एक कला अर्थात् $\frac{1}{19}$ ५।३०।१५ (पा०)
एयग्ग–एकाग्र ३।१८।१ (ध०)
एयच्छत्त–एकछत्र २।९।१२ (सु०)
एयचित्त–एकाग्रचित्त ३।२५।१ (ध०) ४।१०।१० (ध०)
एयदिट्ठि–एकदृष्टि ३।१२।४ (ध०)
एयभत्तु–एक आहार ५।७।८ (पा०)
एयमणु–एकमन ३।२६।२ (ध०)
एयाणुविक्ख–एकत्वानुप्रेक्षा ३।१६।१० (पा०)
एयारसि–एकादशी २।५।११ (पा०)
एयारह–ग्यारह ५।२४।५; ६।२०।४ (पा०)
एयासण–एकासन ३।२७।५ (ध०)
एयाहिय–एकाधिक ५।२२।१८ (पा०)
एयंतठाणु–एकान्तस्थान ३।२१।७ (सु०)
एयंतरेण–एकान्तर ३।२७।४ (ध०)
एराउ–ऐरावत ५।३२।१९ (पा०)
एरिसउ–ऐसा १।८।४ (पा०)
एवं–ही ३।१३।१० (पा०)
एवमेव–ऐसा ही ३।२३।७ (ध०)· ५।१३।२ (पा०)
एसा–यह ३।६।१५ (सु०)
एहि–एहि आओ-आओ, ३।१६।५ (ध०)
ओलक्खिउ–ध्यानसे देखा ४।५।१६ (ध०)
अंकियए–अलंकृत १।६।८ (ध०)
अंकिसण्णिहिउ–अंकमें रखा २।७।१३ (पा०)
अंकुर–अंकुर १।६।५ (सु०)
अंग–अङ्ग ६।२०।४ (पा०)
अंग–अंग (देश) ४।८।४ (सु०)
अंगणा–अंगना २।९।७ (सु०)
अंगरक्ख–अंगरक्षक ३।४।८ (पा०)
अंगायड्ढ–अंग वृद्धि १।१८।९ (सु०)
अगुट्ठि–अंगूठा १।१८।६ (सु०)
अंगुल–अंगुल ५।१६।१८ (पा०)
अंगोवंग–अंगोपांग ३।१०।८ (सु०), ६।२०।४ (पा०)
अंचणठाण–पूजा-स्थान १।१०।१० (पा०)
अंचिय–अंचित ७।८।५ (पा०)
अंजण–अंजणा (नरक) ५।१६।५ (पा०)
अंजणगिरिंदु–अंजनगिरीन्द्र (पर्वत) ६।९।१२ (पा०)
अजलि–अंजलि ३।१।१० (ध०), ३।१६।३ (पा०)
अंजलिजलु–अंजलिका जल ३।१४।२ (पा०)
अंडु–अंडाकार ३।१०।३ (सु०), ३।१३।२ (सु०)
अंबर–आकाश २।१३।९ (ध०) २।४।८ (सु०)
अंवोणिही–जलनिधि ४।७।३ (पा०)
अंत–अन्त ३।२५।५ (ध०)
अंतचुक्कु–अन्तविहीन १।१।१० (पा०)
अतिम–अन्तिम २।२६।३० (पा०)
अंतमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त्त ४।१२।५ (पा०)
अंतयारि–अन्त करनेवाला ३।१।९ (सु०)
अंतर–अन्तर १।१०।१ (सु०)
अंतरलोए–आत्मनिरीक्षण ४।२०।१२ (सु०)
अंतरम्मि–अन्तर्तम ४।९।१० (सु)
अंतरि–भीतर २।१०।३ (पा०) ३।१७।९ (ध०)
अंतरु–अन्तर ५।२२।१३ (पा०)
अतरंडु–तैरना नहीं जाननेवाला १।३।११ (सु०)
अंत–अतड़ियाँ ३।१९।३ (पा०)
अताउरु–अन्तःपुर २।२।४ (सु०)

कप्प–कल्प ५।२५।१७ (पा०)
कप्पामर–कल्पामर ४।१६।५ (पा०)
कम्म–कर्म ६।१६।१५ (पा०)
कम्मकलंक–कर्म कलंक ६।२०।२ (पा०)
कम्मघण–कर्म-घन ३।२२।३ (पा०)
कम्मट्ठ–अष्टकर्म २।१०।४ (सु०)
कम्मट्ठ–कमठ (देव) ६।११।११ (पा०); ६।४।१ (पा०); ६।२।६ (पा०); ४।७।४ (पा०); ४।८।११ (पा०); ६।९।६ (पा०); ४।११।९ (पा०);
कम्मट्ठरहिय–अष्टकर्म रहित ५।२६।१६ (पा०);
कम्मपयडि–कर्म प्रकृति ४।१३।५ (पा०)
कम्मभूमि–कर्मभूमि १।८।१० (सु०)
कम्मयर–कर्मकार, ३।९।५ (पा०)
कम्मरिणु–कर्मऋण ४।६।८ (पा०)
कम्माणुसरि–कर्म (श्रम) के अनुसार ३।८।१ (ध०)
कम्मास–कर्मास्रव ४।३।१० (पा०) ३।२०।९ (सु०)
कम्मासउ–कर्मास्रव ३।१०।१६ (सु०)
कम्मु–कर्म ४।४।१८ (सु०)
कम्मेंधण–कर्मरूपी ईंधन १।१५।१३ (सु०)
कमजुउ–चरणयुगल १।१।१ (ध०)
कमदंसणि–चरणोंका दर्शन ४।१०।२ (पा०)
कमल–कमल १।५।७ (सु०), ४।२३।५ (सु०)
कमलभरछण्णिय–कमलोंके भारसे आच्छन्न २।१०।३ (पा०)
कमलवत्त–कमलमुख १।९।२ (ध०)
कमलायरु–कमलाकर २।५।१६ (पा०)
कमलासणु–कमलासनका ४।१०।१० (पा०)
कमलिणि–कमलिनी १।१३।३ (सु०)
कमवय–कमवय (नगरी) ३।६।४ (ध०)
कमालि–क्रमसे ५।२२।३ (पा०)
कमि– क्रम ३।२०।१४ (सु०); ५।३०।२ (पा०)
कमु–परम्परा ४।७।४ (सु०)
कय–करके ३।२४।५ (पा०)
कयउण्णउ–पुण्यशाली ६।२१।१ (पा०)
कयदुण्णउ–दुर्नयकारी ३।१८।३ (ध०)
कयपणाउ–प्रणामक्रिया २।२।६ (सु०)
कयपुण्ण–अकृतपुण्य ३।१८।३ (ध०)
कयपुण्णिउ–कृतपुण्य ३।१।१५ (ध०) ३।७।१४(ध०) ३।९।१ (ध०)
कयरससवरु–रसेन्द्रियोंका संवरण कर ५।१०।९ (पा०)
कयवयदिण–कुछ दिनों तक ४।४।९ (पा०)
कयविरोह–विरोध किए जानेपर २।३।७ (ध०)
कयसुअभावणविप्फुरिए–श्रुतभावनासे स्फुरायमान होकर २।१४।२० (ध०)
कयसुवभावणफलेण–श्रुतभावनाके फलसे १।११।११ (ध०)
कयायरु–आदर करता हुआ १।६।१५ (सु०)
कयंतु–कृतान्त ३।५।३ (पा०)
कर–(कृ धातुः) करना ३।२२।१० (पा०); ४।६।१ (पा०)
कर अंगुलि–हाथकी अंगुली १।९।६ (सु०)
करगहणु–करग्रहण ३।५।१२ (पा०)
करगाढालिंगण–भुजाओं द्वारा गाढालिंगन ४।३।६ (सु०)
करचरण–हाथ एवं चरण ३।१।११ (ध०)
कर–हाथ ४।५।१६ (सु०)
करण–त्रिगुप्ति रूपी करण ६।१९।१० (पा०)
करणिज्जु–करणीय कार्य १।३।४ (सु०)
करत्थु–हाथमे आया हुआ ३।१४।५ (सु०)
करताल–हाथोंकी ताल ४।३।११ (ध०)
करपत्तउ–हाथमे प्राप्त ३।२५।६ (पा०)
करमू–करमू पटवारी (आश्रयदाता) १।३।४ (ध०)
करलंबणु–करावलम्बन ३।५।१३ (सु०)
करवाल–तलवार १।४।८ (पा०) २।१४।३ (ध०); ३।२।५ (पा०) २।४।१४ (सु०)
करसण्णाहरा–ओंठ पर हाथकी अँगुली रखकर संकेत ४।५।१५ (सु०)

कराविउ–कराया ४।२२।१६ (सु०)
करणि–हथिनी ४।८।१ (सु०) ४।१३।१३ (सु०); ६।९।६ (पा०) ४।१६।२ (सु०)
करिपवरु–करिवर ४।१०।९ (सु०)
करिपहाणु–गजप्रधान ४।१५।५ (सु०)
करुणा–करुणा १।८।२ (ध०)
करुणाउलउ–करुणा से व्याप्त १।४।१६ (सु०)
करेकण–करके, बनाकर ३।५।१० (पा०)
करेप्पिणु–करके २।१।८ (सु०); ४।९।१६ (ध०); ५।१३।१० (पा०)
करेमि–करता हूँ ३।१८।६ (सु०)
करेसइ–करेगा ४।२।१३ (ध०)
करिंदु–करीन्द्र हाथी ४।१३।५ (सु०)
कल्लाणपीऊसपाणोवमं–कल्याणकारी अमृत-पानके समान ५।१०।६ (पा०)
कल्लाणमित्तु–कल्याणमित्र ३।५।१२ (सु०)
कल्लाणसारु–सारभूत कल्याणक ७।५।२ (पा०)
कल्लि–कल ४।२।१३ (ध०)
कल्लोल–कल्लोल ४।९।३ (पा०)
कल-गुण–कलागुण ४।१।२ (ध०)
कलगुणठाण–कला एवं गुणोंका स्थान २।११।८ (ध०)
कलणिउण–कलाओंमें निपुण २।१।६ (सु०)
कलत्त–कलत्र ३।११।८ (पा०) ७।८।६ (पा०)
कलबार–बारहकला अर्थात् $\frac{१२}{१६}$ योजन ५।२८।३ (पा०)
कलयलु–कलकल शब्द २।६।२ (सु०)
कलयंठि–कोयल १।६।३ (पा०)
कलस–कलश १।३।६ (ध०) २।१४।९ (ध०) ३।३।१० (ध०) २।१२।८ (पा०)
कलसुत्तारिवि–कलश उतार कर ३।१३।१४ (ध०)
कलाणिवासु–कलाका निवास १।९।६ (ध०)
कलायरु–चन्द्रमा ७।९।१७ (पा०)
कलदह–दस कला अर्थात् $\frac{१०}{१८}$ ५।३०।५ (पा०)
कलिकालचक्कवट्टी–पृ० १५८ पं० ९

कलिकालु–कलिकाल १।७।९ (पा०)
कलिपमाणु–कलिकालका प्रमाण १।११।११ (सु०)
कलिमल–पाप रूपी मल ४।१०।७ (पा०) १।२।५ (सु०) ७।५।१० (पा०)
कलिमलतरु–पापरूपी वृक्ष ३।२३।१० (पा०)
कलिमलदुहु–कलिमल दुख ७।१०।१० (पा०)
कलिमलदुहणास–कलिकालरूपी दुखका नाश १।१।२ (सु०)
कलिमलभरियउ–कलिकालके पाप मलसे भरा हुआ ४।६।१० (सु०)
कलेई–विचार करना ३।१७।९ (सु०)
कलेवरु–कलेवर ६।१६।९ (पा०)
कव्वरसायणु–काव्य रूपी रसायन १।८।१८ (पा०)
कव्वु–काव्य १।५।१ (सु०); १।५।७ (ध०)
कपड–कपट ५।११।६ (पा०)
कवडासिय–कपटाश्रित २।४।९ (सु०)
कवण–किस, कौन ४।१४।२ (सु०) ३।२।८ (पा०)
कवय–कवच ३।६।२ (पा०)
कवलिज्ज–कवलित ३।१५।५ (पा०)
कविइ–कविगण १।५।८ (ध०)
कवोलि–कपोल २।२।१० (पा०)
कसणइं–कसेंडियाँ कलश २।१२।११ (ध०)
कसमस–कसमसा जाना ४।३।६ (सु०)
कसरइ–गाय बछड़े ३।१२।२१ (ध०)
कसवट्ट–कसौटी १।३।५ (पा०)
कसाय–कषाय ४।४।५ (सु०) ४।१२।१० (पा०) ३।२०।१ (पा०)
कसायरेणु–कषायरज २।६।८ (सु०)
कहमवि–कभी, किसी प्रकार ३।१३।१४ (सु०); ३।२५।४ (पा०)
कहिमि–कहीं भी २।६।१४ (पा०) ३।९।७ (सु०)
कहँ–कहाँ ४।५।४ (पा०)
काउसग्गु–कायोत्सर्ग ४।२०।६ (सु०)
काएँ–काय ३।१९।१६ (सु०)

काकणयणउरि–काकनयन पुरी (नगर) ३।५।६ (ध०)
काकिणि–कौड़ी ४।२।४ (ध०)
कागणि–काकिणि ६।१०।४ (पा०)
काणण–वन ६।२।१ (पा०) ३।९।११ (पा०)
कापिट्ठ–कापिष्ठ स्वर्ग ५।२३।४ (पा०) ५।२३।११ (पा०)
कामगहु–कामाशक्ति ४।३।१ (पा०)
कामणरेंद–कामदेव ४।१।८ (ध०)
कामधेणु–कामधेनु १।८।२;३।२३।८ (पा०)
कामरसेण–कामरस ४।१६।१५ (सु०)
कामाउर–कामातुर ४।३।४ (सु०)
कामिणि–कामिनि ४।३।४ (सु०)
कामुउ–कामुक ५।१३।१ (पा०)
कामुक्कोव–काम-कोप ४।२।१२ (सु०)
कामाप्पायण–कामोत्पादक ४।३।९ (सु०)
कायकिलेसि–कायक्लेस ४।२०।९ (सु०)
कायतिसुद्धि–कायरूपत्रिशुद्धि ५।१३।१० (पा०)
कायबलु–कायबल ४।१९।६ (सु०)
कायरणर–कायरव्यक्ति ४।९।२ (पा०) १।३।११(सु०)
कायोब्भउ–कायोद्भव ५।१९।६ (पा०)
कायोसग्ग–कायोत्सर्ग ३।२१।५ (पा०), ४।२६।१९ (पा०)
कारणि–कारण ६।७।३ (पा०)
कारावइ–बनवाया है ६।१८।३ (पा०)
काराविय–बनवाए, कराए ४।२।४ (सु०)
काराविवि–कराकर, बनवाकर ४।९।१५ (ध०)
कारुण्णु–कारुण्य १।९।१० (ध०)
कालक्कमि–कालक्रमसे १।१०।६ (सु०)
कालक्खु–'काल' इस नामसे प्रसिद्ध ३।८।९ (पा०)
कालचक्कु–कालचक्र १।१२।७ (सु०)
कालचक्खु–कालचक्षु ५।३२।१० (पा०)
कालज्जउ–कालजय कालयवन नामक शत्रु-राजा ३।५।११ (पा०), ३।६।९ (पा०)
कालजमणु–कालयवन राजा ३।७।११ (पा०)
कालसमागमि–कालके आ जानेपर ३।९।२ (सु०)
कालाणणु–काला मुखवाला ३।९।६ (पा०)
कालावसाणि–कालके अवसान होनेपर १।१२।४(सु०)
कालावेक्खइँ–कालकी अपेक्षा १।९।१ (सु०)
कालु–काल-समय ३।१९।३ (सु०)
कालोवहि–कालोदधि ५।३४।२ (पा०) ५।३३।१२ (पा०) ५।३४।९ (पा०)
काव्यरसायनैकरसिको–काव्यरूपी रसायनका रसिक २।१४।२६ (ध०) पृ० २९४
कास–खाँसी १।१०।१ (सु०)
कासी–काशी (नगर) १।९।६ (पा०) २।१।४ (पा०)
कासीपहु–काशी प्रभु (अश्वसेन) ३।४।५ (पा०)
कासु–किसीसे ३।७।४ (पा०), ३।१८।९ (सु०)
काष्ठासंघ–काष्ठासघ (संघ विशेष) पृ० १५८,१५९
किउ–किया ३।२।७ (सु०);३।७।५ (ध०)
किउण–कंजूस १।११।२ (सु०)
किण्हु–कृष्णवर्ण ६।६।४ (पा०)
किण्हमुहु–कृष्णमुख ३।२०।१५ (सु०)
किण्हसप्पु–कृष्णसर्प ६।२।७ (पा०)
कित्तण–प्रशंसा करना १।५।६ (ध०)
कित्ति–कीर्त्ति २।४।१ (ध०)
कित्ति–कीर्त्तिधर (मुनि) ४।५।१ (सु०)
कित्तिधरु–कीर्त्तिधर (नरेश्वर) ३।१६।११ (सु०)
कित्तिधवलु–कीर्त्तिधवल (राजा) ४।१८।८ (सु०)
कित्तिसमाणा–कीर्त्तिके समान ३।१।२ (सु०)
कित्थु–कहाँ ६।१६।७ (पा०)
किम–किम-क्या-क्या १।९।१५ (ध०)
किय–किया ३।१०।८ (पा०)
कियवहाइँ–वध करनेवाले (अस्त्र) ५।६।६ (पा०)
कियविवेउ–विवेकशील ४।१७।८ (सु०)
किर–किल निश्चय सूचक ४।१८।१० (ध०); ५।२०।३ (पा०)
किरणचंद–चन्द्रकिरण २।७।१५ (पा०)

कोमल–कोमल ३।१२।७ (ध०)
कोल्लर–कुशल १।२।३ (ध०)
कोवि–कोई ३।१८।५ (सु०)
कोविउ–कोपित ३।२।६ (पा०)
कोवीण–कौपीन ३।२।१० (ध०)
कोवंड–धनुष ५।२२।८ (पा०)
कोस–कोस (प्रमाण) ५।१८।३ (पा०)
कोसलचरिउ–सुकौशल चरित १।४।५ (सु०)
कोसलणिवेण–सुकौशल नृपने ४।७।१ (सु०)
कोसलदेस–कोशलदेश ६।१७।४ (पा०)
कोसलु–सुकौशल ४।५।४ (सु०)
कोसेक्कु–एक कोस (प्रमाण) ५।२२।१० (पा०)
कोह–क्रोध ६।११।७ (पा०)
कोहलित्त–क्रोधसे लिप्त ४।२२।४ (सु०)
कोहाइद्धइँ–क्रोधसे दग्ध ३।३।११; २।६।९ (पा०)
कोहाऊरिय–क्रोधसे पूरित २।२।६ (ध०)
कंकणु–कंकण १।१८।१ (सु०)
कंकेल्लीतरु–अशोकवृक्ष ४।१७।१२ (पा०)
कंचण–स्वर्ण ४।१।१ (पा०)
कंचीपुर–काञ्चीपुर (नगर) ४।११।१० (सु०)
कंज–कमल ५।१।१४ (पा०)
कंजवत्तु–कमलमुखी ४।१।१३ (ध०)
कंठपएसि–कण्ठ प्रदेश ४।९।५ (पा०)
कंठहार–गलेका हार २।१४।३ (पा०)
कंत–कान्त ४।१९।६ (पा०)
कंतारइ–कान्तारति ३।१४।५ (पा०)
कंति–कान्ता प्रभावती ७।५।६ (पा०)
कंतियगणु–महिलाएँ ४।१६।२ (पा०)
कंती–कान्ति ४।७।१६ (ध०)
कंद–कन्द ३।११।८ (पा०)
कंद–क्रन्दन ३।११।१४; ३।१५।७ (ध०)
कंदमूल–कन्दमूल ५।४।९ (पा०)
कंदर–कन्दरा ४।२०।२ (सु०), ६।५।१५ (पा०)
१।८।५, ३।१९।६ (ध०)

कंदरणिह–कन्दराके समान २।६।८ (पा०)
कंपइ–कांपना ३।९।१ (पा०)
कंपिय–कम्पित २।६।१७ (ध०)
कंपंतउ–लड़खड़ाता हुआ ५।१०।७ (पा०)
कसाल–कांसेका बाजा २।१२।९ (पा०)
किंकर–राजसेवक ६।५।६; ६।१७।१०;
३।८।६ (पा०) २।११।१४ (ध०)
किंणर–किन्नर ५।२१।१ (पा०)
किंकिणि–किंकिणि ४।१५।११ (पा०)
किंचि–कुछ ३।३।९ (पा०)
किंचूणु–किञ्चित्कम ७।४।१; ५।२२।९ (पा०)
किंपि–कुछ भी ३।२५।५ (ध०), ६।१०।८ (पा०)
किंपुरिस–किंपुरुष (देव) ५।२१।१ (पा०)
कुंजरु–हाथी ४।९।८ (सु०)
कुंडल–कुंडल १।१८।१ (सु०); २।१४।१ (पा०)
कुंताउहाइँ–कुन्तादि आयुध ५।६।६ (पा०)
कुंथ–कुन्थनाथ (तीर्थंकर) २।११।८ (सु०)
खइर–खदिर, खैर ६।२०।९ (पा०)
खउ–क्षय ३।१८।९ (सु०); ४।७।१४ (ध०);
४।१२।९; ७।३।४ (पा०)
खग्ग–खड्ग ३।७।१ (पा०) ३।१६।१ (ध०)
खग्गग्गि–खड्ग का अग्रभाग १।४।४ (पा०)
खगणियर–विद्याधर-समूह ५।२७।९ (पा०),
४।१८।१२, ४।१७।६ (सु०)
खज्जंतउ–खाया हुआ ४।२१।१८ (सु०)
खट्टंगइँ–खट्वांग २।८।३
खडहडिय–खड़-खड़ा उठे ४।९।२ (पा०)
खण्णु–मधुर, सुन्दर ३।१३।१० (ध०), ४।२६।१६ (सु०)
खण–क्षण, ३।२१।६ (ध०) ३।३।९;
१।१७।४; ४।९।९ (सु०); ७।१०।८ (पा०)
खणद्ध–आधा क्षण ३।३।९ (सु०)
खणेक्क–एक क्षण ३।१७।८ (सु०)
खणंतरि–क्षणभरमें ही ४।१४।६ (ध०);
५।१९।५; ५।१९।९ (पा०)

खम–क्षमा ३।२१।३ (पा०)
खमउ–क्षमा करो १।५।९ (ध०); ४।२२।१० (सु०)
खमगुणधारउ–क्षमागुणधारी ६।२०।१४ (पा०)
खय–क्षय ३।४।८; ३।६।१४ (ध०); ३।१८।७; ४।९।१४ (पा०)
खयकालु–क्षयकाल ६।११३।१ (पा०)
खयर–खचर, विद्याधर २।५।६, ५।७।१५ (पा०) ३।२८।८
खर–खर (नरक पृथिवी) ३।१५।४ (ध०), ३।१२।३, ४।२०।१४ (सु०), ६।७।९ (पा०)
खरधर–खरभूमि ३।१२।८ (सु०)
खल–खल, दुष्ट, दुर्जन १।४।५ (पा०), ४।१५।२, ४।२१।१२ (सु०), ५।१९।१२ (पा०)
खलजण–खलजन ३।२४।११ (ध०)
खलणु–स्खलन ५।२९।१० (पा०)
खलणें–स्खलन से ६।२२।६
खलमित्ततणु–खलकी मैत्री १।१०।८ (पा०)
खलमहिलहिं–खल महिलाओं द्वारा ६।८।५ (पा०)
खलिउ–स्खलित ४।६।१० (पा०)
खाइय–क्षायिक ६।१।१३ (पा०)
खाण–खानि २।४।४ (सु०)
खाणि–खानि २।१।५, २।८।६ (सु०), ३।२५।५ (ध०); ३।२६।७, ६।३।६ (पा०)
खिण्णु–खिन्न, उदास १।८।१० (पा०) ३।६।२ (सु०) ३।२८।३ (ध०)
खिम–क्षमा ३।२२।११ (सु०)
खीण–क्षीण ३।७।८ (ध०), ५।३।५, ५।२६।२० (पा०)
खीणकसायहि–क्षीण कषायपूर्वक ४।१३।२ (पा०)
खीणगत्तु–क्षीणगात्र ३।५।१ (सु०)
खीणत्तणु–क्षीणता ४।५।२ (सु०)
खीणसरीरउ–क्षीणशरीर ६।१२।१५ (पा०)
खीणु–क्षीण ३।१२।१४ (पा०), ४।६।६ (सु०) ६।१२।१६, ७।४।३ (पा०)
खीर–क्षीर, खीर ३।१४।७ (ध०)
खीरण्णु–क्षीराम्न ३।१२।१५ (ध०)
खीरसमुद्दहिं–क्षीरसमुद्र २।२।६ (ध०)
खीरहिं खीरि–पायसन्न ६।१।७(पा०); ३।१३।२(ध०)
खीरोवहि–क्षीरोदधि २।१२।१ (पा०)
खीरंबुहि–क्षीराम्बुधि १।१७।७ (सु०), ४।२।५, ७।४।१४ (पा०)
खीरंबुहिपाणिए–क्षीराम्बुधि के पानी से ३।१९।९ (ध०)
खुत्तउ–क्षुब्ध ६।१२।१६ (पा०)
खुब्भ–क्षुब्ध ४।१३।५ (पा०)
खुरग्ग–क्षुराग्र ३।६।३ (पा०)
खेउ–खेमसिंह (आश्रयदाता) ३।१०।२; ७।९।५, ७।१०।१, ४।२०।१२; ६।२२।१६ (पा०) १।३।६ (सु०); ७।५।१०
खेकित्ति–पार्श्वका मामा (रविकीर्त्ति) ३।५।१० (पा०)
खेउ–जोतना ३।३।८, ३।४।१३, ३।३।३, ३।४।३, ३।३।१० (ध०)
खेत्त–क्षेत्र, खेत ४।७।१ (ध०); ५।३०।१६, ५।३३।१७, ५।३२।८, ५।३३।९, ५।१९।१०, ५।३।१५, २।२९।५ (पा०); ३।१०।२ (सु०)
खेत्तुब्भउ–क्षेत्रोद्भव (जन्म) ५।१९।६ (पा०)
खेमकित्ति–क्षेमकीर्त्ति (भट्टारक) १।२।४ (सु०)
खेमकर–क्षेमंकर ६।१५।९ (पा०)
खेमंकरु–क्षेमंकर (राजा) १।१३।१, १।१३।२ (सु०)
खेयर–खेचर, विद्याधर ३।१३।९, ५।६।१६, ५।२७।११ (पा०)
खेयरराणउँ–खेचर राजा ६।१३।९ (पा०)
खोज्जु–खोज ३।१९।१३ (ध०)
खोणि–क्षोणी ३।१२।९, ४।८।१० (सु०)
खड–खण्ड, टुकड़ा ४।८।२, ६।५।१२ (पा०)
खडिय–खंडित ३।७।३, ३।७।७, ३।७।८, ६।१।२ (पा०)
खभ–स्तम्भ ४।१३।७ (पा०)
गइंद–गजेन्द्र १।१५।४, ३।३।७, १।१७।२ (सु०)

गरिट्ठु–गरिष्ठ १।१५।५ (पा०), ५।१४।२ (पा०)
४।१५।४ (पा०), ५।२।११ (पा०)
गरुउ–महान् २।२।३ (ध०), ३।२।१४ (पा०)
४।७।९ (सु०)
गरुड–गरुड़ ५।२०।५ (पा०)
गरुया–प्रधान ४।२०।६ (पा०)
गरुव–गौरव ४।९।१ (सु०)
गरुवउ–ज्येष्ठ ७।८।८ (पा०)
गलइ–गलता है १।९।९ (सु०) ५।१९।५ (पा०)
गलगज्ज–गलगर्जना, गाल बजाना ५।८।३ (पा०)
गलियपाव–पापरहित ७।११।३ (पा०)
गव्वु–गर्व ६।१७।१४ (पा०)
गवक्खि–गवाक्षमें ४।४।३ (सु०)
गवीणाहिणा–वृषभके देखनेसे १।१५।६ (सु०)
गस–ग्रसना ४।३।४ (ध०)
गह–ग्रहण ३।४।२ (ध०)
गहचक्कु–ग्रहचक्र २।१०।५ (ध०)
गहणवणु–गहनवन ४।६।३ (पा०)
गहवइ–गृहपति १।९।७ (पा०)
गहिउ–ग्रस्त ३।७।८ (सु०)
गहिल्लउ–गृहिणी ४।१५।८ (सु०)
गहिलयणु–पागल ४।५।२ (सु०)
गहिवि–लेकर, पकड़कर ३।२७।२ (ध०)
गहीर–गहरा गम्भीर १।७।१७ (सु०)
गहेप्पिणु–लेकर, पकड़कर ७।४।१४ (पा०)
गाउ–गव्यूति ५।३२।२ (पा०)
गाउप्पमाणु–गव्यूतिप्रमाण ५।२९।६ (पा०)
गाउव–गव्यूति ४।१६।९ (पा०)
गाडउ–गाड़ी २।६।५ (ध०)
गाम–ग्राम २।५।५ (सु०) ३।७।११ (ध०)
गामि–गमन करनेवाला १।७।८ (सु०)
गावि–गाय ६।१।४ (पा०)
गासु–ग्रास ३।१२।१५ (ध०)
गिज्ज–गेय ३।१५।३ (सु०)
गिज्झावलि–गृद्धपंक्ति २।६।७ (पा०)
गिण्ह–ग्रहण ५।५।४ (पा०) २।६।१० (ध०)
३।१७।१२ (सु०) ४।२२।११ (सु०)
गिण्हिऊण–ग्रहण करके २।१३।३ (पा०)
गिण्हिवि–ग्रहणकर ३।४।१ (ध०); ३।४।४ (पा०)
गिण्हेप्पिणु–ग्रहणकर ६।२२।१० (पा०)
गिण्हेसइ–ग्रहण करेगा ३।२०।१० (सु०)
गिद्धिचत्तु–लालच छोडकर ५।७।८ (पा०)
गिम्ह–ग्रीष्म ३।२२।६ (पा०)
गिरणार–गिरनार (-यात्रा) ७।०।९ (पा०)
गिरि–पर्वत ४।२०।२ (सु०)
गिरिउयरे–गिरि उदर (मध्य)मे ४।२१।३ (सु०)
गिरिकंदर–गिरिकन्दरा ५।२१।६ (पा०),
६।१९।७ (पा०)
गिरिगुह–गिरिगुफा ६।१४।८ (पा०)
गिरिणयरि–गिरिनगर (नगर) ४।१४।५ (सु०)
गिरिनार–गिरिनार (नगर) ४।१५।९ (सु०)
गिरिराणउ–गिरिराज १।२।१५ (पा०)
गिरिरायोप्परि–गिरिराजके ऊपर ३।१३।२ (सु०)
गिरिवरडाहडिउ–पर्वतराज ढहा दिया ४।४।१४ (पा०)
गिरिवरसिरि–गिरिवरके शिखरपर २।१०।५ (पा०)
गिरिवास–गिरिवास कर लिया ६।१५।१० (पा०)
गिरु–वाणी ५।१३।१६ (पा०)
गिरिंदु–गिरीन्द्र ४।११।१ (सु०); ५।३१।५ (पा०)
गिल– धातु) निगलना २।१३।३ (ध०), ४।३।९ (ध०)
६।१४।९ (पा०)
गिह–गृह, घर ५।९।४ (पा०)
गिहदव्वु–द्रव्य चुराकर ५।९।२ (पा०)
गिहधम्म–गृहधर्म ४।२३।१२ (सु०)
गिहपएसि–गृहप्रदेश ३।१३।७ (ध०)
गिहमोह–गृहमोह ७।२।१ (पा०)
गिहवउ–गृहस्थ-व्रत ६।२२।११ (पा०)
गिहवयरत्तउ–गृहस्थ व्रतमें अनुरक्त ७।८।११ (पा०)
गिहसिरि–भवनकी छतपर ४।५।१५ (ध०)
गिहसिहरि–गृहशिखर ४।१७।१ (सु०) ४।१७।८ (सु०)
गिहसंचारें–गृहसंचार (राजभवनमें प्रवेश)
१।५।१८ (सु०)

चउहट्ट–चतुर्दिक हाट-बाजार १।३।३ (पा०)
चउहुमिदिसहि–चारों दिशाओंमे २।९।१४ (पा०)
चएवि–छोड़कर २।१०।११ (सु०), ३।३।१५ (ध०), ७।५।७ (पा०)
चक्कधरा–चक्रधारी ३।१३।१० (पा०)
चक्कवट्टि–चक्रवर्त्ती ५।३२।१३ (पा०)
चक्कु–(ग्रह-चक्र) १।११।३ (ध०), १।१२।७ (सु०)
चक्कुप्पत्ति–चक्रोत्पत्ति २।८।२ (सु०)
चक्केसर–चक्रेश्वर ६।१५।७ (पा०), ५।१८।१७ (पा०)
चक्खइ–आस्वादन अर्थमें देशी (धातु) ५।४।१० (पा०)
चक्खु–चक्षु ३।६।१ (ध०)
चक्खुब्भव–चक्षूद्भव (आठवाँ कुलकर) १।१३।८ (सु०)
चक्खंत–चखता हुआ ५।११।७ (पा०)
चच्चइ–चर्चित (चपेटना) ६।६।८ (पा०)
चच्चिय–चर्चित ७।९।१५ (पा०)
चट्टइ–चाटना ६।९।८ (पा०)
चडाविय–आरोहित अर्थमें (देशी) चढ़ाया ४।११।२ (पा०)
चणय–चने ३।९।३ (ध०)
चणया–चना ३।९।१२ (ध०)
चत्त–त्यक्त २।५।१७ (सु०), ३।२२।९ (ध०)
चत्तारि–चार १।९।११ (सु०), ७।९।८ (पा०)
चन्द्रवार–पृ० १५६ लिपिकार प्रशस्ति
चपेड–चपेटा ३।७।८ (सु०)
चम्म–(चर्मन्) चर्म ३।१९।३ (पा०)
चमराणिलतोएँ–चामरानिल ४।९।११ (सु०), ३।१६।७ (सु०)
चय–त्यज् (धातु) ५।७।१० (पा०), ३।२०।६ (ध०)
चयार–चार ५।३०।५ (पा०)
चरड–लुटेरा १।३।११ (पा०)
चरण–चरण (पद) ३।२१।९ (ध०)
चरणजुअलु–७।५।९ (पा०)
चरणजुवलु–चरणयुगल १।१।१ (सु०)
चरमदेव–अन्तिम तीर्थंकर १।७।१३ (सु०)
चराचर–चेतन एवं जड़ ३।२६।५ (पा०)
चरुवउ–घड़ा ३।१३।१ (ध०)
चरंत–चरत् ६।१४।५ (पा०)
चल्लिउ–चला ३।१५।१४ (ध०)
चल–चंचल ३।१५।४ (ध०)
चलइ–चला २।५।३ (ध०)
चलचित्त–चंचलचित्त १।१०।१० (सु०)
चलण–चरण ३।२०।७ (ध०), ४।७।१० (सु०), ५।१।११ (पा०), ३।१९।१४ (ध०)
चलिउ–चला ४।६।९ (ध०) २।७।१० (पा०)
चव–वच् धात्वर्थे देशी ४।५।४ (सु०), ४।६।६ (ध०)
चवला–चपला ३।१४।५ (पा०)
चवलु–चपल २।३।८ (पा०)
चहुँदिसि–चारों दिशाओंमें ७।९।८ (पा०)
चाउ–त्याग ३।१५।१३ (सु०)
चाड–कपटी १।३।११ (पा०)
चाडुव–चाटुप्रिय १।१०।७ (ध०)
चामीयर–चामीकर २।१०।६ (ध०)
चाय–त्याग ३।१९।५ (पा०)
चारणमुणि–चारणमुनि (ऋद्धिविशेषधारक) ५।३२।१४ (पा०)
चारणरिद्धि–चारणऋद्धि ४।१२।९ (सु०)
चारित्त–चारित्र ५।१८।१२ (पा०)
चारित्ताचरणे–चारित्राचरण ३।२३।२ (पा०)
चारु–सुन्दर २।३।७ (सु०)
चालण–चालन ५।२२।१७ (पा०)
चालियचामरु–चालितचामर ६।२१।२ (पा०)
चालीस–चालीस ५।१४।१८ (पा०)
चालीससहस–चालीस सहस्र ५।२४।३ (पा०)
चाहडिय–चाहडिय (आश्रयदाताकी कुलवधू) ७।८।६ (पा०)
चिण्ण–चीर्ण ३।१८।१४ (ध०)

चंद–५।२२।४, ६।१७।८ (पा०), २।२।४ (सु०), २।५।१३ ३।१३।९ (पा०), १।५।५ (पा०)
चंदाणणं–चन्द्रानन (छन्द) ३।८।१० (पा०)
चंपाउरि–चम्पापुरी (नगरी) ४।८।४ (सु०)
चिंत–चिन्तय् धातु ३।१४।२ (ध०)
चिंता–चिन्ता ३।१०।११ (सु०)
चिंतामणि–चिन्तामणिरत्न १।११।१० (ध०)
चिंतिउ–विचारकर २।३।२ (ध०)
चिंतिऊण–विचार करके ४।७।३ (पा०)
चिंतिज्जइ–विचार करना चाहिए ३।११।३ (सु०)
छक्खंड–छह खण्ड ४।५।११ (सु०), ५।१८।१७ (पा०), २।९।४ (सु०), ५।२९।२ (पा०)
छकम्मरत्तु–षट्कर्मोंमें संलग्न ६।२।४ पा०)
छच्चरण–भ्रमर ४।१५।६ (पा०)
छज्ज–शोभार्थक देशी (धातु) १।११।१२ (सु०), ३।२२।५ (ध०)
छट्ठ–छठवाँ १।१३।२ (सु०) ५।१६।८ (पा०), ५।१६।१३ (पा०)
छट्ठमि–छठवेंमें ३।१०।८ (सु०), ५।१७।५ (पा०)
छट्ठी–छठवीं ५।२५।१२ (पा०)
छट्ठोववासु–षष्ठोपवास ३।२५।१३ (ध०)
छण्णउ–आच्छादित ३।६।५ (पा०)
छण्णउव–छयानवे ४।२३।२ (सु०)
छण्णवसहस–छयानवे सहस्र ६।१५।७ (पा०)
छण्णा–आच्छादित २।११।११ (ध०), ४।८।३ (पा०)
छणु–क्षण ४।५।१३ (ध०)
छत्त–छत्र २।५।१५ (सु०), २।१४।३ (पा०)
छत्तत्तउ–छत्रत्रय ५।१।१२ (पा०), ४।१७।२ (पा०), ४।१५।२४ (पा०)
छत्तायार–छत्राकार ४।११।५ (पा०)
छत्तावलि–छत्रावलि ३।६।५ (पा०)
छत्तीस–छत्तीस ४।१२।१३ (पा०)
छत्तीससहासें–छत्तीस सहस्र २।९।६ (पा०)
छत्तीसाउह–छत्तीसायुध १।४।१० (पा०)
छप्पयगण–षट्पद-गण ३।३।५ (सु०)
छब्बीस–छब्बीस ५।२७।६ (पा०)
छम्म–छद्म ५।७।२ (पा०)
छम्मास–छहमास २।४।२ (सु०)
छम्मु–छद्म ४।१।६ (सु०), ४।४।८ (ध०)
छल–छल ५।१९।१२ (पा०)
छब्बीस–छब्बीस ३।६।१२ (सु०)
छह–छह ५।३३।१० (पा०)
छहकला–छहकला अर्थात् १/६ ५।२७।६ (पा०)
छहदव्व–छह द्रव्य ३।२४।१ (पा०)
छहरस–षट्रस ४।७।८ (ध०)
छाजा–छाजा (आश्रयदाताका वंशज) ७।८।८ (पा०)
छायालीस–छयालीस ४।१८।२ (पा०), ५।१४।१८ (पा०)
छिज्ज–छिद्धातोः कर्मणि ३।२३।६ (पा०)
छिण्ण–छिन्न ४।८।४, ५।७।९ (पा०)
छिद्द–छिद्र ५।९।४ (पा०)
छिवं–स्पृश् धात्वर्थे देशी ३।१।१० (ध०)
छुट्ट–छूटना ३।११।२ (सु०); ४।२१।१४ (सु०)
छुरिय–छुरिका ५।६।६ (पा०)
छुव–स्पृश् धात्वर्थे देशी ५।५।५ (पा०)
छुह–क्षुधा ३।१८।२ (ध०)
छुहवेयण–क्षुधावेदना ४।७।१३ (ध०)
छुहाउर–क्षुधातुर ४।२१।४ (सु०), ५।८।२ (पा०)
छेइ–छेद, नष्ट ३।२१।५ (ध०)
छंगुल–छह अंगुल ३।१२।६ (सु०)
छंड–त्यज् धात्वर्थे देशी ३।१३।८ (ध०) ६।९।८ (पा०)
छंद–छन्द १।२।३ (सु०) ५।१०।८(पा०), ७।६।३, (पा०). ५।९।८
छिंदिवि–छिद् (धातु) ३।२३।१० (पा०), ३।१९।९ (ध०)
छूढु–क्षिप्त ३।४।१२ (सु०)

जुत्ताजुत्तभेउ–युक्तायुक्त भेद १।८।९ (पा०)
जुत्ताजुत्तु–युक्तायुक्त ४।८।५ (पा०)
जुत्ति–युक्ति २।१०।१० (सु०)
जुद्धं–युद्ध ३।५।८ (पा०)
जुव्वणसिरिधरु–यौवनश्रीधारी ३।१६।११ (सु०)
जुव–युवा २।५।१४ (सु०)
जुवइ–युवती २।२।८ (ध०)
जुवइवर–सर्वश्रेष्ठ युवतियाँ ३।१८।११ (ध०)
जुवलजम्म–युगलजन्म १।९।४ (सु०)
जूरइ–झूरती है ३।१९।४ (सु०)
जूरिउ–झूरते हुए ४।१।६ (सु०)
जूव–जुआ ४।२।८ (ध०)
जूवंधु–द्यूतान्ध ५।९।१ (पा०)
जूह–(गज–) यूथ ३।७।३ (पा०)
जेट्ठ–जेठा, ज्येष्ठ ६।४।६ (पा०)
जेण–जिसने २।२।२ (सु०); ४।९।७ (पा०)
जेणोहट्टइ–जिससे हट जाय २।२।३ (सु०)
जेत्तहिँ–जहाँ पर २।२।५ (सु०)
जेम–जैसे २।८।११ (सु०); ६।१०।७ (पा०)
जेमण–जीमना ३।१२।३ (ध०)
जेहउ–जैसे ६।१३।२ (पा०)
जेसलमेरु–जैसलमेर (राजस्थानका एक नगर) पृ० १६० पं० १२
जोइओ–देखा ४।७।३ (पा०)
जोइणिपुर–योगिनीपुर ७।८।२ (पा०)
जोइय–दृष्टः २।८।८ (ध०)
जोइवि–देखकर २।६।१० (ध०)
जोइसगण–ज्योतिषीगण (देव) २।८।९, २।६।२, ४।१६।२, ४।१६।५, (पा०); २।६।११ (सु०)
जोग्ग–योग्य, उचित ३।१२।५ (ध०)
जोडेप्पिणु–जोड़कर ४।१।२ (पा०)
जोणि–योनि ३।२०।६, ६।३।६ (पा०)
जोत्ति–(देशी०) जोतकर ३।४।५ (ध०) १।६।१३ (सु०)
जोयइ–देखी १।१४।१० (सु०)
जोयउ–देखा ६।६।१ (पा०)
जोयकसाय–योग-कषाय ३।१०।१६ (सु०)
जोयण–योजन १।१७।३ (सु०); २।६।८ (पा०)
जोयणपमाण–योजनप्रमाण ४।१७।६ (पा०)
जोयणसउ–सौ योजन २।१०।११ (पा०)
जोयणसहस्सु–योजन-सहस्र २।८।१३ (पा०)
जोयणेक्कु–एक योजन ५।२८।८ (पा०)
जोयत्तउ–योगत्रय ३।१५।४ (सु०)
जोय–खोज-बीन ३।१९।११ (ध०)
जोव्वण–यौवन ६।३।२ (पा०), ३।१९।४ (सु०) ४।६।५ (ध०)
जोव्वणसिरि–यौवनश्री ३।१६।६ (सु०)
जोव्वणु–यौवन ३।२५।३ (पा०)
जोह–योद्धागण ३।७।९ (पा०)
जं–जो २।४।४ (ध०), २।५।१४ (ध०)
जंघजुवलु–जंघायुगल १।१०।८ (पा०)
जंत–चलते हुए ३।१०।२ (ध०)
जंतइ–आगे बढ़ते हुए ३।१९।१३ (ध०)
जंतओ–जाते हुए ४।७।२ (पा०)
जंतु-जंतु–जाते-जाते ३।२८।२ (ध०)
जंप–जल्प (धातु) ४।४।२ (पा०)
जंपाण–यानविशेषे देशी–पालकी ४।८।१६ (ध०)
जंबूणामे–जम्बू नामका १।६।१ (ध०)
जंबूदीव–जम्बूद्वीप १।९।४, ६।१३।८ (पा०); ३।१२।११ (सु०)
झडप्प–आक्रमणार्थे (देशी०) (बुन्देली-झड़प) १।६।११ (सु०)
झत्ति–शीघ्रतासे १।६।७, १।१७।१ (सु०); ५।२।१, ६।९।५ (पा०)
झल्लरि–मृदङ्ग ३।२४।२ (पा०)
झसा–मत्स्य १।१५।९ (सु०)
झा–ध्यै (धातु) ३।२२।७ (ध०); ४।१२।८ (पा०)
झाईवि–ध्यानकर १।१।११ (ध०); १।११।१, (सु०) ४।१६।१२ (सु०)

झाम्रणु–ब्राह्मण (आश्रयदाताका वंशज) ७।८।९ (पा०)
झाण–ध्यान २।८।८, ४।२०।१३ (सु०); ३।२६।२ (ध०)
झाणट्ठिउ–ध्यान-स्थित ६।२२।५ (पा०)
झाणासत्त–ध्यानासक्त ६।१६।१ (पा०)
झिज्ज–जलना ५।१३।१ (पा०)
झिदुव–गम्मत २।१५।७ (पा०)
झिल्लेवि–झेलकर २।७।९ (सु०)
झीण–क्षीण १।१०।९ (पा०)
झुणि–ध्वनि १।४।३ (सु०)
झूरइ–खेदे देशी (धातु) (हि० झूरना) ३।१५।१२, ४।२।१५ (ध०)
झेल्लइ–झेलना ६।२१।४ (पा०)
झंप–आच्छादने देशी (धातु) ३।१।१६, ३।१।१७ (ध०); ३।२१।१ (पा०); ४।१२।२ (सु०)
टक्कर–टक्कर ६।५।११ (पा०); २।५।६ ४।४।७, ४।१०।१७, (सु०)
टल–(ध्वन्यात्मक) टलना २।५।६ ४।४।१७, (सु०)
ठक्कारिवि–ठक्क-ठक्क करके (ध्वन्यात्मक) ३।१३।१४ (ध०)
ठा-ठाहु–तिष्ठ-तिष्ठ ४।३।४ (पा०)
ठाण–स्थान ४।१५।८, ५।१५।१, (पा०); १।६।१४, ३।१।१५ ४।८।१४, (ध०) २।५।१३ (सु०)
ठाम–स्थान ४।१५।१४ (पा०); ४।१५।१४ (सु०)
ठिइ–स्थिति ४।२२।१८ (सु०)
ठिउ–स्थित ३।११।१० (सु०); ४।१५।१ (पा०)
ठिदि–स्थिति ७।३।५ (पा०)
ठिदिभोयणु–स्थितिभोजन ४।२०।३ (सु०)
ठिदियरणु–स्थितिकरण ५।२।१२ (पा०)
ठिय–स्थित ५।१५।८ (पा०)
ठिया–स्थित २।१०।५ (पा०)
डज्झ–दह् (धातु) ३।१२।१२ ५।६।१३, (पा०)
डरिय–(देशी०) भयभीत ४।९।२ (पा०)
डसण–दशन् १।६।११ ४।१०।६, ४।१३।१७, (सु०)
डह–दह् (धातु) १।४।४, ३।१२।३, ३।५।६ (पा०)
डाल–डाल, शाखा ३।२२।२ (पा०)
डोहिवि–(देशी०) डुबकी लगाकर ३।१।११ (ध०)
डंकिउ–डंसा गया ६।१३।३ (पा०)
डंबरु–आडम्बर ६।२१।२ (पा०)
डिंडिमु–डिंडिमनाद ६।५।१३ (पा०)
डिंभभावि–बालपन ३।१५।१ (पा०)
डुंगरणिव–राजा डूँगरसिंह (तोमरवंशी राजा) ४।२३।४ (सु०)
डुंगरराज्य–राजा डूँगरसिंहका राज्य पृ० १५८, पं० १५
डुंगरराजेन्द्र–राजा डूँगरसिंह पृ० १५८, पं० १४
डुंगरु–राजा डूँगरसिंह १।४।१ (ध०)
डुंगरेन्द्रः–डूँगरसिंह पृ० १५८ पं० ९
डुंगरसीह–डूँगरसिंह १।५।६ (पा०)
डोंगरिंदु–डोंगरेन्द्र-डूँगरसिंह १।४।१२ (पा०)
ढल–(देशी०) ढलना ३।१४।२ (पा०)
ढाल–(देशी०) ढालना २।१२।७ (पा०)
ढिक्करंति–(ध्वन्यात्मक) ढिक्कारते हुए ६।१।४ (पा०)
ढिक्कारु–(ध्वन्यात्मक) ढिक्कार २।३।३ (पा०)
ढुक्क–ढूंकना, झांकना (बुन्देली) ३।३।९ ४।२२।५, (सु०); ४।६।१, ५।१।१३, ५।१०।४ (पा०)
ढुक्कउ–ढूँका (आरूढ़ हुए) ४।१३।२ (पा०)
ढुक्कर–प्रविष्ट ३।६।९ (पा०)
ढोव–ढोना, ध्यान करना ५।११।४ (पा०)
ण्हं–स्नान ३।१।११ (ध्र०); २।४।५ (सु०)
ण्हवणारंभ–न्हवन का आरंभ १।१७।५ (सु०)
ण्हाविउ–नहलाकर १।१७।८ (सु०)
ण्हाविय–स्नापित ४।४।४ (ध०)
ण्हाविवि–नहाकर ३।२६।१० (पा०), ४।७।७ (ध०)
ण–नहीं (निषेधार्थक अव्यय) ५।१८।८ (पा०)
णइ–नदी १।३।१४ (पा०)
णइपूरु–नदीका पूर (प्रवाह) ३।१४।६ (पा०)

णउ–नहीं ४।२२।२ (सु०), ५।१८।१४ (पा०)
णउल–नकुल ५।६।९ (पा०)
णऊव–नब्बे (संख्यावाची) ५।२२।२ (पा०)
णक्खत्त–नक्षत्र ५।२२।१६ (पा०); ३।१।१० (ध०)
णक्खत्तबिंदु–नक्षत्रबिन्दु २।८।५ (पा०)
णग्ग–नग्न १।१२।२ (सु०); २।६।१२ (पा०)
णच्च–नृत् (धातु) नृत्य ४।१६।१० (सु०) २।१३।८ (पा०) १।१०।१ (ध०)
णट्ठ–नष्ट २।१३।१ (पा०) २।३।७, ४।२२।१५ (सु०)
णट्ठ–छिपना, भागना ३।१६।४ (ध०), ४।१४।११ (पा०)
णट्ठकाम–नष्ट काम ३।१३।६ (ध०)
णट्ठदोसं–नष्टदोष १।१५।९ (सु०) २।२।१ (ध०),
णट्ठधम्मु–नष्टधर्म ६।५।१३ (पा०)
णट्ठधूमु–धूम्ररहित २।१३।७ (पा०)
णट्ठपमायहु–नष्टप्रमाद ४।७।४ (ध०)
णडयण–नटजन ६।१।८ (पा०)
णडसाल–नृत्यशाला ४।१५।७ (पा०)
णत्ति–नाती (लडकीका पुत्र) ३।१६।१ (सु०)
णत्थदंडु–अनर्थदण्ड ५।८।११ (पा०)
णत्थि–नहीं २।६।३ (ध०); ३।२०।७ (सु०)
णम–नमस्कार २।१४।१६ (ध०)
णमसिद्ध–सिद्धोंको नमस्कार २।३।११ (सु०)
णमिय–नमित १।३।१०, २।९।१२ (ध०), २।६।३, (सु०) ४।१।२१ (पा०)
णमंस–नमित ४।१४।७, ४।१५।२५, ६।१७।१३ (पा०); २।१०।६, २।१४।१३, ४।८।९, (ध०)
णय–नय १।१।४ (ध०)
णयगुणठाण–न्याय एवं सद्गुणोंका स्थान ६।२१।१० (पा०)
णयणाणंदिरि–नेत्रोंको आनन्द देनेवाले ४।१६।१७ (सु०)
णयणाहिरामु–नयनाभिराम ३।१।३ (ध०)
णयपुरी–नागपुर (नगर) ३।१।१७ (सु०) ३।६।१४ (सु०)
णयरलोय–नगरके लोग ४।५।५ (ध०)
णयरसोह–नगरकी शोभा २।१।१३ (पा०)
णयरी–नगरी ३।१।४ (ध०)
णयरु–नगर ६।१।१० (पा०)
णर–नर ३।१६।३ (पा०), ४।८।८ (ध०)
णरइ–नरक ५।१६।८ (पा०)
णरकोटि–मनुष्यकोटि (श्रेणी) २।८।५ (सु०)
णरजम्मि–नरजन्म ४।६।१० (सु०)
णरणारिहिं–नर-नारियोंके द्वारा २।१।१० (ध०)
णरणरेस–नर एवं नरेश ४।१६।६ (पा०)
णरत्तणु–नरत्व, मनुष्यत्व ५।१८।१२ (पा०)
णरत्त–नरत्व, मनुष्यता १।८।१३ (पा०)
णरथाणि–मनुष्यके कोठेमे ४।२०।१ (पा०)
णरपवरा–नरप्रवर ४।५।१३ (सु०)
णरपहाणु–नरप्रधान ४।२३।८ (सु०)
णरभउ–नरभव ३।४।१४ (सु०), ३।१६।९ (पा०)
णरभवि–नरभव ६।२२।१३ (पा०)
णरय–नरक ३।६।१ (सु०)
णरयखोणि–नरक-पृथ्वी ६।३।६ (पा०)
णरयदुक्ख–नरकदुःख ३।२४।६ (ध०)
णरयदुह–नरकदुःख ५।१९।१७ (पा०)
णरयागमण–नरकागमन ५।१८।१८ (पा०)
णरयालउ–नरकालय ५।१६।५ (पा०)
णरयालय–नरकालय ३।१२।३ (सु०)
णरयावणि–नरकभूमि ५।२५।९ (पा०)
णररयण–नररूपी रत्न १।६।३ (पा०)
णरलोउ–नरलोक १।८।८ (सु०)
णरलोयसमाणउ–नरलोकके समान ३।१३।१० (सु०)
णरवइ–नरपति १।६।१५ (सु०), २।१।६ (ध०)
णरवर–श्रेष्ठनर ३।९।१० (पा०); ४।५।१० (ध०)
णरवाल–नरपाल १।१०।१३ (पा०)
णरसहहिं–मनुष्योंकी सभामें १।७।२१ (सु०)

णरसुर–मनुष्य एवं देव ४।१०।८ (ध०)
णरामर–मनुष्य एवं देव १।६।६ (सु०)
णराहिव–नराधिप ४।२।१ (सु०)
णरिंदरज्जि–नरेन्द्रके राज्यमें १।५।६ (पा०)
णरिंदु–नरेन्द्र ४।६।४ (सु०)
णरु–नर २।२३।१४ (ध०); ५।६।१२ (पा०)
णरेंदवरा–श्रेष्ठ नरेन्द्र ५।५।१५ (पा०)
णरेंदसेव–नरेन्द्रों द्वारा सेवित २।९।६ (सु०)
णरेस–नरेश १।६।१४, ४।७।४ (सु०)
णरेसरु–नरेश्वर २।११।१३ (ध०); ६।१५।३ (पा०)
णव–नौ, नव (संख्यावाचक) ३।२१।३ (सु०)
णवजलहर वस्सरु–नवीन जलधरके समान वर्षा करने वाला १।४।१२ (पा०)
णवजोव्वण–नवयौवन ३।६।७ (ध०)
णवजोव्वणरुढी–नवयौवनपर आरूढ़ ३।६।४ (ध०)
णवणवइ–नया-नया २।८।१३ (पा०)
णवणिही–नव-निधियाँ २।९।९ (सु०)
णवणुत्तरि–नौ अनुत्तर (स्वर्ग) ५।२३।१३, ५।२४।७ (पा०); ३।१३।८ (सु०)
णवदार–नव-द्वार ३।१०।९ (सु०)
णवमइँ–नौवाँ ३।१०।११ (सु०), ४।१६।५ (पा०)
णवमासि–नौ मास २।५।९ (पा०)
णवमु–नौवाँ १।१३।३ (सु०)
णवयारमंतु–नवकार-मन्त्र ७।७।७ (पा०)
णवयारु–नवकार ४।१।१४ (ध०)
णवरसपोसिणि–नवरसोंको पोसने वाली १।७।२ (ध०)
णवर–केवल अर्थमें देशी ३।२।६ (ध०)
णवल्ल–नव + ल्ल (स्वार्थे) नवीन २।९।१० (ध०), ३।५।१२ (पा०)
णवविह–नवविध ३।१२।८ (सु०)
णविउ–नमित ३।७।१४ (ध०)
णवियसिर–नतसिर २।२।५ (पा०)
णविवि–नमस्कार कर १।२।४ (पा०); १।१।५ (ध०)
णवेवि–नमस्कार कर २।१२।१० (ध०), ४।१४।९ (पा०); ४।२२।५ (सु०)
णवलरुणि–नवतरुणी ४।३।६ (सु०)
णत्थि–नही १।४।३ (सु०)
णहगामि–नभगामी ४।१८।५ (पा०) १।३।१० (सु०)
णहघाय–नखाघात ४।२१।१० (सु०)
णहजाणारुढ–नभोयानमें आरूढ़ ३।२६।७ (ध०); ४।१८।६ (सु०)
णहपह–नभपथ २।८।२ (पा०)
णहपत्ति–नभपंक्ति १।१७।७ (सु०)
णहम्मि–नभमें २।१३।५ (ध०)
णहमग्गछण्णु–नभमार्ग छा गया २।७।१ (ध०)
णहमग्गु–नभमार्ग ७।४।१२ (पा०)
णहयलाउ–नभस्तलसे ४।१८।४ (पा०)
णहयलि–नभस्तलमें १।१७।२ (सु०)
णहयलु–नभस्तल ३।९।१ (पा०)
णहर–नख + युक्त ४।३।८ (सु०)
णहलग्गउ–गगनचुम्बी होकर ४।१६।७ (पा०)
णहंगणि–नभांगणमें ४।१४।५ (ध०)
णाइँ–समान १।६।६ (ध०); ७।१०।२ (पा०)
णाउ–जाना ३।१४।८ (ध०)
णाएँ–न्यायपूर्वक २।४।४ (ध०)
णाएँद–नागेन्द्र ४।७।५ (पा०)
णाएस–नागेश ४।११।१० (पा०)
णाडयविहि–नाटकविधि २।२।६ (सु०)
णाडिहिँ–नाड़ियोसे– ३।१०।६ (सु०)
णाण-चक्खु–ज्ञान-चक्षु १।१।५ (पा०)
णाण–ज्ञान १।७।११ (सु०); ३।६।१ (ध०)
णाणत्तय–मति, श्रुत, अवधिरूप ज्ञानत्रिक ३।५।९ (ध०)
णाणत्तयलंकिउ–मति, श्रुत, अवधिरूप ज्ञानत्रिकोंसे अलंकृत १।१५।१५ (सु०); २।१५।२ (पा०)
णाणदिवायर–ज्ञानदिवाकर १।२।२ (ध०); ४।२०।९ (पा०)

णाणधरु–ज्ञानधारी ५।१३।१५ (पा०)
णाणधारया–ज्ञानधारक १।२।४ (पा०)
णाणपिंड–ज्ञानपिण्ड ५।२६।१६ (पा०)
णाणबहु–बहुज्ञानी ६।११।९ (पा०)
णाणबाहु–ज्ञानबाहु १।१७।१ (सु०)
णाणमउ–ज्ञानमयी ३।१८।६ (सु०)
णाणरसायणु–ज्ञान-रसायन १।१।९ (ध०)
णाणसत्ति–ज्ञानशक्ति ५।४।२ (पा०)
णाणसरीर–ज्ञानशरीरी १।१।१ (ध०)
णाणा–नाना प्रकार १।११।२ (ध०)
णाणागुण–नाना गुण ३।२३।३ (ध०)
णाणाजलदकूड–जलदरूपीनानाकूट ६।१०।२ (पा०)
णाणापयार–नाना प्रकार ७।४।८ (पा०)
णाणामणिजडिय–नाना प्रकार के मणियों से जटित ६।१७।१ (पा०)
णाणावण्ण–नानावर्ण ३।१६।२ (पा०)
णाणावणयरगण–नाना प्रकार के वनेचर गण ६।१६।५ (पा०)
णाणावरण–ज्ञानावरण ४।१३।३ (पा०)
णाणाविह–नानाविध २।३।३ (पा०) ३।२४।५ (पा०)
णाणासुह–नाना प्रकार के सुख १।१८।११ (सु०)
णाणि–ज्ञानी ३।२७।६ (ध०); ५।७।६ (पा०)
णाणु–ज्ञान ५।२५।१४ (पा०)
णाम–नाम १।११।१२ (ध०)
णामा–नामको ४।२३।१४ (सु०)
णामालउ–नामका १।१२।१० (सु०)
णामिल्ल–नामका ५।१५।५ (पा०)
णामकिए–नामांकित १।११।१२ (ध०)
णायउ–नहीं आया ३।२०।४ (ध०)
णायणारि–नागनारी ४।१६।३ (पा०)
णायपुरि–नागपुर (नगर) ३।११।७ (सु०) ३।६।१४ (सु०)
णायमंदर–ज्ञानमन्दिर १।२।११ (पा०)
णायर–नागर, नागरिक १।६।१०, १।६।१५ (सु०); ४।४।१४ (ध०)
णायरणरेस–नागर नरेश ५।१।१० (पा०)
णायरिय–नागरिक ३।१०।८ (पा०)
णायालउ–नागालय २।३।१० (पा०)
णारइय–नारकीय५।१६।२ (पा०)
णारयगण–नारकगण ३।१२।७ (सु०)
णारयविंद–नारक-वृन्द ५।१९।१० (पा०)
णारि–नारि ५।२६।४ (पा०)
णारीयणु–नारीजन १।१०।१ (ध०)
णालिएर–नारिकेल २।१३।११ (पा०)
णालिहिँ–नालियोंके द्वारा ३।२०।८ (पा०)
णालोयउ–न देखा ६।१०।५ (पा०)
णावइ–उपमा एवं उत्प्रेक्षा अर्थमें तथा अव्यय १।८।६ (ध०)
णावियउ–झुकाया ४।५।१६ (सु०)
णास–नाश २।१३।९ (ध०), ३।१८।८ (सु०); ४।१३।१ (पा०)
णासणकयंतु–नाशके लिए कृतान्तके समान ३।१३।३ (पा०)
णासग्गि–नासाग्र (दृष्टि) ३।३।११ (सु०); ४।१२।१, ६।१४।६ (पा०)
णासया–नष्ट करनेवाले २।१३।१३ (पा०)
णासु–भंग कर दिया २।७।११ (ध०); ६।३।८ (पा०)
णाह–नाथ ३।२१।२, ३।२१।५ (सु०)
णाहपासम्मि–नाथके पास १।१५।१ (सु०)
णाहसमाणी–स्वामीके साथ २।५।१ (पा०)
णाहिणरिंद–नाभिनरेन्द्र (तीर्थंकर ऋषभदेवके पिता) १।१४।९ (सु०)
णाहिराउ–नाभिराय १।१३।५ (सु०)
णाहु–नाथ १।७।१८ (सु०), ४।११।१ (पा०)
णाहेय–नाभेय (ऋषभदेव) १।१८।४ (सु०)
णिउए–निन्हव (दोष-निन्हव) ४।२०।१० (सु०)
णिउरादे–निउरादे(वी) (आश्रयदाताकी पत्नी) १।४।५ (ध०)

णिद्दलण–निर्दलन ३।१६।९ (सु०)
णिद्दा–निद्रा ४।१२।७ (पा०)
णिद्दावस–निद्रावश १।१४।१० (सु०)
णिद्दोस–निर्दोष १।१५।८ (सु०), ५।९।७ (पा०)
णिद्धणु–निर्धन ४।५।२ (सु०)
णिद्धाड–निकाल देना ३।११।६ (सु०)
णिद्धाडिओ–निकाल दिया गया ४।७।७ (पा०)
२।६।८ (सु०) ३।१२।१६ (घ०)
णिद्धूम–निर्धूम २।३।११ (पा०)
णिदोसु–निर्दोष ४।१०।६ (पा०)
णिदंभु–दम्भ रहित ४।१०।५ (पा०)
णिब्भयशरीर–निर्भयशरीर १।७।१२ (सु०)
णिब्भयसरीरु–निर्भयशरीर ४।७।१० (सु०)
णिब्भरं–निर्भर ५।१०।५ (पा०)
णिब्भारु–भार रहित ४।४।१२ (घ०)
णिबद्धु–बाँध दिया ४।७।७ (सु०)
णिबद्धदेह–निबद्धदेह १।६।१ (पा०)
णिबधणु–निबन्धन ३।२२।११ (घ०)
णिम्मउ–निर्मित ३।२।१४ (घ०)
णिम्मल–निर्मल १।८।१ (घ०), ४।१।१४ (पा०)
णिम्मलचित्त–निर्मल चित्त ७।५।१० (पा०)
णिम्मलणाणधारि–निर्मल ज्ञान धारी ७।२।६ (पा०)
णिम्मलभाउ–निर्मलभाव ४।४।१ (सु०)
णिम्मलमइ–निर्मलमति ४।५।६ (पा०)
णिम्मलमऊहा–निर्मलमयूख ४।१५।८ (पा०)
णिम्मलयरा–निर्मलतर ५।२५।१३ (पा०)
णिम्मलसम्मद्दंसणजुत–निर्मल सम्यग्दर्शन युक्त
६।१२।६ (पा०)
णिम्मलु–निर्मल १।३।१० (घ०)·६।२।१० (पा०)
णिम्मलवर–निर्मलतर १।१।३ (घ०)
णिम्मविउ–निर्माण कराया ४।४।२ (घ०)
णिम्माविय–निर्मित कराया १।१६।६ (सु०)
णिम्मि–निर्मित ४।१४।८ (पा०)
णिम्मिउ–निर्मित २।१।४ (घ०), ४।१६।८ (पा०)
णिम्मिय–निर्मित १।१४।७ (सु०), ४।१।८ (घ०)
णिम्मुक्क–निर्मुक्त ४।१५।१ (पा०)
णिम्मुक्कपाण–निर्मुक्त प्राण ३।१३।८ (पा०)
णिमज्ज–डूबना ३।१५।१० (घ०) ६।१२।२ (पा०)
णिमित्त–निमित्त ४।२।४ (घ०) १।३।६ (सु०)
४।४।१५ (सु०) ४।८।११ (घ०)
णिमिस–निमेष ५।१९।७ (पा०)
णिय–निज १।९।२ (सु०), २।५।१० (सु०)
णिय–अवलोकन अर्थ में देशी ५।१२।४ (पा०)
णियउरि–अपने उदर में ३।१६।१७ (घ०)
णियकम्म–निजकर्म ३।१।१ (घ०)
णियकर–निजकर ५।१३।१२ (पा०) ३।४।४ (पा०)
णियकरु–निजकर १।६।२ (घ०) ४।१।२२ (पा०),
४।५।७ (घ०)
णियकाय–अपना शरीर ४।११।२ (पा०)
णियकालें–अपने समय में ३।२२।२ (पा०)
णियकुलकमलायरु–अपने कुल के लिए कमलाकर
१।१०।१ (पा०)
णियकुलपयासु–अपने कुल का प्रकाशक
१।९।६ (घ०)
णियकुलु–निजकुल ३।२३।१० (घ०) ५।१३।९ (पा०)
णियकोट्ठि–अपना कोठा ४।१८।९ (पा०),
५।२।४(पा०)
णियखेत्तहिँ–अपने खेत (क्षेत्र) मे ३।३।१३ (घ०)
णियगिहि–अपने घर में ३।१५।५ (घ०)
णियगुणु–निजगुण ३।२०।१० (घ०),
६।२०।८ (पा०)
णियगेब्भंतरि–अपने घर के भीतर २।११।११ (घ०)
णियच्छइ–दृश् धातु के अर्थ में देशी ४।४।११ (सु०),
३।१५।६ (घ०), ६।१२।१२ (पा०)
णियच्छिय–निरीक्षित ३।१६।२ (घ०)
णियच्छिवि–देखकर २।८।३ (घ०)
णियचित्ति–अपने चित्तमें ३।२६।१ (पा०)
णियजसेण–अपने यशसे १।८।५ (घ०) ४।२३।९(सु०)

णियाल–देखना ३।२४।१२ (ध०)
णियासणु–अपना आसन ४।१४।६ (पा०)
णियंत–देखता हुआ ३।१९।१३ (ध०), २।८।१० (पा०), ४।१५।९ (सु०), ४।४।६ (सु०)
णियंबु–नितम्ब १।१०।९ (पा०)
णिरक्खरो–निरक्षर ४।११।१० (सु०)
णिरग्गलु–निर्बाध ७।७।१० (पा०)
णिरत्थ–निरर्थक २।९।४ (ध०), ३।९।३ (सु०), ३।१५।६ (पा०), ७।११।१० (ध०), ४।४।१६ (सु०)
णिरवद्दउ–उपद्रवों से रहित ७।११।११ (पा०)
णिरवराहु–निरपराध ३।१७।५ (ध०)
णिरवसेस–निर्विशेष १।३।९ (पा०), ३।१२।१२ (ध०) ४।८।५ (पा०)
णिरसण–निरसन (नाश) ४।१८।८ (पा०)
णिरसिय–निरसित (परित्यक्त) ७।११।५ (पा०)
णिरसियतमगणु–अन्धकार का निरसन करने वाला ५।२३।१६ (पा०)
णिरसियमणभव–मन की भ्रान्ति को दूर करने वाली ७।६।९ (पा०)
णिरास–निराश ३।१६।१० (ध०)
णिरीहु–निरीह ३।१६।९ (सु०), ५।३।२ (पा०)
णिरुवम–निरुपम १।५।९ (पा०), ३।२२।१५ (सु०)
णिरुवमगुणणिहाण–निरुपम गुणनिधान १।५।३ (पा०)
णिरुवमगुणभायणु–निरुपम गुणभाजन १।१।९ (ध०)
णिरुवमठाणु–निरुपम-स्थान ४।१४।१२ (पा०)
णिरुवण–निरुपण ३।१७।११ (ध०)
णिरोह–निरोध २।११।१३ (पा०), ३।१५।९ (सु०)
णिरोहकरणु–निरोध करना ५।६।११ (पा०)
णिरोहणु–निरोधन ३।११।३ (सु०)
णिरंजणु–निरंजन ३।३।११ (ध०), ४।२०।८ (पा०)
णिरंबरु–निरम्बर ४।४।८ (सु०)
णिल्लोह–निर्लोभ २।५।१६ (सु०)
णिलय–निलय ५।२१।३ (पा०), २।१०।६ (सु०)
णिलोह–निर्लोभ ४।१०।६ (पा०)
णिव्वाणघोसु–निर्वाणघोष (मुनि) ३।१६।२ (सु०)
णिव्वाणपुज्ज–निर्वाणपुञ्ज २।१०।६ (सु०)
णिव्वाणु–निर्वाण ७।४।३ (पा०)
णिव्विण्ण–निर्विण्ण ३।१५।१६ (सु०), ६।१०।१० (पा०)
णिव्वियार–निर्विकार ४।१९।४ (पा०)
णिव्वेउ–निर्वेद ५।२।१३ (पा०)
णिव–नृप ५।८।५ (पा०), ४।२।२ (ध०)
णिवकुमर–नृपकुमार ४।३।१ (ध०)
णिवगिहि–नृप के घर में ४।२।१ (ध०)
णिवडिय–निपतित ५।३१।११ (पा०)
णिवपट्टालंकिय–नृपपट्ट से अलंकृत १।४।५ (पा०)
णिवपत्ति–नृपपत्नी ३।२०।९ (सु०)
णिवपयसासणु–नृप पद का शासन ६।१।१८ (पा०)
णिवमणु–नृपमन १।६।१० (पा०)
णिवमंति–नृप मन्त्री १।१०।८ (पा०)
णिववर–नृपवर ५।२०।१८ (पा०)
णिवस–नि + वस् (धातुः) ५।२८।१० (पा०) २।६।१६ (ध०)
णिवसहा–नृपसभा ३।२२।१ (सु०)
णिवसिवि–रहकर ३।१०।८ (ध०)
णिविड–निविड ३।२२।३ (पा०)
णिवार–रोकना ३।१६।१५ (ध०), ५।५।८ (पा०) १।१।१५ (पा०), १।६।११ (सु०)
णिवास–निवास ४।८।८ (सु०)
णिवासो–निवासी ३।२६।२ (पा०)
णिवासु–निवास १।३।१३ (ध०)
णिविट्ठ–निविष्ट ४।२१।१२ (सु०), २।६।५ (पा०)
णिवित्ति–निवृत्ति ३।२।७ (ध०), ४।७।६ (सु०)
णिवेसियउ–विराजमान किया ४।११।१ (पा०)
णिवेसिया–निवेसित २।१३।६ (पा०)

णेहु–स्नेह ३।११।१७ (ध०)
णेहजुत्तु–स्नेहयुक्त ४।२२।३ (सु०)
णेहमेउ–स्नेह भावमें ६।५।३ (पा०)
णेहरउ–स्नेहरत ३।२६।९ (ध०)
णेहवास–स्नेहवास ३।२६।६ (ध०)
णेहविति–स्नेह प्रवृति ४।१३।१ (सु०)
णेहाउरमणु–स्नेहातुर मन ३।२।१५ (पा०) ४।१।४ (सु०), ४।१२।१९ (सु०)
णेहाणुरत्त–स्नेहानुरक्त ४।१८।१० (सु०)
णेहायर–स्नेहादर ४।८।१५ (ध०)
णेहालउ–स्नेहालय ४।११।१० (ध०)
णेहासत्त–स्नेहासक्त ३।९।५ (सु०) १।११।१० (ध०)
णेहासत्तभाउ–स्नेहासक्तभाव ४।१३।१९ (सु०)
णोकसाय–नोकषाय ३।२०।२ (पा०)
णं–ननु मानों १।१७।२ (सु०)
णंगपासि–अनंग का जाल ४।१।११ (ध०)
णंत–अनन्त ४।१९।४ (पा०)
णंताणचक्कु–(कषायों का) अनन्तचक्र ४।१२।२ (पा०)
णंदण–पुत्र ३।१९।१० (सु०) ४।३।१४ (सु०) १।३।१२ (ध०), ३।१२।१६ (ध०) ७।९।१२ (पा०)
णंदणवणि–नन्दनवन ४।९।१ (ध०)
णदि–नन्दी (कच्छ-महाकच्छ की पुत्री) २।१।१९ (सु०)
णंदिय–नन्दित २।५।१६ (पा०)
णिंद–निन्दा ६।१८।१९ (पा०) ३।२२।२ (ध०), ५।४।५ (पा०)
णिंदकम्म–निन्द्यकर्म ३।१०।१५ (सु०) ४।६।१० (सु०)
णिंदणीय–निन्दनीय २।१३।७ (ध०)
णिंदा–निन्दा ६।१८।१४ (पा०)
णिंदावयणु–निन्दावचन ४।५।१४ (सु)
णिंदिवि–निन्दाकर ३।२७।१२ (ध०)
तइउ–सदा १।१३।७ (सु०)
तइयउ–तृतीय ५।२।१० (पा०)

तइलोउ–त्रिलोक ३।९।२ (पा०) ५।१४।१५ (पा०)
तउ–तप ३।३।१३; ३।१८।१० (सु०)
तउभरु–तपभार १।११।३ (ध०) ३।२०।११ (सु०)
तक्क–तर्क १।२।३ (सु०)
तक्कर–तस्कर ५।८।२ (पा०) ५।१२।१ (पा०)
तक्खणा–तत्क्षण ४।७।३ (पा०) ३।८।१२ (ध०); ४।१६।१५ (सु०) ४।१५।३ (सु०)
तग्गय–तद्गत ४।४।१४ (ध०)
तच्चत्थ–तत्त्वार्थ ३।१७।३ (ध०)
तच्छाउ–वहाँ आया ५।१९।१४ (पा०)
तज्जि–छोड़कर ४।२३।४ (सु०)
तज्जिया–तर्जित २।९।१ (ध०)
तडवेया–तडिवेया–तडितवेगा (विद्याधरी) ६।१३।१० (पा०)
तणउवहि–तनोदधि ५।१४।४ (पा०)
तणकंटहीण–तृणकण्टहीन ४।१७।६ (पा०)
तणिय–सम्बन्धार्थक ४।३३।७ (सु०)
तणु–तनु ३।२१।५ (पा०)
तणुब्भउ–तनूद्भव ७।८।४; ७।९।२ (पा०)
तणुमाण–शरीर प्रमाण ५।२२।८ (पा०)
तणुरुहु–पुत्र ५।२१।८ (पा०)
तणुलय–तनुलता ५।१६।३ (पा०)
तणुवायवलं–तनुवातवलय ५।२६।१८ (पा०)
तणुसग्गि–कायोत्सर्ग (मुद्रा) ४।२१।६ (सु०) ३।३।९ (सु०); ६।१०।१२ (पा०)
तणुसत्तिए–तनुशक्ति ३।३।९ (पा०)
तत्त–तत्त्व ४।२१।५ (सु०) ५।१९।१५ (पा०)
तत्थ–वहाँ ५।२९।६ (पा०)
तत्थायउ–वहाँ आया ४।१८।१० (पा०)
तप्पइ–तप करना ३।१९।५ (पा०)
तट्ठु–त्रस्त ३।८।७ (पा०) ४।८।४ (पा०) ४।१७।७ (पा०)
तडक्कइ–तड़कना (ध्वन्यात्मक) ४।७।१ (पा०)
तडप्प–तड़पना १।६।११ (सु०)

ताहु–उन ५।२५।१६ (पा०) ४।२१।६ (सु०)
ति–इति, इस प्रकार ५।१०।६ (पा०)
तिउ–त्रिया ४।२।१२ (सु०)
तिउणु–तिगुना ४।११।७ (पा०)
तिक्ख–तीक्ष्ण ४।२०।१४ (सु०)
तिक्खकुठारें–तीक्ष्ण कुठार ३।१२।१५ (पा०)
तिकाल–त्रिकाल ४।२०।५ (सु०)
तिगिंछ–तिगिंछ (सरोवर) ५।३१।७; १० (पा०)
तिगुत्ति–त्रिगुप्ति (मन वचन काय रूप) ३।४।७ (सु०), ३।१६।२ (सु०)
तिज्जइ–तीसरे ५।१७।९ (पा०)
तिज्जए–तीसरे ५।१८।३ (पा०)
तिजगि–त्रिजग में ४।१५।२५ (पा०)
तिजय–त्रिजग १।७।७ (सु०)
तिजयणाडि–त्रिजगनाड़ी ५।२५।१३ (पा०)
तिजोयहीणु–त्रियोग हीन ७।४।३ (पा०)
तिण्णि–तीन ५।१६।१२; ५।२०।९ (पा०) ३।१८।८ (सु०)
तिण्णिपयार–तीन प्रकार ५।२१।३ (पा०)
तिण्णिभाय–तीन भाग ५।१५।५ (पा०)
तिणसमाणु–तृण के समान ३।२४।२ (ध०)
तिणु–तृण ३।१५।२ (ध०); ४।२०।२ (सु०)
तित्त–तृप्त १।६।१४ (पा०)
तित्तिय-तृप्त ५।५।३ (पा०)
तित्थयरवाय–तीर्थंकर वाणी ३।४।१३ (पा०)
तित्थयरालाउ–तीर्थंकरालाप ३।२६।१० (पा०)
तित्थवारि–तीर्थ जल ६।१५।९ (पा०)
तित्थसणाहु–तीर्थ (समवशरण से युक्त) १।१८।३ (सु०)
तित्थेसरु–तीर्थेश्वर २।१।४ (सु०)
तिपयाहिण–तीन प्रदक्षिणाएँ ४।७।११ (सु०); ७।४।१० (पा०)
तिब्ब–तीव्र ५।१९।१४ (ध०)
तिभेय–त्रिभेद ३।१३।१३ (पा०)
तिम–उतने १।९।३ (सु०); ५।३३।१७ (पा०)
तिमिजुयल–मीनयुगल २।३।७ (पा०)
तिमिजुवलें–मीनयुगल २।४।७ (पा०)
तिमिरविहंस–तिमिर विध्वंस २।५।१६ (पा०)
तिय–त्रिया ४।१५।१ (सु०); ५।११।८ (पा०)
तियइ–तीसरा ३।१०।५ (सु०)
तियक्कि–त्रिक (तीन) ५।२४।५ (पा०)
तिययणु–त्रियागण २।१।४ (ध०)
तियलक्खणलंकिय–त्रिया के लक्षणों से अलंकृत ४।१४।६ (सु०)
तियलोय–त्रिलोक ६।१।१ (पा०)
तियस–त्रिदश ३।१।१ (ध०)
तियसराउ–त्रिदशराज (इन्द्र) २।८।१० (पा०)
तियसेसरु–त्रिदशेश्वर २।१५।१२ (पा०)
तियाल–त्रिकाल ५।१४।९ (पा०)
तिरयणसुद्धि–त्रिरत्न शुद्धि १।१।१० (पा०)
तिरिउ–तिर्यंच ५।१८।१० (पा०)
तिरिक्ख–तिर्यंच ४।१६।६ (पा०)
तिरिय–तिर्यंच ३।३४।७ (पा०)
तिरियजोणि–तिर्यंच योनि ३।१७।२ (पा०)
तिरियलोय–तिर्यक् लोग ५।१५।४ (पा०)
तिरियंच–तिर्यंच ३।२४।११ (ध०); ५।९।७ (पा०)
तिल्लोउ–त्रिलोक ५।१४।२ (पा०)
तिल्लोय–त्रिलोक ३।१७।११ (ध०); ४।५।९ (पा०)
तिल्लोयपहु–त्रिलोक प्रभु ३।१९।१६ (सु०)
तिलउ–तिलक १।१८।२ (सु०), २।३।१० (ध०)
तिल–तिल ६।१२।४ (पा०)
तिलय–तिलक १।१८।२ (सु०)
तिलु-तिलु–तिल-तिल ५।१३।१ (पा०)
तिलोयमाणु–त्रिलोक का मान ३।१२।१ (सु०)
तिलोयवइ–त्रिलोकपति ३।१२।८ (पा०)
तिलोयसार–त्रिलोकसार ४।१९।४ (पा०)
तिव्वार–तीन बार १।१६।१४ (सु०)
तिविहु–त्रिविध १।१।१२ (सु०); ५।२३।६ (पा०)
तिस–तृषा ५।९।४ (पा०)
तिसट्ठि–त्रेसठ ४।१४।२ (पा०)

तुंवरराज्ये–तोमर राज्य में पृ० १५८ पं०२
तुंवरे–पृ० १५८ पं०४
थक्क–स्था (धातुः) २।१३।५ (पा०); ३।७।९(पा०); ३।१७।६ (पा०)
थक्क–३।११।३; ३।१२।१३; ३।१९।३; ४।५।१५; (ध०) ३।१३।१४ (सु०) ४।२।७ (पा०)
थड–समूह ३।४।१ (पा०)
थणजुवल–स्तनयुगल ३।२०।१६ (सु०)
थणवट्ट–स्तनपट्ट (वर्तुल) १।३।६ (ध०)
थणहर–पयोधर ४।३।३ (सु०)
थणिद–स्तनितकुमार (देव) ५।२०।२ (पा०)
थत्ति–स्थल ४।८।५ (सु०)
थप्प–थापना (स्थापन) २।१३।१४ (पा०) १।४।७ (ध०) २।१।३ (ध०)
थलयरु–थलचर ३।१७।३ (पा०)
थलि–स्थल ३।१५।२ (पा०)
थलु–स्थल ४।८।५ (पा०)
थरहर–कम्पनार्थक देशी ४।३।४ (सु०); ४।४।१ (पा०)
थवक्कु–सुरक्षित २।१०।५ (ध०)
थविया–स्थित किया २।११।९ (पा०)
थवेवि–स्थित कर १।६।१ (सु०) ३।१६।१ (सु०)
थाइ–स्थिर ३।२।८ (पा०)
थाणगिद्धि–स्त्यानगृद्धि ४।१२।७ (पा०)
थाणि–स्थान (दुकान) ३।१२।२० (ध०)
थाणु–स्थान ३।१६।७ (पा०); ५।१६।१-८; (पा०)
थाणंतरि–स्थानान्तर ५।१९।५ (पा०)
थाम–स्थान १।९।२ (सु०) ३।४।१८ (सु०); ३।५।५; (सु०) ३।२०।७; (सु०)
थाय–थाँय (बुन्देली—जलाशय का भूमिभाग) ३।१।१० (ध०)
थावर–स्थावर ३।१५।९ (सु०) ३।२२।१२ (ध०) ४।१०।४ (पा०) ३।२४।४ (पा०)
थावि–स्थित २।२।११ (पा०)
थाहि–थाही रुको–रुको ३।४।९ (ध०)
थिउ–स्थित १।६।६ (ध०) २।१।८ २।८।४ (सु०); ४।१२।१ (पा०) ६।१५।१०; ६।१९।७ (पा०)
थिति–स्थिति ५।२६।८ (पा०)
थिप्पिरु–गलन अर्थ में देशी (धातुः) ३।१९।२ (पा०)
थिय–स्थित ३।६।९ (सु०) ४।३।१२ (ध०) ७।४।४ (पा०)
थिर–स्थिर २।८।११ (ध०) ३।२५।९ (ध०); ५।२०।३ (पा०)
थिरझाणउ–स्थिर ध्यान ४।२०।६ (सु०)
थिरणयणें–स्थिरनयन २।११।९ (ध०)
थिरमणेण–स्थिरमन द्वारा ३।३।५ (ध०) ४।१०।५; ४।४।११ (ध०)
थीवेदु–स्त्रीवेद ४।१२।९ (पा०)
थुइ–स्तुति ४।८।९ (ध०); ५।२।४; ६।१८।१४ (पा०)
थुइवि–स्तुतिकर १।७।८ (सु०)
थूल– स्थूल ३।२३।३ (ध०) ४।१३।८ (पा०) ४।१०।६ (सु०)
थूलदेहु–स्थूलदेह ४।११।१ (सु०)
थूह–स्तूप ४।१५।८ (पा०)
थेणु–स्तेन (चोरी) ५।५।७ (पा०)
थेरत्तणि–वृद्धावस्था में ३।७।६ (सु०)
थोउ–स्तोक ५।४।३ (पा०)
थोत्त–स्तोत्र १।१८।३ (सु०) ३।२१।१२ (ध०) ४।१०।१, ४।१८।६ (पा०)
थोत्तुच्चारिउ–स्तोत्र उच्चारण ४।१९।१ (पा०)
थंभियं–स्तम्भय (धातु) ४।७।१ (पा०) ४।७।११ (पा०) ४।१५।१९ (पा०)
दइ–देना, उत्पन्न करना ४।७।१२ (ध०)
दइय–दयित २।१७।५ (ध०)
तुंडु–शिशु पुत्र ३।९।१ (सु०)

दिणिंद–सूर्य ७।११।७ (पा०) ४।६।४ (सु०)
दिणेसरु–दिनेश्वर (सूर्य) १।१६।७ (सु०)
दिणेस–दिनेश (सूर्य) १।१५।८ (सु०)
दित्त– दीप्त ५।३२।१५ (पा०)
दित्ती–दीप्ति ५।२८।९ (पा०)
दिप्पाल–दिक्पाल २।११।९ (पा०)
दिय–द्विज ५।३३।८ (पा०)
दियंवरु–दिगम्बर ६।१०।१० (पा०)
दिव्वभोय–दिव्यभोग १।३।६ (पा०)
दिव्यवाणि–दिव्यवाणि २।७।८ (सु०)
दिवसु–दिन ४।६।१० (ध०)
दिवायर–दिवाकर (सूर्य १।१८।५ (सु०)
दिसमग्ग–दिशामार्ग ३।३।४ (सु०)
दिसादह–दशों दिशाएँ ४।४।३ (सु०)
दिसामुह–दिशामुख ३।१७।३ (सु०)
दिसं–दिशा ४।२०।९ (सु०)
दिसंतर–दिशान्तर १।७।८ (पा०)
दिही–धृति नामकी देवी (Hem. 2. 131) ३।२७।४ (ध०) ५।३३।९ (पा०)
दीउ–दीप २।१३।७ (पा०)
दीउज्जोय–दीपक का प्रकाश ४।२।१३ (सु०)
दीण–दीन २।४।९ (सु०) ४।२४।६ (सु०)
दीणार–दीनार [Gr. Denarius.—See IP. 165-166. HMHI. Vol. II. PP. 215-257.] २।६।१ (ध०), २।६।४ (ध०) २।७।१३ (ध०), ३।१।१४ (ध०)
दीव–दीप २।१३।१३ (पा०)
दीवकुमार–द्वीपकुमार (देव) ५।२०।१० (पा०)
दीवड्ढाइय–अढ़ाईद्वीप ५।३४।११ (पा०)
दीस–दृशधातोः कर्मणि (Hem. 2, 91.). ४।१७।५ (पा०)
दीहकाउ–दीर्घकाय १।१०।३ (सु०)
दीहकालु–दीर्घकाल ३।१।१३ (ध०)
दीहतणु–दीर्घतनु ५।३३।८ (पा०)
दीहबाहु–दीर्घबाहु २।१२।१० (पा०)
दीहाउसु–दीर्घ आयुष्य ३।२५।२ (पा०)
दीहत्त–दीर्घत्व ५।२९।५ (पा०)
दुक्कम–दुष्कर्म ३।१८।१ (ध०)
दुक्करु–दुष्कर ३।२५।१० (पा०)
दुक्कियफलु–दुष्कृत फल ६।१२।७ (पा०)
दुक्ख–दुःख ३।९।९ (ध०)
दुक्खकिलेसु–दुःख-किलेश १।११।८ (सु०)
दुक्खणिवारणु–दुःख-निवारण १।१।२ (पा०)
दुक्खभरु–दुःखभार ३।१९।९ (ध०)
दुक्खरीणु–दुःख से क्षीण ३।८।९ (ध०)
दुक्खलक्ख–लाखों दुःख ३।१०।५ (पा०)
दुक्खिय–दुःखित १।११।१ (सु०)
दुक्खियजणपोसणु–दुःखीजनों का पोषण १।५।७ (पा०)
दुग्गइ–दुर्गति ४।१२।२ (पा०)
दुग्गइवारणु–दुर्गति-निवारण ३।२२।१० (ध०)
दुग्गंधु=दुर्गन्ध ३।१९।२ (पा०)
दुग्गहु–दुर्ग्रह १।३।१४ (पा०)
दुगिज्झहिं–२।१०।१२ (सु०)
दुचित्तउ–दुश्चित्त (दुष्टाभिप्रायः इत्यर्थः) ४।१४।१३ (सु०)
दुज्जणु–दुर्जन ३।२३।७ (पा०) ६।८।१५ (पा०)
दुज्झ–दुह्य दुहना २।९।१० (सु०)
दुट्ठ–दुष्ट ४।२१।१२ (सु०) ३।२।१२ (ध०)
दुट्ठमणा–दुष्टमन ३।२४।११ (ध०)
दुट्ठवयणु–दुष्ट वचन २।९।८ (ध०)
दुट्ठासव–दुष्ट आश्रव ३।११।४ (सु०)
दुण्णयभरिउ–दुर्नीति पूर्ण ६।२०।१३ (पा०)
दुण्णयभंजण–दुर्नय का भञ्जक ४।१४।१४ (पा०)
दुण्णययारउ–दुर्नयकारी ६।२।६ (पा०)
दुण्णिवार–दुर्निवार ५।५।८ (पा०)

धरणीणाहु–धरणीनाथ ४।४।६ (पा०)
धरणिंद–धरणेन्द्र २।५।६ (सु०)
धरणीधर–धरणीधर २।११।२ (सु०)
धरणीधर–सुमेरुपर्वत ३।६।५ (पा०)
धरणेंद्र–धरणेन्द्र २।१५।६ (पा०) ३।१३।५ (पा०)
धरत्ति-पुत्तु मंगलग्रह २।८।८ (पा०)
धरधण्ण–पृथिवी तल पर धन्य ४।१५।१ (पा०)
धरा–भूमि (–नरक) १।१!१७ (पा०)
५।९।१०। (पा०)
धरायलि–धरातल ४।४।१ (सु०) ४।५।११ (सु०);
४।१४।१० (पा०)
धरिउ–धृत, धारण १।८।६ (सु०) ५।१४।३ (पा०)
धरिऊण–धारण करके ५।२६।५ (पा०)
धवल–धवल ६।१२।१८ (पा०) १।३।१२ (सु०)
धवलकाय–धवल शरीर ६।२।२ (पा०)
धवलहरि–धवलगृह ४।२।११ (सु०)
५।२१।६ (पा०)
धवलायट्ठिउ–धवल बैलों पर स्थित २।५।६ (ध०)
धवलिमा–धवलिमा २।६।६ (पा०)
धवलुज्जलु-धवलोज्ज्वल २।११।६ (सु०)
धाइए–धाय ने ४।५।९ (सु०)
धाइखंडि–धातकी खण्ड (द्वीप) ५।३४।२ (पा०)
५।३४।७ (पा०)
धाइवरा–विश्वस्त धाय ४।५।१५ (सु०)
धाइवि–दौड़कर ३।२०।१५ (ध०)
धादइ–धातकी खण्ड ५।३३।७ (पा०)
धामु–धाम १।१०।४ (सु०)
धायउ–धावित, दौड़ । ३।१०।१ (पा०);
३।१३।७ (ध०)
धावइ–दौड़ना (धाव् धातु) १।८।१० (पा०)
३।८।६ (पा०) ४।१५।६ (पा०)
४।१६।६ (सु०) ३।९।९ (ध०)
धाह–धाहा (रोदनार्थे) दहाड़ मारकर रोना
३।९।१० (ध०) ३।२०।२ (ध०)

धिगत्थु–धिक्कार हो ३।८।७ (ध०)
धिट्ठु–धृष्ट ६।३।८ (पा०)
धिट्ठि-धृष्टि, लोभ ४।२२।२ (सु०)
धिवि–धीवर ६।१।९ (पा०)
धि-धी–धिक्कार २।३।२ (सु०) ३।८।१० (ध०)
धीर–धीर १।७।१२ (सु०) ५।३२।१५ (पा०)
३।२।५ (ध०) ६।१२।१५ (पा०)
धुउ–ध्रुव ३।१४।१ (पा०)
धुक्कु–कम्पित ४।१।१२ (सु०)
धुणि–धुनना ३।७।३ (सु०) ३।१२।१६ (पा०)
धुत्त–धूर्त ४।१६।१ (सु०)
धुर–धुरी ४।२३।५ (सु०)
धुरंधर–धुरन्धर ३।१७।१४ (सु०) ७।८।७ (पा०)
धुव–ध्रुव ५।३४।९ (पा०)
धुवतार–ध्रुवतारा ५।३४।५ (पा०)
धुवेवि–धोकर, प्रक्षालितकर ४।३।५ (पा०)
धूउ–धूप २।१३।१० (पा०)
धूपवत्ति–धूप बत्ती २।१३।९ (पा०:)
धूम–धुआँ १।१२।२ (सु०)
धूमप्पह–धूमप्रभा (नरक) ६।१४।७ (पा०)
६।२२।३ (पा०)
धूमू–धुआँ २।१३।९ (पा०)
धूलि–धूल ३।२३।११ (ध०) ४।१५।२ (पा०)
१।३।१२ (सु०)
धूव–धूप ४।८।१५ (सु०) २।१३।१३ (पा०)
धूसरिय–धूसरित १।१२।२ (सु०)
धेणु–गाय १।१२।२ (सु०); २।९।१०) (सु०)
धोयंबर–धौताम्बर; धोए हुए वस्त्र ३।२७।३ (ध०)
धोव–धोना ३।१९।९ (पा०) २।८।४ (ध०)
नपुंसवेय–नपुंसक वेद ४।१२।९ (पा०)
नमंति–नमस्कार करते हैं ४।१८।६ (सु०)
नाथू–आश्रय दाता का वंशज ७।८।८,९ (पा०)

नामा—नामवाली ४।२३।३ (सु०)
नेरत्ति—नैऋत्य (दिशा) २।१०।८ (पा०)
पइ—Acc Inst. & Loc. Sing. of युस्मद्
४।६।९ (घ०)
पइ—प्रजा ४।२३।४ (सु०)
पइ—पति ६।२।५ (पा०)
पइज्ज—प्रतिज्ञा (हि० पैज) ४।४।४ (पा०)
पइजारुढु—प्रतिज्ञा करके ३।२।८ (घ०)
पइट्ठु—प्रविष्ट २।१४।१ (पा०), २।३।१।(सु०)
पइट्ठुउ—प्रविष्ट ३।२१।१ (सु०), ३।२१।७ (सु०)
४।२०।७ (पा०) २।१४।३ (घ०),
पइड—प्रकट १।९।२ (घ०)
पइत्थ—पदार्थं ३।९।१४ (सु०)
पइर—प्रचुर २।२।१ (पा०)
पइस—प्र + विश् °इ ३।१५।४ (पा०)
४।२।१२ (घ०)
पइसर—प्रति + सृ ५।२।५ (पा०)
पइसारिउ—प्रति + सारित् (प्रवेशित्)
१।५।१९ (सु०)
पइसुइ—प्रतिश्रुत २।११।४ (घ०)
पइसंतु—प्र + विश् + शत्, प्रविशत् ४।३।१३ (घ०)
पउ—पद ३।२१।१२ (घ०)
पउत्त—प्र + उक्त कहा गया है ३।१५।१३ (सु०),
३।२२।८ (घ०), ३।५।१ (पा०) ५।१४।१४ (पा०)
७।८।८ (पा०)
पउमदेसि—पद्म नामक देश ६।१५।२ (पा०)
पउमप्पहु—पद्मप्रभु २।११।५ (पा०)
पउर—प्रचुर १।७।१० (पा०) २।२।३ (घ०)
४।९।१५ (घ०)
पउरकालु—प्रचुर काल ३।२।३ (घ०)
पउरपसाउ—प्रचुर प्रसाद ५।२।२ (पा०)
पउलोमि—पौलोमी इन्द्राणी १।१७।१ (सु०),
२।१४।१२ (पा०)

पउंज—प्र + युज् ४।११।२९ (पा०) ५।९।१० (पा०)
पओसि—प्रदोष (काल) ३।११।४ (पा०)
पएसी—प्रदेश ३।२२।३ (पा०) ११।३।२ (घ०),
५।१३।५ (पा०)५।२६।१४(पा०)
३।१०।१३ (सु०) ३।११।१० (सु०)
पक्क—पक्व २।१३।११ (पा०)
पक्कल—पक्व + ल (स्वार्थे) समर्थ ३।७।९ (पा०)
पक्ख—पक्ष पंख ४।८।४ (पा०), ४।१९।१० (सु०)
पक्खपारणींहि—पाक्षिक पारणा—५।३।५ (पा०)
पक्खालिय—प्रक्षालित १।६।९ (घ०)
पक्खि—पक्ष (पखवारा) ४।१४।४ (पा०)
पक्खि— पक्षी ४।८।४ (पा०)
पक्खु—पक्ष १।५।९ (सु०)
पंकप—प्र + कम्प ४।४।१३ (सु०) ४।४।१४ (सु०)
पगच्छइ—प्र + गच्छ् २।१०।१२ (घ०)
पगिलय—प्रगलित ४।७।१६ (घ०)
पगलियणेत्ति—प्रगलितनेत्र ३।१६।१० (घ०)
पगामु—प्रकाम (सुन्दर) १।५।७ (सु०)
पगिण्ह—प्र + गिण्ह (ग्रहण) ३।२६।१। (पा०)
२।१०।१३। (घ०)
पघुट्ठिय—प्रघोषित ३।९।१० (पा०)
१।१५।१५ (सु०)
पच्चउ—प्रत्यक्ष ४।२।७ (घ०)
पच्चक्खाण—प्रत्याख्यान ४।२०।६ (सु०)
३।१४।४(घ०) ५।६।१ (पा०)
पच्चक्खु—प्रत्यक्ष १।५।३ (पा०), ५।९।८ (पा)
पच्च—पक्व, पकना ३।२२।२ (पा०)
पच्चारिउ—उपालम्भ, आहूत, भणित ३।८।३ (पा०)
पच्चुत्तरु—प्रति + उत्तर (प्रत्युत्तर) २।४।७ (सु०)
पच्चूसि—प्रत्यूष, प्रभातकाल ५।६।२ (पा०)
पच्छइ—बाद में, पीछे २।५।९ (सु०),
३।२८।१ (घ०), ६।१२।१४ (पा०)
पच्छउ—पीछे ३।१६।४ (घ०)
पच्छायइँ—प्रच्छादित ३।१०।८ (सु०)

पच्छाउ–पीछेसे ३।८।१ (पा०)
पच्छिम–पश्चिम ३।१०।२। (घ०), ५।२९।१ (पा०)
पच्छिमउवहि–पश्चिमसमुद्र ५।८।३ (पा०)
पच्छिमरयणिहिं–पश्चिमरात्रिमें २।३।१ (पा०)
पच्छिलउ–पिछला ४।१६।९ (सु०)
पचहत्तरि–पचहत्तर ५।१४।७ (पा०)
पज्जलिय–प्रज्ज्वलित ७।४।१२ (पा०)
पज्जंकासणि–पर्यङ्कासन ३।६।१३ (सु०) ५।२६।१९ (पा०)
पजणसाहु–प्रद्युम्नसाहू (आश्रयदाता का पिता) १।७।९ (पा०) १।७।१२ (पा०) ७।८।१२ (पा०)
पजनसूनु–पजणसाहु का पुत्र (खेऊ-खेमसिंह) ४।२०।१६ (पा०)
पट्ट–महाएवी पट्ट महादेवी(महारानी) १।५।१ (पा०)
पट्टदेवि–पट्टदेवी ५।२०।१२ (पा०)
पट्टि–पट्टधर १।१।९ (घ०), १।२।८ (पा०)
पट्ट–रट्ट ४।७।७ (सु०)
पट्टंबर–रेशमी वस्त्र ३।२७।९ (घ०)
पट्टंबरु–टाट के कपड़े २।६।१७ (घ०)
पट्ठिय–प्रस्थित ४।२।१ (घ०)
पटवारि–पटवारी (जाति) १।३।४ (घ)
पड–पत् ३।९।८ (सु०)
पडत्तरु–प्रत्युत्तर ४।४।१२ (सु०)
पडल–पटल २।६।१० (सु०); ५।२३।९ (पा०)
पडलछक्कु–छटवां पटल ५।२३।१२ (पा०)
पडह–पटह (वाद्य-विशेष) १।१६।९ (सु०); २।६।२ (पा०)
पडहताल–पटहताल (वाद्य-विशेष) २।१२।९ (पा०)
पडिआविवि–तत्काल ही लौटकर ४।१३।१५ (सु०) ७।५।१ (पा०)
पडिउ–पतित २।६।१८ (घ०)
पडिउत्तरु प्रत्युत्तर ३।१२।६ (घ०)
पडिकमणु–प्रतिक्रमण ४।२०।५ (सु०)
पडिकूल–प्रतिकूल १।११।१० (सु०)
पडिखेयंतरि–प्रत्येक क्षेत्र के मध्य में ५।३२।९ (पा०)
पडिग्गहिउ–प्रतिग्रहीत १।१०।१० (घ०)
पडिगाह–प्रति + ग्रह ४।६।८ (सु०) ४।३।४ (पा०)
पडिगाहिय–प्रतिग्रहीत ३।१६।३ (सु०)
पडिगाहिवि–पडगाह करके २।१।७ (घ०); २।६।४ (सु०); ६।१३।४ (पा०)
पडिच्छिय–प्रति + इच्छ् ४।२।२ (पा०)
पडिचार–उपचार, सेवा शुश्रूषा ६।२१।४ (पा०)
पडिचंदु–प्रतिचन्द्र ६।१७।८ (पा०)
पडिजंप–प्रति + जल्प ३।१२।९ (पा०); ३।१८।१३ (सु०)
पडिदिणइ–प्रतिदिन १।१०।८ (सु०)
पडिदिसि–प्रतिदिशा ५।२०।१६ (पा०)
पडिबिंबउ–प्रतिबिम्बित ४।१५।३ (पा०)
पडिम–प्रतिमा (मूर्ति) ४।५।४ (घ०) ६।१७।११ (पा०) ६।१८।११ (पा०)
पडिय–पतित ४।१५।६ (सु०)
पडियट्ट–प्रतिपट्ट ५।११।८ (पा०)
पडियंकासण–पर्यङ्कासन ५।२०।१७ (पा०)
पडिवण्ण–प्रतिपन्न ३।१८।१६ (सु०); ५।१३।११ (पा०) ४।९।३ (सु०)
पडिवत्ति–प्रतिपत्ति ४।७।७ (घ०)
पडिवि–गिरकर ३।१७।८ (सु०)
पडिसद्दु–प्रतिध्वनि १।९।७ (पा०)
पडिसरु–प्रत्येक सरोवर २।६।१० (पा०)
पडिसुई–प्रतिश्रुत (नामक कुलकर) १।१२।१० (सु०)
पडिहरि–प्रतिनारायण ३।१३।१० (पा०)
पडिहारि–प्रतिहारी ३।१।६ (पा०)
पडुक्कंवल–पाण्डुकम्बल (शिला) २।१०।७ (पा०)
पडुपडह–पटु-पटह (वाद्य-विशेष) ४।१५।७ (पा०)
पडोल्लिय–प्रकम्पित, डोलता हुआ ४।१४।६ (पा०)
पडंत–गिरता हुआ ३।५।१३ (सु०)

पमाणाहारु—बराबर आहार, प्रमाण आहार ५।२९।८ (पा०)
पमाय—१।११।४ (सु०) ; ५।३।६ (पा०)
पमुत्त—प्रमत्त६।४।१ (पा०)
पमुह—प्रमुख २।१।११ (सु०) ६।२०।५ (पा०)
पमेल्ल—प्र + मुच् छोड़ना ६।२१।४ (पा०) ६।१२।५ (पा०)
पमंडिय—प्रमण्डित १।९।१२ (पा०)
पमंतिवि—उच्च मन्त्रणा करके ३।२।१ (ध०)
पय—पद-चरण १।१७।१० (सु०) ; ३।२७।१२ (ध०) ४।४।८ (ध०) ४।१।२ (पा०) ६।७।११ (पा०)
पयक्ख—प्रत्यक्ष ३।१३।६ (सु०) ५।२२।१९ (पा०)
पयकमल—पद-कमल ४।१७।१० (पा०) ३।२०।४ (सु०)
पयच्छ—प्र + दा (धातुः) ३।६।१ (ध०)
पयच्छिवि—देकर ३।२६।३ (ध०)
पयजुए—पदयुगल ४।९।१० (पा०)
पयट्ट—प्र + वर्त्त ३।२२।५ (सु०)
पयड—प्रकट, प्रकटय् (धातुः) १।९।२ (सु०)
पयडअत्थ—प्रकट (स्पष्ट) अर्थ ७।१०।४ (पा०)
पयडणपसिद्ध—प्रकट करने (चलाने) में प्रसिद्ध १।४।१० (पा०)
पयडमि—प्रकाशित करता हूँ १।१।१२ (ध०)
पयडहि—प्रकाशित करो ४।१७।६ (पा०)
पयडि—प्रकृति ३।८।१ (सु०) ४।१२।६ (पा०)
पयडिगणु—प्रकृति समूह ४।१३।६ (पा०)
पयडिचक्कु—प्रकृति-चक्र ४।१३।२ (पा०)
पयडी—प्रकृति ४।१३।४ (पा०)
पयडेप्पिणु—प्रकाशित करके ७।५।३ (पा०)
पयडेसइ—प्रकट करेगा १।१४।२ (सु०)
पयणमिय—प्रणम्य चरण ४।१२।४ (पा०)
पयत्त—प्रयत्न २।३।१२ (ध०)
पयत्तेण—प्रयत्नपूर्वक ४।१।११ (सु०)
पयत्थ—पदार्थ १।२।२ (पा०); ३।१७।१२ (सु०) १।११।४ (ध०)
पयपाल—प्रजापालक ३।१।१० (पा०)
पयपालउ—प्रजापालक ४।६।४ (ध०); ७।१।११ (पा०)
पयपंकयाइँ—पदपङ्कज ३।६।१० (सु०)
पयरुह—कमल ७।११।९ (पा०)
पयल—प्रचला-प्रचला ४।१२।७ (पा०)
पयलग्ग—पादलग्न ४।९।३ (ध०)
पयवाहिणि—जल युक्त नदियाँ १।६।९ (ध०)
पयाउ—प्रताप ३।२१।२ (सु०) ४।४।९ (ध०)
पयाण—प्रयाण २।१२।१ (पा०) ३।२।१२ (पा०)
पयार—प्रकार ३।१२। ४ (सु०); ५।२३।६ (पा०)
पयारी—प्यारी १।१४।७ (सु०)
पयाव—प्रताप १।६।१२ (सु०); ३।९।६ (पा०)
पयावभगु—प्रताप का भंग २।४।३ (ध०)
पयास—प्रकाश ३।१३।३ (सु०)
पयासिया—प्रकाशित किया १।२।१ (पा०)
पयासिवि—प्रकाशित कर ३।२१।१२ (ध०)
पयासु—प्रकाश ३।१९।६ (ध०); ४।१७।४ (पा०)
पयाहिण—प्रदक्षिणा २।६।३ (सु०); ५।३४।४ (पा०) ३।२१।११ (ध०)
पयंड—प्रचण्ड ३।३।११ (ध०) १।४।६ (पा०)
पयंपिउ—प्रजल्पित ४।८।१२ (ध०)
प्रतापसिंह—प्रतापसिंह (राजा) ३।२८।२० (ध०)
प्रतापसेनदेव—प्रतापसेनदेव (भट्टारक) पृ० १६० पं० ५
पर—शत्रु ३।२३।११ (ध०)
परएस—परदेश ३।२।१५ (ध०) ४।३।३ (ध०)
परक्कमु—पराक्रम ३।९।४ (पा०)
परकारणु—परोपकार ३।२०।१० (सु०)
परगिह—दूसरा गृह ३।७।६ (ध०)
परगुणगहणायरु—दूसरों के गुण ग्रहण करनेवाले ३।२८।२० (ध०)

परिगलियउ–परि + गल् ११।३।७ (सु०)
परिगलेइ–परिगलित ३।१७।९ (सु०)
परिगहु परिग्रह ३।१५।१३ (सु०)
परिचउ–परिचय ६।९।२ (पा०)
परिचत्त–परित्यक्त ३।११।८ (पा०)
परज्जिय–पराजित १।९।१ (ध०)
परिट्ठिउ–स्थित परिस्थित १।६।१२ (सु०) ५।३३।१५ (पा०)
परिणयण–परिणयन (संस्कार) ३।४।१७ (सु०)
परिणामु–परिणाम ६।१८।१७ (पा०)
पडिदिसि–प्रतिदिशा ५।२२।१४ (पा०)
परिधाविवि–दौड़-दौड़कर ३।१।९ (ध०)
परिपुण्ण–परिपूर्ण ३।२७।२ (ध०)
परिपुण्णअत्थ–परिपूर्ण अर्थ १।३।४ (पा०)
परिपुण्णकाम–परिपूर्ण इच्छाओं वाले ६।१।३ (पा०)
परिभमंति–परिभ्रमण करते हुए १।१२।५ (पा०)
परिमल–सुगन्धित २।१४।१६ (पा०)
परियट्ट–परिवर्त्तन १।९।३ (सु०)
परियण–परिजन ४।९।६ (ध०)
परियणमहिउ–परिजनों से पूजित २।१४।१९ (ध०)
परियणसुहदायणु–परिजनसुखदायक ७।८।१२ (पा०)
परियणाइँ–परिजन आदि २।९।३ (ध०)
परियरिउ–परिचरित ३।१७।४ (सु०)
परियरिय–परिचरित ४।८।१५ (ध०)
परियंचिवि–पर्यञ्चित (स्पृष्ट) २।७।६ (पा०)
परिवरु–परिवार ३।९।१० (ध०)
परिवार–परिवार १।८।२ (ध०)
परिवेस–मण्डल ४।१५।२ (पा०)
परिह–परिखा ('खाई) ४।१५।३ (पा०)
परिहर–परिहार ५।६।१२ (पा०) ५।१०।९ (पा०)
परिहरिय–परिहृत ५।३।६ (पा०)
परिहरिसंगु–परिहृत-संग (परिग्रह) ३।४।१ (सु०)
परिहा–परिखा १।३।७ (ध०)
परिहाविउ–परि + धापित ४।४।५ (ध०) (वर्ण-व्यत्यय) पहिनाया

परहि–परिधि १।६।३ (ध०)
परिहिवि–पहनकर ४।३।६ (ध०)
परीसह–परीषह २।४।३ (सु०); ६।१९।९ (पा०)
परुप्परु–परस्पर २।१२।२; ३।८।११ (पा०)
परुसक्खर– कठिन वचन ३।१५।९ (ध०)
परोक्ख–परोक्ष १।६।८ (सु०)
परोप्परु–परस्पर ४।९।९)ध०); ५।१९।७ (पा०)
परंपर–परम्परा ३।२४।६ (ध०)
पल्ल–पल्य (A measure of time) ५।२०।९ (पा०) ५।२२।७ (पा०) १।९।१२ (सु०) २।८।८ (सु०)
पल्लट्ट–परि + वर्त्तय, पलटना ३।१६।९ (ध०)
पल्लवसोअहि–पल्लवशोभित २।३।७ (पा०)
पल्हणसीहु–पल्हणसाहु .(आश्रयदाता का वंशज) १।४।१० (सु०) ४।२४।३ (सु०)
पल्लोवम–पल्योपम मात्र १।९।८ (सु०) २।७।९ (ध०) २।८।८ (ध०)
पल्लक–पलंग १।१४।९ (सु०)
पलय–प्रलय १।४।५ (पा०)
पलयकाल–प्रलयकाल ४।९।१ (पा०)
पलव–प्र + लप् विलाप ४।७।८ (सु०)
पलाइ–पलायन, हटना ३।४।१४ (पा०)
पलिउ–पलित, पका ४।६।३ (ध०)
पलु–पल; क्षण ४।२२।१२ (सु०); ५।९।७ (पा०)
पव्व–पर्व (आमावस्यादि) ५।७।७ (पा०)
पव्वइय–प्रव्रजित २।४।१ (सु०)
पव्वइया–प्रव्रजित २।४।३ (सु०)
पव्वयसिरि–पर्वत-शिखर ६।९।४ (पा०)
पव्वयसिहर–पर्वत-शिखर ६।९।९ (पा०)
पव्वय–पर्वत ४।८।३; ४।१३।२ (सु०) ५।२७।१२ (पा०)
पव्वंत–पर्वन्ति १।४।८ (पा०)
पवट्ट–प्रवर्तन १।९।९ (ध०)
पवट्टण–प्रवर्तन ३।१८।११ (सु०)

पहसियभवणु–हंसता हुआ भवन २।८।९ (घ०)
पहाण–प्रधान १।२।१५ (पा०) १।५।२ (पा०)
पहाणु–प्रधान ३।६।६ (घ०); ६।१।१० (पा०)
पहायरु–प्रभाकर ४।१५।२४(पा०)
पहाव–प्रभाव २।६।८ (घ०)
पहावइ–प्रभावती (अर्ककीर्ति की पुत्री) ७।५।६(पा०)
पहावणु–प्रभावना (अंग) ५।२।१२ (पा०)
पहि–पथ, मार्ग ३।१०।१; ४।५।१५ (घ०) ५।५।४ (पा०)
पहिराविवि–पहिनाकर ७।१०।६ (पा०)
पहिरिवि–पहनकर ३।२७।३ (घ०)
पहिल्ल–प्रथम ५।१८।६ (पा० ; ३।२३।२ (घ०) ५।१५।५ (घ०)
पहिलउ–प्रथम १।१६।८ (सु०)
पहिला–प्रथम ५।१६।११ (पा०)
पहु–प्रभु, प्र + भू (धातुः) १।३।१५ (घ०); ७।९।११ (पा०)
पहुईधरु–पृथिवीधर १।४।१२ (पा०)
पहुवयण–प्रभुवचन ३।४।१ (पा०)
पहंकरि–प्रभंकरि (अयोध्या की पट्टरानी) ६।१७।६ (पा०)
पाइक्क–पादिक (सेवक इत्यर्थे) ३।७।९ (पा०)
पाइय–प्राकृत भाषा १।१०।१२ (सु०)
पाइयछंद–प्राकृतछन्द ७।६।१ (पा०)
पाउ–चौथाई ४।३।५ (घ०), ४।६।७ (सु०), ६।५।७ (पा०)
पाऊणु–एक चौथाई कम ५।२२।१० (पा०)
पाडिउ–पटकनेपर ६।१८।१३ (पा०)
पाडिय–पातित, ३।७।५ (पा०) ३।१०।१५ (सु०)
पडिहारें–प्रातिहार्य १।५।१८ (सु०)
पाडिहेर–प्रातिहार्य १।१।८ (सु०)
पाडिहेरट्ठजुत्तु–अष्ट प्रतिहार्यों से युक्त ७।१।११ (पा०)
पाडेवि–उपाडकर ४।२१।१२ (सु०)
पाण–प्राण ३।२०।६ (घ०), ५।२३।५ (पा०)
पाणइ–प्राण ३।२३।४ (घ०), ५।११।१६ (पा०)
पाणक्खउ–प्राणों का क्षय ५।४।४ (पा०)
पाणविसज्जिय–प्राण-विसर्जन २।२।१० (सु०)
पाणि–पान २।१।५ (सु०), ३।११।१६ (घ०) ३।७।७ (घ)
पाणि–पानी ६।१।१३ (पा०)
पाणिग्गहण–पाणिग्रहण ३।६।७ (सु०)
पाणिधरु–प्राणधारी ३।१४।९ (सु०)
पाथु–प्रस्थ ३।८।२ (घ०)
पामरयण–पामरजन १।६।११ (घ०) २।५।१४ (घ०) ३।७।१२ (घ०)
पाय–पाया (पलंगका) २।८।५ (घ०)
पायउ–पाया ६।१४।८ (पा०)
पायच्छित्त–प्रायश्चित ४।२०।१० (सु०)
पायभत्तु–चरणों का भक्त १।५।८
पायस–खीर ३।१२।१० (घ०) ३।१४।१ (घ०)
पायसण्णु–पायसान्न (खीर) ३।१३।१० (घ०)
पायहेट्ठि–चरणों के नीचे ५।१।१४ (पा०)
पायारु–प्राकार २।७।२ (सु०) ६।१।१४ (पा०)
पायालि–पाताल ३।१५।४ (पा०)
पायालि–पाताल ३।९।४ (सु०)
पारउत्तारउ–पार उतारने वाले १।१।६ (घ०)
पारक्क–परकीय २।९।२ (सु०)
पारणय–पारणा ४।२१।२ (सु०)
पारद्धउ–आरम्भ किया १।८।१८ (पा०)
पारद्धि–शिकार ५।८।९ (पा०) ५।११।१० (पा०)
पाराविउ–पार + आपित २।६।४ (सु०)
पारम्भिय–प्रारम्भ २।११।८ (पा०)
पाल्हवंभु–पाल्हब्रह्म (भट्टारक) १।७।५
पालम्ब–पालम्बनगर पृ० १५६, १५७, १६०, १६१
पालविहि–पालनविधि २।४।४ (सु०)
पालिय–पालित कर ३।१५।१४ (घ०)

पीडिउ–पीड़ित ३।२५।६ (ध०)
पीढत्तयासीणु–पीठ त्रय पर आसीन ४।१५।२२ (पा०)
पीढपमाणि–पीठप्रमाण २।११।२ (पा०)
पीण–पुष्ट १।९।९ (पा०)
पीणिज्ज–पोषित, २।४।६ (ध०)
पीथा–पीथा (आश्रयदाता का वंशज) ४।२३।१६ (सु०)
पीवर–सुपुष्ट २।९।७ (सु०)
पुक्खरद्धि–पुष्करार्द्ध ५।३४।३ (पा०)
पुक्खरु–पुष्कर ५।३१।९ (पा०)
पुच्छिय–पूछा ४।२।२ (ध०)४।११।९ (सु०)
पुज्जाकारणि–पूजा के कारण ३।६।११ (ध०)
पुज्जिउ–पूजित ४।५।१ (ध०)
पुज्जिज्जंतउ–पूजा जाता है १।१०।७ (ध०)
पुज्जो–पूज्य १।१५।४ (सु०)
पुडइणि–पुरैन (कमल का पत्ता) २।६।१० (पा०)
पुण्डुच्छुवण–पुंड्र (गन्नों) के खेत ६।१।८ (पा०)
पुण्ण–पुण्य ४।५।११ (ध०) ४।२३।२ (सु०)
पुण्णकुम्भ–पूर्णकलश १।१५।९ (सु०)
पुण्णज्जणु–पुण्यार्जन ४।३।५ (पा०)
पुण्णत्तणु–पुण्य मण्डित शरीर (पुण्यशरीर) ४।६।३ (पा०)
पुण्णपाल–पुण्यपाल (आश्रयदाता का वंशज) १।३।२ (ध०) ७।८।१० (पा०)
पुण्णभद्द–पुण्यभद्र (नामक कूट) ५।२७।१२ (पा०)
पुण्णमिंदु–पूर्णचन्द्र १।१७।२ (सु०)
पुण्णविवज्जिया–पुण्यविवर्जित २।९।१ (ध०)
पुण्णहीणु–पुण्यहीन १।११।१ (सु०)
पुण्णाहिय–पुण्य की अधिकता से १।९।१५।(ध०)
पुण्णाहिउ–पुण्याधिप ४।४।१५ (ध०)
पुण्णिम–पूर्णिमा ३।२७।७ (ध०)
पुणु–पुनः १।१।१० (सु०), ३।५।१० (ध०)
पुत्त–पुत्र १।११।१० (सु०)
पुत्तजम्मु–पुत्रजन्म ३।२१।६ (सु०)
पुत्तत्थिणि–पुत्रार्थिनी ३।६।८ (ध०), ३।१९।३ (सु०)
पुत्तसम–पुत्र के समान ३।११।१५ (ध०)
पुत्ति–पुत्री २।९।५ (सु०)
पुत्तु–पुत्र ७।१६।५ (सु०), ७।९।१३ (पा०)
पुप्फ–पुष्प २।१३।१३ (पा०)
पुप्फमाला–पुष्पमाला १।१५।७ (सु०)
पुप्फयंजली–पुष्पाञ्जलि २।१३।१३ (पा०)
पुप्फयंतु–पुष्पदंत तीर्थङ्कर १।१।७ (पा०); २।११।६ (सु०)
पुप्फवइ–पुष्पवती (मालाकार की पुत्री) ४।१।१५ (ध०)
पुर–पुर, नगर ३।३।२ (सु०)
पुरजणु–पुरजन, नागरिक ३।१९।१२ (ध०)
पुरयणु–पुरजन ४।२।१४ (ध०)
पुरलोए–नगर के लोग २।१४।१० (ध०)
पुरवर–श्रेष्ठ नगर ३।१४।७ (ध०)
पुरवासिय–पुरवासी २।१।३ (ध०)
पुराउ–नगरसे ६।४।२ (पा०)
पुराणु–पुराण ७।६।३ (पा०)
पुरि–नगर २।६।१ (सु०), ४।७।३ (ध०)
पुरिस–पुरुष ३।१०।२ (सु०)
पुरिसायारे–पुरुषाकार ३।१२।१ (सु०)
पुरिसोत्तमु–पुरुषोत्तम ७।१।९ (पा०)
पुरु–पुर ३।१८।४ (सु०)
पुरंदर–पुरन्दर (इन्द्र) ३।१६।१ (सु०)
पुरंदरु–पुरन्दर (इन्द्र) ३।१।५ (सु०)
पुरोहिय–पुरोहित ४।१६।१ (सु०)
पुलइव–पुलकित ५।१।१७ (पा०)
पुलइय–पुलकित ३।२७।१ (ध०)
पुलइयकाएँ–पुलकित शरीर २।२।९ (ध०)
पुलइयतणु–पुलकित शरीर ३।४।३ (पा०)
पुलइयदेह–पुलकित देह २।३।१३ (ध०)

पंचेंदिय–पाँच इन्द्रिय ३।१५।९ (सु०)
पंचेंदिय–पांच इन्द्रिय ३।२०।२ (पा०)
पंचोत्तर–पाँच अनुत्तर (स्वर्ग) ५।२५।१३ (पा०)
पंचोत्तरसउ–एक सौ पाँच ५।२९।४ (पा०)
पंजरि–पञ्जर ४।३।८ (सु०), ३।९।४ (सु०)
३।१९।२ (पा०)
पंडरु–पाण्डर (वर्ण) २।५।९ (पा०)
पंडिउ–प त १।२।१६ (पा०)
पंडित्तणे पण्डितपने से १।५।६ (घ०)
पंडिय–पण्डित १।४।४ (घ०)
पंडिउ–पण्डित ७।१०।८ (पा०)
पंडियजण–पण्डितजन १।७।७ (पा०)
पंडियरयधु–पण्डित रइधू ७।११।१० (पा०)
पंडिययणु–पण्डितगण ७।११।८ (पा०)
पंडु–पाण्डुर (वर्ण) ३।१७।२ (सु०)
पंडुर–पाण्डुर (वर्ण) १।३।१ (पा०),
४।१०।६ (सु०)
पंडुरु–पाण्डुर वर्ण ३।२१।१ (सु०)
पंडुववणु–पाण्डु वन २।९।६ (घ०)
पंडुसिला–पाण्डुकशिला २।१०।६ (पा०)
पंडुसिलोवरि–पांडुकशिला के ऊपर १।१७।४ (सु०)
पंडुहु–पाण्डुकवन २।९।१३ (पा०)
पंति–पंक्ति २।१२।१ (पा०), १।९।१ (घ०)
पंथखेउ–मार्ग की थकावट १।९।८ (पा०)
पंथिउ–पथिक ३।४।१ (घ०)
पवंचु–प्रपंच ४।६।३ (सु०)
पंसु–धूलि ६।९।१० (पा०)
पिंगल–पिंगल (छन्द) १।३।१४ (सु०)
पिंडतु–पिण्ड समूह २।८।१६ (पा०)
पिंडी–अशोक वृक्ष ३।२८।३ (घ०)
पिंडु–पिण्ड ६।२०।२ (पा०)
पुंजु–पुंज, राशि, समूह २।५।१२ (पा०)
पुण्डरीउ–पुण्डरीक ५।३२।१८ (पा०)
५।२८।८ (पा०)
वेदु–पुंवेद ४।१२।११ (पा०)
फणमणि–फणस्थितमणि (सर्प) ४।११।३ (पा०)
फणि-इंद–फणीन्द्र ५।१।३ (पा०); ५।२०।५ (पा०)
फणिमण्डल–फणिमण्डल ४।१२।१ (पा०)
फणिसत्त–सात फणों वाला ४।११।५ (पा०);
फणिंद–फणीन्द्र ३।२३।५ (पा०); ४।१९।८ (पा०);
३।९।४ (पा०)
फणिंदालएण–फणीन्द्र के भवन के दर्शन से
१।१५।१२ (सु०)
फणीसरु–फणीश्वर ४।११।६ (पा०)
फणीसु–फणीश १।६।४ (सु०)
फरसग्गिणिदाह–स्पर्शाग्निदाह ५।१९।१६ (पा०)
फरहरंति–फहराती हुई (onomatop)
३।७।८ (पा०)
फरिस–फरसा ५।६।६ (पा०)
फल–फल (खाने वाला) १।५।७ (सु०), ३।३।६(सु)
३।११।८ (पा०); ३।१९।४ (सु०)
फलइं–फल (कर्मफल) ३।२२।४ (पा०)
फलियउ–फल दिया ६।५।१० (पा०); ४।२।८ (घ०)
फलु–फल १।२।७ (घ०); २।४।१ (पा०);
२।८।३ (सु०) ३।८।४ (पा०); ३।१४।८ (घ०)
४।२२।६ (सु०)
फाडियउ–स्फाटित, फड़वाया ४।४।११ (पा०)
फाडिवि–फाड़कर ३।१२।१२ (पा०)
फारु–स्फार, बड़ा ४।४।७ (घ०)
फालु–फावड़ा ५।६।७ (पा०)
फास–पाश ३।२३।७ (घ०)
फासुय फल–प्राशुक फल ३।५।७ (घ)०
फिट्ट–स्फिट्ट (हिंसायाम्) ३।२।६ (घ०)
फिरेवि–फिर-फिर कर ४।४।६ (सु०)
फुट्टि–भ्रंश ४।१३।२२ (घ०)
फुडु–स्पष्ट ६।३।१३ (पा०)
फुरइ–स्फुरायमान ३।१।५ (घ०) ३।९।२ (सु०)
फुरउ–शीघ्र ६।७।१ (पा०)

फुल्लधारि–फूल लिए हुए १।५।१७ (सु०)
फुल्लिय–पुष्पित ३।७।७ (पा०)
फेड–नाशक, फेर सकता, स्फिट्ट (हिंसायाम्) ३।१२।५ (पा०); ६।९।३ (पा०) ७।१।१२ (पा०)
फेडियसंसउ–संशय नाशक ४।१६।१० (पा०)
फोडणु–स्फुट् फोड़ना ३।६।१ (ध०)
फंद–फांदना ३।१०।१० (सु०)
फंस–स्पर्श ६।९।८ (पा०)
फंसिउ–स्पर्शित ५।३०।४ (पा०)
बइट्ठ–उपविष्ट, बैठना ४।१५।४ (पा०)
बइरि–बैरी ४।३।१४ (सु०) ४।११।५ (पा०)
बइसिवि–बैठकर ३।२०।२ (सु०) ४।४।७ (पा०)
बओ–वय (आयु) १।२।७ (पा०)
बज्झ–बाँधना ५।१३।६ (पा०)
बज्झब्भंतर–बाह्याभ्यन्तर ६।१९।८ (पा०)
बज्झब्भंतरसंग–बाह्याभ्यन्तर परिग्रह ४।१९।५ (सु०)
बज्झब्भंतरि–बाह्याभ्यन्तर ३।२२।७ (ध०)
बज्झब्भंतरु–बाह्यान्तर ६।१९।९ (पा०)
बड्ढ–बड़ा ३।१६।६ (सु०)
बड्ढिउ–वर्द्धित ३।३।३ (ध०)
बत्त–बात ६।३।११ (पा०)
बत्तीस–बत्तीस २।९।३; ४।२।२ (सु०) ५।२३।१५ (पा०)
बत्तीसंबुहि–बत्तीस सागर २।५।४ (पा०)
बप्प–बाप रे ५।४।६ (पा०)
बप्पत्तणि–बापरूप से ३।१६।४ (पा०)
बद्ध–बँधा हुआ २।९।५ (सु०); ३।६।३ (ध०)
बद्धउ–बँधा हुआ १।८।११; ३।१८।४ (पा०) ४।६।७ (सु०)
बद्धकोह–क्रोधबद्ध २।३।७ (ध०)
बद्धगाहु–कटिबद्ध १।५।१० (पा०); ३।५।११ (सु०)
बद्धझाणु–ध्यानबद्ध ४।२।११ (सु०)
बद्धराउ–बद्धराग-रागबद्ध ४।१२।४ (सु०)
बब्बर–बर्बर ३।२४।९ (ध०)
बल–बलवान्, सेना १।११।९ (सु०) ३।७।९ (पा०)
बलपयंडु–प्रचंड बल वाला ३।१७।२ (सु०)
बलहद्द–बलभद्र १।३।७ (सु०)
बलहद्दपुराणु–बलभद्रपुराण १।२।५ (ध०)
बलु–बल १।३।९ (ध०); ३।९।१; ३।२३।४ (पा०)
बस–वसा ५।९।६ (पा०)
बसुमइ–वसुमति (उज्जयिनी नरेश की पटरानी १।८।७ (ध०)
बहत्तरि–बहत्तर ५।३४।३ (पा०)
बहल–प्रचुर ३।६।६ (पा०)
बहि–बाहर ३।३।११ (सु०); ५।१२।१ (पा०)
बहिणी–बहिन ३।११।९ (ध०); ५।१०।२ (पा०)
बहिरंधउ–बहिरा एवं अन्धा ६।१२।३ (पा०)
बहिरंधहु–बहिरे एवं अन्धे का २।४।५ (ध०)
बहु–बहुत २।१०।७ (सु०) ५।१३।२ (पा०)
बहुगउरवेण–बड़े ही गौरव के साथ ३।१३।१२ (ध०)
बहुगुणिज्ज–बहुगुणज्ञ १।६।९ (पा०)
बहुगुणठाणउ–अनेक गुणों के स्थान १।३।९ (पा०)
बहुगुणभरिउ–अनेक गुणों से पूर्ण २।९ १२ (ध०)
बहुगुणभायणु–अनेक गुणों के भाजन २।२।२ (ध०)
बहुगुणसुंदरु–अनेक गुणों से सुन्दर ५।११।३ (पा०)
बहुगंध–विविध सुगन्धित २।१४।१६ (पा०)
बहुघंटमुहालउ–अनेक घण्टो से मुखर २।६।७ (पा०)
बहुजोणि–अनेक योनि १।८।५ (पा०)
बहुत्तु–बहुत, प्रचुर ७।११।४ (पा०)
बहुदाण–अनेकविध दान १।१०।३ (ध०)
बहुदिवस–अनेक दिन ३।२८।२ (ध०)
बहुदुक्ख–अनेक दुख ३।१९।१ (पा०) ६।१८।१० (पा०)
बहुदुक्खभरु–अनेक दुखों से युक्त १।१०।९ (सु०)
बहुदुक्खायरि–अनेक दुःखों का आकर ५।३।११ (पा०)

बित्थरु–विस्तार ५।३०।६ (पा०)
बिद्ध–बेधना ६।१६।८ (पा०)
बिद्धि–वृद्धि २।१३।१० (ध०)
बिब्भाडण–नष्ट करने के लिए०३।३।७ (पा०)
बिब्भाडिय–निकलवा दिया ६।७।१० (पा०)
बिल–बिल–बिल (नरक स्थित) ५।१६।११ (पा०)
बालुप्पहा–बालुका प्रभा (नरक) ५।१७।११ (पा०)
बालो–बालक ४।१।१० (सु०)
बावारु–व्यापार ५।५।६ (पा०)
बाविहु–वापी से ३।१।१७ (ध०)
बाविहसिरि–वापी की शोभा ३।१।१२ (ध०)
बाविहिं–वापी में ३।१।७ (ध०)
बावी–वापी ३।२।१ (ध०)
बावीस–बाईस ३।१३।७ (सु०) ५।१७।१० (पा०)
बावीसोवहिं–बाइस सागर ६।१५।१ (पा०)
बावीसंवुहिं–बाइस सागर ६।१६।३ (पा०)
बासठिसहस–बासठ सहस्र २।९।४ (पा०)
बाहिर–बाहर ५।३३।३ (पा०); ६।५।१३ (पा०)
बाहिरछब्विह–छः प्रकार के बाह्य ४।२०।९ (सु०)
बिलइँ–बिल ५।१६।१४ (पा०)
बिहि–दो (संख्यावाची) ५।२५।१ (पा०); ५।३३।६ (पा०)
बिहु–दोनों ३।१०।४ (सु०); ६।५।१४ (पा०)
बिहुणिय–धुनने लगे (विधुनित) ४।३।११ (ध०)
बीइ–दूसरा ५।१८।१७ (पा०)
बीउ–दूसरा १।४।१० (सु०); ४।१५।१२ (सु०)
बीएँ–बीजकका २।१२।३ (ध०)
बीओ–दूसरा (पा०)
बीयइँ–४।१६।१; ५।१६।११ (पा०)
बीयउ–दूसरा १।३।११ (ध०); ३।१५।३ (सु०) ६।१७।९ (पा०)
बीयपत्तु–बीजकपत्र २।९।६ (ध०) २।११।१ (ध०)
बीयराउ–वीतराग २।१०।३ (सु०)
बीयंसें–द्वितीय अंश में ४।१२।८ (पा०)
बील्हा–बील्हा (आश्रयदाता का वंशज) ७।९।१ (पा०)
बीस–५।२५।२; ५।३०।७ (पा०)
बीसमत्त–बीस मात्रिक छन्द ४।७।९ (पा०)
बीसलक्ख–बीस लाख २।१।८ (सु०)
बीससहास–बीससहस्र ६।२१।५ (पा०)
बीसोत्तरु–बीस से अधिक १।११।८ (सु०)
बीहंतउ–भयभीत ५।१२।३ (पा०)
बुज्झ–बुध्, समझना १।७।४ (ध०) ३।१५।८ (सु०)
बुज्झहि–समझो ३।२१।१ (ध०) ४।६।३ (सु०)
बुज्झिउ–जान लिया ४।५।१० (पा०)
बुज्झिओ–पहचान लिया ४।७।६ (पा०)
बुज्झिय–बुध् + क्त ३।४।३ (सु०)
बुज्झाविवि–समझाकर ६।४।९ (पा०)
बुड्ढ–बूढ़ा २।४।५ (ध०)
बुड्ढत्तणि–वृद्धत्व में ३।१५।२ (पा०)
बुड्डिय–डूबकर ४।२।६ (पा०)
बुद्ध–प्रबुद्ध २।६।३ (सु०) ४।१९।७ (श्र०)
बुद्धिविसालें–बिशाल बुद्धिवाला १।२।१ (ध०)
बुद्धिवंत–बुद्धिमान् ४।१५।८ (सु०)
बुद्धु–जानकर १।५।९ (सु०) ७।४।१२ (पा०)
बुह–बुध १।४।१२ (सु०)
बुहु–पण्डित १।५।७ (ध०)
बुहजण–बुधजन ४।२३।६ (सु०)
बुहकुलसासणु–बुधजनों के कुल का शासन करनेवाला १।५।१७ (पा०)
बुहयण–बुधजन ७।६।७ (पा०)
बुहयुणजुउ–बुधजनों से युक्त १।३।१७ (पा०)
बुहु–बुध, पण्डित १।२।८ (ध०) ५।८।५ (पा०)
बे–दो १।५।९ (सु०) १।११।५ (ध०) ५।३०।८ (पा०)
बेएँ–वेगपूर्वक ३।१५।४ (ध०)

भड–भट २।५।८ (ध०); ३।४।१ (पा०);
३।६।१ (पा०); ३।९।३ (सु०); ३।१६।९ (सु०);
६।९।१४ (पा०)
भडराहवसमाणु–राघव भट के समान (सु०)
भडार–योद्धा ३।१५।६ (पा०)
भडारउ–भट्टारक १।१८।७ (सु०); ४।५।१२ (सु०);
६।९।३ (पा०)
भडारा–भट्टारक ६।४।४ (पा०)
भडारी–भट्टारिका (सरस्वती) ४।२२।१२ (सु०);
७।६।९ (पा०)
भडु–भट ६।८।१ (पा०)
भडो–भट १।२।१३ (पा०)
भणिउँ–कहा ६।८।८ (पा०)
भणिय–कथित ४।२०।५ (पा०)
भणेप्पिणु–कहकर २।११।६ (ध०)
भत्तिजुत्त–भक्तियुक्त ५।१।६ (पा०)
भत्तिभरभारेँ–भक्तिपूर्वक ६।१८।५ (पा०)
भत्तीभरेण–भक्ति से भरकर २।७।१ (पा०)
भद्द–भद्र ३।६।६ (सु०)
भप्फ–भाष्प, भस्म ७।४।१४ (पा०); ७।५।१ (पा०)
भम्मखंड–भौम्यखण्ड १।३।५ (पा०)
भमइ–भ्रमण ५।९।२ (पा०)
भमंति–भटकते हैं ३।१।६ (सु०)
भयतट्ठउ–भयत्रस्त होकर ३।१६।४ (ध०)
भयतट्ठे–भयत्रस्त होकर ५।९।२ (पा०)
भयवेविर–भय से काँपते हुए ५।११।१२ (पा०)
भयाउर–भय से आतुर ३।१६।९ (ध०)
भयाउराइ–भयातुर होकर ३।२१।५ (सु०)
भयाउरो–भयातुर २।१३।१० (पा०)
भयंगो–भयानक ३।५।३ (पा०)
भरह–भरत (ऋषभपुत्र) २।१।११ (सु०)
भरहखेत्ति–भरतक्षेत्र १।१।१६ (पा०)
भरहखेत्ति–भरतक्षेत्र ७।५।३ (पा०)
भरहखेत्तु–भरतक्षेत्र ५।२७।५ (पा०);
५।२९।२ (पा०)
भरहणरेंद–भरत नरेन्द्र २।४।७ (सु०)
भरहणरेंदु–भरत नरेन्द्र २।९।१० (सु०)
भरहणरेसरु–भरत नरेश्वर २।९।१२ (सु०)
भरहणाहु–भरतनाथ (भरत) २।८।५ सु०)
भरहवासि–भारतवर्ष १।९।४ (पा०)
भरहि–भरतक्षेत्र २।२।३ (सु०); ३।६।२ (ध०)
भरहु–भरत (ऋषभपुत्र) २।१०।११ (सु०)
भरहेरावइ–भरत एवं ऐरावत् (क्षेत्र) १।९।१ (सु०)
भरहेसर–भरतेश्वर २।३।९ (सु०);
२।८।१ (सु०); २।८।४ (सु०); २।१०।७ (सु०)
भरहंतरि–भरतक्षेत्र में ६।१।२ (पा०)
भरहंतवासि–भरतक्षेत्र में १।५।६ (सु०)
भल्लउ–भला, सुन्दर २।९।५ (ध०);
४।१३।२२ (सु०)
भल्लु–भला ५।२।१२ (पा०)
भव्व–भव्यजन ४।१९।५ (पा०)
भव्वु–भव्यजन ५।५।४ (पा०)
भवकूवि–संसार रूपी कुएँ में ३।५।१३ (सु०)
भवकोडहिँ–भवकोटि में ३।१४।१ (सु०)
भवडरु–संसार का डर ४।२२।१८ (सु०)
भवण्णबोहितारया–भवरूपी समुद्र को तारनेवाले
१।२।४ (पा०)
भवणवासि–भवनवासी (देव) १।१६।९ (सु०);
३।१३।४ (पा०); ५।२०।३ (पा०)
भवणवासिसुर–भवनवासी देव ४।१६।८ (पा०)
भवतम–संसार रूपी अन्धकार ४।२२।१३ (सु०)
भवतमणिण्णासणु–भवान्धकार के नाशक
७।१०।२ (पा०)
भवमणेसरु–संसार रूपी अन्धकार को नाश करने
के लिए सूर्य के समान ४।१२।१४ (पा०)
भवतमभायर–संसार रूपी अन्धकार को दूर करने
के लिए भास्कर ४।१९।९ (पा०)
भवतरु–भवरूपी वृक्ष ५।६।१४ (पा०)
भवदुहणासण–ससारदुःख के नाशक
३।१७।१२ (ध०)

भेउ–भेद ४।२०।७ (सु०); ५।२२।१२ (पा०)
भेय–भेद १।११।३ (ध०)
भेसहु–भैषज १।११।६ (ध०)
भो–हे (सम्बोधन) १।४।४ (पा०)
भोइ–भोग ५।२६।६ (पा०)
भोउ–भोग (विलास) १।१०।१ (सु०) ६।९।७ (पा०);
भोय–भोग ७।९।११ (पा०)
भोगरइ–भोगरति (वणिक्श्रेष्ठ) ३।६।६ (ध०); ३।८।५ (ध०)
भोगवइ–भोगवती (वणिक्पत्नी) ३।६।१२ (ध०); ३।६।७ (ध०); ३।१०।३ (ध०); ३।११।१ (ध०); ३।११।११ (ध०); ३।१६।१ (ध०); ३।२६।१ (ध०)
भोज्ज–भोज्य ४।४।११ (सु०)
भोज्जु–भोज्य २।२।१२ (पा०); ४।२।१० (सु०)
भोयण–भोजन २।५।१५ (सु०)
भोयणवेला–भोजन की बेला ४।५।१७ (सु०)
भोयभूमि–भोगभूमि ३।२५।४ (ध०); ५।२०।१६ (पा०); ५।१३।२१ (पा०)
भोयवइ–भोगवती (वणिक्पत्नी) ३।१०।६ (ध०); ३।२२।३ (ध०)
भोयाणुरत्त–भोगों में अनुरक्त ४।१२।१ (सु०)
भोयासा–भोगों की आशा ३।७।७ (सु०)
भोयासत्तउ–भोगों में आसक्त २।२।१ (सु०)
भंजइ–भग्न करता है ६।१८।९ (पा०)
भंति–भ्रान्ति २।३।५ (सु०)
भिंगार–भौंरा ४।१५।६ (पा०)
भुंजइ–भोगता रहता है ५।८।५ (पा०)
भुंजाविउ–आहार कराया ३।१४।५ (ध०); ३।१४।७ (ध०)
भुंजाविवि–खिलाकर ३।१३।११ (ध०)
भुंजिवि–भोगकर ६।१४।२ (पा०); ६।१४।७ (पा०)
भुंजंति–भोगते हैं ५।१८।९ (पा०)

म

मइ–मति ३।७।४ (सु०)
मइगलु–मदजल (युक्त हाथी) ६।९।१३ (पा०)
मइणपालही–मदनपालही (आश्रयदाता की कुलवधु) ७।९।१२ (पा०)
मइलंत–मलिन करता हुआ ३।१९।२ (सु०)
मइसायरु–मतिसागर (मुनि) ६।२।८ (पा०)
मइंद–मृगेन्द्र ३।३।७ (पा०); ३।३।७ (सु०)
मइंधं–मदान्ध ३।५।७ (पा०)
मइंदासणे–मृगेन्द्रासन १।१५।११ (सु०)
मई–मति, बुद्धि (Lengthened for metre) १।२।१४ (पा०)
मउ–मृदु ३।९।३ (पा०)
मउड–मुकुट २।१४।२ (पा०)
मउडवद्ध–मुकुटबद्ध २।९।३ (सु०)
मउर–मोर १।६।४ (सु०)
मउलाविय–मुकुलायित १।१४।१० (सु०)
मउलिवि–मुकुलित ४।१८।६ (पा०)
मउलेप्पिणु–जोड़कर ४।९।१० (पा०)
मएंदेण–मृगेन्द्र के द्वारा १।१५।५ (सु०)
मक्खइ–मक्खी ६।१२।१० (पा०)
मक्खियगणु–मक्खियाँ ५।८।४ (पा०)
मग्ग–मार्ग ५।१०।४ (पा०)
मग्गामग्गु–मार्ग-कुमार्ग ४।८।६ (पा०)
मग्गंतउ–माँगता हुआ ४।५।८ (सु०)
मगहमहाणरेसु–मगध महानरेश १।८।३ (सु०)
मगहवाणि–मगधवाणी (मागधी प्राकृत) ४।१७।४ (पा०)
मघवा–इन्द्र ५।६।६ (पा०)
मच्चु–मृत्यु १।८।९ (सु०)
मच्छरमयहीण–मात्सर्य मदहीन ७।११।८ (पा०)
मच्छररहिउ–मत्सररहित २।५।१३ (ध०)
मच्छरु–मत्सर ४।१०।७ (ध०)
मज्जपाणु–मद्यपान ५।१०।९ (पा०)
मज्जा–मज्जा ३।१०।७ (सु०)
मज्जाय–मर्यादा ६।३।१० (पा०)
मज्जारु–मार्जार ५।१८।६ (पा०)
मज्जिवि–मार्जित कर ३।१३।१ (ध०)

महातमि–महातम (नरक) ५।१७।६; ५।१८।९(पा०)
महादहु–महाह्रद ५।२८।६; ५।३०।७ (पा०)
महानन्द–महानन्द (प्रतिलिपिकार) ७।११।१४ (पा०)
महापसाउ–महाप्रसाद २।११।७ (ब०)
महायण–महाजन १।३।७ (पा०); १।६।१४ (सु०); ३।६।५ (ब०)
महायणु–महाजन ३।६।५ (ब०)
महावलु–महाबलशालि ४।७।१४ (सु०)
महाहिमवंतु–महाहिमवन्त (पर्वत) ५।३०।४ (पा०)
महि–महीतल १।१६।११ (सु०)
महिउ–पूजित १।१।९ (पा०)
महियलाउ–महीतल से ५।२७।९ (पा०)
महियाणामें–महिया (आश्रयदाता की कुलवधु) ७।८।३ (पा०)
महिविक्खायउ–पृथिवी तल पर विख्यात ७।९।२ (पा०)
महिवीढि–पृथ्वी मण्डल पर १।२।१५ (पा०)
महिसि–भैंस १।६।१२ (ब०)
महिहर–पर्वत १।६।११ (सु०)
महिहरसम–पर्वत के समान ३।७।५ (पा०)
महु–मधु ३।२।७ (ब०); ४।२।४ (पा०); ६।७।८ (पा०)
महुर–मधुर ६।३।१ (पा०)
महुरक्खर–मधुराक्षर (मधुर-वाणी) ३।२।४ (पा०)
महुरालावइ–मधुर आलाप ४।२०।४ (सु०)
महुवाइँ–मधुवायु, वसन्त वायु ५।६।८ (पा०)
महेसर–महेश्वर २।६।७ (सु०)
महोरय–महोरग (सर्प) ५।२१।१ (पा०)
मा–मत (निषेधार्थे) २।४।११; ४।२२।११ (सु०); ७।७।८ (पा०)
मागहणिवासि–मगध निवासी १।५।६ (सु०)
माघ–माघ (मास) १।२; ७।११।१४ (पा०)
माघवी–इन्द्राणी ५।१६।६ (पा०)
माणथंभ–मानस्तम्भ २।७।३ (सु०); ४।१४।१३ (पा०)
माणमहग्घलील–मानपूर्वक श्रेष्ठ लीला करनेवाली १।३।११ (पा०)
माणसत्तो–मानासक्त ३।५।११ (पा०)
माणसीउ–मानसिक ५।१९।६ (पा०)
माणिक्कु–माणिक्य ३।२५।६ (पा०)
माणिय–पूजित ६।१।१२ (पा०)
माथुरगच्छ–माथुरगच्छ (भट्टारक परम्परा का एक संघ विशेष) २।४
माथुरान्वयगण–माथुरान्वय गण (भट्टारक परम्परा का एक संघ विशेष) पृ० १५८ पं० १५
माम–मातुल, मामा ३।१९।३ (ब०); ३।२२।१ (ब०); ३।११।१० (पा०); ३।११।१२ (पा०)
मायउ–समाना (अँटना) १।१७।६ (सु०); ४।५।१ (पा०)
मायगुणसारभूव–मायागुण की सारभूत ४।१८।९ (सु०)
मायथणोवरि–माता के वक्ष स्थलपर १।१०।६ (ब०)
मायरि–माला ३।१५।१ (पा०)
मायामयपउरु–माया एवं मद प्रचुर ३।१९।१० (पा०)
मायावज्जिउ–माया वर्जित ३।१५।४ (सु०)
मायंगु–मातङ्ग २।६।१८; २।७।२ (ब०)
मारणत्थि–मारने के लिए ३।१६।३ (ब०)
मारणु–मारण ५।११।१० (पा०)
मारु–मार ३।७।२ (पा०)
मालइमाल–मालती पुष्प की माला २।२।९ (पा०)
मालालंकियदुवार–माला से अलंकृत द्वार २।७।६ (पा०)
मालवि–मालव (देश) ३।१०।२ (ब०)
माला–माला ४।१५।१६ (ब०)
मालायार–मालाकार (बनपाल) ३।२८।५ (ब०)
मालिणि–मालिन ४।१।१४ (ब०)

मालूर–कैंथा का वृक्ष २।९।७ (सु०)
मासोउवास–मासोपवास ३।१३।६ (ध०); ६।२०।२ (पा०)
मासोवासखीणु–मासोपवास से क्षीण ३।१६।१० (सु०)
माहवसेनदेव–माधवसेन देव (भट्टारक) पृ० १६० पं० ५
माहिंदि–माहेन्द्र (स्वर्ग) ५।२४।१ (पा०)
माहिसाइँ–भैंस आदि ६।१।५ (पा०)
माहेंद–माहेन्द्र (स्वर्ग) २।७।१५ (पा०); ५।२३।३ (पा०); ५।२४।१० (पा०)
मिच्चु–मृत्यु १।१०।१ (सु०)
मिच्छत्त–मिथ्यात्व १।१८।५; ३।१०।१६ (सु०)
मिच्छत्तमहागहभर–मिथ्यात्व रूपी महाग्रह का भार ७।७।१ (पा०)
मिच्छत्तमहागहु–मिथ्यात्व महाग्रह ७।९।३ (पा०)
मिच्छवंसु–म्लेच्छवंश १।४।४ (पा०)
मिच्छा–मिथ्या ४।२०।१० (पा०)
मिच्छाइट्ठि–मिथ्यादृष्टि ३।१२।५ (पा०)
मिच्छाविरत्ति–मिथ्यात्व एवं अविरति ३।२०।१ (पा०)
मित्त–मित्र २।५।१ (सु०)
मित्त–मित्र ३।९।५ (सु०)
मित्ति–मैत्री ५।४।२ (पा०); ४।२०।४ (सु०)
मित्त–मात्र ३।५।१ (पा०)
मिययणसोहिल्लउ–मृगगणों से सुशोभित ६।५।१६ (पा०)
मिलाणवेस–म्लानवेश ३।१२।१२ (ध०)
मिलि–मिलकर २।१।२ (सु०)
मिलिय–मिलकर ३।२६।६ (ध०)
मिसु–उपाय बहाना ३।१९।६ (पा०)
मीण–मछली १।१२।४ (सु०)
मुअंत–मुच् + शतृ ३।१६।२ (पा०)
मुइ–मृत, छोड़कर २।४।७ (सु०)
मुइय–मृता, मरी ४।७।१५ (ध०)
मुइवि–त्यागकर ३।१६।७ (ध०); ३।१८।२ (सु०), ५।७।२ (पा०)
मुउ–मृत ३।२४।९ (पा०)
मुएप्पिणु–मरकर, छोडकर ३।१५।९; ६।१७।१४ (पा०)
मुएवि–छोडकर २।६।५ (ध०); ५।२६।५ (पा०)
मुक्क–मुक्त १।१।४; ३।६।१३ (सु०)
मुक्किय–छोडकर ३।१७।२ (ध०)
मुक्की–छोडी ३।९।१० (ध०)
मुक्कु–मुक्त ४।१।१९ (पा०)
मुक्ख–मूर्ख ३।१२।१२ (पा०)
मुक्खु–मूर्ख २।३।४ (सु०)
मुगलपातिसाहराज्य–पृ०१६० पं० ३-४
मुच्छ–मूर्च्छा ४।१३।८ (सु०)
मुच्छिय–मूर्च्छित ४।९।९; ४।१०।४ (सु०)
मुच्छिवि–मूर्छित होकर ४।६।५ (सु०)
मुट्ठिहिं–मुट्ठियों से ६।७।१० (पा०)
मुण–मुण् (प्रतिज्ञाने) ३।१।३ (ध०)
मुणहि–समझो, जानो २।५।१० (सु०); ५।३४।९ (पा०)
मुणि–मुनि ५।२३।३; ५।३१।८ (पा०)
मुणिउ–जाना ५।२७।१४; ७।६।१ (पा०)
मुणियउ–जाना ३।४।६ (पा०)
मुणिवरु–मुणिवर ४।२०।१ (सु०)
मुणिवि–जानकर ३।१८।९ (पा०); ४।१८।४ (सु०)
मुणिसुव्व–मुनिसुव्रत (तीर्थंकर) २।१।१९ (सु०)
मुणिसुव्वउ–मुनिसुव्रत (तीर्थंकर) १।१।१३ (पा०)
मुणेहु–जानो ५।२।१० (पा०)
मुत्त–मूंतना (पेशाब कर देना) ५।१०।५ (पा०)
मुत्ताहलमाल–मोतियों की माला ३।२७।८ (ध०)
मुत्ति–मुक्ति ३।४।६ (सु०); ३।२५।७ (ध०)
मुत्तिबहुल्लिया–मुक्तिरूपी बहुरिया १।१६।८ (सु०)
मुत्तिबाला–मुक्तिबाला १।१५।७ (सु०)
मुद्दउ–मुद्रित, ३।२।१ (ध०)
मुद्ध–मुग्ध ४।१९।७ (पा०)

मिलिया–मिलित, इकट्ठे हुए ३।१९।११ (ध०)
मुंडाविउ–मुड़वा दिया ६।५।८ (पा०)
मुंडावियउ–मुड़वा दिया ६।७।९ (पा०)
मुंडिवि–मुड़ाकर ५।१३।७ (पा०)
यशःकीत्तिदेव–यशःकीत्तिदेव (भट्टारक) पृ० १६० पं० ८
योगिनीपुर–योगिनीपुर (दिल्ली) पृ० १६० पं० ३
रइ–रति ४।८।२ (सु०)
रइकलहिँ–रति कलह में ४।३।७ (सु०)
रड्डा–रड्डा (रड्डा नामक छन्द) २।३।११ (पा०)
रइधू–रइधू कवि १।२।३ (ध०); ३।२२।१५ (सु०); १।३।३ (सु०); १।११।११ (ध०)
रइधुरधरणु–जिनशासन की धुरी को धारण करने वाला १।५।१७ (पा०)
रइबंधण–रति बन्धन, प्रेम बन्धन ४।३।९ (सु०)
रइय–रचित ७।६।१० (पा०)
रइरस–रतिरस ६।२।५ (पा०); ३।१०।२ (सु०)
रइवइ–रतिपति (आश्रय दाता का वंशज) ४।१।१ (सु०); ७।९।१३ (ध०)
रइसुक्ख–रतिसुख ५।११।२ (पा०)
रइसुह–रतिसुख ३।१८।१५ (सु०)
रईसरु–रतीश्वर १।२।४ (सु०); ६।२२।२ (पा०)
रउ–रव (ध्वनि) ४।५।१ (पा०)
रउण्ण–रमणीक ४।१७।९ (पा०)
रउद्द–रौद्र ३।१४।६ (सु०), ६।१२।१३ (पा०)
रउरव–रौरव नरक ३।१७।१ (पा०)
रक्ख–रक्ष् (धातुः) रक्षा ३।२३।५ (ध०); ५।६।१० (पा०); ५।६।४ (पा०)
रक्खणु–रक्षण ३।११।१० (ध०); ४।१०।७ (ध०); ३।१९।५ (ध०); ३।२२।८ (ध०)
रक्खपरु–रक्षा में तत्पर ४।६।२ (पा०)
रक्खस–राक्षस ४।३।९ (ध०); ५।२१।१ (पा०)
रगंति–रेंगकर ३।११।११ (ध०)
रज्जभरु–राज्यभार ३।१८।१ (सु०)
रज्जभारु–राज्यभार ३।३।५(पा०); ३।१८।१४ (सु०)
रज्जि–राज्य १।४।६ (सु०); ३।१६।१ (सु०); ४।२३।४ (ध०)
रज्जु–रज्जु (प्रमाणविशेषः) ३।१४।८ (पा०); ४।१।४ (सु०); ५।२७।१ (पा०)
रज्जू–राजू (प्रमाणविशेषः) १।८।७ (सु०); ३।२४।२ (पा०); ५।२६।११ (पा०)
रज्जेँ–राज्य में ४।१।९ (सु०)
रडियसंड–साँड़ों की चीत्कार ४।८।२ (पा०)
रण्णि–युद्ध ३।५।७ (पा०); ३।१।१० (सु०)
रणमल्ल–रणमल्ल (आश्रयदाता) १।१८।८ (सु०); ३।२२।१६ (सु०)
रणमल्लअणुमण्णिए–रणमल्ल के द्वारा अनुमोदित २।११।१४ (सु०)
रणमलु–रणमल १।४।१० (सु०)
रणमहि–रणभूमि में ३।२।८ (पा०); ३।७।७ (पा०)
रणरणंति–रणझण ध्वनि (ध्वन्यात्मक) १।१०।७ (पा०)
रणसिरि–रणश्री ३।४।५ (पा०)
रणु–युद्ध ३।२।१६ (पा०)
रणंगणि–रणाङ्गण १।३।११ (सु०)
रत्त–रक्त (रक्तवर्ण) ४।१८।५ (सु०)
रत्तउ–रत ३।२५।६ (पा०)
रत्तकंबल–रक्तकम्बल (शिला) २।१०।८ (पा०)
रत्नकीर्त्ति–पृ० २६० पं० ३
रत्नत्रयं–रत्नत्रय व्रत (ज्ञानदर्शनचारित्राणि) ६।२२।१८ (पा०)
रतनपालही–रतनपालही (आश्रयदाता की कुलवधु) ७।९।१० (पा०)
रम्मउ–रम्यक् क्षेत्र ५।३२।१९ (पा०)
रम्मि–सुन्दर ४।१४।५ (सु०)
रम्मु–रम्य सुन्दर ४।२।३ (सु०); ४।४।८ (सु०)
रमणासत्तइँ–रमण में आसक्त ३।२४।६ (पा०)
रमणुच्छाह–रमण उत्सव ३।२१।१० (सु०)
रय–रजस, रत १।८।५ (ध०)
रयणगणु–रत्न समूह २।८।९ (ध०)
रयणचारि–चार रत्न १।६।५ (पा०)
रयणठाण–रत्नों के स्थान ५।२४।३ (पा०)
रयणणिहाणु–रत्न निधान २।९।६ (ध०)

रहस–(वर्णव्यत्यय) हर्ष पूर्वक
रहिउ–रहित ४।१९।७ (सु०)
रहिय–रहित २।२।४ (घ०)
रहु–रथ ५।११।५ (पा०)
रहंग–रथाङ्ग २।९।८ (सु०)
राइओ–सुशोभित १।२।१२ (पा०); २।१३।९ (पा०)
राइमइ–राजीमति (राजकुमारी) १।१।१४ (पा०)
राइय–राजित, सुशोभित २।९।१२ (सु०)
राइराय–राज राजेश्वर ३।३।१ (पा०)
राइंगणि–राजा के आगन में ४।१६।१ (सु०)
राउ–राजा ४।९।७ (सु०); ५।२२।१ (पा०)
राएण–राजा ने ४।९।१० (सु०)
राओ–राजा ४।१।१० (सु०); ६।४।८ (पा०)
राजग्गिहि–राजगृह (नगर) ३।२८।२ (घ०)
राजु–राजू, (प्रमाणवाची) १।४।८ (घ०)
राणउ–राजा ४।१४।५ (सु०); ३।१८।१७ (सु०); ५।२७।३ (पा०)
राणा–राजा ५।१७।११ (पा०)
राणि–रानी ४।१।६ (सु०); ४।१३।११ (सु०); ४।१३।१७ (सु०); ४।१०।७ (सु०)
राम–राम ४।१२।५ (सु०)
रायग्गिहहँ–राजगृह (नगर) ४।९।१ (घ०)
रायग्गिहि–राजगृही (नगर) ४।१०।१ (घ०)
रायगिहु–राजगृह १।५।७ (सु०)
रायगेहि–राजभवन ३।२०।५ (सु०)
रायचंपमालइ–रायचम्पा और मालती (पुष्प) २।१३।३ (पा०)
रायण्णिहि–राजण्य वर्ग ५।१२।७ (पा०)
रायत्थाणि–राज प्राङ्गण में ४।१६।६ (सु०)
रायपमुह–राज प्रमुख ५।१४।५ (पा०)
रायपुत्तु–राज पुत्र १।४।१ (घ०)
रायरत्त–राग रक्त ३।२०।१३ (सु०); ३।३।६ (पा०)
रायराएस–राज राजेश्वर ६।४।४ (पा०)
रायरुइ–राग एवं रुचियाँ ३।१४।४ (पा०)
रायरोस–राग रोष ६।१०।१ (पा०)
रायसहास–सहस्रों राजा ६।१५।१० (पा०)
रायहंसु–राजहंस १।७।१ (घ०)
रावणु–रावण (लंका का राजा) ३।२३।१४ (घ०)
रावलि–राजकुल ४।१।४ (घ०); ५।१३।७ (पा०)
रविविमाणि–रवि विमान ५।२२।१५ (पा०)
राव–रञ्ज, आनन्द दायक ३।५।२ (पा०)
रासि–राशि १।६।११ (घ०)
रासु–रास ६।१।६ (पा०)
राहु–राधा ४।१३।५ (सु०)
राहवहु–राम की वधू (सीता) १।३।८ (घ०)
राहहु–राहु ग्रह ३।२१।२ (सु०)
रिउ–रिपु ४।१७।५ (पा०)
रिक्क–रिक्त १।८।३ (घ०)
रिक्खि–नक्षत्र ४।२३।३ (सु०)
रिजुविमाणु–ऋजु विमान ५।२३।१ (पा०)
रिट्ठनेमि–अरिष्ट नेमि (तीर्थंकर) १।१।१४ (घ०)
रिद्धि–ऋद्धि ३।१४।६ (घ०)
रिद्धी–ऋद्धि १।६।१३ (घ०); ५।१४।१० (पा०)
रिद्धीसरु–ऋद्धीश्वर २।१।१(पा०) ६।१४।१० (पा०);
रिसहणाहु–ऋषभनाथ (तीर्थंकर) १।१।३ (पा०); २।१०।१ (सु०)
रिसि–ऋषि ४।१२।११ (सु०); ५।३२।१४ (पा०)
रिसिवय–ऋषि व्रत ६।१४।९ (पा०)
रिसिवर–ऋषिवर ४।६।८ (सु०)
रिसिंदु–ऋषिन्दु ऋषीन्द्र ५।३१।५ (पा०)
रिसीस–ऋषीश १।२।१४ (पा०); ५।३४।१० (पा०)
रिसीसरु–ऋषीश्वर ६।१३।२ (पा०)
रुइ–रुचि ४।९।४ (घ०)
रुच्च–रुच् (धातुः) ३।४।१६ (घ०); ३।२३।५(घ०); ४।३।९ (घ०)
रुज्झ–रुध्धातोः (कर्मणि) ३।१५।८ (सु०)
रुट्ठचित्ति–रुष्ट चित्त ४।१३।१ (सु०)
रुट्ठु–रुष्ट ६।५।५ (पा०)
रुणु-रुणंति–रुणझुण (ध्वन्यात्मक) ६।६।५ (पा०); ४।३।७ (सु०)
रुद्दझाण–रौद्रध्यान ६।१२।१७ (पा०)

लइया–गृहीत २।४।३ (सु०)
लउ–लानेहेतु ५।६।७ (पा०)
लउडि–लकुटि ३।१६।१ (ध०)
लएविणु–लेकर ३।२।९ (पा०)
लक्ख–लाख (संख्यावाची) १।१३।७; २।९।८ (सु०); ३।१८।१०; ५।६।८ (पा०)
लक्ख–लखा, कहा २।११।३ (सु०); ३।१।८ (पा०)
लक्खण–सुलक्षण १।६।६;२।७।१२; (पा०); ३।२१।४ (सु०), ४।११।६ (ध०)
लक्खण लक्खंकिउ–सुलक्षणों से अलंकृत १।३।९; १।८।८ (ध०); ३।१६।६ (सु०)
लक्खणु–लक्षण १।११।१ (ध०); ५।३।९ (पा०)
लक्खाहिउ–एक लाख अधिक ५।२२।४ (पा०)
लक्खिउ–लक्षित ६।२०।१३ (पा०)
लक्खिय–लक्षित ७।६।५ (पा०)
लक्खिवि–देखकर ४।२१।५ (सु०)
लक्खु–लाख ५।१६।११ (पा०)
लक्खंकिउ–लक्षांकित १।६।६ (पा); ३।२१।४ (सु०)
लक्खंकिय–लक्षाकित ४।११।६ (ध०)
लग्ग–लगा ३।७।७ (सु०); ३।२।४ (ध०); ३।२०।२ (ध०); ३।३।३ (पा०)
लग्ग–भिड़ना ३।६।१० (पा०)
लग्ग–पकड़ना २।१५।६ (पा०)
लग्ग–उतरना, लगना ३।२।५ (पा०)
लग्गा–लग गये २।४।४ (सु०); ३।८।२ (पा०)
लग्गि–लगा २।६।३ (ध०)
लग्गी–लगी (पकड़ में आयी) ३।७।२ (सु०)
लग्ग-लग्गु–लगे-लगे (निरन्तर कार्य करते रहने पर) ३।३।१० (ध०)
लग्गु–(रहने) लगी ३।११।१० (ध०)
लग्गंति–(कर्म) लग जाते है ६।१८।१५ (पा०)
लच्छि–लक्ष्मी १।४।५; १।१५।६ (सु०); २।१३।९; ३।६।१४; ४।६।५ (ध०)
लच्छिकोसु–लक्ष्मी का निधान ७।८।३ (पा०)
लच्छिगेहु–लक्ष्मी का गृह २।१२।१ (ध०)
लच्छिदत्ता–लक्ष्मीदत्ता (वणिक्पत्नी) १।९।३ (ध०)
लच्छीहरि–लक्ष्मी के घर के समान १।९।४ (पा०)
लज्ज–लज्जा ३।१०।१ (सु०)
लज्जणिम्मुक्कु–लज्जा छोड़कर ५।१०।१ (पा०)
लज्जभरभारिया–लज्जा के भार से भरकर ३।८।२ (पा०)
लज्जयारो–लज्जाकारी ६।४।२ (पा०)
लज्जवाइ–लज्जालु ४।१७।३ (सु०)
लज्जिज्ज–लज्जित ५।१३।९ (सु०)
लट्ठि–यष्टि, लाठी ६।११।१० (पा०)
लडहंगी–सौन्दर्यवती ३।११।२ (पा०)
लद्ध–लभ् (धातु) लब्ध १।५।३ (ध०); ३।४।४; ३।९।१२ (ध०); ३।४।५ (पा); ६।११।६ (पा०); ४।१९।१० (सु०)
लद्धगुणु–लब्धगुण ३।१८।१३ (सु०); ४।९।३ (ध०)
लद्धसंसु–लब्ध-प्रशंसा १।४।१ (पा०)
लद्धि–लब्धि १।५।३; ३।१८।१ (ध०)
लद्धु–प्राप्त २।६।१२ (ध०); ३।९।८ (सु०)
लब्भ–लभ् धातु—प्राप्त ३।२०।७, ३।२३।८; ५।५।३; ५।१३।५;
लया–लता १।३।७ (ध०)
लललल्लियवलिय–लपलपाती, घूमती ४।११।४ (पा०)
ललिय–ललित ३।२।२ (सु०)
ललंति–लपलप + शतृ ५।११।४ (पा०)
लव–लप् ३।६।१ (सु०); ५।१९।९ (पा०)
लवणउविहि–लवणोदधि ५।३१।४ (पा०)
लवणंबुहि–लवणोदधि १।६।६ (ध०); ५।३३।१; ५।३४।१; ५।३४।६ (पा०)
लवणसमुद्दि–लवणसमुद्र ३।१२।११ (सु०)
लहइ–लभ् (हेम० १.१८७) + इ प्राप्त करता है ३।२६।१६; ४।१०।९ (ध०); ४।१०।९; ५।३।१२ (पा०) ५।१८।१३;
लहि–प्राप्त करो ३।१४।८ (सु०)
लहिवि–प्राप्तकर २।३।६ (सु०); ३।११।४ (सु०)

लहु–शीघ्र ३।३।१२ (पा०); ४।१३।२ (पा०); ३।५।४ (ध०); ३।२०।१६ (ध०); ४।८।१३ (ध०); ४।१०।१४ (सु०)
लहुउ–लघु + क (स्वार्थे) छोटा (भाई अथवा पुत्र) ३।१।१; ४।६।७ (ध०); ६।७।६ (पा०)
लहुट्ठिया–लघु उत्थिता—तत्काल उठीं १।१४।१२ (सु०)
लहुबहु–अनुजवधु ६।३।२ (पा०)
लहुभायर–लघुभ्राता ६।३।५ (पा०)
लहुभायरु–लघुभ्राता
लहुबउ–छोटा (कनिष्ठ) ३।१२।७ (ध०); ६।८।२ (पा०)
लहेवि–प्राप्तकर ३।२।६ (सु०)
लहेहु–प्राप्त करो ५।५।७ (पा०)
लाइज्जहु–लाना चाहिए ५।१४।१५ (पा०)
लाएप्पिणु–लाकर ६।१७।१४ (पा०)
लाइवि–लाकर ५।९।१३; ६।७।८ (पा०)
लाड–लाड़ (प्यार) २।२।३ (ध०)
लायण्ण–लावण्य १।१०।२ (पा०)
लालइ–लालन (पालन) ३।११।११ (ध०); ३।१७।५ (सु०)
लालारसु–मुख की लार ३।१०।४ (सु०)
लालिय–लालित-पालित ४।१।१३ (सु०)
लावण्णु–लावण्य, सौन्दर्य ३।१४।६ (पा०)
लाविवि–लाकर २।१।११ (ध०
लाह–लाभ २।१४।२१ (ध०)
लाहु–लाभ २।७।९ (पा०); ३।७।१;
लिज्जउ–लीजिए २।१४।११ (पा०)
लित्ता–लिप्त ३।२।२ (ध०)
लिय–ले ली ४।७।६ (सु०)
लियउ–ले लिया ३।१८।१५; ४।२२।५ (सु०)
लिह–लिख् ६।४।१० (पा०)
लिहुक्क–लुक जाना (छिपना) ५।१२।२ (पा०)
लिहाइवि–लिखवाकर ४।५।४ (ध०)
लिहिवि–लिखकर ४।५।४ (ध०)
लिहेइ–लिखना २।२।१० (पा०)
लिहंति–चूसते रहते हैं ३।९।६ (सु०)
लिंगु–लिङ्ग (निर्णय) १।११।१ (ध०)
लिंगुद्धरणें–लिङ्ग धारण करने से २।४।१० (सु०)
लिंगें–चिह्नों से २।३।८ (ध०)
लिंति–ला + शतृ १।१०।८; २।५।१६ (सु०) ५।२९।८; ६।५।११ (पा०)
लीण–लीन ४।२४।१ (सु०)
लीणु– ४।३।७; ४।१४।३ (ध०); ४।१४।१ (पा०) ४।१६।१८; ४।२१।९ (सु०)
लीणो–लीन ६।४।५ (पा०)
लील–लीला २।१५।७ (पा०); ३।९।२ (पा०)
लीलागयगामणी–लीला गजगामिनी ४।७।९ (पा०)
लीलंत–खेल-खेल में ५।१०।१० (पा०)
लुक्क–लुकना (छिपना) ३।१५।८ (ध०)
लुक्कि–लुक-छिपकर (आँखमिचौनी का खेल) २।६।५ (ध०)
लुणइँ–लुनना, काटना १।९।६ (पा०)
लुणणु–लुनन क्रिया ३।७।१२ (ध०)
लुणिवि–लुनकर ३।७।१३ (ध०)
लुद्धं–लुब्ध ३।५।८ (पा०)
लुंचिय–लुञ्चित ४।२।१ (पा०)
लुंचेवि–लोंचकर ६।५।११ (पा०)
लेइ–लिया २।१०।८ (सु०); ३।१३।९ (ध०); ५।५।४; ५।६।६ (पा०)
लेप्पिणु–लेकर १।१७।१० (सु०); २।९।१० (ध०); ५।१२।१; ६।१०।४ (पा०); १।७।१२ (पा०)
ले-लेहु–ले-लें ३।१४।३ (ध०)
लेवि–लेकर २।१०।१४; ३।२०।७; ३।२७।९ (ध०) ४।२।५ (पा०)
लेविणु–लेकर ३।१५।२ (ध०)
लेस–लेश्या ५।२६।८ (पा०)
लेसा–लेश्या २।८।८ (सु०)
लेसु–लेश ४।९।६; ४।२२।१४ (सु०); ७।६।१ (पा०,
लेहु–लेख २।८।१०; २।११।७ (ध०) २।९।९ (ध०)

लोइ–लोक, संसार २।४।८; २।१२।६ (ध०) ४।४।११; ४।२१।१५ (सु०); ५।५।११ (पा०)
लोउ–लोग, व्यक्ति १।८।१०; २।१०।८ (सु०); ३।६।१०; ४।१४।५ (ध०); ५।१४।१४; ५।२६।२२ (पा०)
लोए–लोक मे ३।१८।१२ (सु०)
लोगोत्तमपुरि–लोकों में श्रेष्ठ नगरी ६।१३।८(पा०)
लोचुच्चरिउ–(केश) लोंच किया ४।११।२२ (पा०)
लोट्टिय–लुटित ५।९।५ (पा०)
लोट्ट–लेटना ५।१०।४ (पा०)
लोय–लोक १।१०।७ (सु०); १।१०।४ (पा०); २।१।२; ४।४।१४ (ध०)
लोयठाणु–लोक स्थान ३।१२।१ (सु०)
लोयणजुवल–लोचन युगल ४।६।७ (पा०)
लोयणफंदहीणु–स्पन्दनहीन नेत्र ४।१७।२ (पा०)
लोयणसहासु–लोचन-सहस्र ४।१७।१० (पा०)
लोयत्तय–लोकत्रय १।१४।४; २।१०।२; २।११।९ (सु०)
लोयत्तयमंडणु–लोकत्रयमण्डन ७।१।५ (पा०)
लोयत्तयसामिउ–तीनों लोकों के स्वामी ६।२२।१ (पा०)
लोयंतिएहिं–लौकान्तिक देवो ने २।३।६ (सु०)
लोयपयास–लोक प्रकाश ३।२६।४ (पा०)
लोयपहाणी–लोक मे प्रधान १।१।१८ (पा०)
लोयपालक्खसुरा–लोकपाल नामक देव २।१०।२ (पा०)
लोयविरुद्ध–लोकविरुद्ध ६।५।१४ (पा०)
लोयसामि–लोक-स्वामी १।१८।११ (सु०)
लोयसारु–लोक में सारभूत ३।३।५ (पा०); ३।१७।११ (सु०); १।१५।३ (सु०)
लोयसुहंकर–लोकों के लिए सुखकर ६।२०।७ (पा०)
लोयालोउ–लोकालोक ३।२२।८ (पा०)
लोयालोय–लोकालोक ५।२२।७ (पा०)
लोयालोयजाणु–लोकालोक के ज्ञाता १।१।१२ पा०
लोयालोयभेउ–लोकालोक भेद ५।३।३ (पा०)
लोयाहाणउ–लोकाख्यान २।७।४ (ध०)
लोह–लोभ ३।९।३ (पा०)
लोह–लोहा ५।६।८ (पा०)
लोहग्गाहि–लोभरूपी ग्राह से ३।७।८ (सु०)
लोहगु–लोहग (आश्रयदाता का वंशज) ७।९।१५ (पा०)
लोहभाउ–लोभ भाव ५।५।१४ (पा०)
लोहासत्तउ–लोभ में आसक्त ३।२४।५ (ध०)
लोहु–लोहा २।१३।११; ३।२४।४ (ध०) ३।२१।४; ५।१९।८ (पा०)
लंकरिउ–अलंकृत ४।५।१० (पा०)
लंकरियलंकरण–अलंकरणों से अलंकृत ४।१५।७ (पा०)
लंकारु–अलंकार १।११।१ (ध०)
लंकिउ–अलंकृत ३।२६।१०; ४।४।६; ६।२१।१ (पा०)
लंकिय–अलंकृत १।१९।१२ ध०; ३।६।११ (सु०); १।७।३ (ध०)
लंकिय सरीरु–अलंकृत शरीर १।५।१४ (पा०)
लंघि–लाँघकर ३।१३।९ (सु०)
लंघिओ–लंघित ४।७।३ (पा०)
लंघिवि–लाँघकर ४।१।८ (पा०)
लंघेवि–लाँघकर १।५।२, १।१७।३ (सु०)
लंघेप्पिणु–लाँघने पर २।१।८ (सु०)
लंतव–लान्तव (स्वर्ग) ५।२३।४; ५।२३।११ (पा०)
लंबबाहु–लम्बबाहु ३।४।९; ४।२१।६ (सु०)
लंबियकरु–लम्बितकर ४।२१।३ (सु०)
लंबियबाहु–लम्बितबाहु २।४।१३ (सु०)
वइकिरउ–विक्रिया (ऋद्धि) ५।१६।१८ (पा०)
वइकिरिय–विक्रिया (ऋद्धि) ३।१२।४ (सु०)
वइजयंति–वैजयन्त (स्वर्ग) मे २।५।३ (पा०)
वइतरणि–वैतरणी (नरक स्थित नदी) ५।१९।१८ (पा०); ६।१८।१० (पा०)
वइरवस–बैर के कारण ६।१४।८ (पा०)
वइराउ–वैराग्य ३।१४।१ (पा०)

वम्मदेवि–वामा देवी २।५।१; ७।५।७ (पा०)
२।५।४ (पा०)
वम्मह्–मन्मथ १।८।८ (पा०)
वम्मा–वामा देवी ५।२१।८ (पा०)
वम्मादेवी–वामा देवी ६।२१।१० (पा०)
वम्मादेविय–वामा देवी का २।२।१७ (ध०)
वम्मादेवी–वामा देवी ७।२।५ (पा०)
वम्मापिय–वामा प्रिया ४।४।६ (पा०)
वयण–वचन, १।४।४ (ध०); ३।११।१ (पा);
६।७।१३ (पा०)
वयणियमायरु–व्रत एवं नियमों का आचरण,
७।११।९ (पा०)
वयणु–वचन ५।१।१७ (पा०)
वयणुल–वचन + उल्ल '(स्वार्थे) ४।५।९ (सु०)
वरकलस–श्रेष्ठकलश–१।१७।८ (सु०)
वरकंकणघडिउ–श्रेष्ठ कंकणोंसे घटित १।६।३ (ध०)
वरगंधविलेवण–उत्तम गन्ध-विलेपन ४।३।१० (सु०)
वरचायलीण–उत्तम त्याग व्रत मे लीन;
४।२३।११ (सु०)
वरजट्ठीकर–उत्तम लाठी हाथमें लेकर २।५।१४(ध०)
वरण्हाणाहार–उत्तम स्नान एवं आहार;
३।२८।१६ (ध०)
वरणाणु–उत्तम ज्ञान ३।२२।८ (पा०)
वरणंतगुणायर–उत्तम अनन्त गुणो के आकर,
५।२६।१७ (पा०)
वरतुरंग–उत्तम तुरंग २।९।८ (सु०)
वरतेयरासि–उत्तम तेजोराशि ३।१३।७ (पा०)
वरदत्त–वरदत्त (नामका राजा) ४।३।३ (पा०)
४।३।९ (पा०)
वरपल्लंक–उत्तम पल्लंग २।२।१६ (पा०)
वरपुंडरीय–उत्तम छत्र ३।७।७ (पा०)
वरफलिह्–उत्तम स्फटिक ४।१५।१५ (पा०)
वरयत्त–वरदत्त (नाम का राजा) ४।१८।१२ (सु०)
वरलक्खणरुवजुउ–श्रेष्ठ लक्षण एवं रूप से युक्त–
३।२।१ (सु०)
वरवण–श्रेष्ठ उद्यान ६।१।५ (पा०)
वरवत्थालंकिउ–श्रेष्ठ वस्त्रों से अलंकृत;
३।११।९ पा०)
वर-वत्थाहरण–श्रेष्ठ वस्त्र-आभूषण ४।५।७ (ध०)
वरवेइ–श्रेष्ठ वेदिका ४।१५।१५ (पा०)
वरसद्द–श्रेष्ठ शब्द २।१३।१६ (ध०)
वरसरवरु–उत्तम सरोवर ३।२२।६ (पा०)
वरसालु–श्रेष्ठ शाला ४।१५।१२ (पा)
वरसियउ–बरसाये ४।११।८ (पा०)
वरसिरिखंडकपूरइँ–उत्तम जाति के श्रीखण्ड कर्पूर
आदि ३।१९।८ (पा)
वरसिररुहगणु–उत्तम केश समूह ४।१।२२ (पा०)
वरसुहठाण–श्रेष्ठ सुखों का स्थान ६।१६।११ (पा०)
वराउ–बेचारा ४।१३।१६ (सु०)
वरिसयालि–वर्षाकाल के समय ४।२१।१ (सु)
वरुणा–वरुणा (कमठ की पत्नी) ६।९;६ (पा०)
वरुणंकि–वरुण की गोद में–२।१५।५ (पा०)
वलिग्गउ–वशीभूत–६।२२।३ (पा०)
वलिवि–लौट-लौटकर ३।१६।४ (ध०)
ववसाउ–व्यवसाय ५।३२।६ (पा०) २।१०।१० (ध०)
ववहार–व्यवहार २।४।९ (ध०)
ववहारपार–व्यवहार में पारङ्गत १।३।८ पा०)
ववहारु–२।८।८ (ध)
वसणचत्तु–व्यसनहीन १।६।६ (पा०)
वसणचाउ–व्यसन त्याग ५।८।८ (पा०)
वसह–वृषभ (बैल) ३।३।११ (ध); ५।२२।१४ (पा०)
६।११।२ (पा०)
वसा–वसा ३।७।८ (पा०) ३।१८।६ (पा०)
वसु–आठ ५।२६।१३ (पा०), ६।२।२ (पा०),
६।१४।१० (पा०)
वसुदूणिय–आठ का दुगुना, सोलह ५।३३।८ (पा०)
वसुपाडिहेरसंजुत्तउ–आठ प्रातिहार्यों से युक्त
४।१८।१ (पा०)
वसुपाडिहेरंकु–आठ प्रातिहार्यों से अंकित
४।१५।२३ (पा०)

वसुमई–वसुमती (उज्जयिनी नरेश की पत्नी) १।८।७ (ध०)
वसुसय–आठ सौ ७।२।१० (पा०)
वसुसहस–आठ सहस्र ५।२२।१६ (पा०)
वसंगय–वशीभूत वशंगत १।११।४ (सु०)
वसुंधर–वसुन्धरा ३।१८।२ (सु); ५।२१।९ (पा०)
वसुंधरि–वसुन्धरी (मरुभूति की पत्नी) ६।३।२ (पा०)
वाउ–विवाद ३।१५।१० (ध); ४।४।११ (पा०)
वाउभूइ–वायुभूति ६।४।८ (पा०)
वाउभूई–वायुभूति ६।४।३ (पा०)
वाएप्पिणु–पढ़कर; बाँचकर २।१।६ (ध)
वाएसर–वागेश्वर ७।२।१० (पा०)
वाएँ–वाणी ४।८।१७।(सु०)
वाणारसपुरि–वाराणसी पुरी २।७।५ (पा०)
वाणारसि–वाराणसी (नगरी) २।१।५ (पा०) ३।१।२ (पा०); ४।४।५ (पा०); ६।२१।९ (पा०); १९।११ (ध)
वाणिज्जवित्ति–वाणिज्य वृत्ति २।४।१ (ध०)
वाणिज्जु–वाणिज्य २।६।७ (ध)
वामासणि–बाएँ आसन पर २।११।६ (पा०)
वायरण–व्याकरण १।११।२ (ध); १।२।३ (सु०)
वायापवीणो–वाक्पटु ६।४।३ (पा०)
वारइ–रोकना, दूर कर देना ६।२२।१४ (पा०)
वारि–द्वार ३।१३।८ (ध); ३।१७।८ (ध)
वारियउ–वारित ४।१।४ (सु०); ४।११।२ (ध०); ६।११।१० (पा०); १।६।९ (पा०)
वावार–व्यापार २।९।३ (ध०); २।३।१ (ध)
वावारकज्जि–व्यापार कार्य २।६।१३ (ध)
वावारठाणु–व्यापार स्थान २।२।२ (ध०)
वावारु–व्यवहार ३।२३।१२ (ध०); ५।९।५ (पा०)
वावारोज्झिय–व्यापारोज्झित २।२।८ (ध०)
वासरि–दिन ४।१७।८ (सु); ६।४।१० (पा०)
वासव–इन्द्र १।१।९ (पा०)
वासियगिरिसलु–पर्वत के नीचे रहने वाले ६।९।१३ (पा०)
वासुपुज्ज–वासुपूज्य (तीर्थंकर) १।१।९ (ध०); २।११।७ (सु)
वाहण–वाहन ५।२२।१६ (पा०)
वाहिणीउ–वाहिनी (नदी) ६।३।३ (पा०)
वाहिय–३।६।७ (पा०)
वि–भी ४।८।१५ (ध०)
विओउ–वियोग ४।५।८ (पा०)
विउणु–दुगुना ५।१७।२; ५।१३।१२ (पा०)
विउय–वियुक्त ३।२१।५ (सु०)
विउरुव्विवि–विक्रिया ऋद्धि धारण कर ४।८।८; ७।४।६ (पा०)
विउव्वण–विक्रिया ऋद्धि धारण कर ४।१६।१ (सु०)
विउसकहा–विद्वानों की कथा १।६।९ (ध०)
विउंदर–छछून्दर १।६।४ (सु०)
विएसि–विदेश ३।२०।६ (ध०); ४।६।११ (ध)
विक्कइ–विक्रय २।४।४; २।७।२ (ध०); ५।५।६ (पा०)
विक्कमु–विक्रम ३।२३।४ (पा०)
विक्कहिं–बिकेगी २।५।८ (ध०)
विक्किरियारिद्धिईस–विक्रियाऋद्धि के धारक ७।२।८ (पा०)
विक्किवि–बेचकर ४।२।४ (ध०)
विक्कंतउ–बेचते हुए २।७।१ (ध०)
विक्खायउ–विख्यात २।११।५ (सु०) ६।१४।१(पा०) ७।९।५ (पा०)
विक्खंभु–चौड़ाई ५।२८।७ (पा०)
विक्खिरंत–बिखरते हुए ३।९।८ (ध०)
विकहारत्तु–विकथा में आसक्त ७।७।८ (पा०)
विक्रमादित्य–(उज्जयिनी नरेश) पृ० १५८ पं० १ पृ० १६० पं० १
विग्घविणास–विघ्नों का विनाशक ७।५।९ (पा०)
विग्घंतयारि–विघ्नों का अन्त कर देनेवाले १।१।१५ (पा०)
विगइमलु–विगत कर्ममल २।११।६ (सु०)
विगयछम्म–विगत छद्म ४।१७।३ (पा०)

विगयदंभु–विगत दम्भ ३।१७।३ (सु०)
विगयमल्लु–विगतमल ३।५(७ (ज०) ४।६।७ (पा०)
विगयराउ–विगतराग ४।५।२ (पा०)
४।१४।१२ (सु०)
विगयसोउ–विगतशोक ७।७।६ (पा०)
विगयसंकु–विगत-शंक ४।१८।८ (सु०)
विच्छुडिउ–बिछुड़ गये ४।६।९ (ध०)
विचित्त–विचित्र २।७।४ (सु०)
विचित्तु–विचित्र ६।११।१४ (पा०)
विज्जइ–विद्याएँ २।१।७ (सु०)
विज्जए–विद्या से १।५।३ (ध०)
विज्जमालि–विद्युन्माली (विद्याधर)
४।१८।११ (सु०)
विज्जलु–बिजली (सु०)
विज्जा–विद्या १।११।८ (ध०)
विज्जबलसहिय–विद्याबल सहित ४।१७।७ (सु०)
विज्जारस–विद्यारस ७।९।१६ (पा०)
विज्जावल–विद्याबल ४।१६।१८ (सु०)
४।१०।२ (सु०)
विज्जाहरपहु–विद्याधर प्रभु २।५।१२ (सु०)
विज्जु–बिजली ४।१७।६ (सु०)
विज्जुल–बिजली ३।६।१ (सु०); ३।१५।४ (ध०)
विज्जुलयए–विद्युल्लता ४।१७।२ (सु०)
विज्जुलया–विद्युल्लता ४।१७।५ (सु०)
विज्जुललवसम–विद्युत्कण के समान
६।१०।८ (पा०)
विज्जेसरु–विद्या के ईश्वर १।१८।४ (सु०)
विजयरहु–विजयरथ (सुकौशल का पूर्वज) २।११।११;
३।७।३ (सु०)
विजयसेण–विजयसेन (भट्टारक) १।२।२ (सु०)
४।१४।७ (सु०)
विट्टलु–विकृत ३।१०।६ (सु०) ३।१९।३ (पा०)
विट्ठरु–सिंहासन ४।४।३ (ध०)
विड–विट ५।११।४ (पा०)

विडोल्लिय–विलुलित (हरना) ४।४।८ (पा०)
विढत्तु–धनार्जन २।८।१२ (ध०)
विढविउ–धनार्जन किया (मुद्राओं का) २।३।१ (ध०)
विढविज्जइ–द्रव्यार्जन किया जाता है २।४।४ (ध०)
विढविवि–द्रव्यार्जन कर २।३।४; २।७।१५ (ध०)
विण्णवइ–निवेदन किया ६।८।४ (पा०)
विण्णाणकुसलु–विज्ञान में कुशल ३।२२।८ (सु०)
१।६।८ (पा०);
विण्णाणु–विज्ञान ३।३।४ (ध०)
विण्णि–दोनों ४।९।९ (पा०)
विणएँ–विनयपूर्वक ३।१०।१२ (पा०)
विणट्ठउ–विनष्ट हो गया ४।४।१४ (सु०)
विणडिउ–व्याकुल रहता है ४।१२।६ (पा०)
विणमि–विनमि (राजकुमार) २।४।१३ (सु०)
विणयाणुरत्तु–विनय में अनुरक्त १।३।६ (ध०)
विणयालाव–विनयालाप ३।१०।९ (ध०)
विणयंकुर–विनयांकुर ३।१३।१२ (ध०)
विणयंधरु–विनयंधर (मुनि) ३।२२।१३ (सु०)
विणासणि–विनाशन ७।१।६ (पा०)
विणासयरु–विनाशकारी ४।१०।९ (पा०)
विणासयाए–नष्ट करने वाले, विनाशक ६।५।१४ (पा०)
विणासिउ–विनष्ट ४।१२।११ (पा०)
विणिग्गउ–विनिर्गत १।१।११ (सु०)
विणिवारिय–विनिवारित ३।१६।१ (सु०)
विणिहियमारेँ–विनिहत-मन्मथ ४।२।१२ (पा०)
विणीय–विनीत १।३।८ (ध०); ४।१७।७ (सु०)
विणोउ–विनोद ६।९।७ (पा०)
विणोय–विनोद १।१०।८ (सु०) ४।३।११ (सु०)
वित्तंतु–वृत्तान्त ३।९।१३; ३।१२।१५ (ध०)
वित्थरु–विस्तार १।१०।१२ (ध०)
वित्थारु–विस्तार ५।२९।५ (पा०)
वित्थिण्णि–विस्तीर्ण ४।९।२ (पा०)
विद्दाण–विदीर्ण ४।१०।१४ (सु०)
विद्धि–वृद्धि १।९।१ (सु०)

विलेवण–विलेपन ३।८।३ (सु०); ४।१०।५ (ध०); ५।५।१३; ६।८।२ (पा०)
विलोयण–विलोचन ४।२२।१ (सु०)
विवक्ख–विपक्ष, शत्रु ४।१।५; ४।१८।७ (पा०)
विवज्जिय–रहित, विवर्जित २।२।५ (ध०) ३।१०।६ (ध०)
विवण्णा–विवर्ण ३।१०।११ (ध०)
विवणम्मण–विवर्ण + मन—उदास चित्त ३।६।१४ (सु०); ३।१९।६ (सु० ; ३।२२।११ (सु०) ६।८।३ (पा)
विवर–विवर ३।१५।३ (पा०) ५।२१।६ (पा०) ६।६।३ (पा०) ३।१९।६ (ध०)
विवाउ–विपाक ३।४।११ (ध०)
विविज्जइ–विवर्जित ५।५।१२ (पा०)
विविहपयार–विविध प्रकार ३।१०।११ (सु०)
विविहभोय–विविधभोग ५।२९।७ (पा०)
विविहभंड–विविध भाण्ड (सामग्रियाँ) १।३।५ (पा०)
विविहरयणदित्तउ–विविध प्रकार के रत्नों से दीप्त ६।१।१४ (पा०)
विविहविलास–विविध भोग-विलास ६।२१।३ (पा०)
विवेउ–विवेक २।७।१२ (ध०)
विस्सभूइ–विश्वभूति (मन्त्री) ६।२।४ (पा०)
विसगरुड–विष के लिए गरुड २।४।२ (पा०)
विसज्जिउ–विसर्जित २।१४ (ध०)
विसट्टिवि–दलनकर, विघटन कर २।८।८ (ध०)
विसण्ण–विषण्ण ६।८।४ (पा०)
विसण्णचित्त–विषण्ण चित्त ४।१३।१८ (सु०)
विसण्णा—विषण्ण २।७।११ (ध०)
विसदप्पहरु–विषदर्प का हरण करने वाला
विसमकालि–विषमकाल ४।२३।१ (सु०) ४।६।२ (पा०)
विसमभयाउरु–विषमभयातुर ५।१२।२ (पा०)
विसमावत्थ–विषमावस्था ३।१६।१३ (ध०)
विसमीसिउ–विषमिश्रित ५।४।६ (पा०)
विसयचुक्कु–विषय-वासना से दूर ७।११।२ (पा०)
विसयमत्त–विषयमुक्त ५।१।६ (पा०)
विसयरत्त–विषयासक्त ४।५।१० (पा०)
विसयसप्पविस–विषयरूपी सर्प विष ४।१९।६ (पा०)
विसयासत्तउ–विषयासक्त ३।५।१३ (सु०)
विसयंधु–विषयान्ध ३।१७।९ (सु०)
विसल्लु–निःशल्य, २।८।५ (ध०)
विसहरु–विषधर ६।१४।७ (पा०)
विसाउ–विषाद ३।२।१४ (पा०)
विसाय–विषाद ३।२८।१ (ध०)
विसायपुण्ण–विषादपूर्ण ३।२०।१२ (सु०)
विसिट्ठ–विशिष्ट ५।१४।२ (पा०)
विसुद्ध–विसुद्ध ६।२०।५ (पा०)
विहडियसयण–विघटित-स्वजन ३।६।१३ (ध०)
विहत्तउ–विभक्त ५।३३।१४ (पा०)
विहत्ति–विभक्ति ७।६।२ (पा०)
विहप्पइ–बृहस्पति (गुरु) ५।२२।१० (पा०)
विहरिउ–विहार करगए ६।१२।९ (पा०)
विहरिवि–विहार करके २।१०।१ (सु); २।१०।१० (सु०)
विहरंतउ–विहार करते हुए २।४।१७ (सु०)
विहल्लिउ–हिल उठा ३।२।११ (पा०)
विहल–विह्वल ३।१०।१४ (ध०)
विहलउ–विफल ३।२३।९ (पा०)
विहलिय–विकलित (दुखी) १।८।२ (ध)
–विहलिय–तणु–विकल शरीरी ४।६।२ (ध०)
विहव–वैभव २।४।६ (ध०)
विहसिवि–हँस-हँसकर १।२।१ (ध०); २।५।११ (ध०)
विहाणु–विधान ३।२५।१०; ३।२६।२ (ध०)
विहावरि–रात्रि में ५।७।१६ (पा०); ३।१९।१० (ध०)
विहि–विधि ६।१९।५ (पा०)
विहियउ–विहित ६।२०।३ (पा०)
विहियसेउ–विहित सेवा ५।१।१ (पा०)

विंतर—व्यन्तर १।१६।९ (सु०); २।६।११ (सु०); २।१४।१६ (ध०); ५।१५।८ (पा०); ५।२०।१८; ५।२२।१; ५।२८।५ (पा०)
विंतरणाह—व्यन्तरपति ५।२६।२ (पा०)
विंतरगेह—व्यंतरोंके गृह ५।२१।८ (पा०)
विंतरतिय—व्यन्तर देवों की पत्नियाँ (देवियाँ ४।१६।३ (पा०)
विंतरेंद—व्यन्तरेन्द्र ३।१३।९ (पा०)
विंधियउ—बिद्ध १।१७।१० (सु०)
विंधेप्पिणु—छेदन संस्कारकर २।१३।१६ (पा०)
विंभउ—विस्मय १।२।१५ (पा०)
विंभय—विस्मय ३।५।७ (ध०)
विंभियमणिणा—आश्चर्य चकित मन से ३।९।११ (पा०); ४।७।१२ (सु०)

श

शाके—शक संवत् पृ० १६० पं० १
शालिवाहन—शालिवाहन (राजा) पृ० १६० पं० १-२
शुभकीर्त्ति—शुभकीर्त्ति (भट्टारक) २।१० (ध०)
शुभमस्तु—पृ० १६० पं० १०

श्र

श्रेयांसनृप—३।२६।१४ (पा०)
सइ—स्वतः २।६।९; (पा०) ३।२२।२ (पा ०);
सइ—सती ३।२६।५ (ध०)
सइच्छइ—स्वेच्छया ३।२५।१८ (ध); ४।६।१०; (पा०) ७।७।१० (पा०)
सइच्छमण—मनकी इच्छानुसार ४।२।१० (सु०)
सइत्तइँ—विकसित, मुदित २।६।११ (पा०)
सइत्तउ—सहित आये हो ३।४।२२ (सु०)
सइतालीसाहियसउ—सैंतालीस अधिक सौ अर्थात् एक सौ सैंतालीस (संख्या वाचक) ५।१५।२ (पा०)
सइयइ—इन्द्राणी ने २।१२।१० (पा०)
सइसिद्धु—स्वतः सिद्ध ५।१४।३ (पा०)
सईं—स्वयं ३।२।१४(ध०); ३।२।५ (सु०); ६।२६।६; ५।४।४० (पा०)
ईसाहु—शचीनाथ (देवेन्द्र) ३।५।२ (पा०)
सईसर—शचीश्वर (इन्द्र) ६।७।१२ (पा०)
सउ—एक सौ २।१।११ (सु०); २।६।११; ५।२४।६; ५।३४।८ (पा०)
सउच्च—शौच धर्म २।४।७ (ध०)
सउच्चु—शौच धर्म ३।१५।८ (सु०)
सउछण्णउव—एक सौ छियान्नवे ५।१५।१ (पा०)
सउजोयण—एक सौ योजन ५।२८।४ (पा०)
सउण्ण—सम्पूर्ण, व्याप्त ४।१७।५ (पा०); ४।१७।९ (पा०)
सउण्णउ—पुण्यवान् ३।१५।१६ (सु)
सउण्णी—सम्पूर्ण, पुत्रवती ७।९।१२ (पा०)
सउण्णु—सम्पूर्ण २।६।१६ (ध)
सउमणस—सौमनस वन २।९।१३ (पा०)
सउमुह—सौ मुख, २।६।८ (पा)
सउसवाइ—सवा—सवा सौ २।६।१० (पा०)
सउसहस्स—सौ सहस्र २।६।८ (पा०)
सक्कमणु—शक्र के समान ३।१।१ (सु०)
सक्कमि—सकना ४।१०।८ (पा०) २।३।७ (ध०)
सक्करपहो—शर्कराप्रभा (नरक) ५।१७।११ (पा०)
सक्कराउ—शक्रराज २।१३।२ (पा०)
सक्कवम्म—शक्रवर्मा (राजा) ३।२।१५ (पा०)
सक्कवम्मु—शक्रवर्मा (राजा) ३।१।९ (पा०); ३।१।१५ (पा०)
सक्कहुविमाणु—शक्रविमान २।३।९ (पा०)
सक्कसेव—शक्र द्वारा सेवित १।७।१२ (सु)
सक्काएसें—शक्र के आदेश से २।७।१२ (सु०)
सक्कु—शक्र १।१६।१२ (सु०); २।८।४; २।१४।६; ७।४।१४ (पा०)
सक्खरु—साक्षर ६।२।९ (पा०)
सकइ—शक्, सकना ३।१२।६ (ध)
स-करें—अपने हाथ में २।११।६; २।१२।३ (ध०)
स-कह—अपनी कहानी ४।६।११ (ध०)
सकडक्ख—अपने कटाक्ष ४।३।२ (सु०)
सकलसिद्ध—सकल सिद्ध १।१।१० (सु०)
सकम्म—स्वकर्म ४।२३।३ (सु०)

सणि–शनि (ग्रह-नक्षत्र) २।८।८ (पा०)
सणिउँ–शनैः ६।१२।१२ (पा०)
सणेहें–स्नेहपूर्वक ४।८।७ (ध०)
सणंकुमारु–सनत्कुमार २।७।१५; ५।२३।३ (पा०)
सत्त–सात १।६।८ (सु०); ३।२६।५ (ध०) ५।२।१; ५।१७।४; ३।२६।११ (पा०)
सत्तकोडिबाहत्तरिक्खें–सात करोड बहत्तर लाख ५।२०।४ (पा०)
सत्तधाउघरु–सप्त धातुओं का घर ३।१९।२ (पा०)
सत्ततु–सप्ततत्व ३।४।३ (सु०)
सत्तपयार–सात प्रकार ५।१५।८ (पा०)
सत्तपाइ–सात पैर २।६।४ (पा०)
सत्तम–सातवीं, सातवां ५।२५।१२ (पा०); ५।१७।३ (पा०); ३।१५।११ (सु०)
सत्तमणरय–सातवां नरक ५।१८।१० (पा०)
सत्तमंसि–सप्तम अंश में ४।१२।११ (पा०)
सत्तरज्जु–सात राजू (प्रमाणवाची) ५।१४।१४ (पा०); ५।१४।१६ (पा०)
सत्तवसण–सप्तव्यसन ३।२४।६; ५।८।१० (पा०)
सत्तसइणउव–सात सौ नब्बे २।८।१ (पा०)
सत्तार–शतार (स्वर्ग) ५।२३।१२ (पा०)
सत्तारह–सत्रह ५।१७।५ (पा०)
सत्तावीस–सत्ताईस ६।१७।१ (पा०)
सत्ति–शक्ति ३।२।९ (पा०); ३।८।५ (पा०) ४।३।१२ (सु०)
सत्तिए–शक्ति से ३।१०।८ (सु०)
सत्तु–शत्रु ३।३।१ (ध०); ३।१४।१३ (सु०); ७।५।६ (पा०); ३।५।८ (पा०)
सत्तेय–अपना तेज २।१०।५ (ध०)
सत्तंगरज्जभर–सप्तांग राज्य का भार १।४।७ (पा०)
सत्तंगु–सप्ताङ्ग ३।१७।५ (सु०)
सत्थ–शस्त्र १।२।२ (सु०); १।४।६ (ध०) १।११।६ (ध०)
सत्थ–शस्त्र ३।६।४ (पा०)
सत्थकुसलु–शास्त्र में कुशल १।७।१२ (पा०)
सत्थत्थ–शास्त्रार्थ ४।२।७ (सु०), १।३।१८ (पा०)
सत्थत्थसवणि–शास्त्र एवं उनका अर्थ-श्रवण १।९।१० (ध०)
सत्थपवीण–शास्त्रप्रवीण ७।११।८ (पा०)
सत्थु–शास्त्र १।३।१५; १।४।१ (सु०) १।८।९; ७।६।२; ७।१०।४ (पा०)
सतास–सन्त्रास ४।४।१३ (सु०)
सर्तियराउ–अपनी पत्नी के प्रति अनुराग ५।५।१२ (पा०)
सतोरण–तोरण सहित १।३।२ (पा०)
सद्द–शब्द १।१०।१ (ध०) २।६।३; ५।२५।१८ (पा०)
सद्ध–सार्ध ३।२१।३ (सु०)
सद्दत्थ–शब्द-अर्थ १।२।२ (ध०)
सद्दह–श्रद्धान १।११।५ (सु०)
सद्दरिद्ध–शब्द-ऋद्धि १।१।३ (सु०)
सद्दह–श्रद्धान ३।२१।७ (ध०)
सद्धधामु–श्रद्धा का धाम १।५।२ (ध०)
सद्धा–श्रद्धा ३।१४।१ (ध०)
सद्दासद्दु–शब्दाशब्द ७।९।२ (पा०)
सदंड–दण्ड सहित ४।१५।१८ (पा०)
सदंसण–सम्यग्दर्शन ४।२२।६ (सु०); ६।२०।५(पा०)
सदंसणरयणु–सम्यग्दर्शन रूपी रत्न ७।७।४ (पा०)
सदप्पु–सदर्प ३।१२।११ (पा०)
सदोसु–सदोष ६।२।३ (पा०)
सधव–स्व प्रियतम ७।९।१४ (पा०)
सन्ध्यारागोपमा–सन्ध्या के रंग के समान ३।६।५ (सु०)
सप्पु–सर्प ३।१२।११; ६।१२।१७ (पा०)
सपक्खु–स्व-आत्मपक्ष ३।६।१ (ध०); ४।२२।१३ (सु०)
सपत्तु–सत्पात्र ३।११।१० (सु०)
सपरिग्गहु–परिग्रह सहित ३।१४।८ (ध०)
सपरियण–परिजनों सहित ५।२८।१० (पा०); २।९।११ (ध०); ३।२२।८ (सु०)
सपासु–अपने पास का ३।३।७ (ध०)

समल-भाउ—समल भाव (कलुषित भाव) ३।२।४ (ध०)
समलु—कलुषित भाव ६।८।१० (पा०)
समवय—सम + वयस् + क (स्वार्थे) समवयस्क २।१५।७ (पा०)
समवसरणरहिउ—समवशरणरहित २।१०।२ (सु०)
समवसरणलच्छी—समवशरणरूपी लक्ष्मी ४।१९।६ (पा०)
समसरणु—समवशरण १।६।१६ (सु०); २।७।१ (सु०); ५।१।१ (पा०)
समसरणंतवासि—समवशरण में निवास २।४।५ (पा०)
समाइय—समागत ३।१८।२ (ध०)
समागउ—समागत ४।४।४ (सु०)
समागय—समागत १।६।१० (सु०)
समाण—समान ४।१४।११ (सु०); ६।१।४ (पा०); २।११।४ (ध०); ३।११।५ (ध०); ३।२३।३ (ध०)
समाय—समागत ३।२०।१२ (सु०); ४।४।२ (सु०)
समारिवि—सँवार कर २।३।१३ (पा०)
समावडिय—समापतित २।८।६ (ध०)
समास—समास १।११।२ (ध०)
समासियउ—संक्षेप में समझाया १।१०।१२ (ध०)
समाहि—समाधि ४।१४।२ (पा०)
समाहिगुत्तु—समाधिगुप्त (मुनि) ४।१२।९ (सु०) ६।१४।३ (पा०)
समाहिबोहि—समाधिबोधि ७।७।१ (पा०)
समिउ—शमित ५।३।४ (पा०)
समित्तहिँ—मित्रों सहित १।११।१० (ध०)
समिद्ध—समृद्ध १।१।४ (सु०)
समिद्धु—समृद्ध २।७।५ (सु०)
समीरणि—वातवलय ५।१४।४ (पा०)
समीवि—समीप ३।३।३ (सु०)
समुग्गउ—सद्यः उदित—समुद्गत २।७।८ (पा०)
समुग्घायं—समुद्घात ५।१४।१२ (पा०)
समुच्चरिउ—समुच्चरित ४।३।७ (पा०)
समुट्ठिय—समुत्थित १।१६।१० (सु०)
समुद्द—समुद्र १।१।६; ५।३१।११ (पा०)
समुद्धरण—समुद्धार के लिए ४।११।९ (सु०)
समुद्दि—समुद्र ५।२९।१ (पा०)
समुब्भव—समुद्भव ५।१९।१६ (पा०)
समेय—समेत, युक्त १।३।१ (पा०)
समं—साथ १।११।१५ (ध०)
सय—सौ (संख्यावाची) ४।४।१२; ४।२०।४ (पा०) ५।१५।३ (पा०); ५।३४।१० (ध०)
सयचार—चारसौ ७।२।७ (पा०)
सयजोयण—सौ योजन ५।३०।३ (पा०)
सयड—शकट २।५।७; २।६।१४ (ध०)
सयडामुहि—शकटामुख (वन) २।६।६ (सु०)
सयडु-जाणु—शकट-यान २।५।६; १।५।९ (ध०)
सयण—स्वजन २।८।११ (ध०); ३।११।२ (पा०), ४।५।२ (सु०), ५।१३।१५ (पा०)
सयणगेहि—स्वजनगृह ४।२।२ (सु०)
सयणमणु—स्वजन-मन ३।२।२ (पा०)
सयणहरि—शयनगृह ३।२१।१० (सु०)
सयत्तइँ—स्वायत्त २।९।३ (ध०)
सयरायर—चराचर सहित २।६।१० (सु०)
सयर—स्व-हस्त ४।१९।४ (सु०); २।८।७ (ध०)
सयल—समस्त २।१।४; ३।९।३ (सु०); ४।२।१२; ६।११।५ (ध०)
सयल—सभी ४।२।९ (ध०); ४।११।१०; (पा०)
सयलजिणेसर—सकल जिनेश्वर १।१।१७ (पा)
सयललोउ—सकल लोक ३।१४।७ (ध०)
सयलविहि—सकलविधि १।१०।१२ (ध०)
सयलसिद्ध—सकलसिद्ध १।७।९ (सु०); २।७।५ (सु०)
सयलसुक्ख—सकल सुख ३।२१।५ (ध०)
सयलसुहि—समस्त सुख ४।९।९ (ध०)
सयला—समस्त ५।३०।१६ (पा०)
सयलु—समस्त ३।८।७ (सु०), ३।१६।८, ३।२१।६ (ध०), ३।२५।७ (पा०),

सरेवि—स्मरणकर १।१।१० (सु०); ३।२०।१६ (ध०) ४।१९।२ (पा०)
सल्लइवणि—सल्लकी वन में ६।९।४ (पा०)
सल्लिउ—शल्यित ३।३।१६; ३।१२।१६; ४।८।१ (ध०)
सल्लिय—शल्यित ३।१०।१ (ध०)
सलज्ज—लज्जापूर्वक ४।८।१५ (सु०)
सलहणु—श्लाघन—सराहना ३।३।८ (पा०)
सलहिज्जइ—श्लाघ् (कर्मणि) २।४।९ (ध०)
सलहिज्जमाणु—श्लाघ्यमान २।१।१० (ध०)
सलाह—लाभ सहित २।७।६ (ध०)
सलाहु—लाभ सहित २।१०।१२ (ध०)
सलिल—सलिल ३।१५।७ (सु०)
सल्लु—शल्य १।५।१० (सु०); १।८।२ (ध०); ३।२०।७ (सु०)
सलु—शैय्या (चिता) ७।४।९ (पा०)
सलेहि—लेख सहित २।११।३ (ध०)
सलेहु—लेख सहित २।१०।२ (ध०)
सव्व—सर्व २।३।३ (सु०); ४।३।२ (ध०); ५।२६।१८ (पा०)
सव्वइट्ठु—सर्व इष्ट २।१२।१ (पा०)
सव्वकाल—सर्वकाल ४।४।१०; ६।१।९ (ध०)
सव्वागासु—सर्वाकाश ५।१४।१ (पा०)
सव्वट्ठविमाण—सर्वार्थसिद्धि विमान १।६।२ (सु०)
सव्वट्ठसिद्धि—सर्वार्थसिद्धि (स्वर्ग) ३।१३।८ (सु०); ५।२३।१४; ५।२५।४; ५।२५।७ (ध०); ४।२०।४ (सु०)
सव्वत्थ—सर्वत्र ३।१९।१२ (ध०); ४।१७।४; ५।१४।१०; (पा०) ५।३३।११ (ध०)
सव्वत्थसिद्धि—सर्वार्थसिद्धि (स्वर्ग) ५।२३।८ (पा०)
सव्वय—सभी १।६।११ (ध०)
सव्वविज्जापवीणु—सर्वविद्याप्रवीण ४।१७।२ (पा०)
सव्वह—सभी का ३।२१।५ (सु०)
सव्वहिउ—सर्वहितकारी ६।१५।१० (पा०)
सव्वहिय—सर्वहित १।३।७ (ध०)
सव्वहियंकरु—सर्वहितंकर ३।१५।५ (सु०)
सव्वु—सर्व ३।३।४; ३।८।४ (ध०); ४।१६।९ (सु०)
सव्वोत्तमु—सर्वोत्तम ३।२७।६ (ध०)
सव्वंत—सभी के अन्त में ३।८।३ (ध०)
सवण—श्रवण १।८।१६ (पा०) २।४।१० (ध०)
सवणजुम्मु—श्रवणयुगल १।१७।२० (सु०)
सवणजुवलु—श्रवणयुगल १।१३।१० (सु०)
सवणसुहासिउ—श्रवण सुखाश्रित २।४।१३ (पा०); ४।८।१८ (सु०)
सवरु—शबर (भील) ६।१६।४ (पा०)
सवलु—सकल ३।२।११ (पा०)
सवाछह—सवाछह (योजन) ५।२८।१२ (पा०)
सविउव्वण—विक्रिया ऋद्धि करके २।१२।२ (पा०)
सविणए—विनयपूर्वक ४।८।१७ (सु०)
सविणयभावें—विनतभाव पूर्वक ४।२०।१० (पा०)
सविपाकाविपाक—सविपाक और अविपाक—निर्जरा ३।२२।१ (पा०)
सविमाण—अपना विमान ५।२५।१४ (ध०)
सविमाणु—विमानयुक्त ३।२६।८ (पा०)
सवियार—विकारपूर्वक ४।८।१५ (सु०)
सवियारु—विकारपूर्वक ६।१।७ (पा०)
सविलास—विलासपूर्ण ४।३।१ (सु०)
ससउरि—बहन का पुत्र ३।२८।१४ (ध०)
ससमुद्द—समुद्र पर्यन्त ३।१८।२ (सु०)
ससहरु—चन्द्रमा २।५।१३ (पा०); ७।९।१५ (ध०)
ससहाव—आत्म-स्वभाव ७।६।६ (पा०)
ससि—चन्द्रमा ४।२।२; ४।४।१७ (सु०) ५।२६।१२ (पा०)
ससिकरपह—चन्द्र किरण प्रभा ७।९।११ (पा०)
ससिकरपहसरिसु—चन्द्र किरणों की प्रभा के समान ३।२।२ (सु०)
ससिकंत—चन्द्रकान्त (मणि) ४।१५।१९ (पा०)
ससिचक्कु—शशिचक्र २।८।४ (पा०)
ससिणह—चन्द्रनख (शस्त्र) ३।७।७ (पा०)
ससिणिहु—चन्द्रमा के समान २।३।२ (पा०)

ससिपहु–चन्द्रप्रभा २।११।६ (सु०)

ससिपहुणिम्मलु–चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल ७।७।१० (पा०)

ससिमंडल–चन्द्रमण्डल १।१०।१ (पा०)

ससिलेहा–शशिलेखा (के समान) ४।८।६ (सु०)

ससील–शीलयुक्त ४।१०।७ (पा०)

स-सुउ–अपना पुत्र ३।१४।५ (ध०)

ससुक्ख–सुख सहित ३।१६।६ (सु०)

स-सुत्त–तागा सहित ४।१।१ (ध०)

ससुहा–सुखपूर्वक २।१।२१ (पा०)

सहइ–सहता है १।८।७ (पा०); ३।६।१ (सु०) ३।१२।२ (ध०)

सहएवि–सहदेवी (रानी) ४।१८।९ (सु०)

सहएवी–सहदेवी (रानी) ४।२०।१३ (सु०)

सहजुप्पणादहतिसयजुत्तु–सहजोत्पन्न दश अतिशयों से युक्त २।१५।२ (पा०)

सहत्थें–अपने हाथो से २।१३।४ (ध०)

सहदेवी–सहदेवी (रानी) ३।१६।७; ३।१८।१८; ३।२२।३ (सु०); ४।१।१ (सु०)

सहमंडवि–सभा मण्डप में ३।१।१ (पा०)

सहयाणु–सहयान (रथ आदि) ४।२।३ (सु०)

सहरिसु–हर्षपूर्वक ३।१९।७ (सु०)

सहल–फल सहित ६।१।५ (पा०)

सहल–सफल २।७।१८ (पा०); ४।६।१० (ध०)

सहस्रकीर्तिदेव–सहस्रकीर्तिदेव (भट्टारक) पृ० १६० पं० ८

सहस्स–सहस्र ५।२०।१३ (पा०)

सहस्सार–सहस्रार (स्वर्ग) ५।२३।१२ (पा०)

सहस–सहस्र १।१०।३ (सु०); २।४।१; ५।३०।५; ५।३०।८ (ध०) १।१७।३ (सु०); ५।२२।१४; ५।३०।१५ (पा०)

सहसकित्ति–सहस्रकीर्त्ति (भट्टारक) १।१।८ (ध०); १।२।८ (पा०)

सहसचक्खु–सहस्र चक्षु (इन्द्र) २।७।१७ (पा०)

सहसराजु–सहसराज (आश्रयदाता का वंशज) ७।९।९ (पा०)

सहसलक्खण–(सहस्र लक्षण) २।१२।८ (पा०)

सहसवरिस–सहस्र वर्ष १।१२।६ (सु०) १।१०।५ (सु०)

सहसार–सहस्रार (स्वर्ग) ६।१३।५ (ध०)

सहसारदेउ–सहस्रार देव ६।१४।१ (पा०)

सहसार–सभा के सार ४।२२।१७ (सु०)

सहसारु–सहस्रार (स्वर्ग) ५।२३।५ (पा०)

सहसेक्क–एक हजार १।६।७ (पा०)

सहसेक्कु–एक हजार ७।२।९ (पा०)

सहहिँ–सभा में २।२।५ (सु०); ३।७।३ (सु०)

सहाउ–स्वभाव ३।३।४ (ध०); ३।१४।१० सु० ५।२२।६ (ध०)

सहाव–स्वभाव ५।३०।१२ (पा०)

सहास–सहस्र २।८।१३ (पा०); ५।३२।४ (पा०) २।९।७ (सु०) ३।१२।१० (सु०)

सहाहिँ–सभा में ३।२।७ (सु०)

सहि–सखि ३।१९।९; ३।१९।११ (सु०)

सहियण–सखीजन ४।८।८ (सु०) ३।२१।७ (सु०)

सहियरि–सहचरि ४।२।१३ (ध०)

सहु–साथ २।४।१; २।६।१४ (ध०) ३।७।६, ३।११।१२ (पा०)

सहुच्छरी–सुन्दर छर्रे (पैर के कड़े) ४।४।८ (ध०)

सहुदेवि–सहदेवी (रानी) ४।१९।१ (सु०)

सहेज्जउ–सहायक ३।१५।९ (पा०)

सहेज्जु–सहायक ३।१७।७ (पा०)

सहेप्पिणु–सहकर ५।१८।१० (पा०); ६।१३।३ (ध०)

सहेवि–सहकर ६।२०।११ (पा०)

सहोयर–सहोदर ३।१।१ (ध०)

सहोयरु–सहोदर ३।१०।१०; ४।२।८ (ध०)

सहंगणु–सभाङ्गणु ४।१४।१२; ४।१४।८ (पा०)

सहंतउ–शोभायमान हुआ २।१०।१२ (सु०)
सहिंसु–हिंसा सहित १।११।२ (सु०)
सहुँ–साथ २।१५।७ (पा०); ४।८।१ (सु०)
साठि–साठ ५।२७।१० (पा०)
साणु–श्वान ५।१०।५ (पा०)
साणुराउ–अनुराग पूर्वक २।१३।८ (पा०)
सात्थ–साथ ३।१।७ (ध०)
साधम्मिउ–सहधर्मी ३।२४।१० (ध०)
सावज्जकम्म–सावद्य-कर्म ५।७।२ (पा०)
साम–श्यामा १।५।११ (सु०); ३।१०।७ (पा०)
सामण्णु–सामान्य २।१२।१ (ध०)
सामायउ–सामायिक व्रत ३।२५।१ (ध०), ५।७।४ (पा०), ५।७।६ (पा०)
सामि–स्वामिन् २।५।४ (सु०), ३।८।१० (ध०), ३।१३।११ (ध०)
सामिउ–स्वामी (ऋषभ) २।६।१ (सु०)
सामिउ–स्वामी २।६।१ (सु०), २।११।९ (सु०) ६।२२।५ (पा०)
सामिणि–स्वामिनी ३।१९।६ (सु०), ४।२।८ (ध०)
सामिय–स्वामी १।३।१० (सु०), ३।१३।१० (ध०) ३।२५।१० (ध०)
सामिस्स–स्वामी का ३।८।४ (पा०)
सामंति–सामन्त ३।१७।४ (सु०)
साय–त्राण १।७।६ (सु०)
सायर–सागर ३।७।६ (पा०), ५।१७।५ (पा०), ६।१७।१ (पा०), ५।२४।९ (पा०)
सायरकूडू–सागरकूट २।१२।१ (पा०)
सायरगुत्ति–सागरगुप्ति (मुनि) ६।१०।१ (पा०)
सायरपुत्ति–लक्ष्मी १।७।३ (ध०)
सायरवीसाउसु–बीस सागर की आयु ६।२१।३ (पा०)
सायरि–समुद्र ५।२८।१२ (पा०), ५।३०।२ (पा०)
सायरु–समुद्र १।१०।२ (पा०), ५।१०।१ (ध०), १।३।११ (सु०)
सायरेक्कु–एक सागर ५।२०।९ (पा०)
सायवायवयण–स्याद्वाद-वाणी १।१।४ (ध०)
सायारधम्मु–सागारधर्म ३।२२।११ (ध०), ३।२५।७ (ध०), ५।२।७ (पा०)
सार–सारभूत ५।२३।७ (पा०)
सारउ–सारभूत २।९।१२ (ध०), ३।२०।१६ (ध०); ३।२२।९ (पा०)
सारभूव–सारभूत ४।१४।६ (सु०)
सारा–सारभूत २।१।११ (सु०)
सारी–सारभूत १।१४।७ (सु०), ३।१।२ (सु०)
सारिच्छु–सदृश ४।१५।२ (पा०)
साल–शाला-स्थली ४।१।८ (ध०)
सालउ–साला (धनदत्त का साला) ४।११।१० (ध०)
सालत्तयवेढिय–तीन कोटों से वेष्टित १।७।६ (ध०)
सालिखेत्त–धान के खेत १।६।१० (ध०)
सालिभद्दु–शालिभद्र (धन्यकुमार का साला) ४।७।३ (ध०), ४।११।९ (ध०)
सालियत्रीयपुंजराइ–शालि बीजों की पुञ्जराजि (ढेरियाँ) २।१३।५ (ध०)
सावय–श्रावक १।८।१० (ध०) ३।२६।१ (ध०) ४।२३।५ (सु०), ७।२।११ (पा०)
सावयकुलि–श्रावककुल ७।७।६ (पा०)
सावज्ज–सावद्य ५।७।१० (पा०), ४।१।२ (सु०)
सावयचरिउ–श्रावक चरित (आचरण) १।५।१२ (पा०)
सावण–श्रावण (मास) ७।३।७ (पा०) १।८।३ (पा०) ४।९।२ (सु०)
सावयधम्मु–श्रावकधर्म्म ५।२।५ (पा०)
सावययण–श्रावकजन ४।२२।१५ (सु०) ७।११।३ (पा०)
सावयवउ–श्रावकव्रत ५।२६।३ (पा०) ६।१२।१० (पा०)
सावयवय–श्रावकव्रत ५।८।५ (पा०); ४।८।५ (सु०); ६।१२।६ (पा०); ५।१३।१० (पा०)

सीमंकरु–सीमंकर (कुलंकर) १।१३।२ (सु०)
सीमंधरु–सीमंधर (कुलकर) १।१३।२ (सु०)
सीय–सीता १।३।८ (ध०); २।१।३ (सु०); ५।३१।१०(ध०)
सीयल–शीतल १।६।५ (सु०); ३।२८।३ (ध०)
सीयलु–शीतलनाथ (तीर्थङ्कर) १।१।८ (ध०); २।११।७ (सु०); ३।१३।५ (ध०)
सील–शील १।८।७ (ध०); २।८।८ (सु); ६।३।८ (ध०); १।३।३ (सु०); १।७।१४ (पा०)
सीलगुण–शीलगुण १।३।७ (ध०)
सीलगेहु–शील की आगार १।६।१ (पा०)
सीलधणा–शील रूपी धन ६।८।८ (पा०)
सीलधरा–शीलवती २।३।१२ (पा०) ३।६।१५ (सु०)
शीलमहाधणु–शीलरूपी महाधन ४।१८।११ (सु०)
सीलरयणु–शीलरूपीरत्न ५।११।९ (पा०)
सीलरहिय–शीलरहित २।२।८ (ध०)
सील-वय-विहिपवीणु–शीलव्रत की विधियों में प्रवीण १।१।८ (पा०)
सीलवंत–शीलवन्त ३।११।७ (ध०)
सीस–सिर १।१०।१२ (पा०); ४।८।१४ (सु०)
सीसवागपुरि–शीशबागपुर (नगर) ३।१०।३ (ध०)
सीसि–शिखर २।७।८ (ध०); ४।४।१४ (सु०) ५।१४।६ (पा०)
सीसिकिरीड–शीर्ष किरीट ७।४।११ (ध०)
सीसिपएसि–मस्तक प्रदेश २।२।९ (पा०)
सीसु–सिर ३।२०।२ (सु०); ६।५।८ (पा०)
सीह–सिंह १।१।२ (सु०); १।१६।१० (सु०); ५।२२।१४ (ध०)
सीहवारि–सिंहद्वार १।५।१७ (सु०)
सीहु–सिंह ३।१६।९ (सु०); ५।३।२ (पा०); ६।१०।१२ (ध०)
सुअत्ति–आर्त्तभाव से ६।९।५ (पा०)
सुअंधु–सुगन्ध ४।१७।८ (पा०)
सुइ–शुचि ३।१०।१३ (सु०)
सुइट्ठु–इष्ट ३।३।६ (ध०)
सुइणउ–स्वप्नावलि २।५।१८ (सु०)
सुइणावलि–स्वप्नावलि १।१४।१० (सु०)
सुइणावलिया–स्वप्नावलि २।३।१ (पा०)
सुइंधणु–ईन्धन २।१०।११ (ध०)
सुउ–सुत ३।२०।१४ (ध०); ४।६।४ (ध०); ४।१४।९ (ध०)
सुएयचित्त–पूर्ण एकाग्रचित्त १।८।१५ (पा०)
सुक्क–शुक्ल (ध्यान) २।६।९ (सु०); ३।१०।२ (सु०)
सुक्क–शुक्र (स्वर्ग) ५।२४।३ (पा०); २।८।७ (पा०); ५।२३।४ (पा०)
सुक्क–शुष्क ३।२२।६ (पा०)
सुक्क–शुक्र (ग्रह) ५।२२।५ (पा०)
सुक्क–शुक्र (विमान) ५।२२।१० (पा०)
सुक्कझाणु–शुक्ल ध्यान ४।२१।१६ (सु०)
सुक्काइ धाउ–शुक्रादि धातुएँ ७।१।६ (पा०)
सुक्काल–सुकाल २।११।१ (सु०)
सुक्केसि–सुकेशी (रानी) ४।९।८ (सु०); ४।९।७ ४।११।९ (सु०)
सुक्कोसल–सुकौशल (चरितनायक) १।८।१; ४।६।३; ४।२२।३; ४।२१।१६ (सु०)
सुक्कोसलचरिउ–सुकौशलचरित ४।२४।८ (सु०)
सुक्कोसलमुणिवरचरिए–सुकौशल मुनिराज का चरित ४।२४।११ (सु०)
सुक्ख–सुक्ख ३।१३।११ (सु०); ३।२६।७ (पा०); ३।२६।८ (ध०)
सुक्खअणिंद–अनिन्द्य सुख ५।२४।१० (पा०)
सुक्खइसायरु–सुखों का सागर १।१६।१३ (सु०)
सुक्खघरु–सुख का घर ३।१९।९ (ध०)
सुक्खयरा–सुखकारी ५।५।१६ (पा०)
सुक्खहीणु–सुख विहीन १।१०।९ (सु०)
सुक्खहेउ–सुखों के हेतु २।१५।४ (पा०)
सुक्खायरु–सुखकारी ३।१५।५ (सु०)
सुक्खेसरु–सुख देनेवाले ३।१०।४ (ध०)
सुक–शुक (तोता) पक्षी १।६।११ (ध०)

सुकइत्तण–सुन्दर काव्य रचना १।७।११ (पा०)
सुकम्म–सुकर्म ४।२२।१५ (सु०) १।८।१४ (पा०), ४।१७।९ (सु०)
सुकाम–श्रेष्ठ कामना २।५।५ (सु० ३।२५।१२ (ध०)
सुकारणु–कारण २।१०।६ (ध०)
सुकिउ–सुकृत ४।५।१ (ध०) ३।११।१३ (ध०)
सुकुमारि–सुकुमार ४।८।१२ (सु०)
सुकेसी–सुकेशी (रानी) ४।१४।२ (सु०) ४।८।७, ४।१३।३ (सु०)
सुकोसलचरिउ–सुकौशल चरित १।३।८ (सु०)
सुकोसलि-सुकौशल (चरित नायक) ४।४।७ (सु०)
सुखकरं–सुखकारी ६।२२।१८ (पा०)
सुखेमचन्द–खेमचन्द्र (भट्टारक) १।२।१३ (पा०)
सुगइ–सुगति ३।५।२ (सु०), ३।२२।११ (ध०)
सुगीय–सुन्दरगीत २।२।११ (पा०)
सुगुण–श्रेष्ठ गुण ७।३।१० (पा०)
सुगुणि–सद्गुणी ३।१८।७ (सु०)
सुगुरु–श्रेष्ठगुरु ३।९।८ (सु०)
सुगोयमु–गौतम ऋषि १।१।६ (ध०)
सुगग–गंगा नदी ६।२८।१२ (पा०)
सुच्च–सोचा ३।२२।९ (पा०) ७।९।९ (पा०)
सुचामर–सुन्दर चँवर २।२।११ (पा०)
सुचिरु–चिरकाल तक ७।११।८ (पा०)
सुचेयणत्थ–चेतन आदि नव पदार्थ १।२।७ (ध०)
सुछण्ण–आच्छादित ४।१७।५ (पा०) .
सुज्झ–शुध् (धातु) सूझना, ३।२५।५ (ध०)
सुजसु–सुन्दरयश ३।२१।२ (सु०)
सुजाण–सुजान ३।११।२ (ध०); ५।५।९ (पा०)
सुज्जु–सुशोभित १।१।९ (पा०); २।१०।२; ३।९।६ (ध०)
सुज्जो–सूर्य १।१५।४ (सु०), ४।७।२ (पा०)
सुट्ठाण–सुन्दर स्थान १।१६।२ (सु०)
सुण्णु–शून्य ३।८।४; ७।६।४ (पा०)
सुण–श्रुधातु–सुनना ३।२५।४ (पा०); ३।२७।१; ३।२७।३ (ध०)
सुणण–श्रवण १।५।४ (सु०)
सुणिच्च–नित्य १।७।१ (ध०)
सु-णिबद्ध–सुन्दर रूप से निबद्ध ४।१५।१९ (पा०)
सुणिम्मलवत्थ–सुन्दर निर्मल वस्त्र २।२।८ (पा०)
सुणियपसण्ण–प्रसन्नता से सुना ३।१७।१२ (ध०)
सुणिरुद्ध–निरुद्ध ४।१५।१९ (पा०)
सुणिस्सारया–सु-नि + सृ (निकालने अर्थ में) ६।४।२ (पा०)
सुणिहाणे–सु-निधान ६।२२।१५; ७।११।१० (ध०)
सुणु–सुनो ३।२२।११; ४।२।११ (पा०); ५।३।१२ (पा०)
सुणेऊण–सुनकर ६।४।३; ६।४।८ (ध०)
सुणेप्पिणु–सुनकर १।२।८ (ध०); ३।२।१४ (पा०); ४।६।९ (सु०)
सुणेवि–सुनकर २।६।८ (ध०); ४।१४।९ (पा०) ४।१५।३ (सु०)
सुणेहाणुरत्तो–स्नेहानुरक्त ६।४।८ (पा०)
सुत्त–आगमसूत्र १।२।६ (पा०)
सुत्त–सोना (भोजपुरी–सूतना २।२।८ (सु०), ३।२८।९ (ध०)
सुत्तत्थ–सूत्रार्थ २।८।६ (सु०)
सुत्तु–सूत्र ३।१४।३ (सु०), ७।६।८ (पा०)
सुत–पुत्र १।११।१२ (ध०); २।१४।२१ (ध०)
सुतणुसग्ग–कायोत्सर्ग (मुद्रा) २।३।१२ (ध०)
सुतिक्ख–सु-तीक्ष्ण ३।७।१ (पा०)
सुथिरु–सुस्थिर ५।६।१३ (पा०)
सुद्दसण–सुदर्शन (वणिकश्रेष्ठ) ४।११।१० (सु०)
सुद्दसण महिहर–सुदर्शन पर्वत ५।२३।१ (पा०)
सुद्ध–शुद्ध १।११।९ (सु०); ३।१७।८; ६।१०।६ (पा०) २।११।९ (ध०); ३।१५।७ (सु०)
सुद्धचित्त–शुद्ध चित्त ४।१४।१० (सु०) ७।५।६ (पा०)
सुद्धचित्तु–शुद्ध चित्त ४।२।१० (पा०)
सुदड्ढ–सुदग्ध २।१०।१५ (ध०)
सुद्धबोह–शुद्ध बोधि १।३।६ (पा०)

सुद्धभाउ–शुद्ध भाव २।८।१० (पा०); २।१०।३ (सु०); ३।१७।१ (ध०)
सुद्धमइ–शुद्धमति ३।११।१० (पा०); ३।२६।५ (ध०)
सुद्धवाणि–शुद्धवाणि (सरस्वती) १।५।१२ (सु०)
सुद्धसील–शुद्धशील १।६।२ (पा०); ४।२३।१३ (सु०); ६।२।५ (पा०)
सुद्धायास–शुद्ध आकाश मे ३।११।१० (सु०)
सुद्धु–शुद्ध १।५।९ (सु०); ३।१४।९ (पा०); ३।१७।४ (पा०); ३।२१।६ (पा०)
सुद्धोदएण–शुद्धोदक से २।१२।११ (पा०)
सुदव्व–सुन्दर द्रव्य २।२।६ (पा०)
सुदाण–श्रेष्ठदान ३।४।११
सुदिट्ठो–सुदृष्ट १।१५।२ (सु०)
सुदित्त–सु-दीप्त ३।१।३ (सु०)
सुदंसणु–सुदर्शन मेरु १।६।२ (ध०)
सुधण्णउ–सु-धन्य २।२।१ (पा०)
सुधम्म–सु-धर्म १।१।७; २।१३।६ (ध०)
सुधम्मत्थकज्जम्मि–उत्तम धर्म एवं अर्थ के कार्य में १।१५।१ (सु०)
सुधीरि–धैर्यशालिनी ३।१३।२ (ध०)
सुधीरु–धैर्यवान् ७।७।२ (पा०)
सुन्दरि–सुन्दर ३।२८।१२; ४।१।१६ (ध०)
सुप्पासु–सुपार्श्व (तीर्थंकर) २।११।६ (सु०)
सुप्पट्टणु–सु-पत्तन ४।४।३ (सु०)
सुपत्त–पहुँचा २।१०।१४ (ध०)
सुपयासइँ–सु प्रकाशित १।१६।४ (सु०)
सुपरियरिउ–परिजनों सहित २।९।११ (ध०)
सुपवीण–सु प्रवीण १।६।९ (पा०)
सुपसाहिय–सुप्रसाधित ५।३२।४ (ध०)
सुपसिद्धउ–सुप्रसिद्ध १।१।२; ५।२८।१; ६।१५।६ (ध०)
सुपासु–सुपार्श्वनाथ (तीर्थंकर) १।१।६ (पा०)
सुपुण्णु–उत्तम पुण्य ४।३।८ (ध०)
सुपुत्त–श्रेष्ठ सुपुत्र २।१०।८ (सु०)
सुफारु–सुन्दर रूप से स्पष्ट २।१२।४ (पा०)
सुब्भाव–शुभभाव ५।२५।१० (पा०)
सुबाल–सु-बाला ३।६।४; ३।६।७ (ध०)
सुबाहु–सुबाहु ३।१६।१२ (ध०); ४।७।८ (सु०)
सुबोह–सुबुद्ध ३।२१।९ (ध०)
सुबुद्धो–सुबुद्धो ६।४।५ (पा०)
सुभत्तिए–भक्ति पूर्वक १।६।८ (सु०)
सुभत्तिय–भक्ति पूर्वक ४।१४।९ (पा०)
सुभल्लउ–बहुत ठीक ३।२६।४ (पा०)
सुभव्वु–सुभव्य ३।१४।२ (ध०)
सुभिक्ख–सुभिक्षा ४।४।६ (सु०)
सुभिक्खु–सुभिक्ष ४।१६।९ (पा०)
सुभोज्जु–अच्छा भोजन सुभोज्य ३।१२।३ (ध०)
सुमइ–सुमतिनाथ (तीर्थंकर) १।१।५ (पा०); २।११।५ (सु०), ५।८।१० (पा०)
सुमइणरु–सद् बुद्धिवाला नर ५।११।१७ (पा०)
सुमरण–स्मरण ४।१०।८ (सु०)
सुमरिउ–स्मरण ४।१५।४ (सु०)
सुमरिवि–स्मरण कर २।१४।२; ४।१।२० (ध०); ४।९।९ (सु०); ६।१६।८ (ध०)
सुमरेप्पिणु–स्मरण करके ३।२।१६ (पा०)
सुमुहुत्त–शुभ मुहूर्त्त १।१०।९ (ध०)
सुमोत्तियदाम–सु-मोतियादाम (छन्द) २।२।१५ (ध)
सुय–सुत ३।३।१ (पा०); ३।१०।५ (ध०)
सुयणु–सुतनु १।४।४ (ध०)
सुर–देव ३।२०।८ (सु०); ३।२१।७ (ध०); ४।२०।३ (पा०)
सुरकुरु–सुरकुरु (क्षेत्र) ५।३२।३ (पा०)
सुरक्खिय–सुरक्षित ४।१०।४ (पा०)
सुरकुमार–देवकुमार २।१।६ (ध०)
सुरकुरुवर–उत्तम सुरकुरु (भोगभूमि) ५।३२।१ (पा०)
सुरगिरि–सुरगिरि (सुमेरु) ४।४।१७ (सु०); ५।२१।६ (पा०)

सुवइ–स्वप् + इ ३।८।२ (सु०)
सुवट्टुलु–सुवर्तुलाकार ४।१४।१२ (पा०)
सुवण्ण–सुवर्ण १।३।१ (पा०) ४।८।७ (ध०)
सुवण्णणीय–सु-वर्णनीय, प्रशंसनीय ४।१७।७ (सु०)
सुवण्णमहारहु–स्वर्ण निर्मित महारथ १।६।१३ (सु०)
सुवण्णवण्णु–स्वर्ण वर्ण वाला २।७।२ (सु०)
सुवणंतरि–स्वप्नानन्तर ५।६।५ (पा०)
सुवदंसणमत्ते–पुत्र का दर्शन मात्र ३।१८।१४ (सु०)
सुवत्त–सुमुखी ४।४।४ (पा०)
सुवत्तु–सुन्दर मुख वाला २।७।१२ (पा०); ३।१६।१२ (ध०); ४।१।१२ (पा०)
सुवहि–पुत्री ४।१।१५ (ध०); ४।२।३ (ध०)
सुवहु–पुत्र को २।६।१८ (ध०); ३।९।५ (ध०) ४।२२।४ (सु०)
सुवा–पुत्री ३।२।२ (सु०); ४।१०।२ (सु०)
सुवाय–मधुर वाणी ३।२०।१२ (ध०)
सु-वासु–सुन्दर आवास ४।२।६ (सु०)
सुहकम्म–शुभ कर्म ३।२४।१० (ध०)
सुविसुद्ध–पूर्ण विशुद्ध ६।१८।७ (पा०)
सुविसाले॑–सु-विशाल १।२।१ (ध०)
सुविहि–सु-विधि ३।२७।४ (ध०)
सुवंस–सु-वंश १।६।१३ (ध०)
सुसइ–श्वस्, सिसकना ३।१७।४ (ध०)
सु-सच्छाउ–सुन्दर सघन छाया ४।१५।१३ (पा०)
सुसत्तउ–सुसत्त्व, सुहृदय ३।२८।२ (ध०)
सुसमिद्धउ–सु-समृद्ध ५।२८।१ (पा०)
सुसमु–सुषमा (काल) १।९।४ (सु०)
सुसरुवउ–सु-स्वरूपवान् ६।१७।७ (पा०)
सुसहायउ–सुसहायक ३।१।१२ (पा०)
सुसामि–हे सु-स्वामिन् ४।१६।१४ (सु०)
सुसाल–विशाल ३।६।४ (ध०)
सुसाहु–सु-साहू ७।१०।१ (पा०)
सुसिस्सु–विवेकीशिष्य १।२।१२ (पा०)
सुसिय–शोषित ३।११।५ (सु०)
सुसियतणु–शुष्क शरीर ६।७।३ (पा०)
सुसील–सुशील ४।२।९ (सु०)
सुसुत्त–सुन्दर-सूत्र १।६।८ (पा०)
सुसेय–सु-श्वेत, धवल १।७।८ (पा०)
सुसोह–सुशोभित १।१।८ (सु०)
सुसंत–सन्त प्रकृतिवाला १।४।८ (सु०)
सुह–सुख २।३।९ (ध०); ४।२३।१ (सु०) ५।२६।८ (सु०)
सुहमणग्घि–अनर्घ्य सुख ३।१३।९ (पा०)
सुहकारणु–सुख का कारण १।१।२ (पा०)
सुहगइ–शुभगति ६।१०।१२ (पा०)
सुहगइगमिय–शुभगति की ओर गमन करने वाले १।१।१३ (सु०)
सुह-गय–शुभगति ३।१८।५; ३।२३।१३ (ध०)
सुहगयपहाणु–शुभगति प्रधान ३।२५।३ (ध०)
सुहगयवारणु–शुभगति को रोकने वाला ३।५।१२ (ध०)
सुहगिर–मधुर वाणी ४।१६।४ (पा०)
सुहचित्तु–सुहृद चित्त १।६।४ (सु०)
सुहजणणु–सुखजनक ३।२६।१२ (ध०)
सुहजोयँ–शुभ योग ३।२०।७ (पा०)
सुहझाण–शुभध्यान ५।७।१० (पा०)
सुहडु–सुभट २।१४।३ (ध०); १।५।५; २।२।५ (ध०) ३।७।६ (पा०)
सुहणामरिक्खि–शुभनक्षत्र २।५।११ (पा०)
सुहणिब्भर–नितान्त सुखदायक ५।३२।२ (पा०)
सुहदाइणि–सुखदायिनी १।७।१ (ध०)
सुहदायणु–सुख देने वाला २।११।२ (पा०); २।१।२ (ध०)
सुहदावणउ–सुख प्रदान करने वाला १।४।१६ (सु०)
सुहदिट्ठि–शुभ दृष्टि ४।१६।६ (पा०)
सुह-दुह-वत्त–सुख-दुख की बातें ४।७।९ (ध०)
सुहफलिया–सुखद फल प्रदान करने वाली २।३।१ (पा०)
सुहमण–पवित्र मन ४।९।८; ५।२०।१२ (पा०)

सेसि–शेष १।१२।८ (सु०)
सेसु–धरणेन्द्र २।५।१३ (सु०) ४।१३।२० (सु०) ६।२२।७ (पा०)
सेसु–विशेष ३।१३।११ (ध०)
सेहरु–सेहरा, शेखर (मुकुट) ४।४।६ (ध)
सेहरधरु–मुकुट का धारी ६।१३।६ (पा०)
सोउ–शुच् (धातु) शोक ३।३।७ (पा०); ३।१३।११ (सु०) ३।२१।६ (ध०)
सोक्खकारि–सौख्यकारी १।१।४ (पा०) ३।१०।४ (पा०
सोक्खरासि–सौख्यराशि २।२०।८ (ध०)
सोगु–शोक ३।७।१० (ध०)
सोणपाल–सोनपाल (आश्रयदाता का वंशज) १।७।५ (सु०)
सोणि–शोणित ३।१०।२ (सु०)
सोत्तु–सोत—स्रोत १।४।२ (ध०) ३।१०।२ (सु०)
सोभण–शोभन नामका (नक्षत्र)
सोमणसु–सौमनस (वन) २।९।५ (ध०)
सोय–शोक ३।८।४ (सु४) ५।२९।७ (पा०) ४।३।११; ३।२।१५ (पा०)
सोयछित्त–शोक-संतप्त ४।१३।१० (सु०)
सोयविमुक्कु–शोक विमुक्त ३।३।१० (पा०)
सोयाउरु–शोकातुर ३।७।३ (सु०)
सोयाणलतत्तइ–शोकानल से तप्त ४।१२ (सु०)
सोयारु–श्रोता श्रोतृ, श्रोता १।२।१० (ध०) १।४।१ (सु०)
सोयंसु–शोकाश्रु ४।४।८ (पा०)
सोरट्ठि–सौराष्ट्र (देश) ४।१४।५ (सु०)
सोलह–सोलह (संख्यावाची) ४।५।११ (ध०)
सोलहकसाय–सोलहकषाय ४।६।५ (प०)
सोलहकारण–सोलहकारण (भावना) ६।२०।८ (ध०)
सोलहभावणा–सोलह भावना २।५।२ (ध०)
सोलहमइ–सोलहवाँ (स्वर्ग) ५।२६।४ (पा०)
सोलहमत्तपमाणु–सोलह मात्रा प्रमाण १।९।१० (प०)
सोलहसहस–सोलहसहस्र २।९।६ (सु०); ५।१।५ (ध०)
सोवण्णरेह–सुवर्ण (नदी) रेखा १।३।१५ (पा०)
सोवण्णरस–स्वर्ण रस ५।१०।५ (पा०)
सोवण्णसुत्तिसोहिउ–स्वर्ण सूत्रों से शोभित २।१२।४ (पा०)
सोवाणपंती–सोपान पंक्तियाँ ४।१५।१० (पा०)
सोसिय–शोषित ४।२०।८ (सु०); ३।३।१० (सु०)
सोसियो–शोषित १।२।७ (पा०)
सोह–शोभित ३।५।८ (सु०); ४।२०।१० (सु०) ५।१।११ (पा०)
सोहग्गणिलय–सौभाग्य-निलय १।३।१० (पा०)
सोहम्म–सौधर्म (स्वर्ग) ४।१८।३ (पा०); ३।१३।४ (सु०)
सोहग्गरूव–सौभाग्य एवं रूप-सौन्दर्य १।६।४ (पा०)
सोहणु–शोभनीय ३।११।३ (सु०)
सोहम्मीसाण–सौधर्म और ईशान (स्वर्ग) ५।२३।९ (पा०); ५।२५।६ (पा०)
सोहा–शोभा ४।९।२ (ध०)
सोहाठाणइँ–शोभास्थान ५।२३।१५ (ध०)
सोहाघरु–शोभागृह ३।१८।८ (ध०)
सोहालइ–शोभावत्, शोभायुक्त ३।१५।४ (प०)
सोहिउ–शोभित १।३।१८ (प०); १।३।१६ (प०)
सोहिय–शोभित ३।३।६ (सु०)
सोहियगत्तउ–शोभित शरीर ६।२।१० (ध०)
सोहिल्लउ–२।९।५ (ध०); ३।१२।११ (सु०)
सोहु–शोभायमान ७।१।७ (पा०)
सोहेइ–शोभित ४।१५।३ (पा०)
सोहेइ–शोभायमान ४।१५।२३ (पा०)
सोहेज्जहु–शोधन कर लेना ४।२२।११ (सु०)
सोहिल्ल–शोभ् + इल्ल = शोभित ५।२०।१० (पा०)
सोहंति–शोभमान ३।६।३ (ध०)
संक–शंका २।११।२ (ध०); ३।२६।१३ (ध०)

संण्णद्धु–संनद्ध ३।१५।१६ (सु०)
संणिदिय–सन्निहित ७।४।९ (पा०)
संणिहियात्रलि–पंक्तिबद्ध तैयार होकर २।११।१० (पा०)
संत–शान्त ३।३।६ (सु०); ४।१९।३ (पा०); ३।३।११ (सु०); ५।२६।१ पा०)
संतई–संतति परम्परा २।५।१७ (सु०)
संतजिणेसरु–शान्तिजिनेश्वर १।१।११ (पा०)
संतप्प–सन्तप्त ५।१३।४ (पा०)
संताव–सन्ताप ५।११।१३ (पा०)
संताविय–सन्तापित ५।१८।७ (पा०)
संतावणु–सन्तापन ३।२०।१६ (सु०)
संतावहारी–सन्ताप को हरने वाला १।१५।८ (सु०)
संतास–सन्त्रास ३।८।१४ (ध०)
संति–शान्तिनाथ (तीर्थंकर) २।११।८ (सु०)
संति–हैं ५।३४।२ (पा०)
संति–शान्त ७।१।११ (पा०)
संतुट्ठु–सन्तुष्ट ३।२२।४ (सु०)
संतुट्ठचित्ता–सन्तुष्ट चित्ता १।१५।१ (सु०)
संतुट्ठउ–सन्तुष्ट २।११।८ (ध०)
संतुट्ठिया–सन्तुष्ट हुई ७।१०।९ (पा०); ४।५।९ (ध०)
संतोसयारि–सन्तोषकारी १।४।१४; ३।१।९ (सु०)
संतोसिउ–सन्तुष्ट ३।८।५ (सु०); ४।२।६ (ध०)
संतोसिय–सन्तुष्ट ४।८।११ (ध०)
संतोसु–सन्तोष १।९।१३ (ध०)
संदाण–सम् + दान ३।२१।४ (पा०)
संदाणिउँ–संदानित ५।१९।१० (पा०)
संदायण–संदानित १।३।२ (पा०)
सदेह–सन्देह १।१५।८ (सु०); १।९।२
सदेहु–संदेह १।८।१६ (पा०)
संदेहमुक्क–सन्देह मुक्त ५।१।१३ (पा०)
सधारणु–संहारक ३।२४।६ (ध०)
संधि–सन्धि ३।१०।६ (सु०)
संनंदिओ–आनन्दित ४।७।५ (पा०)
संपइ–सम्पत्ति २।४।२, ३।४।११, ३।२८।१० (ध०)
संपज्ज–सम् + पद् ३।१४।१ (सु०); ४।२२।१३ (सु); ७।७।५ (पा०)
संपण्ण–सम्पन्न १।३।८ (पा०)
संपत्त–पहुँचे, सम्प्राप्त ३।९।५ (पा०)
संपत्तउ–सम्प्राप्त २।११।३ (पा०)
संपय–सम्पदा १।११।६ (सु०)
संपया–सम्पदा १।६।५ (ध०), ५।३।१० (पा०)
संपाइय–सम्पादित २।३।९ (सु०), २।७।७ (पा०), ३।२६।६ (ध०); ६।७।११ (पा०)
संपाड–सम् + पातय् २।१५।९ (पा०)
संपाय–सम्प्राप्त १।१६।१३ (सु०)
संपुण्ण–सम्पूर्ण ३।१४।६ (ध०), ३।२२।६ (ध०), ४।१८।४ (पा०), ३।१०।९ (सु०), ५।३३।७ (पा०), ५।१८।१६ (पा०), ४।१।१४ (सु०)
संपेच्छ–सम् + प्र + ईक्ष् २।८।५ (पा०)
सबल–सम्बल (कलेवा ३।१४।१० (ध०)
संबोह–सम् + बोधय् ३।२०।९ (ध०)
संबधिय–सम्बन्धित ५।३३।९ (पा०)
सबधु–सम्बन्ध ४।१६।९ (सु०), ५।१३।१६ (पा०)
सभ–स्वयम्भू १।७।१० (सु०)
सभर–स्मरण कीजिए सम् + भृ १।५।१६ (सु०), ४।२२।३ (सु), ४।९।१० (ध०)
संभव–संभवनाथ (तीर्थंकर) १।१।४ (ध०)
संभव–उत्पन्न सम् + भू (धातु) ५।५।१, ५।२६।४ (पा०), ७।७।२ (पा०)
संभवण–सम्भावना १।९।४ (सु०)
संभालि–सम् + भालय (निरीक्षण अर्थ में) ३।२।५ (ध०)
संभाव–सम् + भू (धातु) ५।१२।६ (पा०)
संभासणु–सम्भाषण १।७।५ (पा०), ३।१।७ (पा०)
संभासिय–सम्भाषित ४।२२।१ (सु०)
संभासिवि–उपदेश देकर ४।२२।७ (सु०)

हणंति–नाश करते हैं ५।३४।४ (पा०)
हत्थ–हाथ १।१२।३ (सु०), ५।१२।७ (पा०), २।४।१४ (सु०), ४।४।१६ (ध०)
हत्थाउ–हत्थ–हाथों हाथ २।१२।६ (पा०)
हत्थि–हाथ ३।४।२ (ध०)
हत्थि–हाथी ४।२।४, ४।१२।४ (सु०), ६।१३।२ (पा०)
हत्थिरूढ–हाथी पर आरूढ़ ४।१६।२ (सु०)
हत्थु–हाथ २।१५।१० (पा०)
हथिणाउरि–हस्तिनापुर (नगर) ४।३।३ (पा०)
हम्म–हर्म्य १।३।२ (पा०)
हय–घोड़े ४।८।१६ (ध०)
हयजोह–तुरंग समूह ३।८।२ (पा०)
हयतमोहु–अन्धकार-समूह का नाश ७।१।७ (पा०)
हयतिमिरु–हत तिमिर ४।१५।२० (पा०)
हयदप्प–हत-दर्प ३।१७।७ (पा०)
हयभंति–हत-भ्रान्ति ४।१५।१६ (पा०)
हयमणरुह–हत कामदेव ३।६।८ (पा०)
हयमाणभारु–अभिमान के भार को चूर करने वाला २।७।३ (सु०)
हयवर–श्रेष्ठ घोडे २।१५।६ (पा०); ३।६।३ (पा०) ३।४।२ (पा०) ४।९।५ (ध०)
हयसेण–अश्वसेन (पार्श्व के पिता) २।३।१३ (पा०) २।७।७ (पा०) ३।१।६ (पा०) ३।२।१४ (पा०) ३।६।८ (पा०) ४।३।१२ (पा०) ४।४।६ (पा०) ६।२१।१० (पा०); ७।३।४ (पा०)
हरइ-मणु–मनोहारी ४।९।१२ (ध०)
हरण–अपहरण २।१४।९ (पा०)
हरणु–हरण करने वाली ४।२०।४ (पा०)
हरस–हर्ष ३।२०।१२ (सु०)
हरसियमण–हर्षितमन ३।१४।९ (ध०)
हरसिंघसघवी–हरसिंहसंघवी (रइधू के पिता) १।७।६ (पा०)
हरि–इन्द्र ४।२।८ (पा०)
हरि–सिंह ६।६।२ (पा०)
हरि–हरि नामकी नदी ५।३१।२ (पा०)
हरिउ–हृत ३।११।९ (सु०) ५।१४।३ (पा०)
हरिकंत–हरिकान्ता (नदी) ५।३१।१० (पा०) ५।३१।२ (पा०)
हरिखेत्त–हरि (क्षेत्र) ५।३१।६
हरिण–मृग ३।१५।५ (पा०)
हरिणणयण–मृगनयनी ३।११।१ (पा०)
हरिणवराय–बेचारे हरिण ५।११।११ (पा०)
हरियवण्ण–हरित वर्ण २।८।१४ (पा०), ४।१७।५ (पा०)
हरिवरसु–हरिवर्ष (क्षेत्र) ५।३०।१२ (पा०)
हरिविट्ठरु–सिंहासन ४।१७।१३ (पा०)
हरिस–हर्ष ३।२८।१ (ध०), ३।२।२ (पा०)
हरिसिउ–हर्षित १।६।७ (सु०), २।४।१३ (पा०)
हरिसिय–हर्षित ४।३।४ (पा०)
हरिसियमण–हर्षित मन २।७।१४ (पा०)
हरिसेणु–हरिसेण (सुन्दर गिरि का वणिक्पुत्र) ४।१४।१४ (सु०)
हरिसेप्पिणु–हर्षित होकर १।८।१७ (पा०)
हरी–हरण करने वाली २।१।५ (पा०)
हलधर–हलधर (बलदेव) ३।१३।१०, ५।१८।१९ (पा०)
हलाउह–हलायुध ३।६।३ (ध०)
हलि–सखि ४।२।२ (ध०)
हलिण–किसान ३।३।७ (ध०)
हलु–हल ३।३।९ (ध०), ३।३।१५, ३।४।१३ (ध०), ५।१३।८ (पा०)
हव–भू धातु १।८।११ (सु०); ४।६।६ (ध०) ४।५।४ (सु०)
हविदिसि–आग्नेय दिशा २।१०।७ (पा०)
हवेइ–भू धातु ३।५।६ (सु०) ५।४।४ (पा०)
हवेउ–हो (होना) ७।७।८ (पा०)
हवेसइ–होगा १।१०।५ (पा०); १।११।७ (सु०) २।१३।१३ (ध०)

हेमकित्ति–हेमकीर्त्ति (भट्टारक) १।२।६ (सु०)
हेमकुमारु–(नाम के देव) ५।२०।३ (पा०) ५।२०।१० (पा०)
हेमवंतु–हिमवन्त (पर्वत) ५।२८।२; ५।२९।३ (पा०)
हेरण्णु–हैरण्य (क्षेत्र) ५।३२।१९ (पा०)
हेरण्णु–हैरण्य (क्षेत्र) ३।७।४ (सु०)
होइ–भू धातु ३।१४।१० (ध०); ५।५।११ (पा०)
होइवि–होकर २।१०।४ (सु०), ३।२४।८ (पा०)
होउ–हों— ३।६।८ (सु०), ३।११।३ (पा०)
होएप्पिणु–होकर ३।२२।१४ (सु०)
होएवि–होकर १।७।४, १।१३।८ (सु०)
होएसए–होगा १।१५।३ (सु०)
होज्जउ–होवे ३।२६।४ (ध०), ४।२२।१२ (सु०)
होज्जहु–हो ७।७।३ (पा०)
होमि–होऊँ ३।२५।८ (पा०)
होलिवम्मु–होलिवम्म (आश्रय दाता का वंशज) ७।९।१६ (पा०)
होसइ–होगा १।१४।२ (सु०), २।४।२ (पा०), ४।१।१४ (ध०),
होसमि–हो जाऊँ ३।४।१९ (सु०)
होसहिँ–होंगे १।१।३ (ध०), १।१।१७ (पा०) १।१।१६ (सु०)
होहिँ–होंगे १।११।९ (सु०)
होहीइ–जन्म लेंगे २।१।७ (पा०)
हंकरिउ–हुँकारा–ललकारा ४।१३।१५ (सु०)
हंडिय–हंडिया (हाँडी, बर्तन) ६।५।१२ (पा०)
हँसइ–हँसता है ५।९।१० (पा०) ५।१३।३ (पा०)
हंसणीव–हंसिनी के समान १।६।३ (पा०)
हंसतूलि–हंसतूलिका १।१४।१२ (सु०)
हंसयड–हमारी शकट (गाड़ी) २।५।१२ (ध०)
हंसिणि–हसिनी २।२।१६ (पा०)
हंसिणीव–हंसिणी के समान ४।२३।११ (सु०)
हंसु–हंस ६।९।१० (पा०)
हिंड–हिंड धातु २।१।१२ (ध०); ४।५।५ (सु०) ६।१२।९ (पा०)
हिंडंति–घूमते, भटकते हुए ४।१०।३ (सु०)
हिंडावियउ-हिंडापित–घुमाया ६।७।९ (पा०)
हिंदोल–हिंदोल २।१५।१ (पा०)
हिंस–हिंसा ६।१२।४ (पा०), ६।१२।५ (पा०)
हिंसभाउ–हिंसाभाव ५।४।७ (पा०)
हिंसावज्जिउ–हिंसावर्जित ७।७।५ (पा०)
हुंकार–हुँकार ४।३।७ (सु०)
हुंडायार–हुण्डाकार ३।१२।५ (सु०)
हुंत–भवत् ३।१२।१३ (पा०), ४।६।४ (ध०), ३।१६।२ (ध०), ४।१२।१२ (सु०)
होंत–भवत् ३।१९।१ (ध०), ३।१९।४ (पा०) ४।७।१३ (सु०)
होंति–होते है २।१४।६ (ध०)
क्षेमाख्यसाधु.–४।२०।१६ (पा०)
क्षेमाख्यसाधोः–४।३४।१८ (पा०)

●

शब्दानुक्रमणिका (भूमिका)

[ध्यातव्य—मूल शब्दों के साथ भूमिका भाग की पृष्ठ संख्या अंकित है]